गीता-परिक्रमा

खण्ड - १

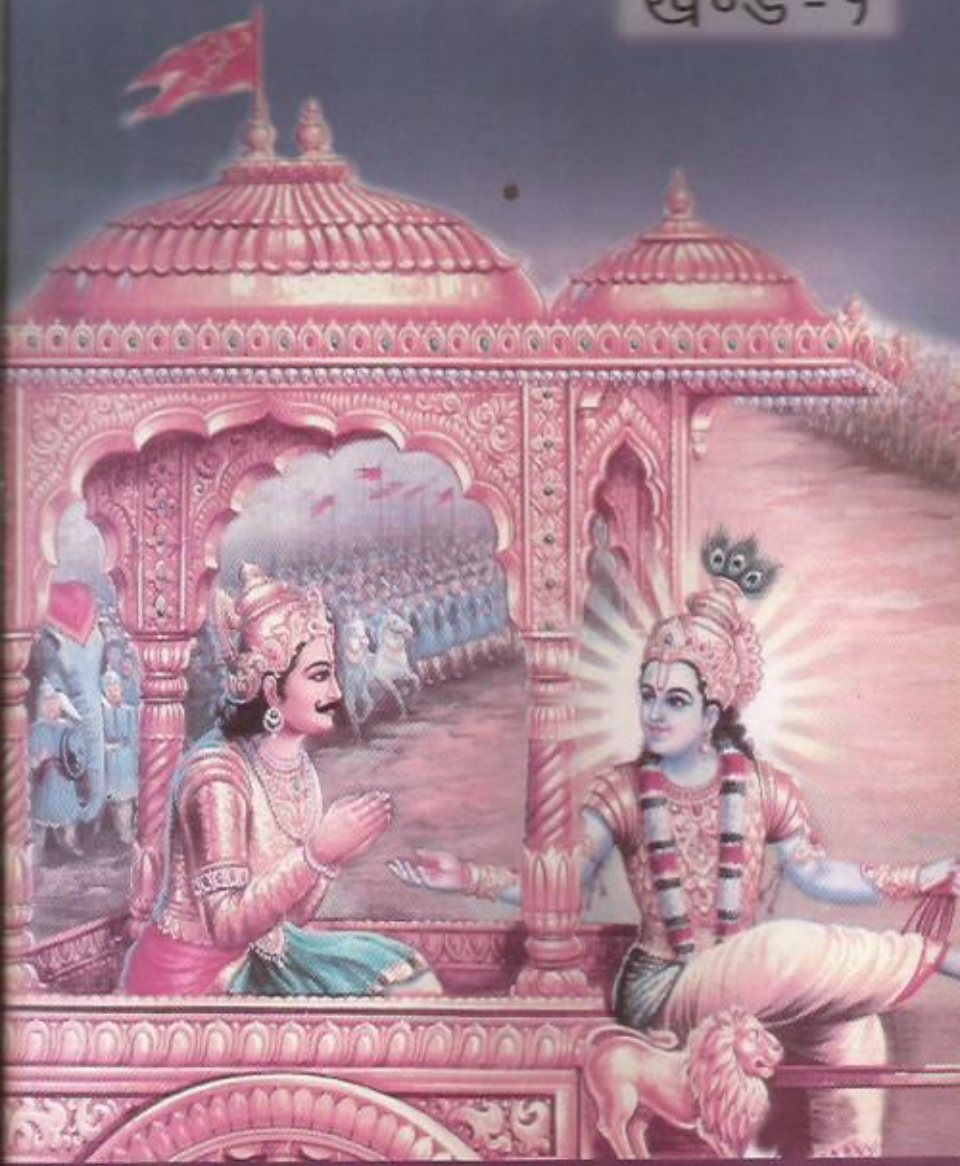

विष्णुकान्त शास्त्री

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री
प्रतिष्ठित साहित्यकार, प्राध्यापक एवं आलोचक, मुर्धन्य शिक्षाविद, धर्म-संस्कृति एवं अध्यात्म के गहन अध्येता तथा व्याख्याता, जनहित राजनेता के रूप में अखिल-भारतीय ख्याति।

जन्म : २ मई १९२५, कोलकाता।
शिक्षा : एम. ए., एल-एल. बी.।
वृत्ति : १९५३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक। आचार्य के पद से मई १९८४ को अवकाश ग्रहण।

मौलिक कृतियाँ :

वाणी निकेतन की स्थापना तथा अन्य निबंध, कुछ चयन की कुछ अपूर्ण की, विनयन मुद्रा, अनुचिन्तन (साहित्य समीक्षा), तुलसी के हिय हेरि (तुलसी संबंधित निबन्ध), बांग्लादेश के सन्दर्भ में (निबंधावली), स्नातक को राष्ट्रीय बनने दो, सुधियाँ उस चन्दन के वन की (संस्मरण एवं यात्रा वृत्तान्त), अन्तर ज्वर के पाती : धर्मवीर भारती (संस्मरण), आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष (आलोचना)। कई कृतियों का अनुवाद एवं संपादन।

विदेश यात्रा :

सुरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, इटली, कनाडा, अमेरिका, यूरोप, बैंकाक, सिंगापुर, मलालालम्पुर आदि देशों का भ्रमण।

सम्मान :

साहित्य भूषण पुरस्कार, डॉ० राममनोहर लोहिया सम्मान, कानपुर विश्वविद्यालय एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मानद डी० लिट्०।

गतिविधियाँ :

१९४४ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बद्ध, १९७७ से सक्रिय राजनीति में प्रवेश। जनता पार्टी के सदस्य के रूप में पश्चिम बंगाल विधानसभा में विधायक (१९७७-१९८२), पश्चिम बंगाल प्रदेश भाजपा के दो बार अध्यक्ष, भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष (१९८८-१९९३), संसद सदस्य-राज्यसभा (१९९२ से १९९८), २ दिसम्बर १९९९ को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त, २४ नवम्बर २००० को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त, २ जुलाई २००४ को राज्यपाल पद से निवृत्त।

गीता-परिक्रमा

(खण्ड-१)

(श्रीमद्भगवद्गीता के आरंभिक ६ अध्यायों पर केन्द्रित आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से दिए गए प्रवचन)

श्री नन्दलाल शाह एवं उनके आत्मज श्री किसलय शाह
कोलकाता
के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित

गीता-परिक्रमा

खण्ड - १

(श्रीमद्भगवद्गीता के आरंभिक ६ अध्यायों की प्रवचनपरक व्याख्या)

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र कोहली

सहयोग

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

प्रकाशक :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

१सी, मदनमोहन बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७

टेलिफैक्स : २२६८-८२१५

ई-मेल : kumarsabha@vsnl.net

प्रकाशन समिति :
श्री जुगलकिशोर जैथलिया (संयोजक)
श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित
श्री महावीर बजाज
डॉ० उषा द्विवेदी

प्रथम संस्करण : २००६
११०० प्रति

मूल्य : ४००/- रुपए

आवरण : श्री श्रीजीव अधिकारी

मुद्रक : संजय नोपानी
'एस्केज'
८, शोभाराम वैसाख स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७

Geeta-Parikrama : Vol-1 / Acharya Vishnu Kant Shastri
[lectures based on Shrimad Bhagwadgita, Chapter 1 to 6]
Price : Rs. 400/-

गीता ब्रह्म विद्या है, ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या है। किन्तु यह केवल ब्रह्म का विवेचन ही नहीं करती, यह उन रास्तों को भी बताती है जिनपर चलकर ब्रह्मानुभूति की जा सकती है। इसीलिए गीता का योगशास्त्र योगदर्शन से बहुत समानता रखते हुए भी विशिष्ट है।

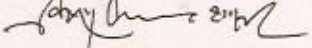

(विष्णुकान्त शास्त्री)

गीता की महिमा

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।

(गीता-१८/६८)

मुझ में पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीता ग्रंथ) को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा–इसमें कोई सन्देह नहीं है।

डॉ. मुरली मनोहर जोशी
संसद सदस्य (राज्य सभा)
अध्यक्ष
वाणिज्य सम्बन्धी संसदीय
स्थायी समिति

दूरभाष : 23034123
23011991
123, संसदीय सौध
नई दिल्ली-110 001

दि. 10 जुलाई 2006

प्रिय श्री जुगल जी,

आपके द्वारा प्रेषित आचार्य विष्णुकान्त जी के गीता पर दिए गए प्रवचनों का संकलन मिला। गीता के विषय में कहा गया है कि उसके अध्ययन मनन एवं श्रवण के पश्चात् अन्य किसी शास्त्र की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं पद्मनाभ श्रीविष्णु के मुखारविंद से निःसृत सभी उपनिषदों का सार है। यह पुस्तक भी परमवैष्णव वैकुण्ठवासी श्री विष्णुकांत शास्त्री जी के मुखपद्म से निःसृत गीता की अमृतोपम व्याख्या है। कुमारसभा पुस्तकालय ने इन प्रवचनों को ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर प्रशंसनीय कार्य किया है।

इस अद्भुत ग्रंथ के संबंध में कुछ लिखने का आपने मुझसे आग्रह किया था, पर ऐसा लगता है कि इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है। पुस्तक स्वयं ही आचार्य विष्णुकांत जी की गहरी आध्यात्मिकता, अध्ययन एवं वैदिक वाङ्मय से संबंधित उनके वैदुष्य का परिचय कराती है। इसका अनुशीलन सभी जिज्ञासुओं के लिए अत्यंत उपयोगी होगा।

भवदीय,

(मुरली मनोहर जोशी)

श्री जुगल किशोर जैथलिया
संयोजक, प्रकाशन समिति
कोलकाता

सम्पादकीय

....यह पुस्तक

पूज्य आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता, के तत्त्वावधान में ईशावास्योपनिषद् पर अट्ठारह प्रवचन किए थे, जो 'ज्ञान और कर्म' के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। इसी क्रम में शास्त्री जी ने गीता पर भी प्रवचन किए। मैं कलकत्ता में नहीं, दिल्ली में था, अतः इनमें से कोई भी प्रवचन सुनना मेरे भाग्य में नहीं था। शास्त्रीजी की ही कृपा से मैंने कैसेट के रूप में उनके ईशावास्योपनिषद् संबंधी प्रवचन सुने; और बाद में पुस्तक भी पढ़ी। जब वे हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल के रूप में शिमला में थे, तब गीता पर किए गए इन प्रवचनों की उनसे चर्चा हुई थी। मैं उत्सुक था कि ये शीघ्रातिशीघ्र पुस्तकाकार प्रकाशित हों, ताकि मैं उनको पढ़ सकूँ। शास्त्रीजी इस तथ्य के प्रति सजग थे कि अपने विद्यार्थियों या शिष्य भाव से आए हुए श्रोताओं को समझाने के लिए किए गए प्रवचनों और मुद्रित पुस्तक के शिल्प तथा रूप में बहुत अंतर होता है, अतः वे उस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व अपने प्रवचनों को भली प्रकार संपादित और संशोधित करना चाहते थे, किन्तु उन प्रवचनों के आलेख को पुस्तक के रूप में सँवारने के लिए उन्हें समय नहीं मिल पा रहा था। ईश्वर ने उन्हें वह समय कभी नहीं दिया।

अब जब मुद्रण के पूर्व यह पांडुलिपि मेरे पास आई, तो वह चर्चा मेरे मन में बहुत जीवन्त थी। स्वभावतः मेरी इच्छा थी कि यह पुस्तक प्रकाशित हो तो शास्त्री जी की प्रतिभा, विद्वत्ता और गरिमा के अनुकूल गंभीर कृति के रूप में ही आए। इन गुणों की शास्त्रीजी के प्रवचनों में कमी नहीं है; किन्तु शास्त्रीजी के व्यक्तित्व के भी कुछ असाधारण गुण हैं। वे विद्वान थे; किन्तु उनका व्यक्तित्व सरल था। जटिलता और अस्पष्टता उनमें नाम मात्र को भी नहीं थी। उनके प्रवचनों का एक-एक शब्द कहता है कि उन्हें न अपनी विद्वत्ता स्थापित करने की रंच मात्र भी चिन्ता थी, न पाण्डित्य प्रदर्शन की स्पृहा। वे तो सिर से पैर तक एक सरल हृदय, निर्मल चरित्र के अध्यापक थे; और उनका लक्ष्य था कि किसी प्रकार वे गीता का मर्म अपने श्रोताओं के हृदय में उतार दें। वे अपने विषय को सरल से सरल बना रहे थे। वे उसे पूर्णतः पचा चुके थे, अतः उनके

लिए यह संभव भी था। वे उसे दैनन्दिन जीवन से जोड़ रहे थे, संन्यासियों और आचार्यों के क्षेत्र से उसे बाहर निकाल कर, गृहस्थों तक पहुँचा रहे थे। अपनी बात को पुनः पुनः दोहरा रहे थे ताकि उपनिषदों का सार, गीता का गंभीर और जटिल जीवन दर्शन साधारण से साधारण श्रोता की भी समझ में आ जाए। वे उनकी समझ के धरातल पर उतर कर, उनके हृदय की गहराई में पैठ कर, उन्हें गीता में विवेचित प्रकृति, सृष्टि, स्रष्टा, मनुष्य, कर्म, सत्य तथा अस्तित्व का स्वरूप समझा रहे थे। वे अपने शिष्यों से संवाद कर रहे थे, उनके आत्मीय बनकर। बच्चों से खेल रहे थे शिशु बन कर। वे अपने ज्ञान का अजस्र, निर्विघ्न, निस्संकोच दान कर रहे थे। ज्ञान की गंगा, हिमालय की हिम शिलाओं रूपी शिव की जटाओं से निकल कर, जनहित में समतल पृथ्वी पर उतर आई थी। अस्पष्टता और अज्ञान के सारे विघ्नों को बहा रही थी, शिलाओं और चट्टानों को ही नहीं, छोटे मोटे अनगढ़ और कष्टदायक रोड़ों को भी पीस कर सामान्य जन के लिए सुगम पथ बना रही थी।

मैं समझ रहा था कि इस सारी सामग्री में से न तो शास्त्री जी के व्यक्तित्व को हटाना उचित था, न उसे बदलना। उनकी सहजता, सरलता और विनय को आहत किए बिना, उनके प्रवचनों को शोधपत्रों अथवा निबंधों का रूप नहीं दिया जा सकता था। पाण्डित्य का छद्म आकर्षण किसी के लिए भी कल्याणकारी नहीं था।

तभी मेरे मन में आया कि आवश्यकता ही क्या है, उनके शिल्प को बदलने की। यदि हम उसका सौन्दर्य बढ़ा नहीं सकते तो उसे कुरूप करने की क्या आवश्यकता है। यदि हम उसे और अधिक सुगम नहीं बना सकते, तो उसे जटिल बनाने की क्या आवश्यकता है। प्रवचनों को मुद्रित होने के लिए निबंध का परिधान धारण करना क्यों आवश्यक है? वे प्रवचनों के रूप में ही क्यों प्रकाशित नहीं हो सकते? सारी विधाओं का अपना अपना रूप और अपना शिल्प सौन्दर्य होता है। प्रवचनों का भी अपना रूपाकार और शिल्प है। उसकी अपनी सुविधाएँ हैं। तो उन्हें उन्हीं के रूप में क्यों प्रस्तुत न किया जाए। उसके छेड़छाड़ नहीं की जाए, तो अच्छा है।

प्रवचन के रूप में मुख से बोले गए वाक्यों को लिपिबद्ध करने की भी अपनी कठिनाइयाँ हैं। उनमें पुनरावृत्ति तो होती ही है— कहीं समझाने के लिए, कहीं केवल सूत्र बनाए रखने के लिए; और कहीं कोई वाक्य अधूरा छूट गया हो तो उसे पूरा करने के लिए। यदि यह प्रयत्न किया जाए कि पूरी पुस्तक में कोई उदाहरण दूसरी बार नहीं आएगा, किसी प्रसंग का पुनः स्मरण नहीं किया जाएगा, तो कोई विशेष कठिनाई नहीं है; किन्तु ऐसे में यह कार्य पाठक को स्वयं करना पड़ेगा। उन प्रसंगों को खोजकर पुनः

पढ़ना होगा, पुस्तक के पृष्ठों को उलटपलट कर तथ्यों का सूत्र जोड़ना होगा। पाठक के इस श्रम को बचाने के लिए, प्रवचन के शिल्प को अक्षुण्ण रखा गया है।

ध्वन्यांकन यंत्रों की तात्कालिक या स्थायी असमर्थता अथवा सीमाओं के कारण कुछ शब्द या वाक्य अंकित होने से छूट भी गए हो सकते हैं। उसका हमारे पास कोई प्रमाण भी नहीं है; और न ही उनकी पुनर्प्राप्ति के लिए कोई उपाय। यदि सूत्र प्रत्यक्ष रूप से टूटता दिखाई दे, तो शास्त्रीजी से पूछ लेने की भी कोई संभावना नहीं है। अपनी क्षमता के अनुसार अनुमान ही लगाना पड़ेगा कि यहाँ वे क्या कहना चाहते थे? किन्तु अनुमान मेरा है और मैं शास्त्रीजी के समान उस विषय का पण्डित नहीं हूँ। भूल की पूरी-पूरी संभावना है; किन्तु विकल्प कोई नहीं है। इस असामर्थ्य ने अनेक स्थानों पर मुझे दुस्साहसी बनने को बाध्य किया है।

बोले हुए वाक्यों में कोई वक्ता, अल्पविराम, विराम अथवा नए अनुच्छेद का संकेत नहीं करता। लिपिबद्ध करते हुए अपनी समझ से अनुमान लगाया गया कि शास्त्री जी शायद यहाँ अल्पविराम चाहते थे, वे वाक्य को यहाँ समाप्त कर देते, यहाँ से नया अनुच्छेद आरंभ करते। इस संदर्भ में विभिन्न संपादकों की समझ में अंतर हो सकता है। मेरा प्रयत्न यही रहा है कि वाक्यविन्यास उनके बोले हुए वाक्यों के निकटतम रहे। थोड़ा बहुत परिवर्तन वहाँ किया गया है, जहाँ कथित वाक्य की रचना के कारण, अर्थ में किसी प्रकार का भ्रम होने की संभावना थी। ऐसे स्थलों पर कुछ शब्द हटाने और वाक्य में शब्दों के स्थान परिवर्तन का सशंक मन से दुस्साहस भी किया है।

मैं नहीं जानता कि इस पांडुलिपि को सँवारने में मेरा कोई योगदान है या नहीं, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि पुस्तक पढ़ने की तुलना में मैंने पांडुलिपि को अधिक ध्यान से पढ़ा है। परिणामतः गीता के मर्म को समझने में मुझे सहायता मिली है; और इस विषय में मेरा ज्ञान बढ़ा है। शास्त्री जी की मुझ पर अथाह कृपा रही है। मैं कृतज्ञ हूँ कि आज जब वे इस संसार में सदेह वर्तमान नहीं हैं, तब भी वे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में मुझे सँवारने में लगे हुए हैं।

(नरेन्द्र कोहली)

१७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली ११००८८
माघ शुक्ल चतुर्दशी २०६२ विक्रम
११ फरवरी, २००६ ई.

प्रकाशकीय

यह प्रकाशन....

भारतीय संस्कृति, धर्म एवं अध्यात्म के गहन अध्येता रहे हैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। उनका आध्यात्मिक चिन्तन कभी विवेचनपरक आलेखों के माध्यम से तो कभी उपनिषद् - गीता आदि कृतियों की प्रवचनपरक व्याख्याओं के द्वारा अभिव्यक्त होता रहा है। इन विश्लेषणों की खासियत यह है कि ये विद्वानों एवं सामान्य पाठकों— दोनों को समान रूप से परितृप्त करते हैं। उनकी शैली के बारे में गोस्वामी तुलसीदास की एक पंक्ति का सहारा लेकर कह सकते हैं— *'बुध विश्राम सकल जन रंजनि'।*

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसके कक्ष में आचार्य शास्त्री ने ईशावास्योपनिषद् पर १८ प्रवचन तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर ५५ व्याख्यान प्रस्तुत किए। 'अनियतकालीन मासिक प्रवचन' होने के बावजूद शास्त्रीजी की आध्यात्मिक निष्ठा और अतिरिक्त सजगता के कारण ये प्रवचन बिना किसी विराम के नियमित चलते रहे।

साहित्यिक-यात्राओं की व्यस्तता तथा सांसद-राजनेता की भागदौड़-भरी सक्रियता के बीच महीने की निर्द्धारित तिथि को उपस्थित रहकर विषय पर सुव्यवस्थित एवं प्रभावी ढंग से अपने विचार रखना और इस प्रवचन के लिए पूरे महीने जमकर तैयारी करना—यह प्रमाणित करता है कि गीता माता के प्रति शास्त्रीजी की कितनी श्रद्धा रही है। दिसम्बर १९९९ ई० में जब उन्होंने हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल का दायित्व सँभाला, तब तीन प्रवचन और देने के बाद गीता-परिक्रमा पूरी होनी थी— अतः दायित्व ग्रहण के पूर्व ही उन्होंने शीर्ष नेतृत्व को सूचित कर दिया था कि उन्हें गीताजी पर बोलने के लिए महीने में एक दिन कोलकाता जाना पड़ेगा। राज्यपाल के रूप में शपथ लेने के बाद आरंभिक तीन महीनों में वे प्रवचन सम्पन्न करने कोलकाता पधारे और संकल्प पूरा किया। स्वीकृत कार्य को परिपूर्ण करने की निष्ठा उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग रही है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति उनका आदर भाव अंत तक वैसा ही बना रहा। उनकी

जो रेल-यात्रा महायात्रा में रूपान्तरित हुई, उसका प्रथम आयोजन पटना में था, जहाँ आचार्य शास्त्रीजी को 'गीता में अध्यात्म' विषय पर ही व्याख्यान देना था।

कुमारसभा पुस्तकालय-कक्ष में गीताजी पर केन्द्रित प्रवचन अगस्त १९९५ से फरवरी २००० तक के ५५ महीनों में सम्पन्न हुए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन प्रवचनों ने एक विशेष प्रकार का श्रोतृ-वर्ग निर्मित किया। प्रवचनों को टेप से लिपिबद्ध करने का कठिन काम पुस्तकालय की साहित्य मंत्री डॉ० उषा द्विवेदी ने श्रद्धा-भाव के साथ सम्पन्न किया। इनका संशोधन-संवर्द्धन करने का कार्य गुरुवर शास्त्रीजी को करना था और उसे प्रकाशन हेतु प्रेस में देना था। नवंबर २००० से जून २००४ तक के कठिन राजनीतिक दौर में जब वे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे, उनका प्रयास था कि प्रवचनों को संशोधित - संपादित कर सकें परन्तु तात्कालिक दबावों के कारण केवल आरंभिक १५-१६ प्रवचन ही सम्पादित हो सके। राज्यपाल पद से निवृत्त होने के बाद उन्होंने प्राथमिकता से यह कार्य करने का मन बनाया था और इस हेतु प्राथमिक तैयारी भी कर ली थी। मुझे स्मरण है कि कोलकाता लौटकर अपनी अप्रकाशित रचनाओं को सहेजते हुए उन्होंने गीता संबंधी पुस्तकों एवं सामग्री को अलग से रखा था और सुव्यवस्थित ढंग से काम करने के लिए वे स्वयं को प्रतिबद्ध कर रहे थे।

कुमारसभा पुस्तकालय की ओर से इस काम को वरीयता देने का आग्रह बराबर बना हुआ था अतः प्रवचनों के परिमार्जन का कार्य प्रारंभ हो गया था। गीताजी के १८ अध्यायों पर केन्द्रित इन प्रवचनों को ३ खण्डों में विभाजित कर प्रत्येक भाग में ६ अध्याय के प्रवचनों को समाहित करने की योजना उनके जीवन-काल में ही सुनिश्चित हो गई थी। तदनुसार पहले खंड के लिए प्रारंभिक परिमार्जन का अधिकांश कार्य गुरुवर कर ही चुके थे। टेप से लिपिबद्ध प्रथम २० प्रवचनों की हस्तलिखित कॉपी में १६ प्रवचन उनकी लेखनी से संशोधित भी किए जा चुके थे। प्रथम खंड के सारे काम को पूर्ण करने हेतु आचार्य शास्त्री कोलकाता तथा बाहर के स्वीकृत कार्यक्रमों को अप्रैल २००५ तक सम्पन्न कर स्वयं को एकाग्र करना चाहते थे। मई २००५ से उन्होंने श्रीरामचरितमानस पर केन्द्रित मासिक प्रवचन प्रारम्भ करने का पुस्तकालय को वचन भी दिया था। लेकिन..... *'अपने मन कछु और है कर्त्ता के कछु और'*। किसे मालूम था कि १७ अप्रैल २००५ की सुबह का दिन उनके जीवन का आखिरी दिन होगा। गुरुवर शास्त्रीजी के पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री की दो पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

भरी हुई हैं बड़ी हसरतें मन में, नहीं ठिकाना है।
किन्तु न जाने कब, किसको हा ! कहाँ यहाँ मर जाना है।।

उनके आकस्मिक देहावसान से हम सब हतप्रभ हो गए और प्रकाशन की योजना पृष्ठभूमि में जाती प्रतीत हुई। सदमे से उबरकर गंभीर विचार-विमर्श के बाद हमें आशा की एक किरण दिखाई पड़ी। सारे प्रवचन गुरुवर की वाणी में 'रिकार्डेड' तो हैं ही— उनका समुचित संपादन यदि किसी विद्वान रचनाकार द्वारा हो जाय तो कार्य सहज हो सकता है। श्री जुगलकिशोर जैथलिया ने इस हेतु सुप्रतिष्ठित साहित्यकार डॉ० नरेन्द्र कोहली के नाम का प्रस्ताव रखा जिसे सभी ने एक मत से स्वीकार किया।

हमारे आग्रह का सम्मान कर कृति के सम्पादन का महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाया डॉ० नरेन्द्र कोहली ने। अपनी घोर व्यस्तता के बावजूद उन्होंने इस बड़ी जिम्मेदारी को स्वीकार किया, यह गुरुवर शास्त्रीजी के प्रति उनकी अपार श्रद्धा का परिचायक है। आचार्य शास्त्री के लेखन एवं उनकी भाव-धारा से परिचित होने के कारण डॉ० कोहली का इस रूप में कृति से सम्बद्ध होना निश्चित रूप से प्रवचनों की मूल भावना को संरक्षित रखेगा एवं ग्रंथ को पाठकों के लिए रुचिकर तथा उपादेय बनायेगा—ऐसा हमारा विश्वास है। डॉ० कोहली के प्रति हमारा विनम्र आभार।

हिन्दी एवं संस्कृत के विद्वान आचार्य राधामोहन उपाध्याय ने पुस्तक के संस्कृत उद्धरणों को त्रुटिहीन करने में हमें विशेष सहयोग दिया। प्रकाशन समिति के संयोजक श्री जुगलकिशोर जैथलिया, पुस्तकालय के उपाध्यक्ष श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित, मंत्री श्री महावीर बजाज, साहित्य मंत्री डॉ० उषा द्विवेदी एवं सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री श्रीराम तिवारी ने पाण्डुलिपि तैयार करने एवं प्रूफ संशोधन से लेकर इस ग्रंथ के मुद्रण, प्रकाशन तक विभिन्न स्तरों पर जो आत्मीयतापूर्ण सहयोग दिया उसी के कारण नाना प्रकार की कठिनाइयों के बावजूद यह ग्रंथ प्रकाशित हो सका है, इन सभी के प्रति हमारा आभार।

हम कृतज्ञ हैं आदरणीय विष्णुकान्तजी की सुपुत्री डॉ० भारती शर्मा के जिन्होंने कुमारसभा पुस्तकालय के साथ शास्त्रीजी के अनन्य सम्पर्क को ध्यान में रखते हुए आचार्यजी के अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन की हमें अनुमति प्रदान की।

ग्रंथ-प्रकाशन हेतु आदरणीय शास्त्रीजी के प्रति परम श्रद्धावान, उद्योगपति एवं समाजसेवी श्री नन्दलालजी शाह एवं उनके अमेरिका प्रवासी सुपुत्र श्री किसलय शाह ने स्वयं आगे आकर आर्थिक सहयोग दिया एतदर्थ उनके प्रति भी हमारा विशेष आभार। ग्रंथ के स्वच्छ तथा त्वरित मुद्रण हेतु एस्केज प्रेस के श्री संजय नोपानी एवं सुन्दर आवरण सज्जा हेतु श्री श्रीजीव अधिकारी निश्चित ही धन्यवाद के पात्र हैं।

यद्यपि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की भौतिक काया हमारे बीच नहीं है परन्तु

उनके द्वारा रचित विपुल साहित्य, उनके प्रेरक व्याख्यान, आध्यात्मिक विषयों पर दिए गए उनके प्रवचन, उनके आलेख आज भी हम सबको ऊर्जा से भर देते हैं। शायर कृष्ण बिहारी 'नूर' ने ठीक ही लिखा है—

ज़िंदगी मौत तेरी मंज़िल है, दूसरा कोई रास्ता नहीं
अपनी रचनाओं में वो ज़िंदा है, 'नूर' संसार से गया ही नहीं।

रचनाओं के माध्यम से श्रद्धेय शास्त्रीजी की उपस्थिति की अनवरत अनुभूति सहृदय पाठकों को हो सके इसके लिए आवश्यक है उनकी अप्रकाशित रचनाओं का प्रकाशन। कुमारसभा पुस्तकालय ने अपने अनन्य मार्गदर्शक आचार्य शास्त्री की स्मृति को जीवन्त रखने के लिए उनके अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने का संकल्प गत वर्ष उनके देहावसान के बाद किया था। यह प्रकाशन उसी दिशा में हमारा पहला कदम है।

यद्यपि गीता पर आज विश्वभर की भाषाओं में अनेक टीकायें उपलब्ध हैं पर शास्त्रीजी के प्रवचनों की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने प्रवचनों के क्रम में भगवान आदि शंकराचार्य, रामानुचार्य प्रभृति आचार्यों से लेकर आधुनिक काल के तिलकजी, स्वामी अखण्डानन्दजी, गांधीजी एवं विनोबाजी तक की दृष्टि को यथास्थान उद्धृत कर इसे नवीनता प्रदान की है। अतः हमारा विश्वास है गीताजी पर केन्द्रित पुस्तकों में यह कृति निश्चय ही विशेष सम्मान प्राप्त करेगी।

यह ठीक है कि यदि गुरुवर शास्त्रीजी के जीवन-काल में यह प्रकाशन होता तो वे इसे और अधिक सुव्यवस्थित एवं परिपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करते—परन्तु हम जैसा भी कर सके हैं, पाठकों के सम्मुख है। हमें विश्वास है कि सुधी पाठक इस कृति के माध्यम से आदरणीय विष्णुकान्तजी के ज्ञान-गांभीर्य का साक्षात्कार तो करेंगे ही, उनके अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन की हमारी निष्ठा का भी स्वागत करेंगे।

प्रेमशंकर त्रिपाठी

(प्रेमशंकर त्रिपाठी, *अध्यक्ष*)

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता

गुरु पूर्णिमा, संवत् २०६३
११ जुलाई, २००६

अनुक्रम

प्रवचन - १ : प्रभु अर्पित विषाद भी हो जाता है प्रसाद / १
प्रथम अध्याय (अर्जुन विषादयोग) : सम्पूर्ण अध्याय

प्रवचन - २ : सांख्य-योग की अमरता / १८
द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या १ से ३०

प्रवचन - ३ : स्वधर्म पालन का महत्त्व / ४१
द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ३१ से ३८

प्रवचन - ४ : बुद्धियोग / ५९
द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ३९ से ५३

प्रवचन - ५ : स्थितप्रज्ञ दर्शन (पूर्वार्द्ध) / ८३
द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ५४ से ६३

प्रवचन - ६ : स्थितप्रज्ञ दर्शन (उत्तरार्द्ध) / १०७
द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ६४ से ७२

प्रवचन - ७ : कर्मयोग-१ / १३०
तृतीय अध्याय (कर्मयोग) : श्लोक संख्या १ से १६

प्रवचन - ८ : कर्मयोग-२ / १५०
तृतीय अध्याय (कर्मयोग) : श्लोक संख्या १७ से ३५

प्रवचन - ९ : कर्मयोग-३ / १७६
तृतीय अध्याय (कर्मयोग) : श्लोक संख्या ३६ से ४३

प्रवचन - १० : अवतारवाद / १९८
चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १ से ९

प्रवचन - ११ : कर्म-अकर्म विवेचन / २१५
चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १० से २३

प्रवचन - १२ : सूक्ष्म यज्ञ विवेचन / २४१
चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या २४ से ३३

प्रवचन - १३ : ज्ञान की प्राप्ति : प्रक्रिया और माध्यम / २६४
चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या ३४ से ४२

प्रवचन - १४ : कर्मयोग की विशेषता / २८७
पंचम अध्याय (कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १ से १२

प्रवचन - १५ : कर्तृत्व का अहंकार : एक भ्रान्ति / ३०७
पंचम अध्याय (कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १३ से २०

प्रवचन - १६ : सच्चा सुख : सच्ची शांति / ३२८
पंचम अध्याय (कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या २१ से २९

प्रवचन - १७ : जीतो मन को बन्धु बनाओ / ३४८
षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या १ से ९

प्रवचन - १८ : मनोजयी ध्यान-प्रक्रिया / ३७२
षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या १० से १९

प्रवचन - १९ : योग से परमयोग की ओर / ३९०
षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या २० से ३२

प्रवचन - २० : अभ्यास और वैराग्य का महत्त्व /.४१२
षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या ३३ से ४७

●

*प्रवचन-१**

प्रभु अर्पित विषाद भी हो जाता है प्रसाद

गीता पुण्यमय शास्त्र है। किसका शास्त्र है? कैसा शास्त्र है? इस बात पर ध्यान दें तो आप देखेंगे कि गीता एक ही साथ भगवत्-कर्तृ शास्त्र और भगवत्-कर्म शास्त्र है। गीता के रचयिता स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं। इसलिए यह भगवत्-कर्तृ शास्त्र है। भगवान के द्वारा किया हुआ, रचा हुआ शास्त्र है। क्या भगवान केवल इसके कर्त्ता हैं? ध्यान देंगे तो आपको लगेगा कि भगवान केवल इसके कर्त्ता ही नहीं हैं, भगवान ही इसके विषय भी हैं। बात यहीं समाप्त नहीं होती। गीता में आदि-मध्य-अन्त-सर्वत्र भगवान का स्वरूप, भगवान की कार्य-पद्धति और भगवान का अवलम्ब ग्रहण करने पर जीव के निस्तार का मार्ग निर्दिष्ट है, तो यह गीता न केवल भगवत्-कर्तृ शास्त्र है बल्कि भगवत्-कर्म शास्त्र भी है। भगवत् विषयक शास्त्र भी है, इसलिए इस शास्त्र की महिमा निरूपित करते हुए, बड़ी मर्यादा के साथ शंकराचार्य ने कहा—

भगवद्गीता किंचिदधीता गंगा-जललव-कणिका पीता

अर्थात् जिसने एक बार किंचित् मात्र भी भगवद्गीता का अध्ययन कर लिया, जिसने एक बार भी दो-चार बूँदें गंगाजल पान कर लिया, जिसने एक बार भी मुरारी की अर्चना कर दी, यम उसका क्या कर सकता है? 'भगवद्गीता किंचिदधीता' भगवान की गायी हुई इस गीता का थोड़ा सा भी अनुशीलन कर लेने पर मनुष्य का कितना बड़ा कल्याण होता है इसका निरूपण शंकराचार्य ने किया है और अन्य आचार्यों ने भी बार-बार इस बात को दोहराया है कि भगवद्गीता प्रमाण ग्रंथ है। किसी भी विषय की चर्चा के समय जब कोई शंका होती है तब प्रमाण के रूप में गीता के वचनों को उद्धृत किया जाता है। यह प्रमाण है यानी प्रमा का, ज्ञान का, ब्रह्म का निर्धारण करने वाला शास्त्र है। हम विनम्रता के साथ इस गीता-शास्त्र के अनुशीलन की ओर अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित करें।

गीता कहाँ कही गयी ? यह दूसरी बड़ी विलक्षण बात है। गीता ब्रह्म विद्या है।

---

* प्रथम अध्याय : अर्जुन-विषादयोग

प्रत्येक अध्याय की जो पुष्पिका है उसमें यही लिखा है— *ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।* उपनिषद् या ब्रह्मविद्या का उपदेश तो अरण्य में होता है। ब्रह्मविद्या का निरूपण, उपनिषदों का प्रवचन शान्त, निर्मल, एकान्त, राग-द्वेष-मुक्त अरण्य में होता है, जंगलों में होता है, पवित्र-भूमि में होता है। गीता का उपदेश रण-भूमि में हो रहा है। अरण्य का विषय रण-भूमि में कहा जा रहा है। यह इसकी दूसरी बहुत अद्भुत विशेषता है। इस विशेषता से एक संकेत मिलता है। वह संकेत यह है कि गीता जिस धर्मशास्त्र का निरूपण कर रही है, वह धर्मशास्त्र केवल यज्ञशाला के लिए नहीं है। यज्ञशाला के लिए, अरण्य के लिए निरूपित धर्मशास्त्र और रण-भूमि में निरूपित धर्मशास्त्र— इन दोनों का जो अंतर है, वह भी हृदयंगम होना चाहिए। *'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'* —इस बात पर ध्यान दीजिए कि हमारे धर्मग्रन्थों का अर्थानुसंधान तीन स्तरों पर, तीन भूमिकाओं पर किया जाता है— आधिभौतिक स्तर पर, आधिदैविक स्तर पर और आध्यात्मिक स्तर पर। इन तीनों स्तरों पर गीता-शास्त्र का अपना महत्त्व है।

आधिभौतिक स्तर पर गीता कौरवों और पाण्डवों के युद्ध का, महाभारत युद्ध का उपोद्घात है। युद्ध-भूमि में दोनों पक्षों की सेनाएँ उपस्थित हैं और अर्जुन के मन में दोनों पक्षों की सेनाएँ एकत्र देखने की इच्छा होती है। गीता का आरम्भ तो वहाँ से होता है; लेकिन इसमें भी एक बात पर ध्यान दीजिए। गीता हमको किसके माध्यम से मिली? गीता हमको धृतराष्ट्र और संजय के माध्यम से मिली है। भगवान् की कैसी अद्भुत करुणा है, कैसी अद्भुत कृपा है कि अपनी कृपा का प्रथम आलम्बन उन्होंने एक अंधे को बनाया जो दोनों दृष्टियों से अंधा है। उसके चर्म-चक्षु तो नहीं ही हैं, उसके ज्ञान चक्षु भी नहीं है। धृतराष्ट्र का एक अर्थ आचार्यों ने यह किया है— जो मोहयुक्त होकर अनधिकारपूर्वक राष्ट्र को धारण करे। जिस राष्ट्र पर उसका अधिकार नहीं है, जो न्यायोपार्जित नहीं है, जो उसके हक का नहीं है, उस राष्ट्र को भी बलपूर्वक धारण किया हुआ है धृतराष्ट्र ने। वह राग-द्वेष से भी ग्रस्त है। वह संजय से पूछता ही इस प्रकार है – *'मामकाः पाण्डवाश्चैव'।*

मेरा पक्ष, राग का पक्ष है— मामकाः – दुर्योधन का पक्ष; और पाण्डवाः — पाण्डवों का पक्ष— दूसरों का पक्ष— द्वेष का पक्ष है। जिसके चर्म-चक्षु भी नहीं हैं, ज्ञान-नेत्र भी नहीं हैं – उस अंधे धृतराष्ट्र को प्रभु ने अवलम्बन बनाया है, उसके माध्यम से उसके प्रश्न के उत्तर में संजय ने उसको गीता सुनाई है। इसलिए भगवान कब, किसको अपनी कृपा का आलंबन बनाएँगे, यह तो भगवान ही जानें। अपने मन में

आप हीनता-दीनता न आने दें कि हमारे ज्ञान -चक्षु निमीलित हैं, बन्द हैं, धृतराष्ट्र के भी बन्द थे। जैसे बादल बरसते हुए यह नहीं देखता कि नीचे खेती है कि ऊसर है, मरुभूमि है कि समुद्र है, वैसे ही भगवान की कृपा जब बरसती है तो बरसती है। आप पर भी बरस सकती है, मुझ पर भी बरस सकती है। अतः गीता का अध्ययन करते समय दीनता, हीनता को मन में न आने दें, भगवान की कृपा का विश्वास कर इसके अनुशीलन में प्रवृत्त हों।

मैं आपको यह बता रहा था कि गीता की एक आधिभौतिक भूमिका है और आधिभौतिक भूमिका में यह रण-भूमि का शास्त्र है। रण-भूमि का यह शास्त्र हमारे प्रतिदिन के जीवन में कर्म को योग की दिशा देने वाला शास्त्र है। आधिदैविक भूमिका में यह माना गया कि देवों और दानवों का जो युद्ध चलता रहता है, उस देवासुर संग्राम का भी एक रूपक गीता में है। युधिष्ठिर को धर्म के, भीम को पवन के, अर्जुन को इन्द्र के, नकुल - सहदेव को अश्विनी कुमार के अंश से उत्पन्न माना गया है। दुर्योधन, दुःशासन आदि को आसुरी अंश से उद्‌भूत कहा गया है। अतः महाभारत के युद्ध में देवासुर संग्राम की छाया है। गीता में भी विश्वरूप दर्शन में देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों, असुरों द्वारा प्रभु की स्तुति करायी गयी है। अतः गीता की एक आधिदैविक भूमिका है। दैवी पक्ष, आसुरी पक्ष हमारे-आपके मन में भी हैं। आप गीता का सोलहवाँ अध्याय पढ़ें तो उसमें दैवी संपदा और आसुरी संपदा का निरूपण किया गया है। एक देवासुर संग्राम मेरे भीतर भी, आपके भीतर भी चल रहा है। यदि हम अपने भीतर चलते हुए इस युद्ध में विजयी होना चाहते हैं तो हमें अपने भीतर की स्थितियों का ज्ञान होना चाहिए। स्मरण रहे, अध्यात्म का अर्थ होता है– 'आत्मनिअधि' अर्थात् अपने भीतर। इस दृश्यमान शरीर के भीतर इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है, उससे सूक्ष्म है बुद्धि, उससे भी सूक्ष्म है आत्मा। आत्मा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर ही हम मन, बुद्धि में आयी हुई विकृतियों को दूर कर चरम पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकते हैं। इस आध्यात्मिक स्तर पर भी गीता के उपदेश हमारा सम्यक् मार्गदर्शन करते हैं। अतः आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक– इन तीनों स्तरों पर गीता की महनीय भूमिका है।

'धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे'– आधिभौतिक स्तर पर राजा कुरु ने बहुत ही परिश्रम से हस्तिनापुर के चारों तरफ के क्षेत्र को जोता था। इन्द्र उस पर प्रसन्न हुए। उन्होंने आशीर्वाद दिया, वर दिया कि इस क्षेत्र में तपस्या करने वाले को मृत्यु के बाद सद्‌गति प्राप्त होगी। अतः कुरुक्षेत्र को इस कारण धर्मक्षेत्र कहा जाता है। इस संज्ञा की यह ऐतिहासिक भूमिका है। लेकिन यह याद रखें कि यह कुरुक्षेत्र, यह धर्मक्षेत्र हमारा-

आपका शरीर भी है। गीता में ही तेरहवें अध्याय में कहा है– *इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।*

यही शरीर क्षेत्र है और यह संसार ही धर्मक्षेत्र है। यह संसार ही कुरुक्षेत्र है। कुरु शब्द पर भी थोड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है। कुरु एक वंश भी है। कुरु राजा का जो वंश चला उसे कुरु वंश कहा गया, इसलिए वास्तव में तो दुर्योधन भी कुरुवंशी है और पाण्डव भी कुरुवंशी हैं। कौरव उस अर्थ में दोनों हैं, लेकिन धृतराष्ट्र चूँकि राजा था इसलिए उसने अपने को कौरव कहा और अपने ही भाई पाण्डु के पुत्रों को पाण्डव कह कर, उनको कौरवों की मुख्य शाखा से जरा अलग कर दिया। लेकिन कुरु शब्द का अर्थ काम करने के करण भी होता है। कुरवः करणानि– जिन करणों से काम किया जाए वे कुरु हैं। तो कुरुक्षेत्र माने यह शरीर– जिनमें भगवान ने हमको चौदह करण दिए हैं। दस बाह्य करण और चार अन्तःकरण। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ– ये दस बाह्य करण हैं और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार– ये चार अन्तःकरण हैं। इन चौदह करणों के द्वारा जो शरीर काम करता है वह कुरुक्षेत्र है, और यही शरीर धर्मक्षेत्र भी है क्योंकि हम इसी शरीर के माध्यम से धर्म करते हैं। शरीर का गौरव इसीलिए है कि यह शरीर धर्म का साधन बनता है। नहीं तो इस शरीर में कोई अच्छी चीज नहीं है। इस शरीर से जो कुछ भी निकलता है वह अपवित्र होता है। मल-मूत्र, थूक-पसीना, रक्त, मांस, मेद, मज्जा आदि। शरीर से कोई अच्छी चीज नहीं निकलती। शरीर का जो जड़ अंश है, उससे जो कुछ निकलता है वह अपवित्र माना गया है। फिर शरीर को पवित्र क्यों कहा जाता है ? मानव शरीर को इतना दुर्लभ क्यों माना गया है? क्योंकि यह है– *'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'।*

अतः यह धर्मक्षेत्र है। यह मानव शरीर सम्पूर्ण साधनों का आधार है। जो शरीर को साध्य मानते हैं, वे आसुरी संपदा वाले हैं। इस शरीर को खिलाओ, इस शरीर को पिलाओ, इस शरीर को चिकना बनाओ, इस शरीर को गोरा बनाओ, इस शरीर को मोटा बनाओ, बढ़िया कपड़ा पहनाओ। उनके लिए केवल शरीर ही साध्य है। नारायण! साध्य के रूप में शरीर दो कौड़ी का है। जिस जिसने शरीर को साध्य बनाया वह विपथगामी हुआ। वह पतित हुआ। शरीर केवल साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण है, साधन के रूप में अनमोल है। अकेला मानव शरीर ही कर्मयोनि और भोगयोनि दोनों है। तिरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे दूसरे शरीर केवल भोग योनि हैं। मानव शरीर का इतना गौरव, इतना महत्त्व इसलिए है कि यह एक ही साथ कर्मयोनि और भोगयोनि दोनों है। यह कुरुक्षेत्र है, यह धर्मक्षेत्र है। कर्म को ही हम धर्म बना सकते हैं।

इस बात को समझना चाहिए कि कर्म और धर्म का अंतर क्या है। कर्म से हम किसी वस्तु में, किसी स्थिति में परिवर्तन करते हैं। कोई चीज आपके पास नहीं है तो आपको कर्म करना पड़ेगा उसको पाने के लिए। कोई चीज है उसका रूप बदलना चाहते हैं तो कर्म करना पड़ेगा उसका रूप बदलने के लिए। वस्तु स्थिति या व्यक्ति के बाहरी रूप में परिवर्तन करने के लिए कर्म होता है और चित्त की शुद्धि के लिए किया गया कर्म धर्म होता है। जो कर्म चित्त को पवित्र करता है, वह धर्म हो जाता है। कर्म अगर बहिर्मुख है, कर्म अगर केवल किसी व्यक्ति या किसी वस्तु या किसी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए बाह्य दृष्टि से किया जा रहा है तो वह कर्म है और जब उसका उपयोग अपने अन्तःकरण को पवित्र करने के लिए, अपने अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए हम करते हैं तो वह कर्म, धर्म बन जाता है।

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' – उस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की एक बात और ध्यान देने योग्य है। गीता कही तो गई है अर्जुन के लिए ; लेकिन अर्जुन तो वत्स है, बछड़ा है–

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्।।'

गैया के थन में दूध उतरता नहीं जब तक बछड़ा उसमें मुँह नहीं मारता। बछड़ा जब मुँह मारता है, अपना बेटा 'आत्मावै जायते पुत्रः' आत्मज बेटा जब स्तन को छूता है तो माँ का अपना ही रक्त वात्सल्य से प्रेरित होकर दूध बन जाता है। दूध क्या है? माँ का रक्त है। माँ का रक्त केवल वात्सल्य से प्रेरित होकर दूध बनता है। जब तक बच्चा, बछड़ा थन में मुँह नहीं मारता तब तक दूध उतरता नहीं है।

'पार्थो वत्सः'— पार्थ तो केवल बछड़ा है। गीता कही किसके लिए गई है? 'सुधीर्भोक्ता'– आप जैसे सुधी, विद्वान्, पंडित, ज्ञानी जो इस विषय को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं, उन सुधी भोक्ताओं के लिए गीता कही गयी है। गीता में कहा गया है कि युद्ध केवल महाभारत के रणक्षेत्र में नहीं होता, सब जगह होता है, सबके मनों में होता रहता है। अतः भगवान ने कहा है— 'मामनुस्मर युद्ध्य च'- निरन्तर मेरा स्मरण करो और निरन्तर युद्ध करो। यह निरन्तर युद्ध हमारे-आपके जीवन में प्रतिक्षण चलने वाला युद्ध है। समर्थ स्वामी रामदास ने कहा है—

'रात्रं दिना आम्हा युद्धा च प्रसंग
अन्तर्बाह्य जग आणि मन।'

मैंने इसका हिन्दी अनुवाद किया है—

युद्धरत मैं रात-दिन, बहिरन्तर जग और मन।

रात-दिन युद्ध में हम लगे हैं। प्रतिक्षण युद्ध चल रहा है कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बीच। राग-द्वेष हमको अलग ले जाता है और कर्त्तव्य-बोध अलग ले जाता है। उस युद्ध में लगे हुए, भगवान का निरन्तर स्मरण करते हुए हम लोगों के लिए है यह गीता-शास्त्र, यह रण-भूमि का शास्त्र। यह केवल यज्ञशाला का धर्म नहीं बताता है, यह तो जीवन युद्ध का धर्म निरूपित करने वाला शास्त्र है। भगवान की कृपा से हमको यह प्राप्त हुआ है।

भगवान गीता के प्रथम अध्याय में बताते क्या हैं? वे यह बताते हैं कि अच्छे-से-अच्छा, बड़े-से-बड़ा, धर्मात्मा से धर्मात्मा आदमी भी मोहासक्त हो सकता है। किसी को भी यह अहंकार नहीं करना चाहिए कि मैं मोह से ऊपर उठ गया हूँ।

गीता के प्रथम अध्याय में धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय बताते हैं कि दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास गया। दुर्योधन सेनापति भीष्म के पास न जाकर द्रोण के पास क्यों गया? कुछ लोगों का कहना है कि उसके मन में भीष्म और द्रोण दोनों के प्रति शायद थोड़ी-थोड़ी शंका थी कि ये लोग चाहते तो हैं कि युद्ध में विजय पाण्डव पक्ष की हो पर लड़ रहे हैं मेरे पक्ष से। इन दोनों के प्रति वह सावधान रहता है और द्रोण से कहता है कि आप भीष्म की रक्षा करते रहें। पहले वह पाण्डव पक्ष के सेनानायकों का वर्णन करता है फिर अपने पक्ष के सेनानायकों का वर्णन करता है। उसमें एक बात पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। (१/१०)

भीष्म के द्वारा रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है और भीम के द्वारा रक्षित प्रतिपक्षी सेना पर्याप्त है। इसमें बड़ा मतभेद है कि पर्याप्त और अपर्याप्त का मतलब क्या है? कुछ लोगों ने बताया है कि उसके मन में भय है, शंका है कि हमारी हार होगी और इसलिए अपनी सेना को वह अपर्याप्त बताता है। कम बताता है और पाण्डवों की सेना को पर्याप्त बताता है काफी बताता है। यह अर्थ सही अर्थ नहीं है। क्योंकि दुर्योधन ने बार-बार महाभारत में यह बात कही है कि हमीं जीतेंगे। हम जीतेंगे। जीतने के लिए वह लड़ रहा है और उसके मन में यह शंका नहीं है कि मैं हारूँगा और पाण्डव जीतेंगे। यहाँ पर्याप्त और अपर्याप्त का विशेष अर्थ है। देखिए आप्त का मतलब होता है जिसको पाया जा सकता है। इसी में 'प्र' उपसर्ग लगता है तो होता है प्राप्त। यों भी जब हम आप्त वचन कहते हैं तो आप्त वचन का मतलब होता है, किसी महापुरुष से पाया हुआ वचन। अतः पर्याप्त का मतलब हुआ परि+आप्त अर्थात् चारों तरफ से जिसको

पाया जा सकता है। साधारण बोलचाल में जब हम कहते हैं कि इतना रुपया पर्याप्त है किसी काम के लिए तो उसका अर्थ होता है कि उस काम को करने के लिए जो-जो साधन चाहिए वे सब उतने रुपये में आ जायेंगे। पर्याप्त का मतलब हुआ जिसको भली-भाँति पाया जा सकता है। जिस सेना को पाया जा सकता है, जिस सेना को जीता जा सकता है उसे दुर्योधन पर्याप्त बता रहा है और अपर्याप्त सेना का अर्थ हुआ कि जिस सेना को पाया नहीं जा सकता, जीता नहीं जा सकता। किसी-किसी ने पर्याप्त का अर्थ परिमित कहा है। किसी-किसी ने अपर्याप्त का अर्थ अपरिमित कहा है। यह भी अर्थ दुर्योधन के पक्ष में जाने वाला है। लेकिन मेरे गुरुजी स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती ने कहा कि आप्त का अर्थ होता है पर्याप्त। यह सेना पायी जा सकती है, जीती जा सकती है। और हमारी सेना किसी के द्वारा पायी नहीं जा सकती है, जीती नहीं जा सकती है। हमारी सेना अपर्याप्त है, अजेय है। इसी समय अर्जुन के मन में इच्छा होती है कि हम सेना के बीच में जाकर सेना का निरीक्षण करें और वह भगवान को आदेश देता है। एक बात स्पष्ट करें— रथी बड़ा होता है कि सारथी? साधारण व्यवहार में रथी बड़ा होता है। रथी आज्ञा देता है और सारथी उसका पालन करता है। गीता में यह बात ऐसी नहीं है। यह सारथी शब्द भी गीता में प्रतीकात्मक है। उपनिषदों में आया है— *बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।* वहाँ पूरा रूपक बाँधा गया है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है। आत्मा रथी है, तो बुद्धि सारथी है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं— *बुद्धौ शरणमन्विच्छ, कृपणाः फल हेतवः ।*

बुद्धि की शरण में जाओ। श्रीकृष्ण बुद्धि को महत्त्व देते हैं। अर्जुन इन्द्र का पुत्र है। हाथ का देवता इन्द्र है। वह कर्म का प्रतीक है। कर्म के प्रतीक से बुद्धि के प्रतीक श्रीकृष्ण बड़े हैं। इसलिए अर्जुन से श्रीकृष्ण बड़े हैं। वे सारथी हैं, वे संचालन कर रहे हैं, वे उसके बुद्धिदाता हैं। लेकिन भगवान की करुणा है, उनकी कृपा है कि वे अर्जुन की बात मानकर उसके रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले आए। वहाँ अर्जुन दोनों पक्षों का निरीक्षण करता है। दोनों पक्षों का निरीक्षण करने पर उसको दिखायी पड़ता है कि दोनों पक्षों में भाई हैं, चाचा हैं, दादा हैं, गुरु हैं, पुत्र हैं, पौत्र हैं, साले हैं, संबंधी हैं, मित्र हैं। यह साक्षात्कार उसको विचलित कर देता है। यह नहीं कि उसको पहले यह मालूम नहीं था। उसको मालूम था कि युद्ध अपने ही दोनों पक्षों में हो रहा है। उसने ही युद्ध की भूमिका रची थी। कृष्ण को आमंत्रित करने वही गया था; लेकिन जानी हुई बात भी जब साक्षात्कृत होती है, सुनी हुई, जानी हुई बात जब प्रत्यक्ष दिखती है तो उस प्रत्यक्ष का जो प्रभाव होता है वह कुछ विलक्षण होता है और उस प्रत्यक्ष के प्रभाव से अर्जुन के

मन में विचिकित्सा उत्पन्न होती है, संशय पैदा होता है। उस संशय में मोह के कारण वह कहता है कि अरे! मैं कितना बड़ा पाप करने जा रहा हूँ। आखिर हम लोग राज्य पाना किसके लिए चाहते हैं। सुख के लिए राज्य पाना चाहते हैं। किनके सुख के लिए? मैं मारूँगा। किनको मारूँगा? मैं अपने भाइयों को मारूँगा। किनके साथ सुख भोगेंगे? जिनके लिए मैं राज्य चाहता हूँ, जिनके साथ सुख-भोग करने के लिए राज्य चाहता हूँ, वे तो प्राणों का मोह त्याग कर मरने-मारने के लिए खड़े हैं। मैं अपने गुरुजनों को मारूँगा। मैं अपने नाते-रिश्तेदारों को मारूँगा। वे भी तो मारेंगे। कौन मरेंगे दोनों पक्षों में? दोनों पक्षों में अपने ही स्वजन मरेंगे। स्वजन मरेंगे तो फिर क्या होगा? पुरुष समाज का नाश हो जाएगा। महिलाएँ विधवा हो जायेंगी। विधवा महिलाएँ दूसरों के द्वारा धर्म-भ्रष्ट होंगी। धर्म-भ्रष्टों का, वर्णसंकरों का, समाज बनेगा। कितना बड़ा पाप होगा? हमारे पितर पतित हो जाएँगे। क्या यह करना उचित होगा?

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति

मेरा शरीर फट रहा है, मुख सूख रहा है, मैं थर-थर काँप रहा हूँ।

भ्रमतीव च मे मनः

मेरा मन भ्रान्त हो गया है।

'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' और वह मन भ्रान्त हो गया है। एक बढ़िया श्लोक है—

चित्तायुतं धातुबद्धं शरीरं, नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति।

सात धातुओं से बना हुआ यह शरीर मांस, मेद, मज्जा, रक्त, वीर्य आदि-आदि। सात धातुओं से बना यह शरीर— चित्त के अधीन है। इस धातुबद्ध शरीर का शासन, नियमन चित्त करता है।

'नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्' — अगर चित्त नष्ट होता है, अगर चित्त विकारग्रस्त होता है तो शरीर भी विकारग्रस्त हो जाता है। क्रोध आ जाए तो मुँह सूख जाता है। क्रोध में शरीर काँपने लग जाता है। आँखें लाल हो जाती हैं, तापमान बढ़ जाता है। काम, क्रोध, लोभ कोई भी मनोविकार सम्पूर्ण शरीर को जर्जर कर देता है।

'नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्' —अगर चित्त नष्ट हुआ, चित्त में विकृतियाँ आईं तो शरीर की शक्ति क्षीण हो जाएगी। अर्जुन, इसे प्रमाणित कर रहा है। महावीर अर्जुन का शरीर काँप रहा है, थर-थर कर रहा है, उससे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है, उसका माथा घूम रहा है। हाथ से गाण्डीव छूट रहा है।

'तस्मात् चित्तं सर्वतो रक्षणीयम्' — इसलिए सब प्रकार से अपने चित्त की रक्षा करो।

चित्तं रक्षत रक्षत।
कोषाणामपि कोषं हृदयं भवति।
यस्मिन् रक्षिते चित्ते, कोषं भवति रक्षितम्।

क्या बैंक बैलेंस की रक्षा करते हो? क्या बचा कर रखते हो? छिः पैसा आएगा-जाएगा।

कोषों का भी कोष, खजानों का भी खजाना तुम्हारा अपना हृदय शुद्ध हो, तुम्हारा अपना हृदय निर्मल हो, तुम्हारा अपना हृदय कर्त्तव्य-रत हो, तुम्हारा अपना हृदय विवेकी हो, सद्बुद्धि के द्वारा परिचालित हो, वह नष्ट न हो, अविवेकी न हो, पराजित न हो, इसका ध्यान रखो।

इसलिए चित्त की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। *स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति*— अच्छी बुद्धि कहाँ से आएगी? शुभ बुद्धि कैसे आएगी? जब चित्त स्वस्थ होगा, अपने में स्थित होगा, तभी अच्छी बुद्धि आयेगी।

हमारे शब्द कितने अद्भुत हैं? स्वस्थ–अंग्रेजी में कह देंगे 'Healthy', फारसी में सेहतमंद। अरे! स्वस्थ का मतलब क्या है? स्वस्थ का मतलब है— 'स्व' में 'स्थित'। जो अपने आपे में हैं, अपने में स्थित है, वही स्वस्थ है। अंग-प्रत्यंग अपने में स्थित है। कोई अंग सुखंडी के रोग से क्षीणकाय हो गया या फीलपाँव होने के कारण पाँव हाथी की तरह फूल गया तो अस्वस्थ हो गया वह अंग। क्योंकि स्व की सीमा से या तो सिकुड़ गया है या स्व की सीमा से परे फैल गया है। स्वस्थ का मतलब— अपनी मर्यादा में स्थित। स्वस्थ का मतलब अपने स्वरूप में स्थित। चित्त स्वस्थ होना चाहिए। अपने रूप को, अपने वास्तविक लक्ष्य को, अपने कर्त्तव्य को जानते रहना चाहिए। क्यों, कहाँ, किसलिए आए हैं? क्या लक्ष्य है? क्या कर्त्तव्य है? यह स्मृति जब जागी रहती है और जब अपने में हमारा मन स्थित रहता है, न काम के अधीन होता है, न क्रोध के अधीन, न लोभ के अधीन, तब हम स्वस्थ रहते हैं।

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति।

अच्छी बुद्धियाँ, श्रेष्ठ बुद्धियाँ तब आएँगी जब चित्त स्वस्थ होगा। भगवान ने किया क्या? आप इस पर ध्यान दीजिए कि भगवान ने उसके चित्त का स्वास्थ्य ठीक कर दिया। गीता का पहला अध्याय दूसरे अध्याय में प्रवेश करता है। दसवें श्लोक तक पहले अध्याय का जल, खाड़ी की तरह दूसरे अध्याय में प्रवेश कर जाता है।

जब अर्जुन थरथराकर अपनी बात कह कर बैठ गया तो भगवान ने कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। (२।२-३)

श्रीकृष्ण की ये सारी गालियाँ बेकार हो गयीं। श्रीकृष्ण ने पहले यह अनुमान किया था कि अर्जुन यों ही सामयिक रूप से, ऊपरी स्तर पर मोहग्रस्त हुआ है। इसलिए उन्होंने उसको झकझोरा। उन्होंने सोचा था कि झकझोर देने से वह अपने आपे में, होश में आ जाएगा। नहीं! अर्जुन सामयिक रूप से, सतही रूप से मोहग्रस्त नहीं हुआ था। गंभीर रूप से, मूलगत रूप से हुआ था। देखो, कह क्या रहे हैं श्रीकृष्ण—

'कुतस्त्वा कश्मलमिदं'– अरे कहाँ से आ गया यह कश्मल? यह पाप। तुममें तो यह था नहीं। तुम तो योद्धा हो, वीर हो, तुममें पाप था नहीं। कहाँ से आ गया? इस युद्ध काल में, विषम काल कैसे आ गया? किसी सामान्य-काल में आता तो आता, लेकिन युद्ध काल में कहाँ से आ गया? यह तो अनार्यों के योग्य है। यह स्वर्ग से तुमको पतित कर देगा। अस्वर्ग्य है। अकीर्त्तिकर है। अरे! तुम नपुंसकता की ओर जा रहे हो, ऐसा मत करो। तुम योद्धा हो।

उसको उत्साह देने के लिए श्रीकृष्ण ने ये सारी बातें कहीं। किन्तु इन से कोई लाभ नहीं हुआ। अर्जुन को आन्तरिक मोह हुआ था, सतही नहीं। अतः इन व्यंग्यों से अप्रभावित रह कर उसने कहा, नहीं भाई! मूल की बात, जड़ की बात बताओ। बिना जड़ की बात को स्पष्ट किए तुम्हारे ये सारे आरोप मुझको छू नहीं पाये, ये ऊपर-ऊपर से गुजर गए। वह अपनी बात को दोहराता है। मैं तो मरने के लिए खड़ा हूँ। मैं तो कहता हूँ कि वे मुझे मार डालें। मैं मरने से डरता तो भागता। मैं तो भाग नहीं रहा हूँ, मैं तो कहता हूँ कि वे मुझे, निहत्थे को मार डालें तो भी अच्छा होगा। मैं डरपोक नहीं हूँ, मरने से नहीं डरता। मेरी मूल बात का जवाब दो। क्या यह उचित है कि हम अपने तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए, सुख भोग के लिए अपने गुरुजनों का वध कर दें? क्या हम ऐसा घनघोर युद्ध करें जिससे सारा समाज वर्णसंकर हो जाये? देखो, अर्जुन के मन में तीन विकृतियाँ हैं, तीन गलतियाँ हैं, तीन बड़े भ्रम हैं। तीन बड़ी त्रुटियाँ अर्जुन कर रहा है अपनी बातों में। इन तीनों बातों का उत्तर भगवान को विस्तार से देना पड़ रहा है।

पहली बात वह अपने को मारने वाला मानता है। मैं इनको मार डालूँ ? यानी उसको आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वह मारने वाला है? और यह मरने वाला

है? न कोई मारने वाला है और न कोई मरने वाला है। मैं मारने वाला हूँ— यह बात आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से वंचित व्यक्ति कह सकता है। और इसीलिए आत्म-तत्त्व का गीता में इतना विस्तृत निरूपण है। बहुत से लोग कहते हैं कि गीता में आत्म-तत्त्व के निरूपण की आवश्यकता क्या है भाई ? सीधे-सीधे युद्ध की बात कहो। अरे यह युद्ध-शास्त्र नहीं है। भगवान ने अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा कर्त्तव्य-पालन के अर्थ में दी है।

अर्जुन समझता है कि मैं गुरुजनों को मारूँगा, गुरुजन मरेंगे। एक बात। दूसरी बात यह कि जो सारी बात अर्जुन पण्डिताई की बघार रहा है यह पण्डिताई कहाँ से उत्पन्न हुई? यह पण्डिताई विवेक-प्रसूत है या मोह-प्रसूत? यदि धृतराष्ट्र की सेना सामने न होती, जरासन्ध की सेना सामने होती या अगर लड़ाई कौरवों पाण्डवों की न होती और किसी दूसरे शत्रु से युद्ध करना होता तो क्या अर्जुन ये सारी बातें बघारता? इसके पहले किसी युद्ध के समय कभी उसने बघारी थीं? युद्ध तो उसने बार-बार किया था। अर्जुन शब्द के दो अर्थ हैं, अर्जन करने वाला अर्जुन, चाहे वह ज्ञानार्जन करे, चाहे वह धनार्जन करे, चाहे विजय अर्जन करे। *अर्जनत्वात् अर्जुनः ।*

उसने तो बराबर विजय अर्जित की है। पहले किसी युद्ध में उसने युद्ध के विरोध में ऐसा ज्ञान तो कभी नहीं बघारा। अभी क्यों बघार रहा है? इसलिए नहीं कि वह युद्ध-विरोधी हो गया है। इसलिए कि उसके सामने उसके भाई-बन्धु हैं। ये मोह से प्रसूत बातें हैं, विवेक से प्रसूत नहीं। मोह से प्रसूत, मोह से उत्पन्न बातों को पुष्ट करने के लिए, विवेक को जोड़ रहा है। लोग जब कर्त्तव्यच्युत होते हैं तब कभी, कोई भी व्यक्ति सीधे-सीधे कर्त्तव्य-च्युत होना स्वीकार करता है? अपने गलत काम के लिए हम सौ तर्क देते हैं कि नहीं? छाती पर हाथ रखकर हम सोचें कि जब-जब हमने गलत काम किए हैं, तब-तब उस गलत काम की संरक्षा में सौ तर्क दिए हैं कि नहीं? अपनी गलती को गलती नहीं मानकर अपनी गलती को सही साबित करने की चेष्टा करते हैं। सारा अपराध यहीं होता है। गलती करना कोई अपराध नहीं है। दुनिया में आज तक कोई ऐसा नहीं हुआ है जिससे कोई भूल न हुई हो, जिससे कोई त्रुटि न हुई हो। न कोई ऐसा होगा। अच्छा आदमी वह जो अपनी भूल को स्वीकार करे, उसे सुधारे। बुरा आदमी वह जो अपनी भूल को सही साबित करने की कुचेष्टा करे। सारा दोष यह है कि कर रहे हैं दोष और उसको साबित कर रहे हैं हुनर।

ऐब यह है कि करो ऐब हुनर दिखलाओ,
वरना यहाँ ऐब तो सब फर्दबशर करते हैं।

जितने प्राणी हैं, सबसे गलतियाँ होती हैं और इसलिए प्रार्थना करनी चाहिए। स्वामी शरणानन्द के शब्दों में—

हे समर्थ! हे करुणासागर! विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर, उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।

अच्छे आदमी की प्रार्थना है, हे प्रभु मैं अपनी भूल देख सकूँ, तुम्हारी कृपा से उसे ठीक कर सकूँ। बुरा आदमी तो अपना बिल्व बराबर भी दोष नहीं देख पाता और दूसरे का सरसों बराबर दोष भी देख लेता है—

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनः बिल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।।

प्रभु कृपा से हम अच्छे आदमी बनें, बुरे नहीं। हम दूसरों का दोष न देखें। हे रामजी हमको वह दृष्टि दीजिये कि हमको अपनी गलती दिखे। अपने दोष दिखें। मैं बता यह रहा हूँ कि अर्जुन की यह सारी की सारी तर्क-श्रृंखला विवेक-प्रसूत नहीं है, मोह-प्रसूत है; क्योंकि वह अपने भाइयों से लड़ने में हिचक रहा है। इस सन्दर्भ में विनोबा भावे ने एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है—

एक न्यायाधीश था। उस न्यायाधीश के सामने कई बार हत्या के मुकदमे आए और उसने हत्यारों को फाँसी की सजा दी। एक बार उसके पुत्र ने एक हत्या की और उसका केस भी उसके सामने उपस्थित हुआ। साधारण तौर पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए तर्क मत करो कि गलत उदाहरण दे रहे हैं। उदाहरण एकदेशीय होता है। मान लो कि उस न्यायाधीश के सामने उसके हत्यारे पुत्र को अपराधी के रूप में उपस्थित किया गया और तब उसने तर्क देना शुरू किया कि भाई! हत्या करने वाले ने तो आवेश में हत्या कर दी और हम ठंडे माथे से उसको फाँसी चढ़ायें— यह ठीक नहीं है। इसलिए उसको ठंडे माथे से सुधरने का अवसर देना चाहिए। उससे अपनी गलती स्वीकार कराके उससे आत्म-संशोधन कराना चाहिए। ये तर्क उसने दूसरों के लिए नहीं दिये थे —लेकिन अपने बेटे के लिए दिये। यह स्पष्टतः मोह-प्रसूत तर्क हैं। अर्जुन की दूसरी बड़ी गलती यह है कि वह मोहग्रस्त हो गया है।

मुह् वैचित्ये— उल्टा ज्ञान। इसके चलते अर्जुन को अपने कर्त्तव्य का विस्मरण हो रहा है यह उसकी तीसरी गलती है और गीता यहीं पर आती है। गीता ने किया क्या है? गीता ने यह बताया है कि अर्जुन का धर्म क्या है? गीता मानती है—

श्रेयान्स्वधर्मोः विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। (३/३५)

अर्थात् अपना धर्म अगर विगुण भी है, गुणहीन भी है तो दूसरों के अच्छे माने

जाने वाले धर्म से वह मेरे लिए श्रेष्ठतर है। अर्जुन का धर्म योद्धा का धर्म है। उसे कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए युद्ध करना है। कर्त्तव्य-भाव से युद्ध करना है और यह मोह उसको अपने कर्त्तव्य-कर्म से पथभ्रष्ट कर रहा है। अगर अर्जुन संन्यासी हो जाता, जंगल में चला जाता तो क्या उसका स्वभाव बदल जाता? चोर चोरी से गया तो क्या तुम्बा-फेरी से भी गया? आपने यह कहानी सुनी है या नहीं?

एक चोर था। एक साधु के सत्संग में आकर बैरागी बाबा हो गया।अब उसकी तो थी चोरी करने की आदत। वह किसी का तुम्बा उठाकर किसी दूसरे के यहाँ रख देता, उसका तुम्बा उठाकर किसी और के यहाँ रख देता था। रोज लड़ाई होती थी कि तूने मेरा तुम्बा ले लिया तूने मेरा ले लिया, उसकी जो यह चोरी करने की प्रकृति थी, वह उससे यह काम करा रही थी। अर्जुन अगर जंगल भी चला जाता तो हिरण को मारने लगता, पशुओं को मारने लगता। वह जो उसकी मारने की प्रवृत्ति है, युद्ध करने की जो उसकी प्रवृत्ति है, युद्ध करना जो उसका धर्म था, वह उससे नहीं छूटता। इसलिए यह कहना कि गीता ने केवल युद्ध करने की प्रेरणा दी है— आधी बात कहना है। गीता ने स्वधर्म पालन करने की प्रेरणा दी है। कोई भी व्यक्ति जब अपने धर्म से च्युत होता है मोह के कारण तो गीता उसके स्वधर्म विषयक मोह को दूर करती है और उसको अपने धर्म में प्रवृत्त करती है।

चलो छोटी-छोटी बात लेकर हम लड़ने चलें— हमको, आपको गीता यह नहीं कहेगी। हम आप अपने-अपने धर्म के अनुसार कर्त्तव्य बुद्धि से काम कर रहे हैं। अगर उस कर्त्तव्य-बुद्धि में कहीं विकार आया और उस विकार के कारण, मोह के कारण, हम अपने कर्त्तव्य से विचलित हुए, तो गीता का अध्ययन हमारे मोह को दूर कर हमको अपने धर्म में पुनः प्रवृत्त करेगा। गीता स्वधर्म विषयक मोह का निरसन करती है। अर्जुन का धर्म युद्ध करना था, उसे गीता युद्ध में प्रवृत्त करेगी। अगर किसी का धर्म साधना करना है तो उसे भोग से निवृत्त करके गीता साधना में प्रवृत्त करेगी। अगर किसी का धर्म समाज-सेवा करना है तो उसे मोह से निवृत्त कर गीता समाज-सेवा में प्रवृत्त करेगी। अर्थात् गीता का तीसरा कार्य है स्वधर्म के सम्बन्ध में मोह के कारण आयी हुई उलटी बुद्धि को दूर कर स्वधर्म में प्रवृत्त करना। अपने धर्म से संबद्ध जो उलटी बुद्धि अर्जुन के मन में आ गयी, उस उलटी बुद्धि को दूर करने की चुनौती भगवान को दे रहा है अर्जुन। कृष्ण क्या तुम हमको गाली देकर अपनी बात मनवा लोगे? तुम हमको कहोगे *'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'*— और हम मान लेंगे। हमको बताओ कृष्ण कि हम अपने गुरुजनों को क्यों मारें? हमको बताओ कृष्ण कि हम अपने

स्वजनों से युद्ध क्यों करें? हमको बताओ कृष्ण कि हमारा धर्म क्या है? बिना इन बुनियादी सवालों का जवाब पाये अर्जुन को शान्ति नहीं है। अर्जुन को केवल यदि सतही, क्षणिक व्यामोह हुआ होता तो कृष्ण की उत्तेजनायुक्त शब्दावली से वह युद्ध करने लगता। कृष्ण ने अर्जुन को कैसी कड़ी-कड़ी बातें कहीं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। (२/२-३)

नहीं-नहीं कृष्ण नहीं। केवल तुम्हारे इन उत्तेजक शब्दों से नहीं। हमारे विवेक में, विचार में आए हुए जो संशय हैं, उन संशयों को तुम केवल गाली देकर दूर नहीं कर सकते। इसीलिए फिर श्रीकृष्ण ने विस्तार से गीता के तत्त्व ज्ञान का निरूपण किया।

दो बातों पर ध्यान दीजिए। गीता शरणागति से आरंभ होती है और शरणागति में शेष होती है। अर्जुन कहता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (२।७)

प्रपन्नं- प्रपन्न माने जिसने प्रपत्ति ग्रहण की है। प्रपत्ति माने शरणागति।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः —मेरा जो स्वभाव है, जो अपना भाव है, वह तो योद्धा का भाव है। उस योद्धा के भाव को मैं कार्पण्य के कारण विस्मृत कर चुका हूँ। अतः मेरा स्वभाव खंडित हो गया है। एक बढ़िया बात पर ध्यान दीजिए। एक ही कृप् धातु है, कृप् से सत्त्व गुण में शब्द बनता है कृपा। रजोगुण में बनता है कृपाण; और तमोगुण में बनता है कृपण। कृपा, कृपाण और कृपण। कृपा— भगवान की कृपा वह जो दुर्बलों, असहायों पर बरसती है, वह जिस कृप् धातु से बनती है उसी धातु से कृपाण बनती है। योद्धा रक्षा करने के लिए कृपाण संचालित करता है। डाकुओं के कृपाण को कृपाण नहीं कहा जाता। शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए जब देशभक्त कृपाण चलाते हैं तो वह कृपाण है। और कृपण— आजकल कहते हैं कंजूस को केवल इतनी बात नहीं है। कृपण केवल कंजूस को नहीं कहेंगे। जो अपनी वृत्ति में कुंठित हो जाता है—

कामार्ताहि प्रकृति कृपणाश्चेतनाश्चेतनेषु

जो कामार्त होते हैं— वे प्रकृति से विभ्रान्त हो जाते हैं, वे समझ नहीं पाते कि जो काम चेतन लोगों का है, उसे वे अचेतनों को बता रहे हैं। विरहकातर यक्ष मेघ को

कह रहा है कि तुम मेरा संदेश ले जाओ मेरी प्रिया के पास। वह कामार्त है, उसकी प्रकृति कुंठित हो गयी है। कृपण माने जो आर्त हो। कृपण का मतलब है जो गरीब हो, दुखी हो और उसी के अर्थ में फिर एक कंजूस जो है— चमड़ी जाए तो जाए, दमड़ी न जाए। उसे भी कृपण कहते हैं।

कृपण के भाव को कहते हैं कार्पण्य। कार्पण्य का मतलब है दैन्य। *कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः।* दैन्य के कारण, कार्पण्य के कारण, वीरत्व का मेरा स्वभाव खंडित हो गया है। *पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।* मूल बात यह है कि धर्म के बारे में मेरा मन संमूढ़ हो गया है। सम्यक् रूप से मूढ़ हो गया है, मोहग्रस्त हो गया है। मेरा धर्म क्या है? मेरा धर्म क्या नहीं है? मैं इसको समझ नहीं पा रहा हूँ। इसको निर्धारित नहीं कर पा रहा हूँ। हे कृष्ण, मुझे साफ-साफ बताओ मेरा धर्म क्या है? मुझे क्या करना चाहिए? इसी मोह के निरसन के लिए गीता का उपेदश है। धर्म-संमूढ व्यक्ति को धर्म का ज्ञान कराने के लिए स्वधर्म के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा उत्पन्न करने के लिए गीता का उपदेश है, गीता में केवल युद्ध का उपदेश नहीं है। जिसका जो भी कर्त्तव्य है, उस कर्त्तव्य से अगर वह कुंठित होता है, विचलित होता है तो गीता धर्म-संमूढ चित्त वालों को धर्म का सही स्वरूप बताएगी।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

जो मेरे लिए श्रेयस्कर है, कल्याणकर है, मंगलमय है, निश्चित भाषा में, द्वयर्थहीन भाषा में— जिसके दो अर्थ नहीं हों— 'यह करो' ऐसी निश्चित भाषा में तुम मुझे बतलाओ कि मेरा भला किसमें है?

शिष्यस्तेऽहं– शिष्य का मतलब शिक्षा देने योग्य नहीं है, शिष्य का मतलब है— शासन करने योग्य। गुरु शिक्षा भी देता है; किन्तु वस्तुतः गुरु शिष्य पर शासन करता है। इसीलिए अर्जुन कहता है—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारा शरणागत हूँ, मुझपर शासन करो, मुझे निर्देश दो कि मुझे क्या करना चाहिए। लेकिन अर्जुन की शरणागति अभी तक पूरी नहीं हुई। वह इतनी सारी बात कहता है और फिर यह भी कहता है—

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह। (२/९)

लो, अभी तो कहा तुमने कि मैं तुम्हारा शरणागत हूँ। मुझे बताओ कि मैं क्या करूँ? तुमने बताने के पहले ही निर्णय कर लिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। *'न योत्स्य'* कैसे शरणागत हो भइया? क्या शरणागति इसी को कहते हैं? तुम आए, तुमने कहा

कि धर्म के बारे में मुझको मोह हो गया। मैं कार्पण्य-दोष से ग्रस्त हो गया। जो मेरे लिए श्रेयस्कर है, उसका उपदेश दो। मेरा शासन करो। तो फैसला तुम करोगे कि कृष्ण करेंगे? तुमने कैसे फैसला कर लिया ?

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।

मैं युद्ध नहीं करूँगा, बोलकर चुप हो गया। कृष्ण हँसे। अच्छा शिष्य मेरा है, जो एक तरफ तो अपने को मेरा शरणागत कहता है और दूसरी तरफ कहता है, मैं युद्ध नहीं करूँगा। अतः हँसते हुए बोले श्रीकृष्ण। क्योंकि उनको आत्मविश्वास था कि मैं इसके मोह को दूर कर दूँगा। इसलिए वे हँसे। क्योंकि उनको अटपटा लगा कि कैसा बेवकूफी भरा आचरण करता है यह। कहता है शिष्य हूँ, श्रेयस्कर रास्ता बताओ और निर्णय खुद करता है। और सखा है इसलिए उसको थोड़ा गुदगुदाया, प्रसन्न किया। लेकिन जो असली बात है उसे ठीक तरह से समझना चाहिए। यह जो उसने कह दिया मैं युद्ध नहीं करूँगा, यह उसकी ऋजुता है, यह निश्छलता है, निष्कपटता है। सारी बात कहता है वह कि मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मेरा शासन करो। मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ, लेकिन उसी के साथ-साथ यह भी कह देता है कि भाई! इस समय तो मेरी वृत्ति यह है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। छिपाता नहीं है। क्यों विषाद-योग होता है? विषाद, योग कैसे हो जाता है? श्रीमद्भगवद्गीता के पहले अध्याय का नाम है— अर्जुन विषाद-योग। विषाद और योग? ये तो परस्पर विरोधी बातें हैं। नहीं, ये विरोधी बातें नहीं हैं। विषाद भी योग बन जा सकता है। योग का मतलब क्या है? योग का यहाँ मतलब है जो भगवान से मिला दे। हाँ, तुम्हारा विषाद भी योग हो सकता है अगर तुम उसको निश्छल भाव से प्रभु को निवेदित करो। यहीं अर्जुन शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति उभरती है। पहली थी *अर्जनत्वात् अर्जुनः*। जो अर्जनशील है उसको अर्जुन कहते हैं; और दूसरी व्युत्पत्ति है *ऋजुत्वात् अर्जुनः* —जो ऋजु है, सरल है, सीधा है, निश्छल है, जो कुछ छिपाता नहीं वह अर्जुन है। जिसने सीधे-सीधे अनुचित लगता हुआ वचन भी ईमानदारी से कह दिया कि मैं तो अब नहीं लड़ूँगा। यह बात भी उसने कह दी, छिपाई नहीं। तुलसी बाबा का एक दोहा याद आ गया— *तुलसी राम कृपालु को कहि सुनाउ दुःख दोष। होय दूबरी दीनता परम पीन संतोष।* अपने दुःख और दोष दोनों रामजी को कह सुनाओ। हमलोग रामजी को केवल दुःख सुनाते रहते हैं। दुःख जिस दोष के कारण हुआ है, वह दोष नहीं सुनाते। बिना दोष के दुःख कभी नहीं होता। जिस स्तर का दोष, उसी स्तर का दुःख। तो दोष के साथ दुःख सुनाना चाहिए। अर्जुन ने अपने पूरे दोषों को निश्छल भाव से सुना दिया। और चूँकि भगवान को उसने विषाद सुनाया इसलिए वह योग हुआ। आप इस पर

ध्यान दीजिए कि प्रतापभानु क्यों मारा गया? रामचरितमानस में प्रतापभानु की कहानी आपने पढ़ी है। वह कपटी मुनि के प्रति आत्मसमर्पण करता है। इसलिए उसका धर्म भी अधर्म हो जाता है। ऐसे कहता है कि— *हृदय न कछु प्रभु अनुसंधाना।*

और धर्म का इतना कामी कि अजर-अमर हो जाऊँ। चाहता है कि चक्रवर्ती राज्य प्राप्त हो। इतने बड़े फल की कामना उसके मन में है। वह कहता है कि हृदय न कछु फल अनुसंधाना। फिर यह कामना भी तुम भगवान से कहो। उसने कपटी मुनि से अपनी कामना कही। अपने गुरु से नहीं, इसीलिए उसका विनाश हो गया। अपना विषाद भी, अपनी पीड़ा भी, अपनी धर्मच्युति भी, अपनी गलती भी ईमानदारी से भगवान को सुना दो। भगवान को अपना विषाद अर्पित कर दो तो वह विषाद भी योग बन जाएगा; और विषाद प्रसाद में बदल जाएगा। प्रसाद–अनुग्रह, प्रसाद–चित्त की निर्मलता। विषाद प्रसाद में बदल जाएगा अगर तुम ईमानदारी से अपना विषाद, अपनी पीड़ा, अपना दुःख अर्जुन की तरह ऋजु भाव से, सरल भाव से श्रीकृष्ण को, प्रभु को अर्पित कर दो। इस विषाद-योग, इस शरणागति की भूमिका पर अर्जुन की तीन मूल बातों को याद रखिए। अर्जुन समझता है कि मैं मारने वाला हूँ और कोई मरने वाला है अर्थात् आत्म-तत्त्व के बारे में उसके मन में भ्रम है। यही गीतोपदेश का पहला मुद्दा है।

'मैं गुरुजनों से स्वजनों से युद्ध करूँ या न करूँ', अर्जुन को यह शंका मोह के कारण हुई है। अतः मोह निरसन, मोह का नाश ही गीता के उपदेश का दूसरा प्रधान विषय है।

फिर अर्जुन समझता है कि राज्य अपने स्वजनों के सुख के लिए चाहिए। हाय रे उल्टी समझ, राज्य क्या व्यक्तिगत सुख भोग के लिए होता है? *येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं*– कर्त्तव्य के लिए नहीं? प्रजा की रक्षा के लिए नहीं? धर्म की स्थापना के लिए नहीं? केवल अपने और अपने रिश्तेदारों के सुख के लिए राज्य चाहिए? यहाँ अर्जुन अपने कर्त्तव्य को, राजधर्म को भूल रहा है। अतः गीता का तीसरा प्रधान कार्य है स्वधर्म पालन की प्रेरणा देना। इन तीनों भ्रान्तियों के निराकरण के लिए ही गीता का उपदेश है।

गीता का प्रथम अध्याय गीता की भूमिका को स्पष्ट करने वाला है। गीता का प्रथम अध्याय यह निर्दिष्ट करता है कि गीता में किन तत्त्वों का, किन भूमिकाओं पर निरूपण किया गया है। बिना अर्जुन की इस मानसिक विषादग्रस्त भूमिका को समझे गीता की उपदेशावली को समझा नहीं जा सकता। ●

प्रवचन-२*

सांख्य-योग की अमरता

गीता का वास्तविक आरंभ कहाँ से होता है? इस पर आचार्यों में मतभेद है। शंकराचार्य का मत है कि गीता का वास्तविक आरंभ—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'— यहीं से होता है।

रामानुजाचार्य प्रपत्ति को मानते हैं। अतः उनका मत है कि गीता का आरंभ शरणागति से होता है और उसका समापन भी शरणागति में ही होता है। लेकिन इसमें कोई संदेह की बात नहीं है कि शोक, मोह का निरसन करने के लिए गीता का तात्त्विक विवेचन— *'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे, गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'* (२/११) से आरंभ होता है। पीठिका के रूप में दो, तीन बातें स्पष्ट होनी चाहिए। पहली बात तो यह— कि अर्जुन शरणागत तो हुआ लेकिन साथ ही साथ शरणागति-विरोधी बातें भी बोल रहा है कि— *'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'*— मैं तुम्हारी शरण में हूँ लेकिन युद्ध नहीं करूँगा। ये परस्पर विरोधी बातें हैं और यह परस्पर विरोध भी मोह के कारण है। अगर यथार्थ शरणागति, मोह-मुक्त शरणागति होती तो वह कहता कि जो तुम कह रहे हो, वह मैं करूँगा। लेकिन शरणागति के बाद अर्जुन कह रहा है कि युद्ध नहीं करूँगा— इसमें दो बातें हैं। एक तो उसको अपने पाण्डित्य पर थोड़ा अभिमान है कि मैंने जो निर्णय किया है कि गुरुजनों की हत्या करके राज्य की प्राप्ति करना— यह महापाप है, और हम अनर्थ करने, अधर्म करने जा रहे हैं कि एक छोटे से भू-भाग के लिए भीष्म, द्रोण जैसे गुरुजनों का, स्वजनों का वध करने जा रहे हैं। स्वजन! यहीं से मोह शुरू होता है। बराबर याद राखिए कि दुःख ईश्वर की सृष्टि में नहीं है। दुःख जीव की सृष्टि में है। परमात्मा ने जो सृष्टि बनायी, जो सूर्य, चन्द्रमा, तारे बनाए, आकाश-पाताल, पृथ्वी, जीव-जन्तु बनाए— उसमें मेरा-तेरा नहीं है। परमात्मा की सृष्टि-सबके लिए है परमात्मा का बनाया संसार तो सबका है; किन्तु मनुष्य उसके छोटे से हिस्से को अपना और शेष को

* द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या १ से ३०

दूसरों का मान बैठता है। आप में से कुछ जानते होंगे कि विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय की एक कहानी के आधार पर सत्यजित राय ने प्रसिद्ध बंगला फिल्म बनायी थी, 'अपूर संसार' अर्थात् अपू का संसार। बंगला में सीमित अर्थ में संसार शब्द का अर्थ होता है किसी का परिवार, उसके नाते-रिश्तेदार, उसकी सम्पत्ति आदि। प्रभु का बनाया हुआ संसार तो अविभाजित है, सबका है; किन्तु मायाग्रस्त जीवों ने मेरे-तेरे के आधार पर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

यह जो जीव की सृष्टि है— यही मेरी-तेरी की विधात्री है। यह मैं हूँ— यह मेरा है, यह तू है, यह तेरा है। ये स्वजन हैं, ये परजन हैं— यह भेद-दृष्टि जीव की सृष्टि है। दूसरी बात यह कि संसारी जीव की दृष्टि में हमारा स्वरूप— यह शरीर ही है। इस शरीर को प्रधानता देकर ही वह विचार किया करता है। इन्हीं दोनों विचारों से मोह और शोक की उत्पत्ति हुई है। हमलोग सड़क पर चलते रहते हैं; और 'श्रीराम-नाम सत्य है', 'बोल-हरि बोल', कहते हुए लोग शव ले जाते रहते हैं। जो संस्कारशील हैं, वे उनको प्रणाम करते हैं। हमको गुरुजनों ने सिखाया है कि शव-यात्रा को जब देखो तो प्रणाम करो। लेकिन सच बोलो तो अपरिचित की शव-यात्रा को देखकर दुःख होता है? शोक होता है? मृत्यु तो हुई। लेकिन इस मृत्यु के साथ शोक नहीं है क्योंकि उसमें स्वजन का बोध नहीं है। उसके प्रति अगर स्व का बोध होता, उसे अगर अपना मानते तो उसकी मृत्यु पर शोक होता। एक बात। अपना नहीं माना इसलिए मोह नहीं हुआ और जो अपना नहीं है उसकी मृत्यु पर शोक नहीं हुआ, दुःख नहीं हुआ। शोक कब होता है? शोक तब होता है कि जिसको हमने अपना मान लिया है— वह व्यक्ति हो, वस्तु हो, स्थिति हो। जिसको मैंने अपना माना उसकी मृत्यु हो गयी। जिसको मैंने अपना माना, वह धन चोरी हो गया। जिसको मैंने अपना माना— मैं मुख्य मंत्री, मैं एम.पी., मैं एम.एल.ए., मैं मैनेजिंग डायरेक्टर— उस स्थिति में परिवर्तन आ गया, मैं वह नहीं रहा। तो जिसको मैंने अपना माना, उस व्यक्ति, उस वस्तु, उस स्थिति के न रहने पर शोक हुआ। अब इसमें दो बातें हैं। एक तो परमात्मा की सृष्टि में भेद किया और दूसरा अपने से उसको भिन्न माना। ध्यान दीजिए कि शोक उसके लिए होता है जो अपने से भिन्न है लेकिन मेरा है। शोक और मोह के कारण— अर्जुन की स्थिति कैसी है? *शोकसंविग्नमानसः* —अर्जुन रथ पर बैठ गया है वह मोहग्रस्त है, उसका हृदय शोक से उद्विग्न है, वह निर्णय नहीं कर पा रहा है, थर-थर काँप रहा है, उसकी त्वचा तप रही है, उसकी बोली नहीं निकल रही है, उससे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है, हाथ से धनुष छूट रहा है, ज्वर-ग्रस्त हो कर वह बैठ गया है। और फिर कहता है—

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्— सारी इन्द्रियों का शोषण करने वाले इस शोक से मैं ग्रस्त हूँ और मुझको-पृथ्वी की बात तो जाने दो, देवलोक मिल जाए, सम्पूर्ण त्रैलोक्य का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाए तो भी मेरा यह शोक दूर नहीं होगा— मैं कैसे युद्ध करूँ ? —यह उसकी भूमिका है, ये उसके सवाल हैं। कैसे गुरुजनों की हत्या करूँ? किसके लिए हत्या करूँ? धन के लिए ? अच्छा है, भीख माँग कर खा लूँ। क्या होगा राज्य करके? इसलिए मैं युद्ध नहीं करूँगा।

अब देखें विकार कहाँ आया है? जहाँ विकार आया है उसी का उपचार होना चाहिए। विकार शरीर का हो तो उपचार शरीर का होना चाहिए। विकार बुद्धि का हो तो उपचार बुद्धि का होना चाहिए। यह विकार कहाँ आया है? विकार अर्जुन की बुद्धि में आया है। श्रीकृष्ण अर्जुन की बुद्धि के उस विकार का उपचार कर रहे हैं और उस अध्याय का गीताकार ने नाम क्या दिया है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

यह जो अध्याय है जिसमें बुद्धि के उस विकार का उपचार है, उसकी संज्ञा है सांख्ययोग। सांख्य योग किसे कहते हैं? सांख्य का क्या मतलब है? सांख्य प्रसिद्ध छह वैदिक दर्शनों में एक समादृत दर्शन है। षट्-दर्शनों में जो कपिल मुनि का प्रणीत दर्शन है वह है सांख्य दर्शन। गीताकार भगवान श्रीकृष्ण कपिल के प्रति सम्मान की बुद्धि रखते थे। इसलिए उन्होंने कहा *सिद्धानां कपिलो मुनिः* — सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। कपिल उनके पूर्ववर्ती बड़े ऋषि थे, इसलिए उनको उन्होंने सम्मान दिया। कपिल के शास्त्र को सांख्य शास्त्र क्यों कहते हैं? सांख्य शब्द संख्या से बना है। संख्या का मतलब होता है गिनती। सांख्य शास्त्र का अर्थ हुआ गिनती करने वाला, गिनाने वाला, गिनने वाला शास्त्र। कपिल मुनि ने सारी सृष्टि को पच्चीस तत्त्वों में बाँटा है। पहले दो भागों में बाँटा— एक पुरुष और दूसरा प्रकृति। पुरुष न प्रकृति है न विकृति है। पुरुष अव्यय है, निर्विकार है, शाश्वत है। कपिल मुनि के अनुसार प्रकृति भी अनादि है। सांख्य शास्त्र द्वैतवादी शास्त्र है और उसमें पुरुष और प्रकृति इन दोनों को मूल तत्त्व मानते हैं। अब प्रकृति है— त्रिगुणात्मिका। सत्त्व, रज और तम— इन तीनों गुणों की जब साम्यावस्था रहती है तो सृष्टि नहीं होती। जब साम्य भंग होता है तब सृष्टि शुरू होती है। तो मूल प्रकृति अव्यक्त है। मूल प्रकृति का जो प्रथम परिवर्तन होता है उसे कहते हैं महत् या बुद्धि। उसका जो दूसरा परिवर्तन होता है उसको कहते हैं अहंकार। उसका जो तीसरा

परिवर्तन होता है, अहंकार के सात्त्विक अंश से, वह है पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ। पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और एक मन अहंकार के तामस अंश से विकसित होते हैं। पाँचों विषय शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध— पंच तन्मात्राः और पंच महाभूत हैं— क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर। इस प्रकार सात्त्विक या ऐन्द्रिय सृष्टि है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन। कुल ग्यारह; तथा तामस या निरिन्द्रिय सृष्टि है पंच तन्मात्राएँ (सूक्ष्म) और पंच महाभूत (स्थूल) कुल दस। दोनों मिलकर हुई इक्कीस इनके पूर्व विद्यमान अहंकार, बुद्धि और प्रकृति को मिला दें तो चौबीस और एक पुरुष कुल मिलाकर पच्चीस तत्त्व होते हैं। संख्या की गिनती करके सृष्टि के विस्तार क्रम का निरूपण करने के कारण इस शास्त्र को सांख्य कहते हैं। यह इसका मूल अर्थ है। गीता सांख्य की कई स्थापनाएँ तो मानती है; लेकिन गीता और वेदान्त द्वैतवादी नहीं हैं। भगवान ने गीता में बिलकुल स्पष्ट कहा है कि पुरुष और प्रकृति— इन दोनों के ऊपर पुरुषोत्तम है। एक ही पुरुषोत्तम से अक्षर प्रकृति और क्षर प्रकृति दोनों का विकास होता है— अक्षर प्रकृति माने जीवात्मा और क्षर प्रकृति माने जगत का विस्तार। इन दोनों का जो मूल उत्स है— वह है पुरुषोत्तम। यानी गीता सांख्य शास्त्र के सृष्टि विस्तार क्रम को स्वीकार करते हुए भी द्वैतवादी नहीं है। अतः गीता में प्रयुक्त सांख्य शब्द का अर्थ कपिल का दर्शन नहीं है। तो इसका मतलब क्या हुआ? इसकी दो व्याख्याएँ की गयी हैं। रामानुजाचार्य ने बताया कि संख्या का मतलब होता है बुद्धि या ज्ञान। रामानुजाचार्य के अनुसार जो बुद्धि को नियंत्रित, बुद्धि को पवित्र, बुद्धि को उत्तम रूप देने वाला तत्त्व ज्ञान है वह सांख्य ज्ञान है। कुछ आचार्यों ने कहा कि जो कपिल के द्वारा निरूपित किया गया सांख्य शास्त्र है वह ज्ञानियों का पक्ष था इसलिए उसका अर्थ विस्तार हुआ और अर्थ विस्तार होकर के ज्ञान के तत्त्व को निरूपित करने वाला जो विवेचन है उसको सांख्य योग कहा गया। इसीलिए गीता में कहा गया कि दो रास्ते हैं, दो निष्ठाएँ हैं। *ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम्।* एक सांख्य बुद्धि है और एक कर्म बुद्धि है। तो यहाँ जो गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग होता है वह कपिल के सांख्य शास्त्र के अर्थ में नहीं होता। गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग वेदान्त के अद्वैत ज्ञान के अर्थ में होता है। एक ज्ञान निष्ठा है और एक कर्म-निष्ठा है। श्रीकृष्ण ने गीता का निरूपण ज्ञान के द्वारा ही आरंभ किया है। ज्ञान के द्वारा क्यों गीता का निरूपण आरंभ किया गया— यह बात समझने के लिए इतनी भूमिका है। बात यह है कि विकार आया था अर्जुन की बुद्धि में। बुद्धि के विकार को दूर करने के लिए बुद्धि का उपचार होना चाहिए। बुद्धि का उपचार कर्म के द्वारा नहीं हो सकता। गीता में कर्मयोग भी है। लेकिन गीता में कर्मयोग की

भूमिका सांख्य योग के बाद है। तृतीय अध्याय में भी सांख्य योग यानी ज्ञान पक्ष के निरूपण के बाद स्वधर्म का निरूपण है और स्वधर्म निरूपण भी कर्म के निरूपण के अन्तर्गत आता है। पहले ही स्वधर्म का, कर्म का निरूपण क्यों नहीं हुआ? क्योंकि कर्म और शोक में विरोध नहीं है, बुरा कर्म करके ही शोक होता है। अच्छे कर्म करके शोक से उबरा भी जा सकता है लेकिन बुरा काम करने पर शोक होता ही है। कर्म और शोक—ये दोनों परस्पर विरोधी कक्षा की वस्तुएँ नहीं हैं। कर्म करने के बाद अगर हमने दुष्कर्म किया है तो दुष्कर्म करने का, बुरा काम करने का शोक होगा, दुःख होगा, अच्छा काम करने का सुख होगा। सुख होगा तो दुःख भी होगा। ऐसा कभी नहीं होता कि सुख हो और दुःख न हो। ऐसा हो ही नहीं सकता। सुख और दुःख ये द्वन्द्व हैं, जुड़े हैं दिन-रात की तरह। सुख आएगा तो दुःख आएगा ही। इसलिए कर्म और दुःख— ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं।

प्रज्ञा और दुःख, प्रज्ञा और शोक— परस्पर विरोधी हैं। जिसको ज्ञान हो गया उसको शोक नहीं हो सकता। एक ही साथ प्रज्ञा भी हो और शोक भी हो— यह वैसी ही बात है कि एक ही साथ सूर्य चमक भी रहा हो और अंधकार भी हो। ऐसा नहीं हो सकता। डंके की चोट पर उपनिषदों की घोषणा है— *तरति शोकं आत्मवित्*— जो आत्मवेत्ता है, वही शोक को पार करता है।

ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। (६-७)

विकार कहाँ है? विकार समझ की भूल में है। समझने की गलती हो गयी है। बुद्धि में विकार है। इसलिए अगर सही-सही उपचार करना है तो पहले बुद्धि के विकार का निरसन करना होगा, बुद्धि के विकार को दूर करना होगा। यह समझाना होगा *यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति*– अपने में सबको और सबमें अपने को देखो।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः

अभूत क्रिया का कर्त्ता कौन है? आत्मा! सर्वाणि भूतानि तो कर्म है। आत्मा ही सब भूतों के रूप में हो गया। इसको जानने मात्र से— जानने वाला शोक, मोह से तर जाता है, केवल जानने से अगर मोह, शोक नष्ट होता है, तो इसका निश्चित अर्थ यह है कि मोह और शोक बुद्धि के विकार हैं। बुद्धि ने गलत माना है, बुद्धि ने गलत

स्वीकार किया है, बुद्धि ने गलत आग्रहों को चिपका रखा है। जब तक उन गलत दुराग्रहों का त्याग नहीं होगा तब तक वास्तव में शोक, मोह से मुक्ति नहीं होगी। अब एक बात फिर ध्यान दीजिए कि जानने मात्र से जो चीज नष्ट होती है वह वास्तव में होती नहीं है। इस बात को वेदान्त शास्त्र बार-बार अलग-अलग ढंग से समझाता है। अगर कोई चीज तुम्हारे पास नहीं है, तुम उसको पाना चाहते हो तो कर्म करना पड़ेगा। किसी चीज को पाने के लिए, किसी चीज को बदलने के लिए, किसी चीज को हटाने के लिए, किसी चीज को पास लाने के लिए कर्म करना पड़ेगा। केवल जानने से परिवर्तन नहीं हो सकता। जानने मात्र से अगर परिवर्तन होता है तो वह पदार्थ वही रहता है। सही-सही जान लेने से उसके बारे में अज्ञान दूर हो जाता है। जैसे एक छोटा उदाहरण दें। कर्ण कुन्ती का बेटा था, कौन्तेय था। अपने को राधेय मानता था, राधा का बेटा मानता था। अब कर्ण को राधेय से कौन्तेय होने में क्या करना पड़ेगा? दंड-बैठक करनी पड़ेगी? कोई चीज लानी पड़ेगी? कहीं जाना पड़ेगा? क्या करना पड़ेगा? केवल जान लेना पड़ेगा कि मैं राधा का बेटा नहीं हूँ, कुन्ती का बेटा हूँ। जानने मात्र से राधेय होने का भ्रम दूर हो जाएगा और कौन्तेय होने का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। केवल जानने मात्र से। मुझे मोह हो गया है, मोहग्रस्त हो गया हूँ, शोकग्रस्त हो गया हूँ। मोह-शोक ग्रस्त हो जाने के बाद मुझे केवल जान लेना होगा कि किस गलत बुद्धि के कारण, किस दुर्बुद्धि के कारण मेरे मन में मोह, शोक आया है? वह सोचना ठीक नहीं है। उस गलत सोचने को छोड़ते ही मेरा मोह-शोक दूर हो जाएगा। जानने मात्र से जब मोह-शोक दूर होता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि मेरा जो वास्तविक स्वरूप है वह शोक-मोह मुक्त है। मेरा वास्तविक स्वरूप अगर शोक-मोह युक्त होता तो जानने मात्र से शोक मोह मुक्त नहीं होता। शोक मोह से मुक्त होने के लिए अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। और उस वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का निरूपण ही इन आरंभिक श्लोकों में किया जा रहा है। क्यों किया जा रहा है? क्योंकि अर्जुन प्रज्ञावान् की तरह बोल रहा है। जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए उनके लिए शोक करते हुए मूर्खतापूर्ण बातें पंडित की तरह बोल रहा है। हम सब यही करते हैं। मूर्खतापूर्ण बातें पंडित की तरह बोलते हैं और अपनी मूर्खता को मूर्खता ही नहीं स्वीकार करते।

एक बात और। यह तत्त्व की बात, यह गहरी बात आरंभ में क्यों बताई जा रही है? क्योंकि सच्चा आचार्य वही है जो सिद्धांत का पहले निरूपण करे। उस सिद्धांत के निरूपण से तुम्हारा क्या कल्याण होगा, यह बताए। और जब उस कल्याण की महिमा का अनुभव श्रोता करेगा तो उस कल्याण की प्राप्ति के लिए बड़े-से-बड़ा तप

करेगा। बड़े-से-बड़ा तप, बड़ी-से-बड़ी साधना करने में मनुष्य प्रवृत्त तब होता है जब सिद्धांत के ज्ञान से हमारा क्या कल्याण होगा— इस बात का बोध होता है। उस कल्याण की सम्यक् उपलब्धि के लिए जो साधना, जो तपस्या प्रयोजनीय है, वह हम करेंगे। तत्त्व ज्ञान के लिए केवल चित्त शुद्धि नहीं चाहिए, सारा तत्त्व ज्ञान गलत समझ की अशुद्धि को दूर करने के लिए होता है। सांख्य योग में जिन तत्त्वों का निरूपण प्रभु आरंभ में कर रहे हैं वह बुद्धि का उपचार है। बुद्धि के विकारों शोक-मोह आदि को दूर करने के लिए वह स्थायी उपचार है। अस्थायी उपचार की भी चेष्टा करके कृष्ण ने देख लिया, वह फलप्रसू नहीं हुआ। जब उन्होंने कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। (२/२-३)

तो यह अस्थायी उपचार का प्रयास था। उनको लगा कि अर्जुन के मन में ऐसे ही थोड़ा सा भय आ गया है। डर गया है अर्जुन। इसलिए अर्जुन को थोड़ा-सा उत्साहित कर दें। वे बोले कि तुम नपुंसक मत बनो। अरे तुम्हारी बड़ी अप्रतिष्ठा हो जाएगी। तुम्हें शर्म नहीं आती। लोग तुम्हें कायर समझेंगे। उठो, लड़ो। यह सारा का सारा उपचार अस्थायी उपचार था। इसके बाद भी दर्द ज्यों का त्यों। अस्थायी उपचार जब काम नहीं कर पाया तब भगवान ने कहा कि वह जो मूलभूत विकार है उस मूलभूत विकार का ही उपचार करना होगा। इसको यह बताना चाहिए कि वह सत्ता किसको मानता है, असत्ता किसको मानता है। उन्होंने अर्जुन से पूछा, तू मार डालेगा? किसको मार डालेगा तू। शोक कर रहा है? किसके लिए शोक कर रहा है तू। भीष्म, द्रोण के लिए? भीष्म, द्रोण कौन हैं? स्वजनों के लिए ? तेरा स्वजन कौन है ? तू कौन है ? सारी सृष्टि के मूल समझने के लिए दो बातें समझ में आनी चाहिए।

शरीर में दो तत्त्व हैं। एक तत्त्व तो जड़ वाला अंश है। इस जड़ वाले अंश को अपना आपा मान कर जब तक हम व्यवहार करते रहेंगे तब तक हम दुःखी होते रहेंगे, शोकाकुल रहेंगे। जरा विचार कीजिए कि मैं की व्याप्ति कहाँ-कहाँ होती है, कैसे होती है? जब कहा कि मैं मोटा हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ। तो कौन लम्बा है, दुबला है, मोटा है, काला है, गोरा है? यह शरीर है। जब मैं कह रहा हूँ कि मैं काला हूँ, गोरा हूँ, लम्बा हूँ तो यह 'मैं' शरीर को संकेतित कर रहा हूँ।

जब कहा कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं उत्साही हूँ, मैं निरुत्साही हूँ। तो

किसको 'मैं' कह रहे हो भैया ? यहाँ मन को संकेतित कर 'मैं' कहा जा रहा है। जब कहा कि मैं बुद्धिमान हूँ, मूर्ख हूँ। तो किसको संकेतित कर रहे हो भैया? यहाँ बुद्धि को संकेतित किया जा रहा है। यह सारा का सारा जड़ अंश है। अन्तःकरण जो काम करता है, वह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की समष्टि है। जो अन्तःकरण भीतर रह कर काम करता है, वह भी जड़ है। केवल आत्मा के सान्निध्य के कारण आत्मा का चैतन्य उसमें संक्रमित हो गया है। बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण है— मैंने शायद पहले भी दिया हो। लोहे का गोला है। लोहे के गोले को आग में डाल दो तो लाल-लाल दहकने लगता है। लोहे के गोले में दाहकता है, लोहे के गोले में प्रकाशकता है। लोहे के गोले को छुओ तो हाथ जल जाएगा। उसमें प्रकाश दिख रहा है। लोहे के गोले में दाहकता यानि जलाने की क्षमता, प्रकाशकता यानि प्रकाश की क्षमता, अग्नि का गुण है— जो आ गया है। बात साफ हुई। अग्नि गोल होती है? अग्नि लम्बी होती है? अग्नि चौड़ी होती है? यह जो लोहे के गोले में गोल-गोल दिखाई पड़ रहा है– यह अग्नि का गुण नहीं है। यह लोहे के गोले का गुण है। दाहकता और प्रकाशकता— यह अग्नि का गुण, और आकार– यह लोहे के गोले का गुण और हमको लाल-लाल दहकता हुआ गोला दिखता है। इसी तरह लम्बा, नाटा, मोटा, पतला, काला, गोरा— यह शरीर का गुण। सुखी, दुःखी, आलसी, उत्साही— यह मन का गुण। बुद्धिमान, मूर्ख— यह बुद्धि का गुण— यह सब जड़ है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की समष्टि आत्मा के निकट है। आप लोगों ने बचपन में खेल खेला होगा। मैंने तो बहुत खेला था। सूरज की किरण शीशे पर पड़ कर प्रतिफलित होती है। माँ जब सोती रहती थी तो हमलोग माँ की आँख में फेंकते रहते थे वह शीशे की रोशनी। तो माँ सोते-सोते जागती थी, डाँटती थी। शीशे में रोशनी है? शीशे में रोशनी नहीं है। शीशे में रोशनी कहाँ से आई? शीशे में रोशनी सूरज से आई। इसी तरह हमारा-तुम्हारा जो अन्तःकरण है, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की जो समष्टि है— यह जड़ है। इस जड़ अन्तःकरण में जो आत्मा का तेज झलकता है, उससे वह चैतन्य होकर काम करता है और वह जड़ अन्तःकरण भी चेतना युक्त-सा प्रतीत होता है— यह सब 'मैं' नहीं हूँ।

मैं तो आत्मा हूँ। इस से परे इस 'मैं' का अनुभव, 'मैं' का प्रयोग हम करते हैं कि नहीं। शरीर— कौन-सा शरीर? पाँच वर्ष वाला, दस वर्ष वाला, बीस वर्ष वाला, साठ वर्ष वाला? कौन-सा शरीर? शरीर तो बदल रहा है। कौन-सा 'मैं'? जो अनुकूल परिस्थिति में फूल कर कुप्पा होता है कि प्रतिकूल परिस्थिति में सूख कर छुहारा होता है? कौन-सा 'मैं'? कौन-सी बुद्धि? यह तो पल-पल परिवर्तित होती है। जो पल-पल

परिवर्तमान है, वह जड़ है और इन सारे परिवर्तनों के बीच में यह अनुभव होता है कि नहीं— 'मैं' वही हूँ। 'मैं' वही विष्णुकान्त शास्त्री हूँ जो कभी कलकत्ता विश्वविद्यालय में पढ़ाता था। 'मैं' वही विष्णुकान्त शास्त्री हूँ जो कभी बांग्लादेश गया था। वही विष्णुकान्त शास्त्री हूँ जिसने यह किया था, वह किया था। सारे परिवर्तनों के बीच वह 'मैं' जो नहीं बदलता, वह 'मैं' कौन-सा मैं है! जो नहीं बदलने वाला मैं है, वह मैं हूँ, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस बात को भगवान समझा रहे हैं और इसलिए उन्होंने कहा कि भाई तुमको समझ में आना चाहिए कि आत्मा तो अजर-अमर है। आत्मा न तो बूढ़ी होगी, न मरेगी। और शरीर तो भैया कभी रह ही नहीं सकता। किसी को अपने मरने का अनुभव हुआ है। मेरे गुरु जी कहते थे कि चुनौती देकर पूछता हूँ कि किसी को अपने जन्मने का अनुभव हुआ है, किसी को अपने मरने का अनुभव हुआ है। जन्म और मरण हमारे अनुभव-क्षेत्र के बाहर की बातें हैं। मैं मर गया ऐसा अनुभव किसी को हुआ है? मैं मर गया— यह अनुभव जिसको होगा— वह तो जी रहा है। तभी तो अनुभव हुआ। मैं मर गया— यह अनुभव क्षेत्र के बाहर की बात है। हमलोग देखते हैं कि किसी का शरीर पैदा होता है, किसी का शरीर मर जाता है। शरीर को पैदा होते देखते हैं, शरीर को मरते देखते हैं। शरीर के साथ तादात्म्य करते हैं। शरीर के साथ तादात्म्य करके हम अपने-आप को जन्मने-मरने वाला मानते हैं। जो देख रहा है द्रष्टा है, साक्षी है और जो बदल रहा है उसमें मौलिक अंतर होता है। द्रष्टा और दृश्य में मौलिक अंतर होता है। जायते— पैदा हुआ। अस्ति— है। विपरिणमते —बदलता है। वर्धति— बढ़ता है। अपक्षीयते—घटने लगता है। विनश्यति— मर जाता है। यह जो छह विकार हैं— पैदा होना, बदलना, बढ़ना, बिगड़ना और फिर मर जाना— मैं इसका साक्षी हूँ। मैं इसका द्रष्टा हूँ। मैं अविकृत हूँ। यह जो दूसरों को देख-देख करके रोना सीखना— यह कोई बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है, यह पण्डितों की बात नहीं है। अच्छा तुमको यह भ्रम हो गया कि यह भीम, यह भीष्म, द्रोण— ये सब मारे जायेंगे। क्या ये इसके पहले नहीं थे? क्या इसके बाद ये कभी नहीं होंगे? श्रीकृष्ण ने समझाते हुए कहा—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।। (२/१२)

यह तो मानना ही गलत है कि मैं, तू यह सब पहले नहीं थे या आगे नहीं होंगे। ये पहले भी थे, अब भी हैं आगे भी रहेंगे। शोक का जो आधार है उसको श्रीकृष्ण दो भागों में बाँट रहे हैं। तू भीष्म, द्रोण, स्वजन, परिजन— इन सबको देखकर शोक कर

रहा है। इस बात को समझ कि दो भाग हैं। पहला भाग आत्मा का है और दूसरा शरीर का। दोनों भागों पर विचार करने पर तुझे लगेगा कि दोनों के लिए शोक करना व्यर्थ है। आत्मा के लिए शोक करना व्यर्थ है क्योंकि आत्मा के रूप से मैं, तू यह सब पहले भी थे अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। अब इसको उदाहरण देकर समझाते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। (२/१३)

शरीर में बचपन, जवानी, बुढ़ापा और फिर मृत्यु का क्रम जैसे प्रकृति के सहज नियम के अनुसार बरतता है उसी प्रकार मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होगा यह भी सहज नियम है। मरण यानी नये जीवन की प्राप्ति का क्रम।

यदि मृत्यु के बाद नए शरीर की प्राप्ति होगी तो दुःख करने का क्या कारण हो सकता है? बचपन चला गया, अब रोते रहो बचपन के लिए। बचपन क्या वापस लौट कर आएगा? जिन लोगों का यौवन चला गया वे रोते रहें यौवन के लिए? उनका यौवन क्या वापस लौट कर आएगा? बुढ़ापे के बाद, राम-नाम-सत्य होने के बाद, यह शरीर लौट कर तो नहीं आएगा। उसके बाद एक नया शरीर मिलेगा। इसमें रोने की क्या बात है? अतः धीर पुरुष, ज्ञानी पुरुष इस विषय में मोह नहीं करते। इसके बाद के श्लोक में एक बहुत बढ़िया बात बताई गई है— इसको समझना चाहिए और जीवन में एकदम उतार लेना चाहिए।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। (२/१४)

जिसमें नापा जाए उसको कहते हैं मात्रा। जिससे अनुभव किया जाए वह है मात्रा। मात्रा का अर्थ हुआ इन्द्रियाँ और सर्ग का मतलब हुआ इन्द्रियों के विषय। इन्द्रियाँ जब अपने विषयों से संयोग करती हैं तो वह अनुभव या तो अनुकूल होगा या प्रतिकूल होगा। *अनुकूल वेदनीयं सुखं प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्।* अगर इन्द्रियों का विषय से संयोग हुआ और यह संयोग अनुकूल हुआ। आँखों को रूप देखने को मिला और वह रूप यदि सुन्दर हुआ तो सुख मिलेगा। आँखों को कुरूप दिखा तो बुरा लगेगा। नाक को सुगन्ध आई तो सुख मिलेगा। नाक को दुर्गन्ध आई तो दुःख मिलेगा। मीठा स्वर सुख देगा। कड़वा स्वर दुःख देगा— हे कौन्तेय! गुरुजी कहते थे कुन्ती का पुत्र कौन्तेय— यह अर्थ तो है ही लेकिन कुन्त माने भाला होता है। भाले की नोक बड़ी तीखी होती है। तो गुरुजी कहते थे कभी-कभी कि कौन्तेय का यह अर्थ भी लेना चाहिए कि ओ कौन्तेय! तुम मूर्ख नहीं हो। तुम बड़ी तीक्ष्ण बुद्धि वाले हो। इस बात को समझो।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

सर्दी, गर्मी— लक्षणा से सुख, दुःख। अनुकूल, प्रतिकूल।

आगमापायिनोऽनित्या— ये आने और जाने वाले हैं। मेरे गुरुजी एक दोहा कहते थे। बहुत ही अच्छा दोहा है—

सुख सपना, दुख बुदबुदा, दोनों हैं मेहमान।
सबका स्वागत कीजिए जो भेजे भगवान।।

न तो सुख रहने वाला है न दुःख रहने वाला है। सुख तो एक सपना है। टूटेगा ही टूटेगा। दुख बुदबुदा— दुःख पानी का बुलबुला है। फूटेगा ही फूटेगा। सुख-दुख इन दोनों में से कोई भी रहने के लिए नहीं आया है। ये मेहमान हैं— थोड़े समय के लिए आए हैं। अच्छा आपके घर अगर समधी का भेजा हुआ मेहमान आ जाए तो क्या करेंगे? कैसे रखेंगे उसे? सच बताओ। और अगर किसी को किसी बड़े नेता ने, राष्ट्रपति ने भेजा हो तो उसे अच्छी तरह रखेंगे कि बुरी तरह रखेंगे?

सबका आदर कीजिए जो भेजे भगवान।

यह मेहमान किसका भेजा हुआ मेहमान है? भगवान का भेजा हुआ। भगवान ने सुख भेजा है। भगवान ने दुःख भेजा है। थोड़े समय के लिए सुख है। थोड़े समय के लिए दुःख है। अतः जो भी आये उसका आदर कीजिए। *आगमापायि*— आने और जाने वाला है। इसके बाद गुरुजी ने एक अद्‌भुत अर्थ बतलाया—

तान् तितिक्षस्व- तितिक्षा शब्द का हमलोग साधारण अर्थ समझते हैं कि सहने की शक्ति। यही मूल अर्थ है लेकिन तिधातु क्षमा के अर्थ में भी आती है। उनको क्षमा कर दो। *तान् तितिक्षस्व भारत*— सुख और दुःख आकर तुमको विकारग्रस्त कर रहे है। सुख में तुम फूल कर कुप्पा हो रहे हो, दुःख में तुम सूख कर छुहारा हो रहे हो। इन सुख-दुःखों को तुम क्षमा कर दो। सह लो। तितिक्षा के दो अर्थ हैं— एक तितिक्षा धर्म बुद्धि की होती है और एक तितिक्षा तत्त्व बुद्धि की होती है। धर्म बुद्धि की तितिक्षा कैसी होती है? धर्म बुद्धि की तितिक्षा होती है कि हमने जो अच्छा-बुरा काम किया है। उस अच्छे-बुरे काम का अच्छा-बुरा फल मिला। सुख-दुःख तो मेहमान हैं। इसलिए हम इसको सह लें। ये मेरे ही कर्मों के अच्छे-बुरे फल हैं। यह धर्म बुद्धि से की गयी तितिक्षा है।

ज्ञानी की तितिक्षा जो होती है वह धर्म बुद्धि की तितिक्षा से ऊँचे स्तर की होती है। यह सुख क्या है? दुःख क्या है? न सुख है, न दुःख है। ये सुख-दुःख मुझको स्पर्श नहीं कर पाते। जिस भूमिका पर आत्म-स्वरूप, चैतन्य-स्वरूप में हूँ— वह तो

आनन्द-स्वरूप है। मेरे स्वरूप में सुख और दुःख का लेश मात्र नहीं है। बदली आई और गई। इससे मेरा तो कुछ आता-जाता नहीं है। राजा जनक ने कहा था न कि जलती हुई मिथिला में मेरा कुछ नहीं जल रहा है। यह जो ज्ञानी की तितिक्षा है, वह धर्म बुद्धि से ऊँचे स्तर की तितिक्षा है। उसमें सुख-दुःख को कर्मफल की तरह वह भोग नहीं रहा है। वह सुख-दुःख को अस्वीकार कर रहा है कि न तो सुख है, न दुःख है। यह केवल भ्रान्ति है, भ्रम है। मैं भ्रम से ऊपर हूँ और इसलिए मैं सुख-दुःख से परे हूँ। सुख-दुःख मुझको स्पर्श ही नहीं कर सकता। बड़ा काम करना होता है बड़ा फल पाने के लिए। तुम बड़ा फल तो पाना चाहते हो और बड़े फल के लिए बड़ी साधना नहीं करना चाहते तो बात कैसे बनेगी।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। (२/१५)

तुम अमृतत्व पाना चाहते हो न? अपने को आत्म-स्वरूप में स्थित करना चाहते हो न? तुम अपने को शरीर, मन, बुद्धि से परे आत्मा के रूप में उपलब्ध करना चाहते हो न! अगर तुम अमृतत्व की साधना में लगे हो और सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होते हो तो तुम्हारी साधना कच्ची है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ

हे पुरुष श्रेष्ठ! जिस पुरुष को ये आने और जाने वाले सुख और दुःख जो इन्द्रिय और विषयों के संयोग से उत्पन्न होते हैं – स्पर्श नहीं करते, व्यथित नहीं करते, वही व्यक्ति अमृतत्व का उपयुक्त अधिकारी हो सकता है। हमको अमृतत्व का अधिकार प्राप्त कब हुआ? चाहते हो अमृतत्व और बात बात में रोते हो। चाहते हो आत्म-साक्षात्कार और बात बात में अहंकार करते हो।

कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए?

शिक्षा अमृतत्व की, आत्म-साक्षात्कार की और बार बार रोना?

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।

धीर शब्द पर गीता बार बार बल देती है। लेकिन धीर कौन है? *विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।* विकार के हेतुओं के उपस्थित होने पर भी जिनका चैतन्य विकृत नहीं होता वे ही धीर हैं। बड़े से बड़े स्वजन के वियोग का शोक जिसको स्पर्श नहीं करता, बड़े से बड़ा अपमान जिसको छूता नहीं है, बड़े से बड़ा सम्मान जिसको गुदगुदाता नहीं है, वह धीर है। विकार के हेतुओं के बावजूद जिसकी चेतना में परिवर्तन नहीं होता, विकृति नहीं आती वह धीर है और ऐसा धीर

व्यक्ति ही अमृतत्व को प्राप्त करने का अधिकारी है। हम गीता का अध्ययन, अनुशीलन करके कम से कम धीरता की ओर एक कदम तो आगे बढ़ाएं। बड़ी बात को पाने के लिए बड़ी बात दाँव पर लगानी होती है। अमृतत्व को प्राप्त करने का आग्रह हमको अपने व्यावहारिक जीवन में कहीं तो आगे ले जाए। अब इसका तात्विक पक्ष स्पष्ट किया जा रहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (२/१६)

जो असत् है उसका भाव नहीं है, सत्ता नहीं है और जो सत् है उसका कहीं अभाव नहीं है। इसमें एक सूक्ष्म बात और भी है। कुछ सदसत् भी है। जो असत् है, उसकी कभी सत्ता हो ही नहीं सकती। जैसे वंध्या-पुत्र। अगर किसी का बेटा हो, तो वह बांझ नहीं है। और अगर बांझ है तो उसका बेटा नहीं हो सकता। वंध्या-पुत्र असत् है, उसका अस्तित्व नहीं हो सकता और जो सत् है, आत्मा है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। सत् का कभी अभाव नहीं होता और जो असत् है उसका अस्तित्व नहीं होता। शरीर क्या है? इस बात पर ध्यान दें। शरीर सदसत् है, शरीर मिथ्या है। जो परिवर्तमान है, वह मिथ्या है। उसकी व्यावहारिक सत्ता है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। शरीर को हम वंध्या-पुत्र की तरह, आकाश-पुष्प की तरह असत् नहीं कह सकते। शरीर को हम आत्मा की तरह सत् नहीं कह सकते। अतः वह सदसत् है। तो असत् का कभी अस्तित्व नहीं, सत् का कभी अभाव नहीं और जो सदसत् है जो परिवर्तमान है, वह कभी अपने रूप में स्थिर नहीं, वह तो पारमार्थिक दृष्टि में मिथ्या है, बदलता ही रहेगा । वेदान्त में मिथ्या शब्द का यह अर्थ नहीं है कि जो नहीं है। वेदान्त में मिथ्या शब्द का अर्थ है परिवर्तमान। मैंने आपको बताया था कि तीन प्रकार की सत्ताएं होती हैं। एक प्रातिभासिक सत्ता, एक व्यावहारिक सत्ता और एक पारमार्थिक सत्ता। प्रातिभासिक सत्ता उसको कहते है, जो जहाँ न हो, पर वहाँ दिखे, जैसे कि रेगिस्तान में पानी दिखता है, मृग-जल। जो जहाँ नहीं है लेकिन उसकी प्रतीति हो रही है। जैसे चांदी झलकती है सीप में। है नहीं सीप में चांदी। सूरज की धूप पड़ती है तो सीप चांदी सी चमकती है। इसका बोध होते ही उस चांदी का अस्तित्व लुप्त होता है। यह क्या है? प्रातिभासिक सत्ता। और जो व्यावहारिक सत्ता है – यह शरीर है, यह कमरा है, यह छोटा सा टेबुल है, यह माइक है, माला है, आप सब लोग हैं। यह सब क्या है? यह व्यावहारिक सत्ता है। व्यवहार के लिए सच है लेकिन निरन्तर परिवर्तमान है इसलिए पारमार्थिक सत्य नहीं है। पारमार्थिक सत्य वह है जो त्रिकालाबाधित होता है, जो तीनों कालों में एकरस

रहता है। तो यह जो व्यावहारिक सत्ता है, इस सत्ता के बारे में यह समझ लेना चाहिए कि यह निरन्तर बदलेगी-ही-बदलेगी। इसको कोई रोक नहीं सकता। कोई चाहे जितनी अपनी चिकित्सा कराए, दवा कराए, यौवन स्थिर नहीं रहेगा। बदल रहा है, बदलता चला जाएगा यह सारा संसार। यह व्यावहारिक सच्चाई है। पारमार्थिक सच्चाई नहीं है। तो जो असत् है, उसका कभी अस्तित्व नहीं, जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं; और जो व्यवहार में परिवर्तमान है, वह उस रूप में कभी रहेगा नहीं। इसलिए तीनों के लिए शोक नहीं करना चाहिए। ज्ञानियों ने देख लिया है। उसके अन्त को समझ लिया है, पहचान लिया है। अन्त का मतलब निर्णय कर लिया है– सिद्धांत का। पूर्व पक्ष— उत्तर पक्ष। दोनों पक्षों पर विचार करने के बाद सिद्धांत होता है। उसको अन्त कहते हैं। निर्णय कर दिया गया है कि जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होगा। जो असत् है उसका अस्तित्व नहीं है; और जो बीच का वह निरन्तर बदलता रहेगा। इसलिए हे अर्जुन! सोच कि शोक किसके लिए कर रहा है तू? आत्मा के लिए? आत्मा के लिए बताया गया है —

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। (२/१७)

अविनाशी तो वह है जो सबमें, सारे जगत में व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है। व्याप्ति दो प्रकार की होती है। एक संयोग व्याप्ति होती है और एक स्वरूप व्याप्ति होती है। संयोग व्याप्ति किसे कहते हैं। चाय में आप ने चीनी डाली। दूध में चीनी डाली। दूध में चीनी डाली तो दूध के कण-कण में चीनी मिल गई। यह कौन सी व्याप्ति है–संयोग व्याप्ति। अगर आपने दूध में चीनी न डाली होती तो दूध में मिठास नहीं आती। जब हम कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

अविनाशी वह है जो सबमें व्याप्त है। ततम्। यह स्वरूप व्याप्ति है। ततम् का क्या मतलब हुआ? जैसे यह जो कपड़ा है, इस कपड़े में सूत के सिवाय क्या है? इस कपड़े में सूत के सिवाय कुछ नहीं है। घड़ा है। घड़े में मिट्टी के सिवाय क्या है? घड़े में मिट्टी के सिवाय कुछ नहीं है। यह मिट्टी घड़े में स्वरूपगत रूप से व्याप्त है। अब ध्यान दीजिए। स्वरूप व्याप्ति, जड़ की अलग होती है और चेतन की अलग। जड़ में जब स्वरूप व्याप्ति होती है तो उसमें परिवर्तन होता है। मिट्टी में परिवर्तन करके चाहें तो घड़ा बनाया। मिट्टी में परिवर्तन करके चाहें तो सकोरा बनाया, सुराही बनाई। स्वरूप में ऐसे परिवर्तन नहीं होता। जैसे एक निमित्त कारण होता है एक उपादान कारण

होता है। निमित्त कारण केवल प्रवर्तन करता है। जैसे उदाहरण के लिए समझाया है—चाक है, मिट्टी है, सूता है। इसमें घड़ा बनाने में निमित्त कारण कौन है? कुम्हार है, चाक है और फिर सूते से उसे काट लिया फिर आग में पकाया। कुम्हार, चाक, काटने वाला सूता और पकाने वाली अग्नि –ये सब क्या हैं –निमित्त कारण। निमित्त कारण क्या करता है–प्रवर्तन करता है। और फिर उपादान कारण जड़ है तो उसमें क्या होता है? परिवर्तन होता है। मिट्टी थी गीली। वह बन गई घड़े के आकार की, बन गई सकोरे के आकार की, सुराही के आकार की। आग से तप गई, काम में आई। और यदि चेतन अभिन्न निमित्त उपादान कारण है तो बात समझने की है।

अविनाशी वह है जो सबमें व्याप्त है स्वरूपतः व्याप्त है, संयोगतः नहीं। यह नहीं है कि चीनी के साथ दूध मिला दिया। यह स्वरूपतः व्याप्त है। सबमें व्याप्त है। जड़ में भी व्याप्त है, चेतन में भी व्याप्त है। तो वही बनाने वाला है, वही बनने वाला है। वही निमित्त कारण है, वही उपादान कारण है। जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण चैतन्य होता है, उसमें न प्रवर्तन होता है, न परिवर्तन होता है, उसमें केवल विवर्तन होता है। उसमें प्रवर्तन क्यों नहीं होता है, क्योंकि उसके अलावा और कोई है ही नहीं। कौन किसको प्रवर्तित करे? और जब उसके सिवाय कुछ है ही नहीं तो उसमें परिवर्तन क्या होगा? वही विविध रूपों में भासित होता है। उसमें विवर्तन होता है। यह शंकराचार्य का मत है और जो रामानुज का मत है– उसमें थोड़ा अन्तर है। उसके अनुसार वही चित् अचित् विशिष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। चैतन्य आत्मा है,अचित् जगत् है, चित्त अचित् से युक्त होकर वह उसमें निवास करता है। व्याख्याओं में थोड़ा थोड़ा अन्तर होते हुए भी वेदान्त की सभी शाखाएँ यह मानती हैं कि ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। परमात्मा ही बनाने वाला है। परमात्मा ही मसाला है और परमात्मा ही बनने वाला है। इसलिए परमात्मा ही जब सब कुछ है तो तत्त्वतः यह तो अविनाशी है।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।

किसकी मजाल कि अविनाशी से स्वरूपतः व्याप्त का कोई विनाश करे। नहीं कर सकता। तो क्या होगा? यह जो सदसत् वाला पक्ष है उसमें परिवर्तन होगा। क्या होगा?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।। (२/१८)

याद रखो कि यह जो शरीर है – यह तो अन्तवन्त है ही।

आस-पास जोधा खड़े, सभी बजावें गाल।
माझ महल से लै चला, ऐसा काल कराल।।

शरीर की तो मृत्यु होगी ही। शोक करते रहो। जिस आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। जिस शरीर की मृत्यु होके रहेगी, उसके लिए भी शोक करना व्यर्थ है।

मनुष्य के दो पहलू हैं–उसका शरीर है जो अन्तवन्त है। शरीर अन्तवन्त है और शरीरी जिसका शरीर है वह अविनाशी है। शरीर कहते हैं देह को। देह का मतलब है ढेरी,राशि। संघात। कई चीजों का मिला-जुला यह रूप है। जो चीज कई चीजों से मिलकर बनती है, वह अपने लिए नहीं होती। क्या मोटर मोटर के लिए होती है? मकान मकान के लिए होता है? माइक्रोफोन माइक्रोफोन के लिए होता है? कई चीजों से मिलकर बनने वाली चीज ढेरी होती है, विनाशवान होती है, परिवर्तमान होती है। वह अपने लिए नहीं होती। किसी और के लिए होती है। शरीर, शरीर के लिए नहीं होता; शरीर शरीरी के लिए होता है। शरीर साधन के रूप में परम काम्य है। साध्य के रूप में शरीर निकृष्ट है। मानव शरीर साधन के रूप में आत्म-साक्षात् करने का परम साधन है— *नर-तन सम नहिं, कवनिउ देही।*

नर शरीर परम साधन है। लेकिन अपने लिए नहीं है। यह परम साधन प्रभु का साक्षात्कार करने के लिए है, इसलिए महत्त्वपूर्ण है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणिः
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत। (२/१८)

तू शरीरी है,अविनाशी आत्मा है,अप्रमेय है। इसलिए हे अर्जुन तू युद्ध कर। जो चीज किसी आगन्तुक स्थिति के कारण बदल जाती हो उस आगन्तुक स्थिति का निरसन कर देने के बाद वह पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाती है। जैसे कि मैं यहाँ बैठा हुआ हूँ। मुझको बोलते-बोलते प्यास लग गई। तो मैंने बोलना बन्द कर दिया। मैंने कहा कि एक गिलास पानी दो। पानी पी लिया। प्यास बुझ गई। फिर बोलना शुरू कर दिया। किसी प्रक्रिया के बीच में किसी कारण से पड़ा हुआ व्याघात कारण के दूर हो जाने पर पूर्व स्थिति में चला जाएगा कि नहीं। अर्जुन किस लिए आया था? युद्ध करने के लिए। तैयार होकर आया था कि नहीं? तैयारी के साथ जब युद्ध करने के लिए आया तब उभय पक्षों का साक्षात्कार करने के बाद उसके मन में मोह और शोक हुआ। अब उस मोह और शोक का अगर पूर्णतः निरसन कर दिया जाए तो वह क्या करेगा? युद्ध करेगा। याद रहे कि गीता का अर्थ युद्ध करना नहीं है। गीता केवल युद्ध करने की प्रेरणा देने वाला शास्त्र

नहीं है। युद्ध हो या कोई भी कर्त्तव्य-कर्म जिसे करने में किसी मोह विशेष के कारण बाधा उत्पन्न हो गई है, उस मोह का निरसन करना गीता का लक्ष्य है। उसके बाद तुम्हारा जो कर्त्तव्य-कर्म है, उसे करो। अगर अर्जुन अध्यापक होता और उसे भय लग गया होता कि मैं तो पढ़ा नहीं सकूँगा भाई। प्रभु उसका मोह दूर करते तो वे कहते कि युद्ध कर? नहीं, वे कहते तू अच्छी तरह पढ़ा। अगर अर्जुन व्यापारी होता और उसको भय होता कि घाटा लग जाएगा, दिवालिया हो जाऊँगा, अतः व्यापार नहीं करूँगा। तो उसको प्रभु समझाते और समझाने के बाद कहते कि युद्ध कर? क्या कहते उसे ? यही कहते कि तेरा कर्त्तव्य व्यापार करना है, तू ईमानदारी से व्यापार कर। यानी कर्त्तव्य-कर्म के रास्ते में आया हुआ व्यामोह कर्त्तव्य को रोक रहा है। कर्त्तव्य के रास्ते में आए हुए व्यामोह को दूर कर देने के बाद क्या करना चाहिए? कर्त्तव्य करना चाहिए। अर्जुन का कर्त्तव्य था, अर्जुन का धर्म था— युद्ध करना। अर्जुन के मन में यह शोक-मोह आया कि मेरे गुरुजन हैं, मेरे बन्धु-बान्धव हैं, आत्मीय हैं, इनसे कैसे युद्ध करूँ। प्रभु एक तो मेरा-तेरा हटा रहे हैं आत्मा की दृष्टि से सब एक ही हैं।

जो अविनाशी आत्मा द्रोण में है, भीष्म में है, वही युधिष्ठिर में है, वही अर्जुन में है, वही सबमें है, वही मुझमें है। और जो कुछ नहीं जानता, उसमें भी वही है। यह वही सर्वव्यापी है जो स्वरूपतः सर्वव्याप्त है। उसके लिए शोक! छिः! शोक का अगर निरसन कर दिया गया तो उसे क्या करना चाहिए? उसे अपने धर्म का पालन करना चाहिए। इसलिए वे कह रहे हैं— *तस्माद्युध्यस्व* / इस तत्त्व ज्ञान के बीच में तस्माद्युध्यस्व— इसकी संगति सिर्फ यही है कि गीता शास्त्र करता क्या है, इस पर ध्यान जाये। गीता श्रवण का चरम फल अर्जुन के शब्दों में है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

मोह को नष्ट कर देना गीता-शास्त्र का अभीष्ट है; और मोह नष्ट हुआ तो अपने अपने धर्म का पालन करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने कहा *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* अतः हे अर्जुन तुम युद्ध करो; किन्तु अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर नहीं हुआ। इसका सीधा अर्थ यही है कि अभी तक अर्जुन का मोह भंग नहीं हुआ है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की आँखों में झाँककर देखा और उसकी आँख से कृष्ण भी समझ गए कि अभी यह तत्त्वज्ञान अर्जुन की समझ में नहीं आया। अभी इसको संतोष नहीं हुआ। इसलिए वे इसी विषय को फिर आगे बढ़ा रहे हैं। अच्छा अध्यापक क्या करता है? जब बात शिष्य की समझ में न आए तो उसको दोहराता है उसकी व्याख्या करता है। उस बात के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए बड़ों का हवाला देता है। देखिये, हमारी बात अगर

आपको स्वीकार्य नहीं लगती तो हम क्या कहते हैं? हम कहते हैं कि यह गुरुजी की बात है। हम कहते हैं कि विनोबा भावे की बात है। हम कहते हैं कि शंकराचार्य की बात है। बड़ों की दुहाई देते हैं। बड़ों की दुहाई इसलिए देते हैं कि बड़ों के प्रति आदरभाव रहता है। हमारी बात नहीं मानते तो उनकी बात तो मानिये। भगवान यहाँ कठोपनिषद् की दुहाई देते हैं। गीतोपदेश को गीतामृत कहा गया है। भगवान के लिए कहा गया है—

प्रपन्नपारिजाताय, तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय, गीतामृतदुहे नमः।।

प्रपन्नपारिजाताय— शरणागत के लिए कल्पवृक्ष हैं कृष्ण। *तोत्रवेत्रैकपाणये*— उनके एक हाथ में ही लगाम भी है, और चाबुक भी है। शासन की पूरी व्यवस्था है। *ज्ञानमुद्राय*— दूसरे हाथ में ज्ञानमुद्रा है। *कृष्णाय-गीतामृत दुहे नमः* — भगवान गीता का अमृत दुह कर हमको सबको दे रहे हैं। यह गीता का अमृत उन्होंने कहाँ से दुहा है?

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत्।।

सारी उपनिषदें गायें हैं, दुहने वाला है गोपालनन्दन कृष्ण, अर्जुन बछड़ा है, सुधी विद्वज्जन भोक्ता हैं और दूध है महान् गीतामृत। स्पष्ट है कि गीता का उपदेश उपनिषदों पर आधारित है। इस प्रसंग के अगले दोनों श्लोक कठोपनिषद् के श्लोकों के किंचित् रूपान्तरित पाठ हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (२/१९-२०)

कठोपनिषद् में कहा गया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। (१/२/१८-१९)

गीता में इन श्लोकों को थोड़ा सा बदल दिया है। कठोपनिषद् में कहा है— अगर मारने वाला व्यक्ति अपने को मारने में समर्थ समझता है और मरने वाला अपने को मारा गया मानता है तो वे दोनों ही आत्मस्वरूप को नहीं समझते; क्योंकि यह

आत्मा न तो किसी को मारता है, न मारा ही जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण कठोपनिषद् की गवाही देते हैं। उनका अभिप्राय है कि अर्जुन तुम मेरी बात नहीं मानते। तुम्हारे दिल में विश्वास नहीं हुआ। तुम सोचते हो कृष्ण मेरा सखा है। अरे! यह तो इधर उधर की बातें बोलता रहता है। इसने ऐसे ही यह बात कह दी? नहीं-नहीं। मैं कठोपनिषद् की बात कर रहा हूँ। श्रीकृष्ण ने कठोपनिषद् के क्रम को थोड़ा सा बदलकर विषय को सबके लिए सहज कर दिया। इस बात को समझिए। कठोपनिषद् में युद्ध का संदर्भ नहीं है। गीता में युद्ध का संदर्भ है। गीता में जब वे कहते हैं कि—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

तो गीता में यह कथन युद्ध के संदर्भ से जुड़ता है कि शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा मारा नहीं जाता। कठोपनिषद् में तो युद्ध का प्रसंग नहीं है।

अयं न हन्यते हन्यमाने शरीरे— यह क्यों कहा गया है? यह किसी को मारता नहीं, यह किसी से मारा नहीं जाता। क्यों कहा गया है? हन्ति और हन्यते का अर्थ केवल युद्ध नहीं है। कठोपनिषद् में जब कहा गया *'नायं हन्ति न हन्यते'* —तो वहाँ उसका अभिप्राय है कि आत्मा निष्क्रिय अव्यय है। जैसे सूर्य जब चमकता है तो उसके नीचे कोई गीता पढ़े, कोई जासूसी उपन्यास पढ़े, कोई किसी का रोग दूर करने के लिए सेवा करे, कोई चोरी करे, सूर्य कुछ नहीं करेगा। सूर्य सब को सहता है। किसी को नहीं मारता। किसी को नहीं रोकता। अब इसके कारण कोई मूर्ख सूर्य को असमर्थ माने तो कोई क्या कर सकता है। बहुत से मूर्ख हैं। अपने को विद्वान मानते हैं। जो नास्तिक हैं वे गर्व से कहते हैं हम नास्तिक हैं। अरे भैया! होगे तुम नास्तिक। परमात्मा का इससे कुछ बिगड़ता नहीं है। परमात्मा को वे मानते हैं कि नहीं–परमात्मा इससे परे है। इसलिए कठोपनिषद् में हन्ति, हन्यते का लाक्षणिक प्रयोग है। गीता में संदर्भगत भी है यह प्रयोग। अर्जुन तुम यह मत समझो कि बाण चलाओगे तो भीष्म को मार दोगे, द्रोण को मार दोगे। कठोपनिषद् में लाक्षणिक प्रयोग करके कहा कि जो अव्यय परमात्मा है— वह किसी के कार्य की कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। उसने एक नियम बना दिया, उसने एक कानून बना दिया, उससे सृष्टि चलती रहती है बस। कोई उसको नहीं मानता; उससे उसका कुछ बिगड़ता नहीं है।

तो इसलिए इसमें उन्होंने कहा कि आत्मा न तो पैदा होता है, न मरता है, न नया होता है। यह तो अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है। पुराण— पुराण की बड़ी अच्छी व्याख्या शंकराचार्य ने की है। हमको पढ़कर आनन्द आ गया। पुराण का मतलब लोग

समझते हैं पुराना। पुराण का मतलब शंकराचार्य ने बताया— *पुरा अपि नव एव इति पुराणः।* पुराना होते हुए भी जो नया है। पुराण शब्द की व्याख्या जो शंकराचार्य ने की है वह अद्‌भुत है। याद रहे पुराण की बड़ी महिमा है। इतिहास रेखांकित होता है, दिनांकित होता है, पुराना पड़ जाता है। पुराण कभी पुराना नहीं होता, वह पुरानी कथाओं में शाश्वत जीवन सत्य को उपस्थित करता है। आत्मा कभी पुराना नहीं होता। सदा नित्य नूतन जैसा रहता है। पुराना होकर भी हमेशा जो नया बना रहे वह सनातन है।

शरीर के नष्ट होने पर आत्मा का विनाश नहीं होता – इस बात को श्रीकृष्ण ने बार-बार दोहराया। जो इसको अजन्मा मानता है, अव्यय मानता है, वह कैसे किसी को मारता है? अर्जुन तुम्हारे मन में यह भ्रान्ति हो गई है कि तुम भीष्म का वध करोगे, द्रोण का वध करोगे – जो पूज्य हैं, उनका वध करोगे – उनका आत्मा तत्त्व तुम्हारे द्वारा मारा नहीं जा सकता। इसलिए आत्मा के लिए शोक करना बिल्कुल व्यर्थ है। इसी तरह शरीर के लिए भी शोक करना व्यर्थ है क्योंकि वह तो नाशवान् है ही।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (२/२२)

पुराने कपड़े हमेशा पहने रहो तो अच्छा लगेगा क्या? पुराना कपड़ा जीर्ण-शीर्ण हो जाए तो नया पहनने से अच्छा लगेगा। उसी तरह जब शरीर पुराना हो जाता है, असमर्थ, अशक्त हो जाता है, तब शरीरी आत्मा पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण कर लेता है। इसमें शोक करने की क्या बात है। मेरी माँ बूढ़ी हो गयी। मैं उनकी सेवा करता था। पैर दबाता था। तो माँ कहती थी कि अब मैं यह शरीर छोड़ दूँगी। तो नया शरीर मिलेगा। जब अच्छा शरीर मिलेगा तो बूढ़ा शरीर रखकर क्या करना? यह भी समझना चाहिए कि नया जन्म सिर्फ शरीर बदलने पर ही नहीं होता। मनोभाव बदलने पर भी होता है। जब हमलोग दीक्षा लेते हैं तो नया जन्म होता है कि नहीं। नया संस्कार ग्रहण करने से नया जन्म होता है। आखिर यज्ञोपवीत संस्कार के कारण ही तो व्यक्ति को द्विज कहा जाता है क्योंकि उससे जीवन का नया प्रकरण शुरू होता है। हमलोग एक ही शरीर में कितने जन्म जीते हैं। आपलोग याद कीजिए। कितने काम किए, कितने छोड़े। और जब जो काम किया उससे आविष्ट हुए। उसके अनुकूल व्यवहार किया। उससे ऊब गए तो छोड़ दिया। इस तरह एक ही जन्म में कई जन्म होते हैं। केवल शरीरान्तर ही नया जन्म नहीं है, भावान्तर भी नया जन्म है। हम आज भी जिस भाव में हैं, उससे उन्नत या अवनत भाव में जायेंगे तो हमारा नया जन्म होगा। गुरु से दीक्षा लेते हैं तो नया जन्म होता है। नाम भी बदल जाता है। गुरुजी का

नाम था— शांतनु बिहारी। संन्यास दीक्षा ली तो हो गया अखंडानन्द। क्या शांतनु बिहारी ही अखंडानन्द हैं। संन्यास लेते हैं तो लोग अपना श्राद्ध करते हैं। क्योंकि पुराना जन्म समाप्त हो गया। संन्यास लेने पर नया जन्म शुरू हुआ। नया जन्म केवल शरीरान्तर के बाद नहीं होता भाई। अच्छे बुरे दोनों प्रकार के भावान्तर से नया जन्मांतर होता है— ऐसा मैं मनाता हूँ। इसलिए इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम किधर जा रहे हैं? किसकी ओर जा रहे हैं? किसका आश्रय ले रहे हैं? भगवान का आश्रय लेंगे तो कल्याण होगा। संसार का आश्रय लेंगे तो अकल्याण होगा। हमारा जो भावांतर हो रहा है? कैसा हो रहा है? किसका आश्रय लेकर हम अपना भावांतर कर रहे हैं। संसार का आश्रय लेकर कभी मंगल नहीं हो सकता। केवल भगवदाश्रय से ही मंगल होगा, कल्याण होगा – उसी दिशा में हमको जाना चाहिए। अतः मरने से डरना व्यर्थ है। आत्मा की अमरता को समझाते हुए श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। (२/२३)

होते तो हैं पंच महाभूत, किन्तु इस श्लोक में चार का ही उल्लेख है, पांचवें का नहीं है। शस्त्र जो है – यह क्षिति का प्रतीक है। पावक स्पष्ट है– अग्नि तत्त्व का प्रतीक है। आप— स्पष्ट है जल तत्त्व का प्रतीक है। मारुत–वायु तत्त्व का प्रतीक है।

क्षिति जल पावक गगन समीरा— पाँच तत्त्व हैं, उनमें चार तत्त्व सक्रिय हैं और आकाश तत्त्व निष्क्रिय है। आकाश सबको अवकाश देता है इसलिए आकाश का उल्लेख यहाँ नहीं है। आत्मा को क्षिति के द्वारा अर्थात् शस्त्रों के द्वारा काटा नहीं जा सकता, आग के द्वारा जलाया नहीं जा सकता, जल के द्वारा भिगाया नहीं जा सकता, वायु के द्वारा सुखाया नहीं जा सकता, आकाश के द्वारा अपने में हजम नहीं किया जा सकता। यह आप मान लीजिए। आत्म तत्त्व – पंचभूत के ऊपर है – पंचभूत तो जड़ है, आत्मा उनके कारण का भी कारण है। आत्मा उनकी सृष्टि नहीं है कि उनसे कटे। यह अछेद्य है – इसे काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, भिगाया नहीं जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता– यह सब निषेध से कहा गया है।

अब प्रभु 'विधि पद्धति' से भी समझाते हुए कहते हैं कि आत्मा तो—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः (२/२४)

आत्मा नित्य है। ऐसा नहीं है कि आत्मा आज है, कल नहीं रहेगा। ऐसा नहीं है कि आत्मा यहाँ है, वहाँ नहीं है, इसमें है, उसमे नहीं है। आत्मा सर्वत्र है, सब में है। ऐसा नहीं है कि आत्मा में परिवर्तन है वह अव्यय है, ज्यों का त्यों है – स्थिर है स्थाणु

है। ऐसा नहीं है कि आत्मा को कोई बदल दे सकता है। वह अचल है। सदा रहने वाला सनातन है। आत्मा के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए प्रभु कहते हैं—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।। (२/२५)

अर्थात् आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है, अविकार्य है। वह शब्दों का विषय नहीं है- इसलिए अव्यक्त है। वह बुद्धि का विषय नहीं है - इसलिए अचिन्त्य है। वह अवाङ्मनसगोचर है— वाणी, मन और इन्द्रिय के परे है। वह अव्यक्त है, वह बुद्धि का विषय नहीं है। वह किसी भी कर्म से बदला नहीं जा सकता अतः अविकार्य है। '*उच्यते*'। अद्भुत बात है। इस पर ध्यान देना चाहिए। क्या कह रहे हैं गीताकार? गीताकार कह रहे हैं कि परमात्मा न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न भिंगाया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। वह सदा रहने वाला है, सब में है, अपरिवर्तनशील है, अचल है, सनातन है। उसको वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसको बुद्धि से सोचा नहीं जा सकता, उसमे कोई विकार नहीं किया जा सकता। तो फिर वह कैसे जाना जाएगा?

उच्यते— केवल एक तरीका जानने का है। जिन्होंने उसको जाना है, उनकी बात से जाना जा सकता है। *उच्यते*– किसके द्वारा कहा गया? जिन्होंने परमात्मा का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव किया है। *उच्यते* – परमात्मा के विषय में शब्द-प्रमाण एक मात्र प्रमाण है। परमात्मा को हम भाषा के द्वारा, बुद्धि के द्वारा, विचार के द्वारा नहीं जान सकते – उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव जिन्होंने किया है उनके अनुभव के अनुकूल होकर ही उसे जाना जा सकता है।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।

विदित्वैनं – उसे जानने मात्र से ही तुम शोक करने योग्य नहीं रहोगे। फिर वही बात। जानने मात्र से जो होता है, वह वही होता है। और सब काम तो करने से होता है। अज्ञान का निरसन केवल जानने से होता है। जैसे ही आत्मा के संबंध में तुम्हारा अज्ञान दूर हो जाएगा, उसको जैसे ही तुम जान लोगे, वैसे ही तुम फिर शोक नहीं करोगे। यहाँ प्रभु ने एक प्रकरण का उपसंहार किया है। इसके बाद दूसरा प्रकरण, दूसरा उपक्रम आरंभ होता है। यह दूसरा उपक्रम, मोटी बुद्धि वालों के लिए है। अभी तक जो बात कही गई, वह सूक्ष्म बात थी। वह आत्मा को दृष्टि में रखकर कही गयी थी। अब प्रभु कहते हैं तुम शरीर के लिए शोक करते हो। है न?

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। (२/२६-२७)

बहुत से लोग कहते हैं – यह बात भौतिकतावाद से कही गयी है। नहीं यह बात भौतिकतावाद से नहीं कही गयी है। कोई नास्तिक पुनर्जन्म मानता है? इसमें पुनर्जन्म की बात कही गई है। अभी तक जो कहा गया— वह आत्मा की दृष्टि से कहा गया। अब जो कहा जा रहा है— यह शरीर की दृष्टि से कहा जा रहा है। हे अर्जुन! तुमको न आत्मा की दृष्टि से शोक करना चाहिए। न तुमको शरीर की दृष्टि से शोक करना चाहिए। शरीर की दृष्टि से क्यों शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि जो पैदा हुआ है वह जरूर मरेगा और जो मरेगा वह जरूर पैदा होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च

यह जो मरने वाले का अवश्य ही जन्म होता है यह आधुनिक भौतिकतावादी नहीं मानते। (भारत वाले मानते हैं)। भारत वाले ब्रह्म न भी मानें जैसे जैन संप्रदाय, बौद्ध संप्रदाय तो भी (सिर्फ चार्वाक् दर्शन को छोड़ कर और सभी भारतीय दर्शन पुनर्जन्म मानते हैं) जो पैदा हुआ है वह मरेगा और जो मरेगा वह अपने कर्मफल का भोग करने के लिए पैदा होगा। इसलिए शरीर का क्या शोक करना? जो चीज जाने ही वाली है, उसे तुम रोक नहीं सकते। उसके लिए शोक क्यों करते हो? सर्वव्यापी उस आत्मा का बोध कर लेने के बाद तुम्हारा शोक, तुम्हारा मोह दूर हो जायेगा। मोह के नष्ट होने पर तुम्हें स्वयं लगेगा कि तुम्हें अपना कर्त्तव्य निभाना ही चाहिए। ●

प्रवचन-३*

स्वधर्म पालन का महत्त्व

विषादग्रस्त अर्जुन ने कातर स्वर में श्रीकृष्ण से पूछा, 'गुरुजनों और स्वजनों के व्यापक संहार की आशंका से उत्पन्न इन्द्रियों को सुखा देने वाले भयंकर शोक को मैं किस प्रकार सहन करूँ?' उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह व्याकुल होकर बोला, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' और चुपचाप रथ के पिछले भाग में बैठ गया। यह बात बिलकुल समझ में आने वाली है कि स्वजनों की मृत्यु की आशंका से शोक उत्पन्न होगा। महाभारत के महायुद्ध के लिए प्रस्तुत दोनों पक्षों में अपने ही स्वजन हैं। दोनों पक्षों में युद्ध होगा तो दोनों पक्षों के अपने स्वजन मारे जाएँगे। उन स्वजनों की मृत्यु के बाद राज्य सुख भी दारुण शोक के कारण अत्यन्त दुःखदायी हो जाएगा। यह आशंका थी अर्जुन को। इसी शंका का निरसन करने के लिए भगवान ने आत्मा की अमरता का और देह की नश्वरता का निरूपण किया। उन्होंने अर्जुन को समझाते हुए कहा, 'अर्जुन तुम किसी की मृत्यु से शोकान्वित होते हो। मृत्यु किसकी होती है ? आत्मा का तो न जन्म होता है, न मृत्यु होती है। आत्मा तो अजन्मा है, अमर है। इसलिए आत्मा के लिए तुमको शोक करना उचित नहीं और शरीर तो नश्वर है ही। वह आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों छूटने वाला है ही। जो अवश्य छूटने वाला है उसके लिए भी शोक करना उचित नहीं है।' तो तत्त्वज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान ने सबसे पहले शोक पर प्रहार किया और आत्मा की अजरता, अमरता, अखंडता के निरूपण के द्वारा यह अपेक्षा हुई कि मृत्यु के कारण शोक नहीं होना चाहिए— यह बात अर्जुन को समझ में आएगी। लेकिन उसने दो बातें और कही थीं। उसने एक बात कही—

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।

मैं अगर युद्ध करूँगा तो अपने ही स्वजनों की हत्या होगी, फलतः कुलधर्म नष्ट होगा। पुरुष मारे जाएँगे। स्त्रियाँ भ्रष्ट होंगी। वर्णसंकर उत्पन्न होंगे और इसलिए यह अधर्म होगा। अतः दूसरी शंका संभावित अधर्म की है। तीसरी शंका है कि ठीक

* द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ३१ से ३८

है, आत्मा अमर है। इसलिए किसी के मरने का शोक नहीं होना चाहिए लेकिन क्या मारना विधेय है ? क्या यह उचित होगा कि हम शरीरवान् व्यक्तियों की हत्या कर दें? क्या इससे पाप नहीं होगा?

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः। (१/४५)

बहुत बड़ा पाप हम करने जा रहे हैं कि अपने राज्य-सुख लोभ के कारण हम मार देंगे अपने गुरुजनों को, अपने स्वजनों को। अतएव शोक के अनौचित्य का निरूपण करने के बाद प्रभु अब निरूपण कर रहे हैं कि क्या अर्जुन का युद्ध करना अधर्म है? प्रभु यह निरूपण करना चाहते हैं कि युद्ध करने से पाप होगा कि युद्ध न करने से पाप होगा। पाप जिसको तुम कह रहे हो वह पाप किस स्थिति में होता है, क्यों होता है? क्या केवल तुम्हारे कह देने से मान लिया जाएगा कि तुम जो कहते हो, वह धर्म है? तुम जो कहते हो वह अधर्म है। क्या तुम्हारे कहने से यह मान लिया जाएगा कि किसी की हत्या करना पाप है, हर हालत में ? अर्जुन के तर्कों के तीन प्रधान मुद्दों में से एक मुद्दे का— शोक के निरसन का निरूपण किया गया। अवशिष्ट दो मुद्दों की चर्चा बाकी है। आज के प्रवचन में इन दोनों मुद्दों को समेटने का प्रयास किया जायेगा।

भगवान कहते हैं कि तुम केवल धर्म की बात कहते हो। धर्म का भी एक सूक्ष्म भेद है— स्वधर्म। आज जहाँ से हम आरंभ करने वाले हैं वहाँ पहला ही श्लोक है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। (२।३१)

अर्जुन तुम्हारे मन में यह शंका है कि हम युद्ध करेंगे तो युद्ध के परिणाम स्वरूप अधर्म होगा। धर्म और अधर्म के विवेक को और सूक्ष्मता से समझने की जरूरत है। एक तो होता है सामान्य धर्म। सामान्य धर्म सबके लिए समान रूप से लागू होता है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्।

सामान्य धर्म के ये दस लक्षण हैं। धैर्य, क्षमा, संयम, चोरी न करना, बाहरी, भीतरी पवित्रता, मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध, ये दस लक्षण हैं धर्म के। सामान्य धर्म सबों के लिए पालनीय है। लेकिन धर्म यहीं पर समाप्त नहीं होता। आजकल धर्म शब्द हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म—मजहब के अर्थ में Religion के लिए, पंथ के लिए प्रयुक्त होने लगा है। यह हमारी कल्पना नहीं है, हमारी मान्यता नहीं है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

जो धारण करे, वह धर्म है। किसको धारण करे ? व्यक्ति को भी धारण करे, समाज को भी धारण करे। और इस व्यक्ति और समाज के समन्वय में सामान्य धर्म और स्वधर्म दोनों का युगपत् सहअवस्थान होना चाहिए। स्वधर्म का मतलब क्या होता है? भगवान कहते हैं कि *'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।'*

अर्जुन स्वधर्म का भी विचार करो। स्वधर्म की ओर देख कर भी तुमको विकम्पित नहीं होना चाहिए।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।

धर्म-युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कोई दूसरा श्रेयस्कर विधान नहीं है। अब इसमें स्वधर्म को क्षत्रियत्व के साथ जोड़कर ही नहीं देखना चाहिए। क्षत्रियत्व के साथ जोड़कर भी देखा जा सकता है; किन्तु क्षत्रियत्व यह लाक्षणिक प्रयोग है। क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय का धर्म पालनीय है, ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण का, वैश्य के लिए वैश्य का, शूद्र के लिए शूद्र का। लेकिन गीता में वर्ण-धर्म ही अन्तिम बात नहीं है। अर्जुन जन्मना क्षत्रिय था और कर्मणा भी क्षत्रिय ही था। अनेक युद्ध किए उसने। अनेक युद्धों में उसे विजय प्राप्त हुई इसलिए उसका नाम धनंजय पड़ा। भगवान पशुपति से युद्ध करके उसे पाशुपतास्त्र प्राप्त हुआ। युद्ध करना अर्जुन की स्वाभाविक वृत्ति के अनुरूप कर्म है। क्षत्रियों के लिए युद्ध अगर धर्म्य है तो इस धर्म्य शब्द पर भी बल देना चाहिए। युद्ध मात्र प्रशस्त नहीं है। अत्याचार के लिए किया गया युद्ध, शोषण के लिए, लूटमार के लिए किया गया युद्ध प्रशस्त नहीं है, धर्म नहीं है। किन्तु यह युद्ध धर्मयुद्ध है। द्यूत क्रीड़ा के बाद शर्त के अनुसार बारह वर्षों तक वनवास करने के बाद, एक वर्ष का अज्ञातवास पाण्डव कर चुके हैं। शर्त पूरी कर देने के बाद उनको अपना राज्य वापस मिलना चाहिए। राज्य वापस देने के बदले दुर्योधन कहता है सूई की नोक के बराबर भी भूमि मैं नहीं दूंगा। सूई की नोक के बराबर भी भूमि तू नहीं देगा? क्या भूमि तेरी है? एक शर्त के अनुसार तुझे पाण्डवों का यह राज्य प्राप्त हुआ। पाण्डवों ने वह शर्त पूरी कर दी। उस शर्त की पूर्ति के बाद धर्म कहता है, न्याय कहता है, औचित्य कहता है कि वह राज्य पाण्डवों को वापस कर दिया जाए। दुर्योधन अन्यायपूर्वक, अधर्मपूर्वक उस राज्य पर हावी है, कब्जा किए बैठा है। इसलिए न्याय की रक्षा के लिए, राज्य प्राप्ति का पाण्डवों का यह संग्राम धर्म्य है। धर्म से जो ओत-प्रोत है, धर्म से जो अलग नहीं है— वह है धर्म्य। धर्म-युद्ध से बढ़कर क्षत्रियों के लिए और कोई दूसरा श्रेयस्कर कार्य नहीं है। क्षत्रिय का धर्म बताया गया है गीता में—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। (१८/४३)

क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म या धर्म है, शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से पराङ्मुख न होना, दान और ईश्वर भाव। *क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः।* समाज या किसी व्यक्ति पर होने वाले आक्रमण क्षत (घाव) और क्षति (नुकसान) से जो रक्षा करे, वह क्षत्रिय है। तो अन्याय का प्रतिवाद करना यह क्षत्रियत्व है, क्षत्रिय का धर्म है। अतः इस धर्म-युद्ध को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। स्वधर्म वर्ण-धर्म के द्वारा भी परिचालित, नियंत्रित होता है लेकिन स्व-धर्म उसके आगे भी जाता है। स्वधर्म इस बात पर निर्भर करता है कि तुम्हारा स्व क्या है? स्व तुम किसको मानते हो? अगर तुमने स्व इस शरीर को माना और इस शरीर को किसी एक विशेष वर्ण से अनुशासित माना तो उस वर्ण का धर्म तुम्हारा धर्म है। यद्यपि गीता में जन्मना वर्ण-व्यवस्था की जगह कर्मणा वर्ण-व्यवस्था पर बल दिया गया है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। (४/१३)

मैंने चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार की है। उनका कर्त्ता होने पर भी तुम मुझे अविकारी अकर्त्ता ही समझो। शुक्र नीति में भी यह बात दुहराई गयी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का विभाग जन्म के द्वारा नहीं गुण कर्म के द्वारा किया गया था—

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य नैव च।
न शूद्रो न च म्लेच्छो वा भेदिता गुणकर्मभिः।।

गीता में प्रयुक्त 'गुणकर्मविभागशः' ही शुक्रनीति में 'भेदिता गुणकर्मभिः' के रूप में कथित है। इसलिए शुक्र नीति गीता से प्रभावित भी है और गीता की बात को अधिक स्पष्टता से कहने का आग्रह भी उसमें है। तो गुण और कर्म के आधार पर वर्ण विभाजित किये गये थे। गुण और कर्म का संचय व्यक्ति कैसे करता है? किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से नहीं। गीता यह स्वीकार करती है कि असंख्य पूर्वजन्मों का फल यह शरीर है। असंख्य पूर्वजन्मों का परिणाम हमारा स्व-भाव है। हमारे अपने स्व-भाव के अनुसार हमारी जो वृत्ति है, उसमें जो चमक उत्पन्न करे, हमारे स्वभाव के अनुसार हमारा जो कर्म है, उसे जो पवित्र करे, वह स्वधर्म है। कर्म और धर्म का मौलिक अंतर समझिए। किसी स्थिति को, वस्तु को, व्यक्ति को प्राप्त करने के लिए किया गया परिश्रम कर्म है। वस्तु-शोधन की प्रक्रिया कर्म है और चित्त-शोधन की

प्रक्रिया धर्म है। मौलिक अंतर यह है। जिससे केवल वस्तु की प्राप्ति होती है, जिससे केवल वस्तु चमक जाए, लकड़ी का कुंदा था उसको यह टेबुल का आकार दे दिया गया— यह कर्म है। लेकिन बढ़ई अगर इस कर्म को अपनी वृत्ति के रूप में ही नहीं अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में स्वीकार करे तो यही उसका स्वधर्म भी हो जाएगा।

एक जगह मंदिर बन रहा था। बहुत से लोग काम कर रहे थे। किसी ने एक व्यक्ति से पूछा— 'भैया ! तू क्या कर रहा है?' उसने उत्तर दिया, 'मैं बीस रुपये रोज कमा रहा हूँ।' मंदिर बने कि मदिरालय बने, इससे उसको कुछ लेना-देना नहीं है। उसे उसकी मजदूरी जिससे मिले, वह काम कर रहा है। यह कर्म है। दूसरे से पूछा कि तू क्या कर रहा है? उसने कहा कि 'मैं इष्टदेव का मंदिर बना रहा हूँ।' बीस रुपया तो उसको भी मिल रहा है। लेकिन उसमें उसकी जो भावना है कि मैं अपने इष्टदेव के मंदिर के निर्माण के लिए परिश्रम कर रहा हूँ, इससे केवल उसको वृत्ति की प्राप्ति अर्थ के रूप में होती है— इतना ही नहीं है उसके चित्त की शुद्धि भी होती है। वही कर्म एक के लिए केवल कर्म है और वही कर्म दूसरे के लिए धर्म है। चित्त-शोधन की प्रक्रिया कर्म को धर्म में बदल देती है।

तो असंख्य पूर्व-जन्मों के अनुसार जो मनोवृत्ति हमारी है, किसी की पढ़ाने की हो सकती है, किसी की युद्ध करने की हो सकती है, किसी की व्यवसाय करने की हो सकती है, किसी की सेवा करने की हो सकती है, कृषि की हो सकती है—उस मनोवृत्ति में जो चित्त का शोधन भी जोड़ दे, वह उस वृत्ति को धर्म में रूपान्तरित करता है। नहीं तो केवल वृत्ति रह जाएगी, वह उसका धर्म नहीं रहेगा। स्वभाव कैसे स्वधर्म में बदलता है? स्वभाव से प्रेरित वृत्ति स्वधर्म में कब बदलती है? जब उस वृत्ति के साथ-साथ केवल क्रिया न हो, उस क्रिया के द्वारा चित्त की शुद्धि भी हो तब वह स्वधर्म होता है। स्वधर्म स्व-कर्म से कुछ ऊँची बात होनी चाहिए नहीं तो कर्म और धर्म दो शब्द क्यों हैं?

स्व-कर्म से, स्वभाव नियत कर्म से धर्म को उच्चता देने का अर्थ यही है— स्वधर्म का निरूपण करने के लिए— जिससे हमारी मानसिक वृत्ति में पवित्रता आए वह मानसिक वृत्ति, वह कर्म भगवान की पूजा बन जाता है। यह कहा है गीता में—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां-- जिस परमात्मा से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। *येन सर्वमिदं ततम्*— जिस परमात्मा से इस सारे विश्व का कण-कंण ओत-प्रोत भाव से व्याप्त है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य— जब हम अपने कर्म से उसकी अर्चना करते हैं जब वही कर्म पूजा हो जाता है तो धर्म हो जाता है। अपने कर्म से मैंने रुपया कमाया। अपने कर्म से मैंने रुपया कमाकर अपना और अपने परिवार का पालन किया केवल इतने से वह कर्म धर्म नहीं हो जाता। *स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य*— अपने कर्म से मैं अपने प्रभु की अर्चना कर रहा हूँ, जब यह वृत्ति जुड़ती है तो उस कर्म में पवित्रता आती है, उस कर्म में उदात्तता आती है, वह कर्म धर्म में रूपान्तरित हो जाता है।

सिद्धिं विन्दति मानवः —उससे मनुष्यों को सिद्धि प्राप्त होती है। तो यह जो अर्जुन का स्वधर्म है— केवल क्या क्षात्र धर्म होने के कारण? वर्ण धर्म होने के कारण? हाँ वर्ण धर्म होने के कारण भी। लेकिन वर्ण-धर्म के साथ-साथ अर्जुन जन्मजात योद्धा रहा। अगर सामयिक कार्पण्य, दैन्य कह लीजिए या क्लैव्य कह लीजिए— या मोह कह लीजिए— उसके फलस्वरूप यदि वह अपना युद्ध धर्म छोड़ देता तो वह पतित हो जाता। उसने कहा कि भीख माँग कर संन्यास-धर्म का पालन करूँगा तो क्या उसका वह संन्यास-धर्म अक्षुण्ण रहता ? उसका उससे स्खलन होता। वृत्ति अगर संन्यासी की नहीं है तो संन्यास-धर्म निभता नहीं। माँ-बाप, बच्चों को, पत्नी को पालने में बहुत खर्च होता है, उतना रुपया कमा नहीं पाता, घर में लड़ाई झगड़ा होता है, इसलिए भाग कर कोई गेरुआ वस्त्र पहन लेगा तो वह महा दुराचार करेगा। कुकर्म करेगा। वृत्ति जब तक पवित्र नहीं होती, तब तक अपने कर्म की जिम्मेदारी से या अपने कर्म के बोझ से, दबाव से बचने के लिए भाग कर, दूसरी वृत्ति को ग्रहण करना— यह पाप है। इसलिए भगवान ने कहा कि देखो! तुम क्षत्रिय हो, केवल इतना ही नहीं, यह तुम्हारा स्वधर्म है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। (२/३१)

धर्म्य-युद्ध से दूसरा, अन्य कुछ भी क्षत्रिय के लिए श्रेयस्कर नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्। (२/३२)

अच्छा! एक बात पर ध्यान दीजिए। अच्छे अध्यापक का लक्षण क्या है? अच्छे अध्यापक का, गुरु का लक्षण यह है कि जो बात जैसे अच्छी तरह से शिष्य की समझ में आए, वह बात उसे वैसे ही समझाये। अर्जुन को आत्मा की अमरता की बात सुना तो दी लेकिन प्रभु को लगा कि इसे पूरी तरह यह बात समझ में नहीं आई। यह इसकी वृत्ति के बिलकुल अनुकूल बात नहीं है। श्रोता अगर श्रद्धा के साथ बात सुन

रहा है, फिर भी वह बात समझ नहीं रहा है तो दोष श्रोता का नहीं है, वक्ता का है—

वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यदि न बुध्यते।

वक्ता की ही जड़ता है कि वह अपनी बात श्रद्धालु श्रोता को समझा नहीं पा रहा है। अर्जुन तो श्रद्धा के साथ सुन रहा है लेकिन प्रभु को लगा कि यह बात थोड़ी इसके सिर के ऊपर से निकल गई। इसलिए इस बात को बार-बार दोहरायेंगे लेकिन वह बात पहले ही कह देने योग्य है। एक बात पर ध्यान दीजिए— लक्ष्य का निरूपण पहले होना चाहिए। लक्ष्य का निरूपण बाद में करने से भटकाव संभव है। लक्ष्य ठीक समझ में आया कि नहीं ? अगर ठीक समझ में नहीं आया तो उसको बार-बार समझाओ। लेकिन लक्ष्य, गंतव्य— इसका उद्घोष पहले ही होना चाहिए।

मैं सैनिक रहा हूँ। एन.सी.सी. में मैंने शिक्षा ली है। सेकेंड लेफ्टिनेन्ट था। तो जब कक्षा होती थी तो उसमें बोर्ड पर पहले लिखा जाता था – Aim । लक्ष्य क्या है? इस कक्षा का लक्ष्य क्या समझाना है? लक्ष्य (Aim) अभी समझाया नहीं लेकिन लक्ष्य घोषित कर दिया जाता था पहले ही; और इसके बाद वह समझाया जाता था। भगवान ने लक्ष्य तो घोषित कर दिया। बहुत विस्तार से घोषित कर दिया कि आत्मा अखंड है, अमर है। एक ही आत्मा सब में है। यह बता दी बात। और इस लक्ष्य की घोषणा के बाद जब उनको लगा कि बात अभी पूरी तरह गले के नीचे उतरी नहीं तो वे अर्जुन को दूसरी तरह से समझाने लगे।

अवतार का मतलब क्या है? अवतार का मतलब है— *अवतरणं अवतारः* —ऊपर से नीचे आना। तो क्या भगवान् केवल ऊपर हैं, नीचे नहीं हैं? भगवान तो नीचे भी हैं। भगवान तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं। भगवान अभी, इसी समय, यहीं, इसमें-उसमें-सबमें नहीं हैं तो भगवान कहीं नहीं हैं। भगवान तो ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं। भगवान तो पूर्व में भी हैं, पश्चिम में भी हैं। तो अवतार का क्या मतलब? अवतार की संगति उद्धार के साथ है। इस बात पर ध्यान दीजिये। अवतार की संगति उद्धार के साथ है। जीव अपने को पतित मानता है। जीव कहता है कि मैं पतित हूं। *मैं हरि पतितपावन सुने, मैं पतित, तुम पतितपावन, दोऊ बानक बने।* जीव के मन में यह बात बद्धमूल हो गयी है कि मैं पतित हूँ। उसने पाप किए हैं। कैसे कहे कि पतित नहीं हैं? झूठ बोला है, उसने धोखा दिया है, व्यभिचार किया है, उससे बुरे काम हुए हैं। उन बुरे कामों के बाद कैसे कहे कि मैं पतित नहीं हूँ। जीव अपने को पतित मानता है, गिरा हुआ मानता है। भगवान का अवतार इन पतितों के उद्धार के लिए होता है। तुमने अपने को नीचा माना है तो तुमने जहाँ जिस स्तर पर अपने को रखा है, प्रभु वहाँ उतर

कर आएँगे तुम्हारा हाथ पकड़ कर तुमको ऊपर ले जायेंगे। तुमको अनुभव करायेंगे कि तुम्हारे पाप उनके स्पर्श-मात्र से, उनकी कृपा-मात्र से नष्ट हो गये। तुम शुद्ध-बुद्ध, आत्मस्वरूप हो गए। अवतार की संगति उद्धार के साथ है। इसी तरह बात जब समझाई जा रही है तो बात अर्जुन को कौन सी समझ में आई? अर्जुन को आत्मा की अमरता की बात भी थोड़ी देर में समझ में आएगी, लेकिन यह बात तुरन्त समझ में आएगी कि युद्ध करना मेरा धर्म है। असंख्य युद्ध वह कर चुका है। उसको, उसके स्तर पर उतर कर प्रभु समझा रहे हैं। कई विद्वानों ने कहा है कि यह पूरा प्रसंग लौकिक प्रसंग है। लौकिक प्रसंग में उनका भाव यह है कि इससे पहले का जो प्रसंग है; आत्मा की अमरता का – वह बहुत ऊँचा, दार्शनिक, आध्यात्मिक है। इसके बाद का जो प्रसंग है निष्काम कर्मयोग का – वह भी बहुत ऊँचा आध्यात्मिक प्रसंग है और यह जो बीच में स्वधर्म के पालन के माध्यम से युद्ध करने की प्रवृत्ति भड़काने के लिए प्रभु जो उसको उत्साह दे रहे हैं, यह जरा कुछ कम ऊँची बात है। यह कम ऊँची बात बहुत ऊँचे लोगों के लिए ही हो सकती है, लेकिन अर्जुन के लिए? बात किसके लिए कही जा रही है? बात अर्जुन के लिए कही जा रही है और बात अर्जुन को समझ में आनी चाहिए। श्रीकृष्ण यहाँ शंकराचार्य को समझाने के लिए नहीं कह रहे हैं, रामानुजाचार्य को समझाने के लिए नहीं कह रहे हैं, विनोबा भावे को समझाने के लिए नहीं कह रहे हैं, अर्जुन को समझाने के लिए कह रहे हैं और इसलिए उन्होंने कहा कि—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।। (२/३२)

अर्जुन, तुम्हारे लिए यह तो अपने आप स्वर्ग का द्वार उद्घाटित हो गया। धर्म-युद्ध खोजने तुमको नहीं जाना पड़ा। धर्म-युद्ध तुम्हारे द्वार पर आ गया। तुमने अपनी तरफ से अपनी शर्त पूरी पाल ली। बारह वर्ष का वनवास किया, एक वर्ष का अज्ञातवास किया। अब इसके बाद यदि तुमको तुम्हारा राज्य नहीं मिलता तो यह अधर्म है, यह अन्याय है। उस अन्याय का प्रतिवाद करने के लिए जो युद्ध है, वह अपने आप सहज तुमको प्राप्त हुआ है। यह सहज स्वतः प्राप्त धर्म-युद्ध क्षत्रियों के लिए अत्यन्त उत्सव का विषय है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।। (२/३३)

स्वधर्म। इस स्वधर्म को फिर उन्होंने रेखांकित किया— कि तुम्हारा धर्म क्या है? तुम्हारा धर्म भीख मांगना नहीं है। तुम संन्यासी बनकर, भीख मांगकर अपना

उदर-पोषण करने की बात कहते हो —यह केवल बात-की-बात है; और इस पर ध्यान दीजिए आप कि गीता में स्वधर्म पर इतना बल दिया गया है कि सात सौ श्लोकों की गीता में केवल दो ही पंक्तियाँ दो बार आई हैं। उनमें से एक पंक्ति यह है–

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

यह पंक्ति गीता में दो बार आई है।

दूसरे के स्वानुष्ठित, अच्छे लगने वाले, गुण की तुलना में, धर्म की तुलना में, अपना धर्म अगर कम भी अच्छा लगता हो, तो वही धर्म हमारे लिए पालनीय है। अगर तुमको केवल सुनने से यह प्रतीति हो गई कि मनुष्य के जीवन में सबसे ऊँचा धर्म संन्यास-धर्म है – अगर किसी ने तुमको यह उपदेश दिया और तुमको यह श्रद्धा प्राप्त हो गई कि मानव-जीवन की सर्वोच्च स्थिति संन्यास है तो संन्यास का धर्म तुम्हारे लिए क्या अपना धर्म हो जाएगा? अब इस बात पर फिर लौट कर आइए। मैंने आपको बताया था कि एक धर्म है, एक स्वधर्म है और एक परधर्म है। धर्म जो समान है, सामान्य है वह तो अलग है। स्व तुमने क्या माना? यह तुम्हारी बात अभी छोड़ दें। स्व सीधे-सीधे अपनी आत्मा का वाचक है। स्व— आत्मस्वरूप— अपना। जीवात्मा, परमात्मा का अंश है, अंग है। परमात्मा को प्राप्त करने में ही उसके स्व का कल्याण है। परमात्मा को प्राप्त करने के जितने मार्ग हैं, वे उसके अनुकूल हैं। परमात्मा की प्राप्ति में जितने बाधक तत्त्व हैं, वे उसके प्रतिकूल हैं। और इसलिए अधर्म तो बिलकुल स्पष्ट हो गया।

जो व्यवहार परमात्मा की प्राप्ति में बाधक है, वह तो धर्म ही नहीं है। फिर चोरी-यारी, मिथ्या, धोखा देना, आदि-आदि इत्यादि— ये सब जो परमात्मा की प्राप्ति में बाधक हैं, वे अपने आप अधर्म में चले गए, वे छूट गये। अब आत्मा को परमात्मा से मिलाने के कई रास्ते हो सकते हैं। और जो आत्मा को परमात्मा से मिलाने के रास्ते हैं — वे सब धर्म हैं। वे सब धर्म होते हुए भी वे सब स्व-धर्म नहीं हैं। भारतीय संस्कृति की एक विशेषता की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। जब भगवान कहते हैं —

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्

जो जिस रास्ते से, जिस तरह मेरे पास आता है, मैं उसको उसी तरह स्वीकार कर लेता हूँ। तो यह मान लेते हैं कि भगवान तक जाने के कई रास्ते हैं—

वीथी भगवत् मिलन की, निहचय एक न होय।

अगर कोई बात निश्चित सत्य है तो वह, यह कि रामजी तक पहुँचने का कोई

एक ही रास्ता नहीं है। रामजी से मिलने के अनेक रास्ते हैं। इन अनेक रास्तों पर चलना, राम जी तक पहुँचना सब के लिए विधेय है। लेकिन मैं अपने ही रास्ते पर चलूँगा। थोड़ी देर इस रास्ते पर, फिर उस रास्ते पर, फिर घूम कर इस रास्ते पर, फिर घूम कर उस रास्ते पर चलोगे तो कहाँ पहुँचोगे लाला? रास्ते सब सच होते हुए भी, सब रास्ते मेरे लिए नहीं हैं। मेरा जो रास्ता है, वह मेरे लिए है। औरों का रास्ता औरों के लिए है। इसको कहते हैं अपि सिद्धांत— 'भी' सिद्धांत। राम जी तक पहुँचने के रास्ते अनेक हैं। 'भी' – वादी है भारतीय संस्कृति। यह भी रामजी तक जाने का रास्ता है, यह दूसरा भी है रामजी तक जाने का रास्ता। इन अलग-अलग रास्तों पर जो चल रहे हैं, वे अपने रास्तों पर चलें लेकिन मेरे लिए मेरा ही रास्ता है— यह हुआ मेरे लिए मेरा रास्ता— स्वधर्म। और औरों के लिए औरों का रास्ता। दूसरे का रास्ता अच्छा होते हुए भी, मेरे लिए हुआ परधर्म। हम अपि सिद्धांत का पालन करते हुए एकाधिक रास्तों की स्वीकृति करते हैं। एकाधिक रास्तों को स्वीकार करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि अनेक रास्तों से चल कर परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। लोग अपने-अपने रास्ते पर चलें। और सारे मजहब दुनिया के 'एव' सिद्धांत मानते हैं, 'अपि' सिद्धांत नहीं मानते और सारे मजहब 'ही' वादी हैं। मेरा ही रास्ता एकमात्र सही रास्ता है। जो मेरे रास्ते से अलग चले उसका सिर काट दो। उसके मंदिर को तोड़ दो, उसको नष्ट कर दो। यहूदी, ईसाई, इस्लाम और उसी में जोड़ लीजिए कम्यूनिज्म – सब 'एव' वादी हैं। यह एक मात्र रास्ता है। हमलोग 'एव' वादी नहीं हैं। हमलोग 'अपि' वादी हैं। हमलोग कहते हैं कि हमारे लिए हमारा रास्ता है, दूसरों के लिए दूसरों का रास्ता हो सकता है। दूसरों के धर्म के ऊपर आघात न करते हुए, उनको अपने रास्ते पर चलने की पूरी छूट देते हुए, हम तो अपने ही रास्ते पर चलेंगे। अब इसमें स्व-धर्म और पर-धर्म — दोनों को मान्यता दे दी। लेकिन परधर्म अगर अधिक आकर्षक प्रतीत होता हो, तो जो आकर्षक प्रतीत होता है, वही मैं स्वीकार करूँ? नहीं।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

मेरे लिए दूसरे का धर्म भयावह है। दूध और पानी इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? मोटे तौर पर लोग मानेंगे कि दूध श्रेष्ठ है। तो पानी में रहने वाली मछली क्या पानी से दूध को श्रेष्ठ मान कर दूध में चली जाए? दूध में जाकर मछली जियेगी? नहीं जी सकती। दूध श्रेष्ठ होगा। कुछ लोगों के लिए रबड़ी उससे भी श्रेष्ठ हो सकती है। लेकिन मछली को तो पानी में ही रहना है। न दूध में जाना है, न रबड़ी में जाना है। अपने ही धर्म का पालन करना मेरे लिए मंगलमय है – यह आग्रहपूर्वक गीता कहती

है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा कि— *ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि* – अगर तुम अपना धर्म छोड़ दोगे तो उसके साथ तुम्हारी कीर्ति भी नष्ट हो जाएगी। कीर्ति कैसे, तेजस्विता कैसे मिलती है? बहुत ही अच्छा श्लोक है शुक्र नीति में–

यो हि स्वधर्मनिरतः स तेजस्वी भवेदिह।
विना स्वधर्मान्न सुखं स्वधर्मो हि परं तपः। (१/२४)

जो स्व यानी अपने धर्म में निरत है – *सः तेजस्वी भवेत् इह* – वही व्यक्ति इस लोक में तेजस्विता प्राप्त करता है। स्वधर्म केवल वर्ण के द्वारा निर्धारित नहीं होता। वर्ण का भी प्रभाव पड़ता है; किन्तु वर्णधर्म का अतिक्रमण भी होता है। अतः मैं इस बात को नहीं मानता कि बढ़ई का बेटा जीवन भर बढ़ई ही रहेगा। अगर ऐसा होता तो आप यह सोचिए कि पुष्यमित्र कैसे सैनिक हो गया? वह तो ब्राह्मण का बेटा था। भगवान बुद्ध, भगवान महावीर — कैसे क्षत्रिय होते हुए परम त्यागी हो गए। कैसे कबीरदास परम संत हो गए? रैदास कैसे परम संत हो गए? इन उदाहरणों से सिद्ध है कि वर्ण-धर्म का भी अतिक्रमण होता है। वर्ण के संस्कार के बाद भी असंख्य पूर्व जन्मों के कर्मों के प्रभाव के कारण हमारी जो वृत्ति बनती है, कभी-कभी वह वर्ण धर्म का अतिक्रमण करती है और कभी-कभी गुरु कृपा से, सत्संग से, साधन बल से शोधित वृत्ति वर्ण धर्म का अतिक्रमण कर हमारे स्व धर्म का आधार बनती है। इसलिए बढ़ई का बेटा भी विद्वान अध्यापक बन सकता है। हाँ, अध्यापक का धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसको प्रलोभनवश अध्यापक का धर्म छोड़कर दूसरी स्थिति स्वीकार नहीं करनी चाहिए। उसे कष्ट उठाकर भी स्व धर्म का पालन करना चाहिए। जो अपने धर्म का पालन करेगा निष्ठा के साथ, पूर्ण समर्पण के साथ, उसी में तेजस्विता आएगी।

स्वधर्म का पालन किए बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। यदि कोई व्यापार करता हो, उसे भी धर्म समझ कर करना चाहिए। तब वह बेईमानी नहीं करेगा। आप देखिए कि ईमानदार व्यापारी का जो सम्मान है, वह बेईमान व्यापारी का नहीं हो सकता। गीता कहती है कि सम्मान उसी का होगा जो अपने गुण-कर्म के अनुसार अपनी वृत्ति के अनुसार स्व धर्म का पालन करेगा।

गीता बड़ी विचित्र है। गीता केवल अर्जुन के लिए नहीं कही गयी। *पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता* – गीता सब समझदार लोगों के लिए कही गयी है। आप लोगों में से जो सुधी लोग हैं उनके लिए गीता कही गयी है। गीता में एक अद्‌भुत बात कही गयी है, –*मामनुस्मर युद्धय च*। मेरा अनुस्मरण करते हुए युद्ध करते रहो। याद रहे, स्व धर्म पालन करने में युद्ध की स्थिति आएगी ही आएगी। अगर तुम निष्ठा के साथ स्व धर्म

पालन कर रहे हो, तो उस स्व धर्म से तुमको विचलित कर देने के लिए प्रलोभन आएँगे। उन प्रलोभनों के साथ तुमको युद्ध करना होगा। युद्ध क्या केवल शस्त्र द्वारा किया जाता है? युद्ध क्या केवल रण-भूमि में किया जाता है? युद्ध क्या प्रलोभनों के साथ नहीं होता? काम के साथ नहीं होता? क्रोध के साथ नहीं होता? लोभ के साथ नहीं होता? समर्थ स्वामी रामदास जी ने कहा है – *रात्रिं दिन आम्हां युद्धा च प्रसंग, बाह्याभ्यन्तर जग आणि मन।* माने कहा क्या?

युद्धरत मैं रात-दिन, बहिरन्तर जग और मन।

मेरा मन बाहरी और भीतरी प्रलोभनों से रात-दिन युद्ध करता है। अपने धर्म से डिगा देने के प्रलोभन हर व्यक्ति के सामने आएँगे ही। अपने धर्म में स्थिर रहते हुए उन प्रलोभनों के साथ युद्ध करना हमारा कर्त्तव्य है। इसलिए भगवान ने कहा – *मामनुस्मर युद्ध्य च* – निरन्तर मेरा स्मरण करते रहो और अपने धर्म का, स्व-धर्म का पालन करने के लिए, स्वधर्म के ऊपर आक्रमण करने वाले प्रलोभनों के साथ युद्ध करते रहो। अगर हम स्वधर्म का पालन करेंगे तो हमको तेजस्विता प्राप्त होगी। यश की प्राप्ति होगी। कीर्ति क्या कोई ऐसे ही देता है? यश क्या किसी को ऐसे ही मिलता है?

पावन जस कि पुन्य बिनु होई।
बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।।

बिना पाप के किसी को कोई अपयश मिला है? बिना पवित्र पुण्य किए किसी को यश मिला है? सच्चा यश यह नहीं कि मंत्री जी के सामने तो लल्लो चप्पो और मंत्री जी के पीछे उनको गालियाँ। यह यश नहीं है। सच्चा यश स्वधर्म का पालन करने से मिलता है। पावन यश पुण्य करने से होता है। स्वधर्म के लिए युद्ध करने से होता है। और अकीर्ति, अप-कीर्ति स्वधर्म के त्याग के कारण होती है। इसीलिए प्रभु ने कहा स्वधर्म का त्याग करने पर कीर्ति भी नष्ट होगी और पाप भी लगेगा।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।

प्रभु ने इसके बाद कुछ विस्तार से अपकीर्ति का भय अर्जुन को दिखाया है, क्योंकि अर्जुन स्वाभिमानी है, क्योंकि अर्जुन यशस्वी है और यशःप्रार्थी भी है। भर्तृहरि के बताये अच्छे लोगों के लक्षणों पर ध्यान दीजिये—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

महात्माओं के लिए ये बातें प्रकृति सिद्ध हैं– विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, स्वभाव में वाक्पटुता, युद्ध में विक्रम, यश में अभिरुचि और ज्ञान का व्यसन। ये भी बातें सबके लिए नहीं हैं। संन्यासी के लिए अष्टावक्र गीता में लिखा गया है—

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम्।
मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव।।

अर्थात् प्रतिष्ठा तो सुअरी की विष्ठा के समान तुच्छ है, गौरव तो रौरव नरक के सदृश है, मान तो सुरापान के समान त्याज्य है। स्पष्ट है कि संन्यासी का धर्म अलग है, सद् गृहस्थ का धर्म अलग है। भर्तृहरि के बताये हुए लक्षण सज्जन, सद् गृहस्थ के लक्षण हैं। अर्जुन सज्जन है, सद् गृहस्थ है। सद् गृहस्थ अर्जुन को यश की कामना है। युद्ध त्याग से उसके यश पर आघात आएगा– यह बात उसको तुरन्त समझ में आएगी।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

अर्जुन तेरी अपकीर्ति, तेरा अपयश, तेरी निन्दा सब लोग करेंगे। जो संभावित पुरुष हैं, श्रेष्ठ पुरुष हैं, समादृत पुरुष हैं, उसकी मृत्यु क्या केदल सांस रुकने से होती है?

नहीं, नहीं, संभावित सज्जन पुरुष की अगर अपकीर्ति हो जाए, अपयश हो जाए तो वह तो मृत्यु से भी ज्यादा कष्टकर है उसके लिए। अर्जुन को उत्तेजित करते हुए श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।। (२/३५-३६)

पाशुपतास्त्र प्राप्त करने वाले, शिव से भी अपराजित रहने वाले अर्जुन की कौरवगण निन्दा करेंगे। वे कहेंगे कि अर्जुन डरपोक है, कायर है, नपुंसक है, क्लीव है —इस तरह की बातें तुम्हारे शत्रु कहेंगे। तुम्हारा मर्मच्छेदन करेंगे। अगर अर्जुन सच्चा संन्यासी होता तो उस पर कोई असर नहीं होता ऐसा कहने से भी; लेकिन उसके मन में भीतर से संन्यास का भाव नहीं है। गंभीर वेदना के क्षणों में उसने कह तो दिया था कि मैं संन्यासी की तरह से भीख माँगकर खा लूँगा; किन्तु उसके भीतर तो स्वाभिमानी योद्धा का ही भाव भरा हुआ था। इसलिए यह बात उसकी समझ में आ गई। उसके भीतरी मन ने मान लिया कि अगर मैं युद्ध छोड़कर भागूँगा तो मुझे लोग कायर कहेंगे,

लोग मुझको नपुसंक कहेंगे, लोग मुझे डरपोक कहेंगे। मुझे नहीं भागना चाहिए युद्ध छोड़कर। भगवान ने इसके बाद दो अद्‌भुत बातें कहीं हैं। युद्ध को इतनी ऊँची भूमिका पर इसके पहले कभी, किसी ने प्रतिष्ठित नहीं किया। इसके बाद भी अभी तक किसी ने नहीं किया। पहली बात तो आप लोगों को सरल लगेगी, तुरन्त समझ में आएगी–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। (२/३७)

अर्जुन, तुम मारे जाओगे तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। *हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं* – मर कर स्वर्ग में जाओगे। हमारी संस्कृति में कहा गया है कि मोक्ष दो ही व्यक्तियों को मिलता है। जो योगिराज हैं या जो *'सन्मुख मरण वीर कै शोभा'* के अनुसार वीरगति प्राप्त करने वाला है। इन दोनों को सूर्यमंडल भेद करके मोक्ष की प्राप्ति होती है। महाभारत का ही श्लोक है यह–

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राट्योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः।।

जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्– जीतोगे तो इस पृथ्वी का उपभोग करोगे। अतः युद्ध करने का निश्चय कर साहस के साथ उठ खड़े हो। उठो, लड़ो! विजय प्राप्त करो। इसके बाद का श्लोक तो अत्यन्त असाधारण है। अर्जुन मानता था कि यदि वह भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों का वध करेगा तो उसे पाप लगेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं कि युद्ध करने का एक ऐसा तरीका है जिसके अनुसार युद्ध करने पर गुरुजनों, स्वजनों का वध करके भी तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

अद्‌भुत श्लोक है यह–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ इस युज्यस्व शब्द की ओर। मेरे गुरु स्वामी अखंडानंद जी महाराज कहते थे कि भगवान ने युद्ध को योग बना दिया है। युज् धातु योग में है। युज्यस्व। बार बार यह शब्द गीता में आया है। *तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्* (२/५०) *सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः* (१०/७) आदि आदि। युज्यस्व कह कर योग में लगाया गया है। *'ततो युद्धाय युज्यस्व'* का सीधा अर्थ है कि तू युद्ध में प्रवृत हो जा। उससे गंभीर अर्थ है कि युद्ध को योग की तरह स्वीकार कर। युद्ध भी योग हो सकता है। अगर विषाद योग हो सकता है तो युद्ध योग क्यों नहीं हो सकता? पहले अध्याय की पुष्पिका–

'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।'

आपलोग पढ़ते हैं कि नहीं! अर्जुनविषादयोगो, विषाद अगर सच्चे मन से प्रभु को अर्पित कर दिया जाये, सुना दिया जाये तो विषाद भी योग हो सकता है। इसी तरह युद्ध भी योग हो सकता है। युद्ध योग कैसे हो सकता है? सामान्य युद्ध से क्या अन्तर आए कि युद्ध योग हो जाए। सामान्य युद्ध लालसा से प्रेरित होता है। लोभ के लिए, दूसरे की भूमि पर कब्जा करने के लिए युद्ध छेड़ा जाता है। सामान्य युद्ध ईर्ष्या से प्रेरित हो सकता है। सामान्य युद्ध अपमान का बदला लेने के लिए हो सकता है। सामान्य युद्ध में योद्धा जीतने पर ही सुखी होगा, लाभवान होगा। जब युद्ध योग होता है तो —

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि। (२/३८)

युद्ध जब 'योग' होगा तब पाप नहीं लगेगा। किसी ने केवल दूसरे के राज्य पर आक्रमण करने के लिए युद्ध किया तो उसको पाप लगेगा। किसी का अपमान करने के लिंए युद्ध किया तो पाप लगेगा। पाप तो तभी नहीं लगेगा जब धर्म समझकर तुम युद्ध करोगे। युद्ध को योग में बदल दोगे। युद्ध में भी योग की भावना सन्निहित हो सकती है अगर तुम केवल कर्त्तव्य बुद्धि से युद्ध करो। सामान्य युद्ध में होने वाले फलभोग करें। अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय पर विचार करें। साधारण नियम है कि अगर जय हुई तो लाभ, तो सुख, अगर पराजय हुई तो हानि, तो दुःख। जिसको जय से लाभ और सुख होता है, जिसको पराजय से हानि और दुःख होता है, उसका युद्ध लैकिक युद्ध है, उसका युद्ध योग नहीं हो सकता। जो कर्त्तव्य कर्म कर रहा है, जो स्वधर्म के निर्वाह के लिए युद्ध कर रहा है, वह सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय— दोनों को समान समझता है। सच्चा समत्व कौन प्राप्त कर सकता है? समत्व क्या केवल शब्दों का खेल है? शब्दों का खेल नहीं है। सच्चा समत्व केवल बोधवान ही प्राप्त कर सकता है। यह जो आरंभ में आत्मा का निरूपण किया गया है इस आत्मा के निरूपण को ग्रहण करने वाला, जीवन में उतारने वाला ही समत्व प्राप्त कर सकता है। समत्व कहाँ होता है? समत्व व्यवहार में तो नहीं होता? समत्व तो बुद्धि में होता है। समत्व तो विवेक में होता है, बोध में होता है। एक ही आत्मा समस्त प्राणियों में विलसित हो रही है, एक ही आत्मा सब वस्तुओं में व्याप्त है— *ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्*— ये जड़ जंगम ये सब अलग-अलग असंख्य नाम रूपों में

दृष्टिगोचर हो रहे हैं; किन्तु सबों में वही आत्म तत्त्व विलसित हो रहा है। इस बात की उपलब्धि करने पर ही वास्तविक समत्व संभव है। वास्तविक समत्व और वास्तविक स्वधर्म पालन भी— इसी बात पर, इसी की उपलब्धि करने पर निर्भर करता है। क्यों स्वधर्म करते करते मरना पड़े तो मर जाएँ? कैसे कहा कि सुख-दुःख दोनों समान हैं? सुख-दुःख दोनों समान हैं, यह बात आपको तभी समझ में आयेगी जब पहले आपको यह बात समझ में आये कि यह सब कुछ लीला है। सुख दुःख, जय-पराजय, अनुकूल-प्रतिकूल व्यावहारिक स्तर पर समान नहीं लगते; लेकिन यदि यह समझ में आये कि वास्तविक सच्चाई के स्तर पर, पारमार्थिक स्तर पर मेरे तेरे का भेद ही नहीं है, तब ये समान लगेंगे क्योंकि तब द्वैत रह ही नहीं जायेगा। इस बात को एक उदाहरण से समझने की चेष्टा की जाये। नाटक में नट का विवाह सुख का विषय है; और नट का मरण दुःख का विषय है। तो नट का विवाह और नट का मरण— नाटक में दोनों झूठे हैं कि नहीं? नाटक चल रहा है। नाटक में नट का विवाह हुआ और नाटक में ही नट का मरण हुआ। तो नट के विवाह से सुख हुआ और नट के मरण से दुःख हुआ। वे सुख और दुःख दोनों समान हैं। उसके लिए जिसे यह ज्ञात है कि यह नाटक है, अभिनय मात्र है। तुलसीबाबा ने इसी बात को स्वप्न के माध्यम से रामचरितमानस में समझाया है। वे कहते हैं—

सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जिव जोइ।। (२।९२)

स्वप्न में आपको दिखाई पड़ रहा है कि आप राजा हो गए। स्वप्न में आपको दिखाई पड़ रहा है कि आप रंक हो गए और जब जागे तो हानि-लाभ दोनों बराबर है। सुख-दुःख दोनों बराबर है। जय-पराजय दोनों बराबर हैं। समान हैं। यह किसकी समझ में आएगा? यह व्यवहार में ही सीमित लोगों की समझ में नहीं आएगा। यह उस परम तत्त्व को, उस आत्म-तत्त्व को उपलब्ध कर परमार्थ की भूमिका से व्यवहार करने वाले की समझ में आएगा। तब वह स्वधर्म का निर्वाह करते हुए मर जाएगा, दूसरे के आकर्षक धर्म की ओर प्रलुब्ध नहीं होगा। भल्लट का एक बढ़िया श्लोक मुझको याद आ गया—

किं जातोऽसि चतुष्पथे, घनतरुच्छायोऽसि किं छायया
युक्तश्चेत्फलितोऽसि किं फलभरैराढ्योऽसि किं सन्नतः?
हे सद्वृक्ष सहस्व सम्प्रति सखे शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभंजनानि भवतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः।

ओ भैया वृक्ष! तुम चौराहे के पास पैदा हो गए? घोर जंगल में पैदा हो सकते थे। गाँव के चौराहे के पास तुम क्यों पैदा हो गए? अच्छा पैदा हुए तो हुए। तुम्हारी बहुत घनी, गहरी छाया भी है। लो छाया के बाद तुममें फल भी आ गए, और एक दो फल नहीं आए, असंख्य फल आने के बाद तुम झुक भी गए? अगर तुम गाँव के पास चौराहे के निकट पैदा हो गए, घने छायादार हो गए, फलयुक्त हो गए, फलों से लद गए और फलों के भार से झुक भी गए, तो हे सद्वृक्ष! हे सखे! अब सहो। लोग तुम्हारी शाखा को पकड़-पकड़ कर के हिलायेंगे। यह जो तुमको क्षोभ दिया जा रहा है, यह जो तुमको झकझोरा जा रहा है, यह जो तुम्हारी डालियों को, तुम्हारे फलों को तोड़ा जा रहा है यह सब तुम्हारे ही दोषों का फल है। किसने कहा था कि तुम चौराहे के पास पैदा हो जाओ ? किसने कहा था कि तुम छायादार हो जाओ? किसने कहा था कि फलयुक्त बनो, फिर फलों से लद जाओ, झुक भी जाओ! यह अन्योक्ति है। यह क्या वृक्ष को कहा जा रहा है? नहीं, यह समाज के लिए समर्पित किसी व्यक्ति को कहा जा रहा है। अगर तुम समाज में पैदा हुए और तुमने अपना सब कुछ समाज को समर्पित कर दिया, अगर तुम बड़े हो, अगर तुम्हारी छाया में दुर्बल पलते हैं, अगर तुमने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उपार्जन किया है, जो शक्ति प्राप्त की है— वह लोगों के संरक्षण में तुम लगा रहे हो, लोग तुमसे लाभवान हो रहे हैं— तो, लोग तो तुमको झकझोरेंगे ही। लोग तो तुमको हिलायेंगे, डुलायेंगे, दुःखाएँगे ही। क्या करे वह वृक्ष, क्या करे वह व्यक्ति? न बने ऐसा? ऐसा दुख देंगे लोग? इसलिए हम जंगल में चले जाएँ? ऐसा करेंगे लोग? इसलिए हम छायादार न हों, फलयुक्त न हों, हम फलों से लदें नहीं, हम फलों के बोझ से झुकें नहीं? यह सत्य है। लेकिन अगर हम वृक्ष के रूप में पैदा हुए हैं तो वृक्ष का धर्म यही है कि वह छाया दे। वृक्ष का धर्म यही है किं उसमें फल लगें। वृक्ष का धर्म यही है कि वह अपने को पत्थर मारने वालों को भी फल दे। स्वधर्म में निरत रहकर मृत्यु का वरण करना भी श्रेयस्कर है। इसलिए क्या हम अपना मनुष्यत्व छोड़ दें? आनेवाले दुःखों, कष्टों से संत्रस्त होकर जो अपना धर्म छोड़ देता है— वह गीता सुनने योग्य नहीं है। वह गीता को अपने जीवन में उतारने योग्य नहीं है। यह तो हमलोग जानते ही हैं कि स्वधर्म का पालन करने पर दुःख, कष्ट का भोग करना ही होगा। हम अपने को नुचवाने, तुड़वाने के लिए ही विकसित होंगे और फिर भी अपना धर्म छोड़ेंगे नहीं। स्वधर्म का निर्वाह करेंगे। नारियल आम नहीं हो सकता; लेकिन नारियल-नारियल तो रहे, नारियल में मीठा जल तो आए। खारे जल वाला नारियल भी हो सकता है। हम खारे जलवाले नारियल तो न बनें। मीठा जल हो, अच्छी गरी हो।

हम जो हैं, हम जो भी हैं, उस स्थिति में हमारा जो भी धर्म है— उस धर्म के अनुसार हम जिएँ। अपना जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है वह हम समाज के चरणों में अर्थात् अपने प्रभु के चरणों में अर्पित कर दें। जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते थे कि गलित द्राक्षा की तरह अपने को निचोड़ कर अर्पित कर दें— यही हमारा धर्म है। जो कुछ हमारा उत्कृष्टतम है, उस उत्कृष्टतम को अर्पित कर देना ही हमारा धर्म है और समत्व के साथ, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय— इनमें सम रहते हुए। समत्व केवल विवेक से हो सकता है, बोध से हो सकता है, आत्म ज्ञान से हो सकता है। उसी आत्मा की एकता का अनुभव करते हुए, हम इस सारी लीला को देखते हुए—इसमें नट का विवाह हो रहा है और नट की मृत्यु हो रही है— दोनों में सम रहते हुए जैसे हम नाटक देखते हैं— वैसा जीवन जिएँ। भगवान का उपदेश स्वीकार कर इसी समत्व को आधार बनाकर हम जीवनयुद्ध को भी योग बना दें। ●

प्रवचन-४*

बुद्धियोग

प्रभु कृपा है कि यह क्रम चल रहा है। प्रस्तुत विषय पर आने के पहले आज एक गीत के बोल पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा—

रसना हरि-हरि बोल।

आप लोगों ने ध्यान दिया होगा कि हमारी एक ही इन्द्रिय है जो एक ही साथ कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। कर्मेन्द्रियों से हम काम करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों से हम बाहर की वस्तुओं का बोध करते हैं। हाथ, पैर, वाणी और मल-मूत्र त्याग करने के स्थान— ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। आँख, नाक, कान, रसना और त्वचा ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। बाहर की वस्तुओं का भीतर बोध कराना— यह ज्ञानेन्द्रियों का काम है और भीतर के निश्चय को बाहर क्रियान्वित करना— यह कर्मेन्द्रियों का काम है। यह जिह्वा एक ही साथ वाक् के रूप में, वाणी के रूप में कर्मेन्द्रिय है और रसना के रूप में ज्ञानेन्द्रिय है। मैं बोल रहा हूँ, जो मैं बोल रहा हूँ तो इसमें मेरी जिह्वा, वाणी कर्मेन्द्रिय का काम कर रही है और जब हम लोग भोजन करते हैं तो उसका स्वाद लेते हैं— यह मीठा है, यह नमकीन है, यह खट्टा है, यह तीता है, चरपरा है, यह फीका है— तो हमारी ही जिह्वा रस लेती है। इसलिए उसका नाम रसना है। अब ध्यान दीजिए— *रसना हरि-हरि बोल।* बोलने का काम किसका है? कर्मेन्द्रिय का है। लेकिन वाणी हरि-हरि बोल— नहीं बोल रहा है कवि—

रुचिर रसना राम-राम, राम-राम क्यों न कहत।

तुलसी बाबा ने कहा है— रुचिर रसना— इसमें एक बहुत गंभीर संकेत है। भगवान का नाम लेते समय हमारी वाणी कर्मेन्द्रिय से ज्ञानेन्द्रिय में बदल जाती है। भगवान का नाम ले रहे हैं। दुनिया की बात नहीं कह रहे हैं। दुनिया की बात कहते समय हम अपने भीतरी भावों को वाणी देते हैं, शब्द देते हैं; और उसमें मस्तिष्क प्रधान है, अगर संयत है व्यक्ति तो। अगर काम, क्रोध, लोभ से ग्रस्त है, अगर अनियंत्रित

* द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ३९ से ५३

है व्यक्ति तब तो उसकी वाणी असंयत है। लेकिन कह क्या रहा है भक्त कवि ? भक्त कवि कह रहा है कि भगवान का नाम लेना— यह केवल कर्मेन्द्रिय का काम नहीं होना चाहिए। यह रसना का, ज्ञानेन्द्रिय का, रस लेने का काम होना चाहिए। भगवान का नाम हमको मीठा लगता है। भगवान का नाम हमको प्रिय लगता है। भगवान का नाम हम यांत्रिक रूप से केवल कर्मेन्द्रिय के माध्यम से, वाणी के द्वारा कहें—यह उचित नहीं है। भगवान का नाम लेते समय हमारी जिह्वा में अमृत आ जाएगा। भगवान का नाम लेते समय हमको लगना चाहिए कि इससे और अधिक मीठा, इससे और अधिक प्रिय, इससे अधिक रसीला कुछ है ही नहीं। वाणी कर्मेन्द्रिय से ज्ञानेन्द्रिय में रूपान्तरित हो जाए— यह प्रार्थना करते हुए आज का प्रवचन आरंभ कर रहा हूँ कि जो कुछ बोलूँ— यह केवल यांत्रिक रूप से न बोलूँ, यह केवल वाक् से न बोलूँ, रसना से बोलूँ। उसमें स्वयं भी रस लूँ और प्रभु की कृपा से उसमें आपको भी रस मिले।

रसना हरि-हरि बोल।

देखिए! जो प्रसंग पिछले प्रवचन में चला था वह स्वधर्म का था और उसको समाप्त करते हुए, उसको समेटते हुए भगवान कहते हैं कि—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। (२/३९)

एक विषय का समाहार है, समापन है और दूसरे विषय का प्रारंभ है, उद्‌बोधन है। संधि का यह श्लोक है और संधि के इस श्लोक में कैसी अद्‌भुत बात कही गयी है। अर्जुन अभी तक मैंने तुमको जो कहा, अभी तक मैंने तुमको जो समझाया— यह सांख्य है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

सांख्य का क्या मतलब होता है? एक बात पर आपको ध्यान देना चाहिए। गीता सांख्य का, योग का, समाधि का प्रयोग करते हुए उसके प्रचलित अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग नहीं करती। सांख्य शब्द का अर्थ सामान्य तौर पर, नाम देने पर हमको कपिलमुनि द्वारा निरूपित सांख्य-शास्त्र, षट् दर्शनों में एक दर्शन—सांख्य दर्शन का बोध होता है। गीता जब सांख्य शब्द का प्रयोग करती है तो उसका अभीष्ट कपिल का सांख्य— नहीं है। कपिल के सांख्य से गीताकार परिचित है। उसका अपने ढंग से किया गया उपयोग गीता में है; लेकिन गीता में सांख्य शब्द का अर्थ क्या है?

सम्यक् ख्यायते इति संख्या— संख्या किसको कहते हैं ? जिससे ठीक-ठीक जानकारी हो, हमलोग जब संख्या बोलते हैं न तो तीन, चार, पाँच, दस, बीस,

पचीस— तो उससे ठीक बोध होता है गिनती का। यह संख्या शब्द का अर्थ-संकोच है। संख्या शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? *सम्यक् ख्यायते इति*— जिससे ठीक-ठीक जानकारी हो, किसी भी विषय की। सब विषयों की। लेकिन संख्या का अर्थ जब गिनती में हमने सीमित कर दिया तो संख्या के मूल अर्थ का अर्थ-संकोच हो गया, वह सिमट गया। गीता में जब संख्या शब्द का प्रयोग है तो वहाँ मतलब है बुद्धि। संख्या का मतलब है जिसके द्वारा ठीक-ठीक जानकारी हो। रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में संख्या शब्द का अर्थ बुद्धि लिया है। उस बुद्धि के द्वारा जिस आत्म-तत्त्व को ग्रहण किया जाए— वह सांख्य है। गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग है ज्ञान के अर्थ में। गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग है— सम्यक् बुद्धि के द्वारा गृहीत आत्म-तत्त्व के अर्थ में और इस सांख्य शब्द के दो पक्ष हुए। एक बात पर ध्यान दीजिए कि सांख्य के द्वारा जो कुछ निरूपित हुआ, उसका पहला अंश है आत्मा की अमरता। आत्मा का अकर्तृत्व, आत्मा का अप्रेरकत्त्व! यह जो आत्मा कुछ नहीं करती या संस्कृत में कहें तो आत्मा कुछ नहीं करता। संस्कृत में आत्मा शब्द पुलिंग है। तो आत्मा के अकर्तृत्व को, आत्मा के अमरत्व को, आत्मा के अखंडत्व को, आत्मा के अप्रेरकत्व को निरूपित करने वाले जो गीता के श्लोक हैं— वे भी सांख्य हैं और उस आत्मा की अमरता, अखंडता के निरूपण के बाद देह के द्वारा स्वधर्म के आचरण का निरूपण भी सांख्य के अंतर्गत किया गया है। सांख्य शब्द के द्वारा गीता में दो बातों को संकेतित किया गया है। एक और रहस्य की बात पर आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ।

इस बात पर ध्यान दीजिए कि कर्म कैसे होते हैं? बहुत जरूरी है इस बात को समझना; क्योंकि आज बुद्धियोग— माने कर्मयोग का विवेचन किया जायेगा। कर्म कैसे होते हैं ? कर्म शुद्ध चैतन्य तत्त्व से नहीं होता। जो शुद्ध, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, आत्म-स्वरूप चैतन्य तत्त्व है वह तो सक्रिय है। वह खुद कुछ नहीं करता और जो जड़ तत्त्व है— वह भी कर्म नहीं करता। जड़ तत्त्व में क्रिया नहीं है। जड़ तत्त्व में विक्रिया तो हो सकती है, विकृति तो हो सकती है। लेकिन जड़ तत्त्व अपने आप में क्रिया नहीं कर सकता। वातावरण के, परिवेश के प्रभाव से उसका क्षरण हो, उस पर धूल जम जाए उसमें गंदगी आ जाए। विकृति तो आ सकती है। विक्रिया जड़ का लक्षण हो सकता है लेकिन क्रिया— यह जड़ का लक्षण नहीं है। लो ! अब शुद्ध चैतन्य तत्त्व भी कर्म नहीं करता, क्रिया नहीं करता और जड़ तत्त्व भी क्रिया नहीं करता तो क्रिया होती कैसे हैं ? याद रखिये ! क्रिया चित्-जड़ ग्रन्थि से होती है। चैतन्य की जड़ से जो ग्रंथि है वह काम करती हैं। तुलसी बाबा ने कहा है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

अब देखिये मजा! जड़ की ग्रंथि जड़ से हो सकती है। चैतन्य का चैतन्य से मिलाप हो सकता है। चैतन्य का जड़ से मिलाप नहीं हो सकता। जड़ की चैतन्य से ग्रन्थि नहीं हो सकती। लेकिन यह इतना बड़ा दुर्भाग्य है, इतनी बड़ी विलक्षणता है, माया का यह अद्‌भुत चमत्कार है कि लगता है कि चित्-जड़ ग्रंथि होती है। चित्-जड़ ग्रन्थि का क्या मतलब होता है? चित्-जड़ ग्रन्थि का मतलब हुआ कि हमारा जो शुद्ध-बुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्म-तत्त्व है, वह अपने इस शरीर को अपना आपा मान लेता है। जब आत्म-स्वरूप इस जड़ शरीर को अपना आपा मान लेता है तब आभास के द्वारा कार्य होता है। आभास केवल। आत्मा सदा मुक्त है। आत्मा शुद्ध है, चेतन है, आत्मा में कुछ लिप्त नहीं होता। तो लिप्त किसमें होता है ? लिप्त आत्मा के करणों में होता है। शुद्ध आत्मा के भी जो करण हैं— वे मलिन हैं। आपको मैंने अभी जो बताया कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। उनका सम्मिलित नाम क्या है? उनका सम्मिलित नाम है बाह्यकरण। बाहरी औजार। बाहरी इन्द्रियाँ जो हमारा काम कर रही हैं और इसी तरह एक अन्तःकरण है। अन्तःकरण का मतलब क्या हुआ? अन्तःकरण का मतलब हुआ भीतरी औजार। अन्तः माने हुआ भीतरी और करण माने हुआ औजार। करण यानी Instrument, औजार, उपकरण। तो यह जो हमारा अंतःकरण है— यह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की समष्टि है। अंतःकरण के चार भाग हैं। एक ही अंतःकरण जब संकल्प-विकल्प करता है तो वह मन हो जाता है, जब वह निर्णय करता है तो बुद्धि हो जाता है। जब वह अपने सारे अनुभव कोष को संचित मानता है तो चित्त है और जब वह अपने पृथक् अस्तित्व को, क्षुद्र अहं को अपना-आपा मानता है तो वह अहंकार है। यह जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार है— यह है अंतःकरण। अब इस अंतःकरण में शुद्ध चैतन्य आत्म-तत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे यह जड़ अन्तःकरण चेतन होता है।

आप लोगों ने बचपन में जरूर एक खेल खेला होगा। पिताजी से तो डर लगता था। माँ को जब सताने की इच्छा होती थी तो हमलोग धूप में शीशा ले जाते थे और धूप जब शीशे पर पड़ती थी तब उसका जो प्रतिफलन होता था, वह प्रकाशमान होता था। तो अपनी माँ की आँख में, अपनी बहन की आँख में, अपने भाइयों की आँख में उस प्रतिफलन को डालने की हमलोग छुटपन में शैतानी करते थे। अब यह जो दर्पण से ज्योति निकल रही है— यह ज्योति दर्पण की नहीं है। यह ज्योति सूर्य की भी सीधी नहीं

है। यह ज्योति दर्पण पर पड़े हुए सूर्य के आभास की ज्योति है। दर्पण पर जो सूर्य की रश्मियाँ पड़ीं— सूर्य के उस आभास से दर्पण में जो प्रकाशमानता आई, उस प्रकाशमानता से एक अँधेरा कमरा भी प्रकाशित हो गया। स्पष्ट है कि एक विशेष स्थिति में जड़ होते हुए भी दर्पण से प्रकाश निकलता है।

एक दूसरा उदाहरण— मैं कई बार दे चुका हूँ, फिर दे रहा हूँ। क्योंकि पुनरावृत्ति बुरी बात नहीं है, अगर उससे बात समझ में आए। यहाँ बड़े-बड़े आचार्य लोग बैठे हैं। हम सब जानते हैं कि कविता में पुनरावृत्ति होती है तो दोष होता है। लेकिन कक्षाओं में पुनरावृत्ति अगर विषय को स्पष्ट करने के लिए, बात को स्पष्ट करने के लिए, समझ को बढ़ाने के लिए हो, तो दोष नहीं है।

आपलोगों ने कभी लोहे के गोले को आग में डाले हुए देखा है। लम्बे समय तक लोहे के गोले को अगर आग में रखा जाय तो वह दहकता हुआ लाल हो जाता है। लाल-लाल प्रकाशित हो जाता है, उसमें ताप आ जाता है। अब लोहे के गोले में प्रकाशकता है न दाहकता है। लोहे का गोला तो काला, कलूटा ठण्डा क्षेत्र है; लेकिन लोहे के गोले में प्रकाशकता आ गई, दाहकता आ गई। उस लाल-लाल लोहे के गोले के उँगली से छुएँ, तो जल जाएगी कि नहीं? ये प्रकाशकता और दाहकता लोहे के गुण नहीं हैं। ये प्रकाशकता और दाहकता अग्नि के गुण हैं। और अग्नि गोल होती है क्या? अग्नि का तो कोई आकार नहीं है। लाल-लाल लोहे का गोला, गोल-गोल आग जैसा दिखता है; क्योंकि अग्नि में लोहे का गुण आ गया। गोलाई आ गई। आ गई कि नहीं और लोहे के गोले में अग्नि का गुण आ गया। प्रकाशकता आ गई, दाहकता आ गई। वह लोहे का गोला उस प्रकाशकता, उस दाहकता से किसी को जला सकता है।

इसी तरह हमारा जो जड़ अन्तःकरण है, हमारा जो जन्म-जन्मान्तर से लिंग शरीर के द्वारा ले आया जाने वाला हमारा जो मन और बुद्धि समष्टिगत रूप चित्त है, उसके ऊपर जब प्रकाशमयी आत्मा की शुद्ध रश्मियाँ पड़ती हैं, उसका आभास पड़ता है तो हमारा अन्तःकरण चैतन्य होता है और वह अन्तःकरण काम करता है। यह अन्तःकरण दूषित है। यह अन्तःकरण मलिन है और इसलिए इस दूषित, मलिन अन्तःकरण के द्वारा जो कर्म हम करते हैं, उसमें दोष होता है, त्रुटियाँ होती हैं, मलिनता होती है। इस अन्तःकरण की मलिनता के अहंकार से जो काम हम करते हैं, वह काम हमको बाँधता है। हम जो बता रहे थे—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि। (२/३९)

भाई इतनी बड़ी भूमिका हमने क्यों बाँधी ? इसलिए बाँधी कि कर्म करने वाला बँधता है। कर्म कौन करता है? शुद्ध आत्मा कर्म नहीं करती। जड़ कर्म नहीं करता। न शरीर कर्म करता है, न आत्मा कर्म करती है। कर्म कैसे होता है? कर्म चित्-जड़ ग्रंथि से होता है। अहंकार विशिष्ट अन्तःकरण जब कहता है कि मैं यह काम कर रहा हूँ, अतः मैं कर्ता हूँ। सिद्धान्त है कि जो कर्त्ता होगा, वही भोक्ता होगा। जो करेगा, वह भोगेगा। तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व— इस मलिन अन्तःकरण की उपाधि से आत्मा में आते हैं। और जब मलिन अन्तःकरण की उपाधि से शुद्ध आत्मा में कर्तृत्व आया तो उसी के साथ-साथ भोक्तृत्व आया। मैंने किया तो मैंने भोगा। मैंने क्या किया? मैंने अच्छा काम किया तो पुण्य किया, बुरा काम किया, तो पाप किया। पुण्य किया तो मैं सुखी हुआ। पाप किया तो मैं दुःखी हुआ। मैं पापी पुण्यात्मा— यह तो कर्त्ता हुआ और मैं सुखी-दुःखी— यह भोक्ता हुआ। तो यह कर्मबंधन जो है यह उस चित्-जड़ ग्रंथि के कारण हमारे शुद्ध आत्म-स्वरूप को ग्रस लेता है। अब जब हमारे अन्तःकरण की मलिनता की उपाधि से हमारा शुद्ध आत्म तत्त्व भी अपने को कर्ता, भोक्ता मानता है तो कर्म की जकड़ में आ जाता है, बंधन में आ जाता है। तो इस कर्म के बंधन से छूटने का कोई उपाय है? अर्जुन अब तक जो तुमको बताया— वह है सांख्य। अब तक तुमको बताया कि आत्म-स्वरूप, आत्म-तत्त्व क्या है? और अब तक तुमको बताया कि आत्म-तत्त्व की शुद्धता के बावजूद जब शरीर ले कर तुम पैदा हुए तो तुम्हारे उस अन्तःकरण के अनुरूप तुम्हारा अपना धर्म होगा।

मैंने अपने पिछले प्रवचन में बताया था कि यह जो स्वधर्म की बात है इसका अर्थ हिन्दू धर्म, इस्लाम या ईसाई धर्म नहीं है। यह केवल वर्ण का भी धर्म नहीं है। यह केवल आश्रय का भी धर्म नहीं है। यह प्रत्येक व्यक्ति का अपना धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति जिन-जिन वृत्तियों का धारक है, जिन-जिन परिस्थितियों में जिन-जिन वृत्तियों का विकास इसमें हुआ, उन-उन वृत्तियों के अनुरूप उसका धर्म होता है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः— जब कहा तो उसका मतलब हुआ कि अपनी वृत्तियों के अनुरूप जो हमें सहज प्राप्त धर्म है, जो हमारा सहज करणीय धर्म है, इसी पर हमको डटे रहना चाहिए। मृत्यु का वरण करना चाहिए; लेकिन अपने धर्म को छोड़कर केवल आपात् रमणीय— बाहर से आकर्षक लगने वाले किसी दूसरे धर्म में नहीं जाना चाहिए। मैंने उदाहरण दिया था कि अगर पानी की मछली दूध को ज्यादा श्रेष्ठ मान कर दूध में जाएगी तो मर जाएगी। अब सवाल खड़ा होता है कि आत्मा तो है चेतन। आत्मा तो है शुद्ध-बुद्ध और तुमने कहा स्व-धर्म तो वह आत्मा शुद्ध-बुद्ध होते

हुए धर्म करे और बँधे— यह तुम्हारा अभिप्राय है क्या? बोले— नहीं। धर्म का पालन करे लेकिन बँधे नहीं। अब प्रभु इसका रास्ता बता रहे हैं कि हम कैसे अपने धर्म का पालन करते हुए बँधें नहीं। इस प्रश्न की, इस जिज्ञासा की जो स्थिति है, उसका समाधान करने के लिए ये सारे श्लोक हैं। वह तरीका, वह बुद्धि— जैसे सांख्य की बुद्धि है, वैसे ही योग की भी बुद्धि है। यह योग भी *योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः* वाला पतंजलि का योगशास्त्र नहीं है। गीता में योग शब्द का अर्थ होता है उपाय, साधन। वह जो अपना वास्तविक स्वरूप है, उस स्वरूप की उपलब्धि के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। हमारे देश की ऐसी अद्‌भुत संस्कृति है कि हमने प्राप्तव्य तो एक माना है लेकिन साधन अनेक माने हैं। साधन की अनेकता की स्वीकृति क्यों है हमारे देश में? किसी दूसरे देश में, किसी दूसरे तथाकथित धर्म में साधनों की भिन्नता को समान गौरव, समान मर्यादा नहीं दी गई। प्रश्न यह उठता है कि यह जो आपने बताया कि हम अपनी आत्मा को अजर-अमर, अखंड, अक्रिय माने, आपने बताया कि हमें अपने धर्म का पालन करना चाहिए, आचरण करना चाहिए तो आप ही के कहने के अनुसार अगर हम धर्म का आचरण करते हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व से युक्त होंगे तब तो बँध जाएंगे। आप क्या हमको बंधन में बाँधने का उपदेश दे रहे हैं। तो बोले— नहीं। मैं उस बुद्धि का, उस साधन का, उस योग का, उस उपाय का उपदेश दे रहा हूँ जिस बुद्धि के युक्त होने पर हे पार्थ! तुम बन्धन को छिन्न-भिन्न कर दोगे। स्वधर्म का पालन करते हुए भी तुम कर्म के बंधन से नहीं बँधोगे— ऐसी बुद्धि है और उस बुद्धि को विधिवत् हम स्वीकार करें— इसके लिए उसकी प्रशंसा की है श्रीकृष्ण ने। विद्यार्थियों को पढ़ाते समय जो बात हमलोग पढ़ाते हैं, उसके लाभ की गिनती कराते हैं। यह सीख लोगे तो यह लाभ होगा। इससे तुम्हारा यह फायदा होगा। अच्छी कविताएँ याद करोगे और ठीक समय पर सुनाओगे तो तुमको यश मिलेगा। अपने ही जीवन में संकट के समय, कष्ट के समय, आनन्द के समय, उल्लास के समय, चैतन्य के समय – अनुकूल कविता की आवृत्ति से मन को आनन्द मिलता है। यह सब बताते हैं तब न छात्र याद करते हैं कविता। भगवान कहते हैं कि अर्जुन हमारी बात को ध्यान से सुनोगे, मानोगे तो तुम्हारा परम कल्याण होगा। वे कहते हैं कि जो बुद्धि मैं बता रहा हूँ देखो वह कितनी बड़ी बुद्धि है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। (२/४०)

अद्‌भुत है। योग की बुद्धि की महिमा पहले बताई। यह महिमा क्यों निरूपित

की गई? क्योंकि इस महिमा के निरूपण से उस बुद्धि को ठीक-ठीक समझने और उस बुद्धि को समझ कर उसके अनुकूल आचरण करने की प्रेरणा मिले। इसलिए महिमा पहले बतायी गयी। जिस बुद्धि का, जिस कर्मयोग का, जिस बुद्धियोग का मैं तुमको उपदेश देने जा रहा हूँ— यहाँ प्रभु बुद्धि को योग बता रहे हैं। बुद्धि को जीविका का साधन नहीं बता रहे हैं। मुझको बुद्धिजीवी शब्द बहुत खराब लगता है। बुद्धिजीवी अच्छा शब्द नहीं है। बुद्धिजीवी का मतलब क्या हुआ? बुद्धि से जिसकी जीविका चले वह बुद्धिजीवी, और बुद्धि से जिनकी जीविका चल रही है – वे क्या नहीं कर रहे हैं? मैं उनकी चर्चा भी नहीं करना चाहता। आप लोग समझ गए। बुद्धिमानों के लिए संकेत काफी है। एक उदाहरण देते हैं। तीर्थों में जब हम जाते हैं तो वहाँ पंडे होते हैं। पंडों के लिए दो शब्द हैं संस्कृत में। एक सम्मानसूचक शब्द है, एक अवज्ञासूचक शब्द है। सम्मानसूचक शब्द क्या है? —तीर्थपुरोहित। पंडा कौन होता है? तीर्थ पुरोहित। अगर किसी पवित्र तीर्थ में आप जाएँ तो उसकी महिमा आपको नहीं मालूम। उस तीर्थ में क्या-क्या कर्म करना चाहिए— आपको नहीं मालूम। कहाँ-किसकी पूजा करनी चाहिए—आपको नहीं मालूम। तो जो पंडा है— वह वहाँ का पुरोहित है—वह आपसे धर्म-कार्य करवाता है—यह सम्मानसूचक शब्द है। और बहुत कम लोगों को मालूम है कि पंडा का एक अवज्ञासूचक अर्थ भी है। वह है तीर्थजीवी। तीर्थजीवी का क्या मतलब हुआ? जिसकी जीविका तीर्थ से चलती है। तीर्थजीवी लोग कितना अत्याचार करते हैं— नारायण! मेरे अत्यन्त श्रद्धेय पं० दीनदयाल उपाध्याय—सनातन धर्मी थे, भगवान पर विश्वास करने वाले, मूर्तिपूजा करने वाले। वे पुरी के मंदिर में गए। पंडों ने घेरा, सताया। बिना दर्शन किए हुए बेचारे बाहर आ गए। पंडे का, तीर्थजीवी का आचरण कैसा होना चाहिए। पंडे का आचरण ऐसा होना चाहिए जिससे हमारी श्रद्धा-भक्ति बढ़े। हम श्रद्धा भक्ति से गए दर्शन करने। उसके आचरण से हम बिना दर्शन किए निकल आए। उसने हमारी श्रद्धा-भक्ति को खंडित कर दिया। जीविका अगर तीर्थ से चलेगी तो अधिक-से अधिक रुपये तीर्थयात्रियों से चूसने का, नोचने-खसोटने का काम करेगा, जैसे तीर्थजीवी वैसे ही बुद्धिजीवी। भगवान हमको, आपको मनीषी बनाना चाहते हैं। भगवान हमको, आपको बुद्धिजीवी नहीं बनाना चाहते। भगवान हमको आपको बुद्धियुक्त बनाना चाहते हैं—

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।

तो कहते हैं कि यह बुद्धियोग है। बुद्धि भी योग बन जाती है। बुद्धि भी भगवान को प्राप्त करने का साधन बन जाती है। ऐसी बुद्धि, ऐसी विधा, ऐसी पद्धति, ऐसा

तरीका जिससे हम सब कुछ करते हुए कुछ न करें—संभव है और इस बुद्धियोग की प्रशंसा करते हुए भगवान कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। (२/४०)

इसके बाद भी वैदिक क्रियाओं का उल्लेख है। सामान्य तौर पर वैदिक क्रियाएँ जब तक पूरी नहीं होतीं— तब तक फल नहीं देतीं। वैदिक क्रियाओं में जरा सी भी गड़बड़ हो गई, बायाँ घुटना जहाँ रखना चाहिए, वहाँ दायाँ रख दिया— प्रत्यवाय लग गया। उच्चारण में जरा सा दोष हो गया— प्रत्यवाय लग गया। प्रत्यवाय माने? प्रति माने उल्टा, पतन वाला रास्ता— फल की जगह जहाँ पाप लग जाय— प्रत्यवाय। अभिक्रम—माने आगे बढ़ना। क्रमोपदक्षेपे—एक-एक कदम-कदम आगे बढ़ते हैं— अभिक्रम। किन्तु आरंभ किया और पूरा नहीं हो सका तो सारा किया-कराया मिट्टी। अधूरा किया—गलती हो गई, पाप लग गया।

चौबे जी गए छब्बे बनने— दूबे होकर लौट के आए— प्रत्यवाय हो गया। होगा भई, ऐसा वैदिक कर्मकांड में व्यतिक्रम होगा। मैं जो बुद्धियोग बता रहा हूँ— *नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति*— इसमें किए गए आरंभ का नाश नहीं होता।

प्रत्यवायो न विद्यते— इसमें अगर गलती भी हो जाए तो उसका पाप नहीं लगता। उसका उल्टा विधान नहीं होता। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य*— यह थोड़ा भी करो तो *त्रायते महतो भयात्*— यह महान भय से तुम्हारा त्राण करता है, तुम्हारी रक्षा करता है। ऐसा है— ऐसा, विलक्षण है यह। ध्यान से सुनो, समझो, इसे जीवन में उतारने की चेष्टा करो। भगवान बुद्धि योग का गुणगान कर रहे हैं। इस बुद्धि से किए हुए काम का आरंभ थोड़ा भी हो तो भी वह नष्ट नहीं होगा। रवीन्द्रनाथ ने कहा है न—

जे फूल ना फूटिते झरेछे धरणीते
जे नदी मरु पथे हारालो धारा
जानी हे जानी! ताओ हय नि हारा।

जो फूल खिलकर धरणी पर झर गया, जो नदियाँ मरुस्थल में खो गईं— मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि वे भी व्यर्थ नहीं गईं। वैसे ही—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति–बुद्धि योग के द्वारा जिस काम को तुमने शुरू किया उस उपक्रम का, उस आरंभ का चाहे तुम समापन न कर पाओ— तो भी उससे हानि नहीं होगी। — क्यों हानि नहीं होगी? बुद्धियोग का सबसे बड़ा फल तो असंगता है। उसकी चर्चा बाद में करेंगे। समत्व है। लेकिन बुद्धियोग का जो उपक्रम है—वह है दृढ़ निश्चय

और वह एकाग्र चित्त से होना चाहिए। एक होना चाहिए। एकता के कारण कोई विकल्प नहीं है। इसलिए प्रत्यवाय नहीं है। न प्रत्यवाय है, न आरंभ का नाश है और थोड़ा-सा भी अगर किया तुमने तो जो महाभय हैं वे नष्ट हो जायेंगे। महाभय क्या हैं? महाभय चार ही हैं। मृत्यु का भय, मूर्ख बन जाने का भय, दुःखी हो जाने का भय, शत्रु से कष्ट पाने का भय; और ये चारों भय बुद्धियोग से दूर हो जाते हैं, क्योंकि बुद्धि योग तुमको अपनी अद्वैतता की उपलब्धि कराता है। बुद्धियोग से तुम सच्चिदानन्द अद्वैत-स्वरूप का अनुभव करते हो। अगर तुम सत् हो तो बराबर रहोगे, तुम्हारी मृत्यु नहीं हो सकती। किसी की कभी मृत्यु नहीं हुई। मृत्यु हमारी नहीं होती। मृत्यु हमारे अनुभव-क्षेत्र में नहीं आई। जन्म हमारे अनुभव क्षेत्र में नहीं आया। किसी को अनुभव है अपनी मृत्यु का? कोई कह सकता है कि मैं मर गया। अरे! मर गए तो तुमको अनुभव कैसे हो रहा है? अपनी मृत्यु का अनुभव किसी को नहीं हो सकता। जन्म का अनुभव किसी को नहीं हुआ, नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि शरीर पैदा हुआ। हम देखते हैं कि शरीर मर गया। शरीर के जन्म और मरण को देख कर, उस शरीर के साथ अपना एकात्म करके हम जन्म और मरण की बात कहते हैं। मृत्यु का अनुभव किसी को नहीं हुआ। मृत्यु अनुभव-क्षेत्र के बाहर की बात है। अगर सत् तत्त्व तुम हो तो तुम त्रिकालाबाधित सत्य हो। हमेशा तुम थे, आज हो और हमेशा रहोगे। मृत्यु का भय नहीं। चित् स्वरूप तुम हो तो अज्ञान का भय नहीं। आनन्द स्वरूप तुम हो तो दुःख का भय नहीं। अद्वय तुम हो तो कोई तुम्हारा शत्रु है ही नहीं। शत्रु का भय नहीं।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

इस धर्म का स्वल्प अनुभव भी तुमको मृत्यु के भय से, तुमको अज्ञान के भय से, तुमको दुःख के भय से, तुमको शत्रुता के भय से मुक्ति देता है। मैंने बताया कि इसकी पहली विशेषता क्या है?

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। (२/४१)

मैंने आपको बताया कि संख्या शब्द का अर्थ— संकोच हो गया, गिनती में सिमट गया। व्यवसाय शब्द का भी अर्थ— संकोच हो गया। आजकल व्यवसाय मतलब है— व्यापार। ये व्यवसायी हैं —मतलब व्यापारी हैं। यह अर्थ व्यवसाय शब्द का नहीं है।

अवसानम् अवसायः —अवसान का मतलब होता है अन्त या अवसाय। वि माने विशेष। व्यवसाय का मतलब हुआ कि वह बुद्धि, वह दृष्टि जो किसी कार्य के आरंभ से अंत तक सारी प्रक्रिया को देखे। व्यवसायात्मिका बुद्धि वह बुद्धि है जो

निश्चयात्मक होती है। जो निश्चय करती है, जो दृढ़ होती है और जो अपने करणीय कार्य के आरंभ से अंत तक जो विभिन्न स्तर हैं— उन विभिन्न स्तरों पर क्या-क्या करना है— इसका बोध जिस बुद्धि को होता है वह निश्चयात्मिका होती है। वह एक ही होती है। क्योंकि लक्ष्य एक है इस लिए बुद्धि भी एक है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन

बुद्धियोगी का प्राप्तव्य केवल परमात्मा है। गीता में जिस कर्मयोग का निरूपण किया है, वह कर्मयोग साधारण कर्म नहीं है। उस कर्मयोग का लक्ष्य रुपया-पैसा कमाना नहीं है। उस कर्मयोग का लक्ष्य—यश प्राप्त करना नहीं है, भोग भोगना नहीं है। उसका लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करना है। ये सब प्रक्रियाएँ हो सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं। उसका प्राप्तव्य एक है—परमात्मा—अपना आपा, अपना स्वरूप और वह चूँकि एक है इसलिए बुद्धि की वह जो व्यवसायात्मिका स्थिति—वह जो निश्चयात्मिका स्थिति है—वह भी एक है—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

जो अव्यवसायी हैं, जो बहुत से भोग पाना चाहते हैं, तो उनकी बहुत सी बुद्धियाँ होंगी। काम की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, किसी को यश की प्राप्ति —अनेक-अनेक प्राप्तियों की अनेकता के कारण बुद्धि अनेक और जब प्राप्तव्य एक हो तो बुद्धि एक। और तभी वह निश्चयपरक होती है। वि माने विशेष। अधि माने श्रेष्ठ। वक्ता और उसमें अधि लगा दिया तो क्या हो गया? अधिवक्ता – एडवोकेट को कहते हैं कि नहीं। अध्यवसाय के अर्थ में अब भी वह शब्द चल रहा है। ये बड़े अध्यवसायी व्यक्ति हैं— माने बड़े परिश्रमी हैं। और बड़े व्यवसायी व्यक्ति हैं— माने व्यापारी हैं। यहाँ अर्थ का विचलन हो गया। व्यवसाय और अध्यवसाय करीब-करीब समानार्थक शब्द हैं। तो व्यवसायात्मिका बुद्धि माने दृढ़ बुद्धि, निश्चयात्मक बुद्धि और एक बुद्धि। वह एक बुद्धि केवल भगवान को प्राप्त करने का काम करती है। इसके बाद के तीन चार श्लोकों में गीताकार ने वैदिक कर्मकांड को आत्मोपलब्धि के लिए अपर्याप्त बताया है, लौकिक, पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ करने के निर्देशों से किंचित् असहमति प्रकट की है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।। (२/४२-४३)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। (२/४४-४५)

इन चार श्लोकों में वैदिक कर्मकांड से असहमति प्रकट कर रही है गीता; और फिर उस असहमति का कारण बता रही है। एक बात पर आप ध्यान दें। हमलोगों के मन में बहुत सी कामनाएँ हैं। हमें लगता है कि वे कामनाएँ पूरी होनी ही चाहिएँ। चाहे उचित ढंग से हों, चाहे अनुचित ढंग से हों। यह निश्चय जिसका है और वह अनुचित ढंग से अपनी कामना पूरी करना चाहता है—वह तो है पामर। और जो अपने मन की कामनाओं को उचित ढंग से पूरा करना चाहता है— वह है विषयी। हमको भोग चाहिए, हमको धन चाहिए, हमको यश चाहिए लेकिन यह भोग, यह धन, यह यश यदि विहित पद्धति से, न्यायोचित पद्धति से हम प्राप्त करना चाहते हैं तो हम कैसे हैं— विषयी। विषयी और पामर के लिए गीता नहीं है। विषयी का एक और भेद है। विषयी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के विषयी वे होते हैं जो इस लौकिक सुख की कामना करते हैं। इसी लोक में हमको भोग मिले, धन मिले, इस लोक में हमको यश मिले। और कुछ विषयी ऐसे होते हैं जो चाहते हैं कि मरने के बाद हमको स्वर्ग मिले। जो मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति करना चाहते हैं, पारलौकिक सुख का भोग करना चाहते हैं, वे भी विषयी ही हैं। लेकिन जो पारलौकिक सुख का भोग करना चाहते हैं, वे लौकिक विषयी की तुलना में अधिक संयत हैं। अधिक धार्मिक हैं और वे परलोक के अत्यधिक सुख की कामना से इस जीवन में अनेक प्रकार के संयम, अनेक प्रकार के विधि-विधान का निर्वाह करते हैं। अब वेद भगवान सब के हैं। वेद भगवान तमोगुणी विषयी के हैं, रजोगुणी विषयी जनों के लिए भी हैं, सत्त्वगुणी विषयी जनों के लिए भी हैं। और त्रिगुणातीतों के लिए भी हैं। वेदों का जो कर्मकांड है वह कर्मकांड विधान करता है कि अमुक यज्ञ करोगे तो तुमको अमुक फल मिलेगा। तुम्हारे संतान नहीं होती? पुत्रेष्टि यज्ञ करो। तुमको धन चाहिए? लक्ष्मी सूक्त से हवन करो, श्री सूक्त से हवन करो। तुमको राज्य चाहिए—राजसूय यज्ञ करो। अनेक प्रकार की तुम्हारी जो कामनाएँ हैं, चाहे वे इस लोक की हों, चाहे परलोक की। उन अनेक प्रकार की कामनाओं की पूर्ति का विधान वेद करते हैं। वेदों का यह जो कर्मकांड है, वह *त्रैगुण्यविषया वेदा*-- वे सत्त्व, रज, तम— इन तीन गुणों के द्वारा परिचालित होने वाली साधारण जनता के लिए है। वेदों का ही जो ज्ञानकांड है, उपनिषद् अंश, वह त्रिगुणातीत

होना चाहने वालों के लिए है। वह ज्ञानियों के लिए है। तो भगवान गीता में— *त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*— कह कर जो बात कह रहे हैं, उसे ठीक से समझना चाहिए। क्या तुम केवल विषय-भोग के लिए ही कर्म करना चाहते हो? जो तमोगुणी होगा उसकी अपने शरीर पर बड़ी आसक्ति होगी। इस शरीर के संबंधियों पर बड़ी आसक्ति होगी। तमोगुण से बना हुआ है यह शरीर। मूलतः वह आलसी होगा, आरामतलब होगा। जो रजोगुणी होगा— वह बहुत कर्मठ होगा, सक्रिय होगा। जो सत्त्वगुणी होगा— वह कुछ विचारशील होगा, पढ़ेगा-लिखेगा। उसके मन में दया होगी, कृपा होगी। लेकिन इन तीनों गुणों के द्वारा जो सीमित मानव-समष्टि है—वे सारे के सारे मानव विषयी कोटि के ऊपर नहीं जाते। चाहे वे लौकिक विषय-भोग करना चाहें, चाहे वे पारलौकिक विषय-भोग का अनुभव करना चाहें। वे त्रैगुण्य के भीतर हैं। बुद्धि-योग त्रैगुण्य का अतिक्रमण करना चाहता है। बुद्धि-योग मनुष्य को केवल विषयी नहीं बनाना चाहता। विषयातीत की ओर ले जाना चाहता है। बुद्धि योग गुर बताता है कि तुम्हारे सारे कर्म होते रहें लेकिन उन कर्मों से तुम बँधो नहीं। जो त्रैगुण्य विषयी हैं— उनके कर्म उनको बाँधेंगे ही। तुमको मिलेगा सुख। लेकिन मरने के बाद तुमको जन्म लेना पड़ेगा। जन्म-कर्म-फल प्रधान हैं। वेदों की ये त्रैगुण्य-विषयक व्यवस्थाएँ हैं। ये त्रैगुण्य-विषयक व्यवस्थाएँ तुम्हें लौकिक और पारलौकिक सुख-भोग तो दे सकती हैं लेकिन तुमको जन्म-मरण के चक्र से पार नहीं कर सकतीं। तुमको महाभय से मुक्ति नहीं दे सकतीं।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्

यह दुःख तुमको भोगना ही पड़ेगा। क्या तुम इसी दुःख को भोगना चाहते हो? गीता हमको, आपको इस दुःख से मुक्त करना चाहती है। इसलिए वेदों के कर्मकांड की दृष्टि से अर्थवादात्मक दृष्टि से असहमति प्रकट करती है। प्रभु कहते हैं कि अगर तुमको सुख-भोग की लालसा से ही वैदिक कर्म कांडात्मक कर्म करने हैं, तो तुम करो। लेकिन यह याद रखो कि यह पुष्पिता वाणी, यह आपात रमणीय वाणी, यह रजोगुण से मिश्रित वाणी तुमको जन्म-कर्म के बंधन से मुक्ति नहीं देगी। यह तुमको कामनाओं से ग्रस्त करेगी। यह तुमको भोग और ऐश्वर्य से आसक्त करेगी। और कामना क्या है? कामना तुमको कंगाल बना देगी। कामना तुमको छोटा बनाती है, कामना तुमको सीमित करती है। कामना जिसकी होगी, अन्तःकरण में वही प्रतिबिम्बित होगा। इस बात पर ध्यान दो। जिसकी कामना तुम्हारे अंतःकरण में आयेगी, जिसकी तुम कामना करोगे— चाहे किसी स्त्री की, चाहे पुरुष की, चाहे किसी स्थिति की, चाहे धन की वह

स्त्री, वह पुरुष, वह स्थिति, वह धन, वह यश तुम्हारे अंतःकरण में प्रतिफलित होगा और अंतःकरण में जब तुम्हारा काम्य विषय प्रतिफलित होगा तब, अनन्त प्रतिफलित नहीं होगा, तब ब्रह्म प्रतिफलित नहीं होगा। तुम्हारी दृष्टि सीमित रहेगी, तुम कंगले रहोगे, तुम छोटे रहोगे। कामना हमको-आपको छोटा बनाती हैं। भोग के ऐश्वर्य से जो प्रसक्त बुद्धि है उसमें समाधि में भी निश्चयात्मकता नहीं आती। क्यों नहीं आती? क्योंकि प्राप्तव्य एक नहीं है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां— जो भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हैं उनके प्राप्तव्य असंख्य हैं। वे क्या चाहते हैं ? वे सब कुछ चाहते हैं— यह भी मिल जाए, वह भी मिल जाए, वह भी मिल जाए, जब अनेक प्राप्तव्य होंगे तो बुद्धि अनेक होगी। एक प्राप्तव्य होगा तभी बुद्धि भी एक होगी। निश्चयात्मक होगी। बराबर याद रखो कि कामना के पीछे दौड़ने से सुख नहीं मिलता। यह बड़ी भारी भ्रांति है कि कामना की तृप्ति से सुख मिलता है। एक कामना तृप्त होती है तो दस कामनाओं को जन्म देती है। कामना हुई कि पुत्र हो जाए —पुत्र हो गया। अब पुत्र को दूध भी मिले अतः एक गाय भी खरीद लो। अब गाय खरीदो तो गाय के लिए एक ग्वाला भी चाहिए। फिर उसके वेतन के लिए पैसा भी चाहिए। फिर यह भी चाहिए, वह भी चाहिए। वह बाबाजी की कहानी आपलोगों ने सुनी है कि नहीं ? एक बाबाजी के पास लंगोटी भी नहीं थी। किसी भक्त ने लंगोटी दे दी। लंगोटी तो चूहा काट जाता था। तो उसने बिल्ली पाली। बिल्ली के लिए गाय पाली दूध के लिए। वे बेचारे फँस गए। बोले— इस लंगोटी को ले जाओ बाबा। यह जो भोगैश्वर्यप्रसक्त बुद्धि है— यह अनन्त शाखाओं वाली है और यह अनन्त शाखाओं वाली बुद्धि केवल हमको भरमाने वाली है। यह त्रिगुणों में, हमको सत्त्व, रज, तम में लिप्त रखने वाली बुद्धि हमको जन्म-मरण के महाभय से मुक्ति नहीं दे सकती। जन्म-मरण के महाभय से, मृत्यु के भय से, अज्ञान के भय से, दुःख के भय से, शत्रुता के भय से मुक्त अगर होना चाहते हो तो तुमको निस्त्रैगुण्य होना होगा। तुमको त्रिगुणातीत होना होगा। इसका भी क्रम है। अगर तमोगुण प्रधान हो तो चेष्टा करो कि रजोगुण में जा सको। इसीलिए विवेकानन्द ने कहा था कि गीता पढ़ने से फुटबाल खेलना अच्छा है। क्योंकि तमोगुणी जड़ता से सत्त्वगुणी शान्ति नहीं आती। भीतर तमोगुण भरा है उस पर सत्त्वगुण की रामनामी ओढ़ ली तो सत्त्वगुण नहीं हो जाता। तमोगुणी जड़ता सत्त्वगुणी शान्ति की भ्रांति उत्पन्न करती है। उस तमोगुणी जड़ता को दूर करने के लिए विवेकानन्द ने कहा— जाओ! फुटबाल खेलो। कम-से कम तमोगुण से रजोगुण में तो जाओगे। रजोगुण से फिर तुम सत्त्वगुण में जा सकोगे

और सत्त्वगुण के बाद फिर तुम नित्य सत्त्वस्थ हो। भगवान इसी में कहते हैं—

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।

निर्द्वन्द्व— द्वन्द्व माने दो-दो, जोड़ा-जोड़ा सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, रात-दिन, यश-अपयश— इन द्वन्द्वों से ऊपर उठो। मेरे गुरुजी बार-बार कहते थे। गुरुजी के मुख से सुनी थी, इसलिए बार-बार वह बात मैं भी कहता हूँ। गुरुजी कहते थे कि जो सुख में फूल कर कुप्पा होगा वही दुःख में सूख कर छुहारा होगा। अगर सुख में तुम फूल कर कुप्पा नहीं होगे तो दुःख में छुहारा भी नहीं होगे। सुख-दुःख से ऊपर उठोगे। द्वन्द्व से ऊपर हो—*निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थ*— सत्त्व दो प्रकार का होता है— एक शान्त और एक वृत्तिपरक। वृत्ति का मतलब ही होता है बदलना। कोई भी वृत्ति देर तक नहीं बनी रहती। मेरे गुरु जी उदाहरण देते थे। कोई बीमार कोढ़ी रास्ते में पड़ा है। दिखा आपको। आपके मन में सत्त्व वृत्ति का उदय हुआ, दया जागी। आप उसको ले आए। आपने उसकी एक दिन सेवा की। फिर आपके मन में अहंकार जागा। देखो-देखो मेरे जैसा उदार कौन है? मेरे जैसा सेवा-परायण कौन है? मैंने कोढ़ी को अपने घर में लाकर आश्रय दिया है। लो ! सत्त्व तो तिरोहित हो गया, रजोगुण बढ़ गया। रजोगुण बढ़ा तो आप कर्त्तव्य क्यों पालेंगे ! एक दिन मेहमान, दो दिन मेहमान। तीसरे दिन जान का जंजाल। फेंक आओ उसको। वृत्ति का मतलब ही है बदलना, वर्तनशील, परिवर्तनशील। वर्तन माने परिवर्तन। तो जो सत्त्व वृत्ति है, वह नित्य नहीं होती। वह परिवर्तित हो जाएगी रजोगुण और तमोगुण में। नित्यसत्त्वस्थ। निर्द्वन्द्व के बाद शान्त सत्य में नित्य रहते हुए नित्य-कृपा, नित्य करुणा का अनुभव करते हुए, निर्योगक्षेम बनो। अप्राप्त की प्राप्ति का नाम है योग और प्राप्ति के संरक्षण का नाम है क्षेम। आप लोगों ने देखा होगा— लाइफ इंश्योरेंस कम्पनी ने गीता के एक वाक्य को अपना आदर्श वाक्य बना लिया है—*योगक्षेमं वहाम्यहम्*। भगवान कहते हैं कि जो भक्त हैं मैं उनका योगक्षेम वहन करता हूँ। ये लाइफ इंश्योरेंस वाले लोग हमारा योगक्षेम क्या वहन करेंगे? लेकिन भगवान कहते हैं कि— निर्योगक्षेम बनो। विश्वास करो कि *यदस्मदीयं नहि तत् परेषाम्* —जो हमको मिलने वाला है— वह हमको मिलेगा ही वह दूसरे को नहीं मिल सकता। जो जानेवाला है, वह जाएगा ही।

भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत्।
गन्तव्यं गतमित्याहुः गजभुक्तकपित्थवत्।।

जो होने वाला है, वह होता है। कैसे ? नारियल के फल में पानी किसने दिया। हमने कि आपने? *भवितव्यं भवत्येव*— जो होने वाला है, वह होकर रहेगा। जैसे चारों

तरफ से बन्द फिर भी उसके भीतर पानी। आपने हाथी के द्वारा कैथ का फल खाया हुआ देखा है? जब वह हाथी की लीद में निकलता है तो कैथ का फल ज्यों-का त्यों रहता है पर उसके भीतर ठनठन गोपाल। बाहर का फल ज्यों-का-त्यों, भीतर गूदा गायब। जानेवाला जाएगा, आने वाला आएगा।

निर्योगक्षेम— तुम योग के लिए, क्षेम के लिए चिन्ता मत करो। *आत्मवान्*— तुम अपने को शरीर मत मानो। अपने को आत्मा से युक्त करो, अन्तर्मुख हो जाओ। यह स्थिति जब होगी तब अद्‌भुत आनन्द मिलेगा।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। (२/४६)

जब चारों तरफ गंगा जी लहरा रही हों तब कोई कुएँ का पानी पीने जायेगा? गंगा सामने हो तो कोई कुएँ का पानी नहीं पीता। इसी तरह जब यह वृत्ति हो जाएगी तो वेद के कर्मकांड वाले अंश की तुमको आवश्यकता नहीं रहेगी। वह तो विषयी जनों के लिए है। त्रैगुण्य— तीनों गुणों के भीतर जो समाहित हैं— तीनों गुण मिले रहते हैं इसलिए त्रैगुण्य। तीनों गुणों में जो प्रधान होता है, उससे उसकी परिचिति होती है। तो जो विषयी जन हैं, उनके लिए जो वेदों का कर्मकांड वाला अंश है, वह ज्ञानियों के लिए अनुकरणीय नहीं है। यह ध्यातव्य है कि यहाँ विजानतः शब्द आया है। याद रखें विजानतः शब्द सीधे ईशावास्य-उपनिषद् का शब्द है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः, कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। (६-७)

विजानतः विशेष रूप से जानने वाला, ऐसा ज्ञानी जो यह जानता है कि आत्मा ही इस सारी सृष्टि के रूप में रूपान्तरित हो गया है। वह विजानतः शब्द यहाँ लाए हैं श्रीकृष्ण। *तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः*— उस ब्रह्म तत्त्व के ज्ञाता, उस वेद के ज्ञान कांड के मर्मज्ञ के लिए वेद का कर्मकांड उतना ही प्रयोजन रखता है, जितना गंगा जल की प्राप्ति हो जाने पर कुँए का जल। वास्तव में अब उसका कोई प्रयोजन नहीं है। ज्ञानी के लिए, उस ज्ञानकांड की भूमिका पर स्थित होने वाले के लिए विषयों का प्रयोजन नहीं रहता। उसका लक्ष्य विषय की प्राप्ति नहीं होता है। इसके बाद का जो श्लोक है— उसे लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग की चतुस्सूत्री कहा है— यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (२/४७)

इस श्लोक में चार बातें एक साथ कही हैं। *कर्मण्येवाधिकारस्ते*— हमारा आपका अधिकार कर्म में है। बराबर याद रखिए —केवल मनुष्यों का अधिकार कर्म में है। चौरासी लाख योनियों में तिरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे योनियाँ भोग योनियाँ हैं। देव-योनि भी भोग-योनि है। केवल एक योनि, मानव योनि— कर्मयोनि है। इसलिए हमको कर्म करने की स्वतंत्रता है। इसलिए हमको कर्म करने का अधिकार है। पशु को कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है। वह अन्तः वृत्ति से परिचालित होता है। वनस्पतियों को कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है। वे प्रकृति के नियमों से परिचालित होती हैं। देवताओं को भी कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है। उन्होंने स्वर्गरूपी फाइव स्टार होटल में कर्मरूपी जितना रुपया जमा कराया है, उतने दिन वहाँ रह सकते हैं। जितना पुण्य है, उतने दिन स्वर्ग, बाद में स्वर्ग से विदा। केवल मनुष्य योनि कर्म योनि है। इसलिए काम करने में हम स्वाधीन हैं। काम करने का हमारा अधिकार है। कितने स्वाधीन हैं —यह बात अलग है। इस पर एक बड़ी लम्बी बहस है कि हमारी स्वाधीनता कितनी है? मैं बहुत संक्षेप में अगर समझाना चाहूँ तो हमारी स्वाधीनता दी हुई परिस्थितियों का उपयोग करने में है। परिस्थितियाँ दी हुई हैं। परिस्थितियाँ प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होती हैं। जिस परिवार में आपने जन्म लिया, उस परिवार में जन्म लेने के लिए आपने क्या किया? कब आपकी मृत्यु हो जायेगी आपको मालूम है? किसी को मालूम है? घर जाते-जाते मैं जीता रहूँगा या मर जाऊँगा, कोई जानता है? किसी को मालूम नहीं कि मृत्यु कब होगी? जन्म हमारे अधिकार की बात नहीं है। समष्टि भोग हमारे हाथ में नहीं है। हजारों - लाखों आदमियों का काम हमें सुख पहुँचाता है। हजारों-लाखों आदमियों का काम हमको दुःख पहुँचाता है। देश जीतता है, सुख होता है कि नहीं? देश को स्वर्ण-पदक मिलता है ओलम्पिक में— हम सुखी होते हैं कि नहीं? पार्टी जीतती है तो सुखी होते हैं कि नहीं? हारती है तो दुःखी होते हैं कि नहीं? बेटा अच्छा काम करता है— सुखी होते हैं कि नहीं? बेटा बुरा काम करता है— दुःखी होते हैं कि नहीं? केवल अपने आचरण से हम सुखी-दुःखी नहीं होते। ये सारी परिस्थितियाँ दी हुई हैं। फिर भी हम कर्म करने में स्वाधीन हैं—एक सीमा तक। कितनी सीमा तक? जैसे ताश के खेल में कितनी स्वाधीनता है? आपने कोट पीस खेला होगा, ब्रिज खेला होगा? ताश के पत्ते बँट गए। दिए हुए पत्तों को अच्छी तरह खेलना आपके हाथ में है। पत्ते प्राप्त करना आपके हाथ में नहीं है। पत्ते दिए हुए हैं। लेकिन आपने देखा होगा कि

अच्छे पत्ते पाकर भी लोग हार जाते हैं; और खराब पत्ते पाकर भी लोग जीत जाते हैं। नाटक में अभिनय की भूमिका हमारे हाथ में नहीं है। भूमिका दी हुई है; लेकिन दी हुई भूमिका का अच्छे ढंग से निर्वाह करना हमारे हाथ की बात है। नायक की भूमिका में रह कर अभिनय खराब हो सकता है। खलनायक की भूमिका में रह कर स्वर्ण-पदक प्राप्त किया जा सकता है। आपलोगों को याद होगा—'नीलदर्पण' का नाटक हो रहा था, एक अच्छे अभिनेता ने क्रूर अत्याचारी साहब का अभिनय किया। विद्यासागर को क्रोध आ गया। उन्होंने अपनी चप्पल उतार कर उसे मार दी। उसने अपने जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार विद्यासागर की चप्पल को माना।

कर्म करने में हमें आंशिक स्वाधीनता है। कर्म करने का हमारा अधिकार है। *कर्मण्येवाधिकारस्ते*— कर्म का अगर अधिकार है तो फल का भी अधिकार है। लेकिन गीता कहती है— *मा फलेषु कदाचन*। देखिये यहाँ 'मा' है, 'न' नहीं है। 'मा' और 'न' का अन्तर होता है। न का मतलब होता है नहीं। *मा कुरु धन जन यौवन गर्वं।* धन, जन, यौवन का गर्व मत करो। धन, जन, यौवन का गर्व होता है। हो सकता है लेकिन होने पर भी मत करो। मा का अर्थ यहाँ यह है कि तुम कर सकते हो पर करो मत। अन्तर समझ में आ रहा है? अगर कर्म का अधिकार है तो सहज रूप से फल का भी अधिकार है। गीता कहती है कि फल पर अधिकार न हो। कर्म का अधिकार हमको प्राप्त है। कर्म हमने किया, वह अभी वर्तमान है। दूर-परिणामी उस कर्म का फल, वह हमारे हाथ में नहीं है, वह परमात्मा के हाथ में है। इसलिए उसके ऊपर दृष्टि मत रखो। क्यों परमात्मा के हाथ में है? क्यों हमारे हाथ में नहीं है? क्योंकि जरा इस पर ध्यान दीजिये कि हम हैं कैसे?

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पाप फलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।

यह सबसे बड़ा विरोधाभास है हमारे-आपके जीवन का। *पुण्यस्य फलमिच्छन्ति* —लोग पुण्य का फल प्राप्त करना चाहते हैं— *पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः* — लेकिन मनुष्य पुण्य करना नहीं चाहते। पुण्य करना बड़ा कठिन है, तपस्या है। उसमें कष्ट उठाना पड़ता है। लोग पुण्य का फल चाहेंगे पुण्य नहीं करेंगे। *न पाप फलमिच्छन्ति*— कोई पाप का फल पाना चाहता है ? कोई नहीं चाहता। *पापं कुर्वन्ति यत्नतः* —और यत्नपूर्वक लोग पाप करते हैं। अगर फल पाना हमारे हाथ में होगा तो हम बिना काम किए फल पाना चाहेंगे। इसलिए रामजी ने फल हमारे हाथ में छोड़ा ही नहीं। कर्म करने का हमारा आपका अधिकार और फल का अधिकार सिद्धान्ततः तो है किन्तु उसे छोड़ दो। अगर नहीं छोड़ोगे तो फलासक्ति तुमको बाँध देगी।

न कर्म लिप्यते नरे— ईशावास्य उपनिषद् में क्या कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। (२)

मनुष्य को कर्म लिप्त नहीं होता। अगर कर्म लिप्त नहीं होता तो क्या लिप्त होता है? कर्मफल प्राप्त करने की इच्छा लिप्त होती है। हमने जो काम किया, हमको उसका फल मिलना चाहिए यह नैतिक माँग हो सकती है; लेकिन यह नैतिक माँग अगर तुम करोगे, जो तुम कर सकते हो, तो तुम उससे बँधोगे। तुम बँधना चाहते हो ? अगर बँधना चाहते हो तो करो। अगर तुम काम करते हुए काम से बंधना नहीं चाहते तो उसका एक मात्र रास्ता है कि फल की आशा, फल की इच्छा मत करो। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन* —कभी भी फल पर तुम्हारा अधिकार न हो। नहीं है क्योंकि वह भगवान के हाथ में है। काम करना तुम्हारे हाथ में है और फल देना भगवान के हाथ में। और अगर नैतिक अधिकार तुम माँगते भी हो तो मत माँगो, माँगोगे तो बँधोगे। नहीं माँगोगे तो बँधोगे भी नहीं। कर्म करो, कर्म की फलाकांक्षा छोड़ दो।

मा कर्मफलहेतुर्भूः —तुम फल के लिए काम करोगे? यह तो बहुत छोटी बात है यार! *कर्मफलहेतुर्भू मा*— तुम कर्म फल पाने के कारण ही काम कर रहे हो— ऐसा नहीं होना चाहिए। अच्छा कर्मफल नहीं मिलेगा तो हम काम भी नहीं करेंगे— ऐसा भी नहीं होना चाहिए। *मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।* रजोगुण कहता है कि मैं काम करूँगा तो फल लूँगा। तमोगुण कहता है कि मुझे फल नहीं मिलेगा तो मैं काम भी नहीं करूँगा। गीता कहती है कि तुम काम भी करो, फल मत चाहो। फल के लिए काम मत करो, कर्त्तव्य-बोध से काम करो। स्वधर्म-बोध से काम करो और निकम्मे मत रहो। गीता निकम्मेपन को क्षमा नहीं देती। निकम्मेपन से बुरा काम करना अच्छा। बुरे काम से विहित काम करना अच्छा है। विहित काम से निष्काम कर्म करना अच्छा है। उससे ऊपर की बात है भगवान के लिए काम करना अच्छा है। उससे ऊपर की कक्षा यह है कि तीनों गुण अपने-अपने गुण में बरत रहे हैं मैं केवल उनका साक्षी हूँ, तटस्थ द्रष्टा हूँ, उदासीन हूँ, यह भाव और भी अच्छा है। हम अच्छाई की किस सीमा तक जा सकते हैं— यह बात अलग है। लेकिन गीता निकम्मेपन को स्वीकार नहीं करती। इसके बाद गीता अद्‌भुत बात कहती है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (२/४८)

और इसी के साथ जुड़ा हुआ है यह श्लोक—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (२/५०)

इस बात पर ध्यान दीजिए—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। (२/३९)

योग की बुद्धि कौन सी बुद्धि है? योग की बुद्धि समत्व की बुद्धि है। इस समत्व बुद्धि का उद्‌बोधन श्रीकृष्ण ने किया है स्वधर्म के आचरण में—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

उसमें उन्होंने कहा था स्वधर्म का आचरण करते हुए तुमको पाप नहीं होगा। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय में सम रहते हुए काम करो— यह समत्व बुद्धि का आरंभ है। समत्व बुद्धि का समाहार है— *समत्वं योग उच्यते।* सिद्धि और असिद्धि में सम रहना— यही योग है। इसी समत्व की बुद्धि में स्थित होकर हे अर्जुन, तुम काम करो। जितना चाहो, काम करो लेकिन योग के सिंहासन पर बैठ कर काम करो। क्या मतलब है इसका? उसका मतलब यह है कि देखो ! हम वर्तमान मुहूर्त को कर्म से भर रहे हैं।

क्षणादुर्ध्वं न जानामि विधाता किं करिष्यति।

एक क्षण के बाद विधाता क्या करेंगे, मालूम नहीं है। भविष्य हमारे हाथ में नहीं है। अतीत बीत गया। उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। हमारे हाथ में वर्तमान क्षण है। यह सामने का क्षण, अभी का क्षण। इसको हम केवल समत्व बुद्धि से भर दें, काम कर दें। भगवान की इच्छा होगी, काम पूरा होगा। भगवान की इच्छा होगी, काम सिद्ध होगा। हमारी जितनी बुद्धि, जितना विवेक है हम सब का सब लगाएँ। बहुत से लोग कहते हैं कि हमारा काम होगा तो हम ज्यादा मन लगा कर करेंगे। नहीं भाई! ऐसा नहीं होता। हमारा काम है और हम चाहते हैं कि उसका फल मिले तो याद रखो कि थोड़ा-सा समय, थोड़ी-सी शक्ति फल के चिन्तन में जाती है। जाती है कि नहीं? कोई काम तुम कर रहे हो। उसका फल चाहते हो। तो काम करते हुए उसके फल का सपना तुम देखते हो कि नहीं? फल मिलेगा तो क्या करेंगे—यह सोचते हो कि नहीं? फल मिलेगा तो कैसा-कैसा मजा आएगा—यह विचार मन में आता है कि नहीं? और जितना समय फल-चिन्तन में लगता है, उतना समय नष्ट होता है। जितनी बुद्धि, जितनी शक्ति फल-चिन्तन में लगती है उतनी बुद्धि, उतनी शक्ति नष्ट होती है। फल चिन्तन— हमको

अपनी शक्ति का एक अंश नष्ट करने की प्रेरणा देता है। अच्छा, एक दूसरी बात पर ध्यान दो। अगर हम कहें कि काम मेरा है। बनेगा तो मुझको लाभ, बिगड़ेगा तो मेरा नुकसान। बिगड़ गया तो बिगड़ गया। क्या हुआ। नुकसान मेरा होगा। ठीक है। अगर तुम उसके फल भोक्ता होना चाहते हो, तो तुम ऐसा कह सकते हो। लेकिन अगर तुम फलासक्ति छोड़कर काम कर रहे हो तो? तो ऐसा नहीं कह सकते। अगर तुम भगवान के लिए काम कर रहे हो, अगर तुम कर्त्तव्य-कर्म कर रहे हो, अगर तुम निष्काम कर्म कर रहे हो तो काम बिगड़े तो बिगड़े, बने तो बने— यह नहीं कह सकते हो। बिगड़ेगा कि बनेगा— यह तो रामजी जाने। लेकिन अगर हम सचमुच निष्काम भाव से कर्म कर रहे हैं, अगर हम भगवद्अर्पित बुद्धि से कर्म कर रहे हैं तो हमको जितनी शक्ति भगवान ने दी है, जितना समय दिया— जितनी योग्यता दी— हम सब लगा देंगे। फल का चिन्तन नहीं करेंगे। भगवान जब कहते हैं गीता में कि निष्काम कर्म करो, फल की आसक्ति छोड़कर काम करो तो वे इस तरकीब से कर्म करने की हमारी क्षमता को बढ़ाते हैं; कर्म करने की हमारी वृत्ति को बढ़ाते हैं; दृढ़ करते हैं। भगवान ने डंके की चोट पर कहा है—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (२/४९)

इस बुद्धि युक्त कर्म की तुलना में फलासक्त कर्म बहुत नीचे है, बहुत नीचे है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (२/५०)

जो समत्व बुद्धि से काम करता है, वह पाप और पुण्य दोनों को त्याग देता है। क्यों त्याग देता है? कैसे त्याग देता है? याद रखो— समत्व बुद्धि भगवद् बुद्धि है। समता भगवान का लक्षण है।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म

ब्रह्म ही समान है या ब्रह्म के ऊपर श्रद्धा रखकर ब्रह्म की प्राप्ति करने वाले भक्त समान हैं, समत्व बुद्धि वाले हैं। बार-बार चाहे आप भक्तियोग देखें, चाहें त्रिगुणातीत के लक्षण देखें, समत्व की महिमा सर्वत्र निरूपित है। भक्तों का लक्षण देते हुए भगवान ने कहा है कि वे शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, मानापमान, शीत-उष्ण, निन्दास्तुति में सर्वदा सम रहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।

तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। (१२/१८-१९)

या तो भगवान सम हैं या तो भगवान के भक्त सम हैं। या तो भगवान सम हैं या बुद्धियोगी सम हैं। समत्व— भगवान की अर्चना है। भागवत में कहा गया है— *समत्वमर्चनमच्युतस्य*। समत्व से जुड़ना भगवान की ओर बढ़ना है।

भज गोविन्दं भज गोविन्दं— में शंकराचार्य ने कहा— *संसारात् अचिरात् भव मुक्तः*— तुम संसार से शीघ्र ही, अचिर मुक्त हो सकते हो। कैसे? इसी समत्व बुद्धि से, स्पष्ट श्लोक है—

शत्रौ मित्रे पुत्रे बंधौ, मा कुरु यत्नं विग्रहसंधौ।
भव समचित्तः सर्वत्र त्वं, वाञ्छस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम्।।

सन्धि, विग्रह के लिए यत्न मत करो यदि शत्रु-मित्र में, प्रिय-अप्रिय में, सुख-दुःख में तुम्हारी समत्व बुद्धि है, अगर तुम सर्वत्र समचित्त हो तो तुम अचिर शीघ्र ही विष्णुत्व की प्राप्ति करोगे। समत्व की साधना भगवत् साधना है—क्योंकि सम केवल भगवान ही हैं। यह समता बुद्धि में हो। समता व्यवहार में चाहे नहीं हो। भगवान भी जब व्यवहार करते हैं तो भक्तों से और रावण से एक जैसा व्यवहार नहीं करते। विभीषण और रावण के साथ किये गये श्रीराम के व्यवहार में अन्तर है। लेकिन भगवान के व्यवहार में यह बात समान रूप से स्वीकार की जायेगी कि वे सबका हित चाहते हैं, हित करते हैं। समत्व का क्या अर्थ होता है? बिच्छू का स्वभाव डंक मारना है, गाय का स्वभाव दूध देना है। यह बात समझ लो। यह मालूम पड़ेगा कि जो आदमी अनुचित व्यवहार कर रहा है, वह तमोगुणी हो करके लालसा-परायण होकर कर रहा है। उस पर प्रभु की कृपा होगी तो वे उसका अनुचित व्यवहार निरुद्ध करेंगे। उसका विरोध करेंगे। उसको उसके लिए दंड भी देंगे; लेकिन वह भी बिना क्रोध के देंगे। समत्व— यह तो भगवान की सिद्धि है। सहज स्वभाव है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।।

समदर्शिता— यह तो भगवान का लक्षण है। और भगवान के उस लक्षण को स्वीकार करके कहा गया— *समत्वं योग उच्यते।* भगवान के उस लक्षण को, समत्व को स्वीकार करके कहा गया— *योगः कर्मसु कौशलं।* क्या कुशलता है? कुशलता यह है भाई! कि कर्म अपने स्वभाव से बाँधने वाला है। इस पर ध्यान दीजिए। कर्म के बंधन से हम बँधते हैं। कर्म करें और कर्म का स्वभाव, स्वभाव न रह जाय— यह

कौशल है। *योगः कर्मसु कौशलं।* कौन-सा कौशल योग हो जाता है? वह कौशल योग हो जाता है जिससे कर्म का स्वभाव व्यर्थ हो जाए। कर्म अपने स्वभाव से बाँधता है। लेकिन जब हम समत्व बुद्धि से युक्त होकर कर्म करते हैं तो ऐसे कौशल का उपयोग करते हैं कि कर्म का स्वभाव कुंठित हो जाता है, कर्म हमको बाँध नहीं पाता। कर्म के स्वभाव को कुंठित कर देना सबसे बड़ा कौशल है।

'योगः कर्मसु कौशलं' का मतलब यह नहीं है कि अच्छी तरह से दक्षतापूर्वक काम करना। तब तो चोरी भी अच्छी तरह से कर रहे हो, तो योग कर रहे हो। डाका भी अच्छी तरह से डाल रहे हो तो योग कर रहे हो। नहीं— *योगः कर्मसु कौशलं* का मतलब है कि वह कौशल योग है जिससे कर्म का स्वभाव कुंठित हो जाए। कर्म का स्वभाव है— कर्म करने वाले को बाँधना। कर्म का बाँधने का स्वभाव कुंठित हो जाए वह हमको बाँध न पाए, ऐसे कौशल से कर्म करना योग है। *योगः कर्मसु कौशलं*— इसका मतलब यह नहीं है कि नकल करने की कुशलता को योग कहते हैं। नहीं— ऐसा नहीं है। मनीषी लोग जब कर्म फल का त्याग करते हैं— इस समत्व बुद्धि से युक्त होकर और तब वे जन्म बंधन से विनिर्मुक्त हो जाते हैं। यह बात सहज में समझ में नहीं आती। यह संभव है लेकिन समझ में नहीं आती। क्यों नहीं समझ में आती? क्योंकि हमारी बुद्धि में कीचड़ भर गया है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।। (२/५२)
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। (२/५३)

पहली बात तो यह कि हमारे-आपके मन में लालसा, कामना का कीचड़ भरा हुआ है। दूसरी बात का यह कि हमलोगों ने बहुत पढ़ा है— जंगल का जंगल शास्त्रों को पढ़ा है, गुना नहीं है, जीवन में उतारा नहीं है और इसलिए हम विभ्रान्त हैं। बराबर याद रखिए मन की मलिनता कामना है। निष्कामता हमारे अन्तःकरण को पवित्र करती है, शुद्ध करती है। निष्काम होना अन्तर्मुख होना है। निष्काम होना शुद्ध होना है। निष्काम कर्मयोग हमको कर्म के स्वभाव को, बंधकता को बाँधने की उसकी क्षमता को कुंठित करने की शक्ति देता है। अपने संशय से, विपर्यय से बहुत सुनकर, बोल कर दिमाग में जो कीचड़ भर गया है उसको निष्कामता से धोकर जब हम संयम के साथ, शान्ति के साथ, एकाग्रता के साथ निष्काम वृत्ति से कर्म करेंगे तो हमारी बुद्धि समाधि में स्थित होगी। यह समाधि भी योग वाली समाधि नहीं है, जिसमें अपनी सारी चित्तवृत्तियों

को निस्पृह कर दिया जाता है। यह समाधि है अंतःकरण में दृढ़, निष्काम, पवित्र, निरन्तर कर्म करने की क्षमता से युक्त बुद्धि , वही हमको, आपको, कर्मयोग में स्थित करने की क्षमता देती है। भगवान की कृपा से यह समत्व बुद्धि योग, भगवान की कृपा से कर्म करने का यह कौशल हम प्राप्त कर सकें जिससे कर्म के बाँधने की क्षमता को हम कुंठित कर दें। असंख्य-असंख्य कर्म करते हुए भी हम ऐसे सहज रहें जैसे हमने कुछ नहीं किया। अगर हमने सकाम कर्म नहीं किया तो हमको उसका फल भी नहीं मिलेगा। हम कर्त्ता नहीं बनें तो हम भोक्ता भी नहीं बनेंगे। यह समत्व बुद्धि तीन स्तरों पर होती है। यह निष्काम बुद्धि तीन स्तरों पर होती है। जब इसी समाज का काम करते हुए हमको कोई पुरस्कार नहीं चाहिए, कोई सम्मान नहीं चाहिए, कोई मानदेय नहीं चाहिए। जब हमारा भाव यह रहता है कि हमारे कर्म का फल समाज को मिले, हमारे कर्म का फल राष्ट्र को मिले, देश को मिले, विश्व को मिले तो यह आधिभौतिक निष्कामता है। इसी संसार में रहते हुए हम अच्छे-से-अच्छा काम करें, उसका फल हमको न मिले, हमारे समाज को मिले, देश को मिले, राष्ट्र को मिले, विश्व को मिले— इसी जन्म में मिले, इसी जगत में मिले— यह आधिभौतिक निष्कामता है। और जब हम जो भी काम कर रहे हैं, वह हम अपने इष्टदेव के लिए कर रहे हैं—

यत्कृतं यत् करिष्यामि तत् सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव रघुनंदन।।

हे राम जी जो मैंने किया, जो मैं कर रहा हूँ, जो करूँगा, वह मैंने नहीं किया, मैं नहीं कर रहा हूँ, मैं नहीं करूँगा— तुमने कराया, तुमने किया इसका फल तुम्हीं भोगो— भगवर्दर्पित कर्म यह आधिदैविक निष्कामता है। और जब हम अपनी चित्त-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं— *संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये*— आसक्ति त्याग कर जब हम *योगिनः कर्म कुर्वन्ति*— चित्त-शुद्धि के लिए काम करते हैं तो वह आध्यात्मिक निष्कामता है। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक— तीनों स्थितियों से ऊपर उठकर जब हम ब्रह्मभूत हो जाते हैं, ब्रह्म से एक हो जाते हैं, ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं तो वह त्रिगुणातीत निष्कामता है। हम किस स्तर तक जा सकते हैं यह हमारी अपनी वृत्ति पर निर्भर है लेकिन हम आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक और इन तीनों के परे ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके निष्काम भाव से कर्म कर सकते हैं— गीता ऐसा कहती है। भगवान की कृपा से हमारे-आपके जीवन में यह निष्काम कर्मयोग आए, यह समत्व बुद्धि-योग आए, वह कर्म-कौशल हममें आए जिससे हम कर्म से न बँधें— श्रीराम! जय राम! जय-जय राम! ●

प्रवचन-५*

स्थितप्रज्ञ दर्शन (पूर्वार्द्ध)

भगवान ने अर्जुन को यह बताया कि सकाम कर्म, बुद्धियोग (समता) से बहुत निचले दर्जे की बात है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (२/४९)

बुद्धि योग से यानि शुद्ध बुद्धि से प्रेरित जो कर्म है वह कामना, वासना से प्रेरित सकाम कर्म की तुलना में बहुत ऊँचा है। जब यह बात प्रभु ने कही तो स्वभावतः अर्जुन के मन में जिज्ञासा हुई कि यह बुद्धियोगी कैसा होता है ? और एक शब्द उनके मुख से निकला— स्थितप्रज्ञ। यह गीता की अपूर्वता है। जो लोग मीमांसा के नियम से परिचित हैं वे जानते हैं कि अर्थ-निर्धारण के लिए अपूर्वता पर बल दिया जाता है। कौन सी बात पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा नहीं कही गयी थी, कौन सी नई बात कही गयी।

स्थितप्रज्ञ शब्द गीता का अपना शब्द है और गीता के प्रवर्तन के बाद इस शब्द की, इस भाव की इस शब्द के द्वारा व्यंजित होने वाली दृष्टि की, उसके आचरण की महिमा अत्यधिक स्वीकृत हुई। इसलिए स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में जो विवेचन है, वह अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहली बात यह समझनी चाहिए कि साधारण बुद्धि क्या करती है ? हमारे आपके जीवन में बुद्धि का व्यवहार होता ही है। बुद्धि का व्यवहार दो प्रकार से होता है। या तो वह निर्मल होकर अपने केन्द्र से, स्रोत से जुड़कर कोई ऊर्ध्व भूमिका की बात अपने मन में लाए और उसके अनुसार व्यक्ति आचरण करे या वह मन के माध्यम से इन्द्रियों से होते हुए विषय की ओर जाए। संसार के साधारण मनुष्यों में जो बुद्धि की प्रक्रिया है, वह यही है। मन के माध्यम से वह इन्द्रियों से होते हुए विषयों की ओर जाती है। और ऐसी जो बुद्धि है वह स्थिर नहीं हो सकती क्योंकि विषयों की ओर वह भोग वृत्ति से जाती है। जहाँ भोग वृत्ति से बुद्धि विषय की ओर इन्द्रियों के माध्यम से जाएगी वहाँ आप यह निश्चित समझ लें कि एक भोग अपने

* द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ५४ से ६३

पीछे एक हजार भोगों को छिपाए रखता है। पिपासा का, प्यास का अंत नहीं है और इसलिए एक भोग पूरा होता है तो दूसरा भोग, दूसरा भोग पूरा होता है तो तीसरा भोग, और इसके बाद अनन्त क्रम..., भोग से कर्म और कर्म से भोग— यह दुश्चक्र चलता रहता है। भोग प्राप्त करने के लिए बुद्धि सकाम भाव से कर्म करेगी; और सकाम भाव से जो कर्म होगा उसमें कर्तृत्व का लेप होगा। कर्तृत्व होगा तो भोक्तृत्व होगा। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का मतलब संसार होता है; और फिर भोग का कर्म, कर्म का भोग इस तरह निरन्तर जन्म-मरण की प्रक्रिया चलती रहेगी। क्या ऐसा संभव है कि कर्म करते हुए भी कर्म का लेप न हो ? गीता बार-बार कहती है कि ऐसा संभव है। गीता ने इसके द्वारा ईशावास्य-उपनिषद् के दूसरे मंत्र की दिव्य व्याख्या की है। *'न कर्म लिप्यते नरे'* कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं होता। कर्म के पीछे जो आसक्ति है वह लिप्त होती है। तो वह आसक्ति उन लोगों के मन में होगी जो बुद्धि को मन और इन्द्रियों के अधीन कर देते हैं। मन और इन्द्रियों के अधीन हुई बुद्धि अस्थिर होगी। उसमें निर्मलता नहीं होगी। वह विषयों से रंगी हुई होगी; और फिर वह दुःखों का हेतु बनेगी, कारण बनेगी।

तो फिर कैसे बुद्धि को निर्मल किया जाए ? कैसे बुद्धि को शुद्ध किया जाए ? कैसे बुद्धि को प्रतिष्ठित किया जाए, स्थिर किया जाए। यह जिज्ञासा वास्तविक जिज्ञासा है। अर्जुन इस जिज्ञासा को दूसरी तरह से प्रस्तुत करता है। उसने कहा कि प्रभु ! आपने कहा कि जो निर्मल बुद्धि के, स्थिर बुद्धि के महापुरुष होते हैं, वे समस्त कर्मों को करते हुए भी कर्मों में लिप्त नहीं होते। ऐसा कौशल होता है उनके कर्म में— जो कर्म का सहज स्वभाव है बन्धन, उस बन्धन से वे परे चले जाते हैं। *'योगः कर्मसु कौशलं'* का मतलब यही है कि वह कौशल होता है, जो कर्म के स्वाभाविक परिणाम को (अर्थात् कर्म करेंगे तो उसका फल भोगेंगे उससे आप बँधेंगे।) निरस्त कर दे, वह योग है। यह कैसे होगा? यह कौन कर सकता है ? जो ऐसा कर सकता है उसका लक्षण क्या है ? उसका व्यवहार कैसा है ? वह कैसे आचरण करता है ? यही प्रश्न है अर्जुन का।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।। (२।५४)

अब इसमें देखिए कई-कई बातें हैं। आचार्यों ने बताया कि इन प्रश्नों के उत्तर में दो प्रमुख बातें कही गयी हैं। एक तो यह कि सिद्ध पुरुष के लक्षण बताये गए हैं। दूसरी बात यह कि ये वे लक्षण हैं जो साधक पुरुषों के द्वारा आचरणीय हैं, स्वीकरणीय हैं। साधना में उतार लेने योग्य हैं। इनको अपने जीवन में जोड़ लेना चाहिए। तब साधक सिद्धि की ओर जा सकता है। जो सिद्ध पुरुष हैं उनकी पहचान

इनसे होती है और जो साधक हैं वे इन लक्षणों के द्वारा सिद्धि की ओर अग्रसर होते हैं— ये दोनों बातें समझ में आनी चाहिए। थोड़ी चर्चा प्रश्न पूछने के सम्बन्ध में कर ली जाये। सवाल इसीलिए किये जाने चाहिए कि हम सब अपनी साधना को दृढ़ बना सकें। सवाल दो तरह के होते हैं । एक तरह के सवाल होते हैं— दूसरों की बुद्धि की परीक्षा के लिए। अर्जुन के सवाल ऐसे नहीं हैं। वे कृष्ण की बुद्धि की परीक्षा नहीं ले रहे हैं। अध्यापक लोग विद्यार्थियों से सवाल करते हैं, उनकी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए। लेकिन जो सच्चा जिज्ञासु है, वह प्रश्न करता है अपने ज्ञान के लिए, अपनी जानकारी के लिए। जो समस्या उसको मथती रहती है, उस समस्या का समाधान पाने के लिए। अर्जुन की बुद्धि अस्थिर है, डाँवाडोल है। अर्जुन ने भगवान से कह दिया कि तुम मुझको उपदेश करो लेकिन मैं युद्ध नहीं करूँगा। आप देखिए— *'न योत्स्य'*, अर्जुन अपना निर्णय तुमने पहले घोषित कर दिया और *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* —यह बाद में कहते हो ? क्या विलक्षण बात है। फैसला तुमने पहले कर लिया और कहते हो कि मैं आपका शिष्य हूँ। आप मुझे उपदेश करें, आप मेरा शासन करें। यह डाँवाडोल बुद्धि का लक्षण है। अर्जुन स्वयं स्थितप्रज्ञ नहीं हो पाया है, इसलिए वह इन लक्षणों को सीखना चाहता है, जानना चाहता है जिनके कारण वह स्थितप्रज्ञ हो जाए। और इसलिए स्थितप्रज्ञ का प्रभु ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। स्थितप्रज्ञ के विवेचन के क्रम में इस बात को भी समझना चाहिए कि स्थितप्रज्ञ कौन होता है ? गीता की एक बड़ी विशेषता है— आपने अगर पुष्पिका पर ध्यान दिया हो तो देखा होगा कि *ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे....*

गीता एक ही साथ ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है। वह एक ही साथ तत्त्वज्ञान का निरूपण भी करती है और उस तत्त्वज्ञान को जीवन में उतारने का रास्ता भी बताती है। ब्रह्मविद्या–यानी तत्त्वज्ञान का निरूपण। योगशास्त्र— यानी उस तत्त्वज्ञान को अपने जीवन में उतार लेने की सिद्ध-प्रक्रिया का वर्णन। और स्थितप्रज्ञ वही व्यक्ति होगा जो तत्त्वज्ञानी भी है और उस तत्त्वज्ञान के अनुकूल आचरण भी कर रहा है। तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद संन्यासी लोग कर्म का त्याग कर देते हैं। गीता और खासकर कर्मयोग का निरूपण करते समय दूसरे अध्याय में गीता कर्मत्याग को स्वीकार नहीं करती। वह कहती है कि हाँ तत्त्वज्ञान तो समान है। संन्यासी का जो तत्त्वज्ञान है और कर्मयोगी का जो तत्त्वज्ञान है, दोनों एक हैं। उस तत्त्वज्ञान की समानता के बाद कर्म करें कि न करें— यह विकल्प चुना जा सकता है। संन्यासी कर्मत्याग कर सकता है। कर्मयोगी तभी स्थितप्रज्ञ होकर कर्म कर सकेगा जब उसको पूरा तत्त्वज्ञान हो चुका

होगा। बिना तत्त्वज्ञान की पूर्णता के स्थितप्रज्ञता असंभव है। इसलिए स्थितप्रज्ञ एक ही साथ दोनों गुणों से युक्त है। तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उस तत्त्वज्ञान को आचरण में, कर्म में उतारने की दक्षता, सिद्धता जिसको प्राप्त हो गई है, वही स्थितप्रज्ञ है। याद रखिए कि अगर तत्त्वज्ञान पूरा नहीं होगा तो बुद्धि भटकेगी। तुलसीदास ने कहा है—

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज-सुख, जहँ-तहँ इन्द्रिन तान्यो।

मेरे मन को कभी विश्राम की प्राप्ति हुई ही नहीं। स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं ? स्थित का क्या मतलब है ? स्थित का मतलब है स्थिर, जो विश्राम प्राप्त है। किसको विश्राम प्राप्त हो ? वह कहाँ स्थित है ? निश्चला बुद्धि, अचला बुद्धि। संसार का त्याग करके जो ब्रह्म में निश्चल हो गई है— वह बुद्धि। उसको पूर्ण विश्राम प्राप्त है। जो व्यक्ति स्थितप्रज्ञ नहीं होगा, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होगी। वह भ्रमण करेगी, भटकेगी। वह अगर ब्रह्म के सहज-सुख को प्राप्त नहीं कर सकेगी तो वह विषय-सुखों को प्राप्त करना चाहेगी और विषय-सुख अनन्त हैं। विषय-सुख, दुःख के केवल पूर्वरूप हैं। दुःख, सुख के रूप में केवल मुखौटा लगाकर आता है। मेरे गुरुजी कहते थे कि ब्रह्मा ने 'आह' को पैदा किया। 'आह' तो कन्या है, स्त्रीलिंग है, वह जिसके पास जाए, वही उसको नकार दे। कौन 'आह' को वरे ? वह दुःखी हुई, गई ब्रह्मा के पास कि प्रभु ! आपने मेरी सृष्टि की । मैं कुँवारी रह जाऊँगी ? मुझे कोई वरता ही नहीं। बोले— कोई बात नहीं बेटा ! तुम्हारे ऊपर 'च' की चादर डाल देता हूँ। तो 'आह' के मुख पर उन्होंने 'च' की चादर जोड़ दी। वह हो गई 'चाह'। 'चाह' का वरण सबने किया। और जो 'चाह' का वरण करता है वह आह-आह, आह-आह करता है। मेरे गुरुजी कहते थे कि 'चाह' अपने में 'आह' छिपाए हुए है। कोई 'चाह', कोई कामना सुखी नहीं कर सकती। क्योंकि एक कामना, एक 'चाह' पूरी होगी तो उससे उपजी एक हजार चाहें अधूरी रहेंगी। उन अधूरी चाहों को पूर्ण करने की चेष्टा में—

डासत ही गई बीत निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भर सोयो
मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो।

सारा जीवन बिछौना बिछाते-बिछाते बीत गया। सारी रात बिछौना बिछाते रह गये ? सोने के लिए बिछौना है कि बिछौने के लिए बिछौना है ? चाह में निहित है कि ऐसा बिछौना हो, ऐसा पलंग हो, ऐसा डनलप-पिलो हो, ऐसा मकान हो। लो सारा जीवन बिछौना बिछाते-बिछाते ही बीत गया *'कबहुँ न नाथ नींद भर सोयो।'* नींद भर कर कभी सोया ही नहीं, सुख मिला ही नहीं। *'मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो'* —इस मूढ़

मन ने मुझे बिल्कुल नष्ट कर दिया है। तो यह जो कामना की बात है, अब इसको आप सुनिए।

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' —जो स्थितप्रज्ञ है, उसकी परिभाषा क्या है, उसका लक्षण क्या है ? भाषा—मतलब, कैसे उसको परिभाषित किया जाए, उसका लक्षण क्या है ? *समाधिस्थस्य केशव*— कैसे स्थितप्रज्ञ का वर्णन सुनना चाहते हैं ? तो कुछ आचार्यों ने, मधुसूदन सरस्वती ने इसे दो कर दिया। एक समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ और एक कार्यरत स्थितप्रज्ञ। *'स्थितधीः किं प्रभाषेत'*— वह जो स्थित बुद्धिवाला है, वह कैसे बोलता है ? *'किमासीत'*— कैसे बैठता है, कैसे उपराम होता है ? *'व्रजेत किम्'* चलता कैसे है? संसार में व्यवहार कैसे करता है ? दूसरे आचार्यों ने बताया कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ— यह परिपूर्ण सिद्ध होता है। उड़िया बाबा ने बताया कि निर्विकल्प समाधि प्राप्त जो है, वह तो है समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ; और जो सविकल्प समाधि प्राप्त है वह है *'स्थितधीः'*। दोनों में थोड़ा-थोड़ा अंतर करते हैं। एक बात पर और ध्यान दीजिए कि योग की समाधि और गीता की समाधि एक नहीं है। योग की समाधि तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि— जो ध्येय है, उसके साथ एकतान होकर लगातार उसी में मन का बैठ जाना— यह समाधि है। समाधि-दशा में आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थान करेगा। यही लक्षण है।

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः 'तदा द्रष्टु' स्वरूपे अवस्थानं।

तब जो द्रष्टा है, वह अपने स्वरूप में अवस्थान करता है। लेकिन— जब समाधि नहीं है तब ? योगी अगर ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर चुका है, तत्त्वज्ञान अगर उसको नहीं हो गया है, तो व्युत्थान की दशा में उसमें बहुत विक्षेप होंगे। आप लोगों ने एक कथा सुनी होगी। बराबर याद रखिए कि दृष्टान्त मुख्य नहीं होते। उसके पीछे जो रहस्य होता है, सिद्धान्त होता है, वह मुख्य होता है। एक बहुरूपिया था। बहुरूपिया जो रूप बनाता, वैसा आचरण करता था। राजा ने कहा— तुम योगी बनो। वह योगी बन गया। योगी बनने के लिए उसने योग-साधना की। सच्चा योगी का रूप कौन धारण कर सकता है ? जिसको योग मालूम हो। उसने योग-साधना की। योग साधना करने के बाद यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि पर ध्यान किया और फिर योगी बन करके आया। उसने राजा को कहा— अलख निरंजन! राजा ने उसको प्रणाम किया। राजा को मालूम नहीं पड़ा कि यह बहुरूपिया है कि सच्चा योगी उसने उसको योगी समझकर प्रणाम किया। उसने पद्मासन लगाया, ध्यान किया और उसकी समाधि लग गई। अब राजा और सब उसको उठा रहे हैं, उठ ही नहीं रहा है। वह समाधि सुख में

विलीन हो गया। समाधि तो कहानियों, कथाओं में सैकड़ों बरस चलती है। सैकड़ों बरस बीत गए समाधि में। राजा भी मर गया, उसका बेटा भी मर गया। बहुरूपिया अपनी समाधि में बैठा रहा। उसके ऊपर मिट्टी जम गई। टीला सा बन गया। सैंकड़ों वर्षों बाद जब लोग उस टीले को खोदने लगे तब उस बहुरूपिये की समाधि टूटी। समाधि टूटते ही वह बोला— राजा ! ला मेरा पुरस्कार। अब वह राजा तो कब का चल बसा था।

मैं आपको क्या बताना चाहता हूँ? यह कि अगर योग की सिद्धि हो जाए, हठयोग की समाधि भी लग जाए; और तत्त्वज्ञान न हो तो समाधि की स्थिति में तो स्मृति नहीं है। लेकिन समाधि टूटेगी तो पूर्व-स्मृति जागेगी और वैसा ही व्यवहार होगा। समाधि तो हमलोगों को लगती नहीं; लेकिन मूर्छा होती है। बहुत बार हम, आप किसी-न-किसी कारण से मूर्छित हो जाते हैं। मूर्छा में स्मृति नहीं रहती। लेकिन जब मूर्छा टूटती है तो सारे पूर्व-संस्कार जागते हैं; और वैसा ही हम व्यवहार करते हैं। इसलिए बताना यह चाह रहा हूँ कि स्थितप्रज्ञ अगर आत्मज्ञानप्राप्त नहीं है, तत्त्वज्ञान अगर उसको नहीं हुआ है, तो समाधि की स्थिति में चाहे उसका स्वरूप में अवस्थान हो किन्तु व्युत्थान की स्थिति, व्यवहार की स्थिति में वह स्खलित हो जाएगा। उसी बहुरूपिये की तरह पुरस्कार माँगने लगेगा। गीता में जो समाधि है, यह व्यवसायात्मिका बुद्धि परमात्मा में स्थित हो जाए, तब होती है। आप लोगों को इसी दूसरे अध्याय की वह पंक्ति याद होनी चाहिए— *व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।*

तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद अविचलित रूप से जब उसमें स्थित होती है बुद्धि, तब वह व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है। मैंने आपको बताया था कि व्यवसायात्मिका बुद्धि का मतलब होता है, आरंभ से अन्त तक जो सब कुछ देख ले और दृढ़ बुद्धि हो। व्यवसायात्मिका बुद्धि का मतलब व्यापारी बुद्धि नहीं है। अध्यवसाय जिस अर्थ में होता है उस अर्थ में व्यवसाय। समाधि का कुछ लोगों ने अर्थ परमात्मा किया है। कुछ लोगों ने तत्त्वज्ञान किया है। वह समाधि जो चलते फिरते भी बनी रहे। गीता की समाधि केवल पद्मासन में बैठ कर ध्यान करने वाली समाधि नहीं है। गीता की समाधि वह स्थिति है, जब तत्त्वज्ञान-युक्त मानव-बुद्धि स्थिर हो जाए, शुद्ध हो जाए, निर्मल हो जाए और सब प्रकार के व्यवहारों में भी जो विचलित न हो, भटके नहीं, अपना आश्रय, अपना स्थान न छोड़े।

श्रीकृष्ण ने इसका वर्णन करते हुए कहा—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। (२।५५)

अद्‌भुत श्लोक है। देखिए ! *'मनोगतान्'* शब्द को रेखांकित कीजिए। कामनाएँ आत्मा में नहीं होतीं। आत्मा तो सब की शुद्ध-बुद्ध है। आत्मा तो सब की मुक्त है। कामनाएँ मन में होती हैं। आत्मा का आभास अन्तःकरण में पड़ता है तो अन्तःकरण जड़ होते हुए भी चेतनवत् व्यवहार करता है। जैसे मैंने आपको बताया था कि सूरज की किरण जब शीशे में पड़ती है तो शीशे से प्रकाश प्रतिफलित होता है। मैंने दूसरा उदाहरण दिया था कि आग में डाला हुआ लोहे का गोला दाहिका शक्ति और प्रकाश से युक्त हो जाता है और वह आग जिसका कोई आकार नहीं है, गोल हो जाती है। तो चैतन्य आत्मा का जो आभास अन्तःकरण में पड़ता है, उस आभास के कारण अन्तःकरण चेतनवत् व्यवहार करता है। जब जड़ अन्तःकरण चेतनवत् व्यवहार करता है तो उसके मन में कई प्रकार की कामनाएँ आती हैं। कामना कब होती है ? इस बात पर आप ध्यान दीजिए। कामना वृत्ति और विषय की गाँठ का नाम है। वृत्ति क्या होती है ? वृत्ति होती है हमारे मन का जो बदलता हुआ रूप है। आपको मैंने वह बताया था— *तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं वृत्तिसारूप्यमितरत्र।* जब समाधि नहीं होती तो हमलोगों में वृत्ति की सरूपता हो जाती है। हम हैं तो शुद्ध-बुद्ध आत्म-चेतन तत्त्व; लेकिन जब समाधि नहीं होती तो हम साधारण मनुष्यों के मन में यदि काम की वृत्ति आई तो हम काम से सरूप हो गए, कामी हो गए। क्रोध की वृत्ति आई, क्रोध से एकरूप हो गए, क्रोधी हो गए। लोभ की वृत्ति आई, लोभ से एकरूप हो गए, लोभी हो गए। मन की जो परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं, अपनी भावना के अनुसार, उनको कहते हैं वृत्ति। जो बदलती रहती है, वह वृत्ति है। वृत्ति है सत्त्वगुण का कार्य और विषय है—तमोगुण का कार्य। विषय आपको मालूम है कि क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा— पंच महाभूतों से बने हुए ये शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श— ये जो पाँच विषय हैं, इन विषयों के साथ हमारी वृत्ति कहीं अटक जाती है। क्यों अटक जाती है ? क्योंकि हमको वह विषय प्रीतिकर, रुचिकर लगने लगता है। उसमें सम्यक् कल्पना का आभास होता है। काम क्या है ? काम क्यों उत्पन्न होता है ? काम तब उत्पन्न होता है, जब अपने में अभाव का बोध होता है। जब हममें ये विचार आते हैं कि हमारे पास यह चीज नहीं है, यह चीज उसमें है, वह है, वह मिलेगी, तब मैं सुखी होऊँगा। जो अन्तःसुख से वंचित होकर बाहरी किसी स्थिति में, वस्तु में, व्यक्ति में सुख का आरोप करके, उसके अभाव के कारण 'मैं दुखी हूँ'— यह अनुभव करके, उसमें सब प्रकार की सम्यक्‌ता की कल्पना करके जब उसको प्राप्त करने की वृत्ति होती है, तब उस संकल्प के कारण मन में काम पैदा होता है—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।

'काम जानामि ते मूलं'— ओ काम। मैं तेरी जड़ को जानता हूँ। *'संकल्पात् किल जायसे'*— तू संकल्प से उत्पन्न होता है। संकल्प मतलब ? सम् माने सम्यक् कल्प माने कल्पना। किसी वस्तु या व्यक्ति की सम्यक्ता की जब कल्पना की तब उसे प्राप्त करने का संकल्प होता है। पैसा होना चाहिए क्योंकि पैसे के बिना तो इज्जत ही नहीं होगी। तो पैसा सम्यक् है। यह लड़की बड़ी सुन्दर है। यह लड़का बड़ा सुन्दर है। यह हमको प्राप्त होना चाहिए। यह मीठा बहुत सुस्वादु है। यह प्राप्त होना चाहिए। जिसमें आपने सम्यक्ता की कल्पना की और उस सम्यक्ता की कल्पना के द्वारा उसकी प्राप्ति से अपने में सुख के अनुभव का आभास आपको हुआ और आपने अपने सुख को उससे जोड़ दिया तो काम की गाँठ पड़ी। बराबर याद रखिए कि काम मन में तब जागता है जब वृत्ति और विषय में गाँठ पड़ती है, गुण-गुण से उलझ जाते हैं। सत्त्व गुण की वृत्ति जब तमोगुण के विषय की किसी एक स्थिति से उलझ गई, उसकी सम्यक्ता की कल्पना के कारण तब मन उसके प्रति कामासक्त हो गया। वास्तव में वह है नहीं सम्यक्। प्यास लगी हिरण को मरुस्थल में जल दिखा और उस मरुस्थल के जल को पाने के लिए उसमें सम्यक्ता की कल्पना हो गई और वह हिरण दौड़ कर वहाँ गया। वहाँ कहाँ है जल ? सुख मिलना चाहिए। सुख पैसे में है, सुख भोग में है, सुख एम.एल.ए. होने में है, एम.पी. होने में है, विद्वान् होने में है, व्याख्यान देने में है, नेता होने में है? नारायण ! सुख मुझमें नहीं है। सुख किसी और में है। उसे पाने से मैं सुखी हो जाऊँगा। उसकी सम्यक्ता की कल्पना जब हुई अपने में कंगलेपन की भावना आ गई, हीनता की भावना आ गई। यह हीनता बहुत बड़ा अपराध है। इसी के चलते आत्महंता हो जाते हैं लोग। ईशावास्योपनिषद् में इसका सुन्दर विवेचन किया गया है।

अपने को हीन मान कर किसी में सम्यक्ता की कल्पना करके उसको पाने की इच्छा—यह काम है। *'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे न त्वां संकल्पयिष्यामि'* —तुममें सम्यक् कल्पना ही नहीं करूँगा। जिसके प्रति आपका राग है, वह जो है—वह आपको नहीं दिख रहा है। राग का मतलब होता है रँगना। आपकी वृत्ति उसको रँग कर देख रही है। काम तो मूलतः कामना को कहते हैं। काम सबसे ज्यादा स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। मैंने एक बार गुरुजी से पूछा कि मन में काम आए तो क्या करना चाहिए ? गुरुजी से सुनी हुई बात सुना रहा हूँ। उन्होंने कहा—जिसके प्रति काम हो, किसी लड़की का किसी लड़के के प्रति या किसी लड़के का किसी लड़की के प्रति-

–जिसके प्रति काम हो, उसके ऊपर जो चमड़े की पतली-सी परत है, कल्पना से उसको हटा दो। तब उसको देखो। हम आप सब, एक चमड़े की पतली सी परत से ढके हुए हैं। चमड़े की इस पतली-सी परत को हटा दो। तो क्या है भीतर ? अस्थि-माँस-मज्जा-मेद, मल-मूत्र और क्या है ? जो है उसको एक पतली परत ने ढाँक रखा है। और उस पतली परत की सम्यक्ता की कल्पना हमको उधर खींच कर ले जाती है। उस परत को हटा कर उसको देखो। वेदान्त की समाधि क्या बताती है ? *'यत्र-यत्र मनोयाति तत्र-तत्र समाधयः'*— जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ समाधि होती है। क्या मतलब है समाधि का ? वेदान्त की समाधि का मतलब है कि जहाँ तुमको सम्यक्ता की कल्पना का आभास हो रहा है, उसके नाम रूप को बाद कर दो और उसके सत्-चित्-आनन्द स्वरूप में ब्रह्म को प्रत्यक्ष करो। तब समाधि होगी। नाम और रूप यही तो मिथ्या है। नाम और रूप का बाध कर देने के बाद हर एक में ब्रह्म है। उस नाम और रूप का बाध कर देने के बाद उसको सच्चिदानन्द स्वरूप मानकर उसको लोगे तब उसमें वास्तविक जल मिलेगा, ब्रह्म मिलेगा और अगर केवल नाम-रूप में अटकोगे तो मृग-जल मिलेगा।

जहाँ-जहाँ मन गया—उसमें अगर सम्यक्ता की कल्पना हुई तो उसको ध्यान से देखो। उसके नाम को, उसके रूप को बाधित कर दो। कहो कि यह झूठा है। और उसके भीतर रहने वाला जो सत् अस्तित्व है, वह है चैतन्य, वही सुख दे रहा है। सच्चिदानन्द स्वरूप तो ब्रह्म का नाम है। तो यह पहली बात देखिए—

'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्'— मनोगतान् को पहले रेखांकित किया था। 'सर्वान्'— सब प्रकार की कामनाओं को, किसी को भी अपने से बाहर किसी भी वस्तु में, विषय में सुख की सम्यक्ता की कल्पना होगी तो वह आदमी बँधेगा।

सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति — स्थितप्रज्ञ सब मनोगत कामनाओं को छोड़ देता है। बाहर सुख की कल्पना ही दुखदायी है। गीता स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताती है, कहती है कि बुद्धि स्थिर तभी होगी जब अपने से बाहर किसी कामना की पूर्ति में सुख का भ्रम दूर हो जाएगा। और यह तभी दूर होगा जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त होगा। इसीलिए कहा कि बिना ब्रह्मविद्या प्राप्त किये कोई स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् — यह है उसका पूर्व पक्ष। कामनाओं का त्याग—यह निषेधक पक्ष है। और आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते— यह उसका विधायक पक्ष है। ना-ना-ना-ना करके और हाँ-हाँ-हाँ-हाँ करके— दोनों प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक दोनों प्रकार से वस्तु का निरूपण किया जाता है। व्यतिरेक पहले किया कि मन की कामनाओं का त्याग कर देने के बाद *'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'*

के द्वारा अन्वय के द्वारा स्थितप्रज्ञ की विशेषता समझा रहे हैं श्रीकृष्ण। गीता में चार प्रकार के सुख बताए गये हैं। एक तामसी सुख है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।। (१८।३९)

जो सुख आरंभ में और अन्त में भी बुद्धि को मोहित करता है वह तामसी सुख है। आरंभ में भी, बाद में भी वह कहता है मौज करो, सोओ। कहता है काम मत करो, आलस में पड़े रहो, आज का कार्य कल करो, परसों करो, छोड़ो। एक राजसी सुख है। विषय और इन्द्रियों के संयोग से मिलता है। जो आरंभ में अमृत जैसा लगता है बाद में विष जैसा लगता है। यह 'आह' के ऊपर लगा हुआ 'च' है— 'चाह' । एक सात्त्विक सुख है। जो प्रकाश देता है। मैं बोल रहा हूँ। आप लोग सुन रहे हैं। यह क्या है ? क्या मिल रहा है ? बोध मिल रहा है, अज्ञान दूर हो रहा है। यह सात्त्विक सुख है। जिससे दुःख का अन्त होता है, जो पहले विष जैसा लगता है और बाद में अमृत जैसा होता है, जो अपनी बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख है। अगर वृत्ति और विषय की गाँठ पड़ जाए तो कामना उत्पन्न होती है। यदि आत्मा में जड़ विषयों की कामना की गाँठ पड़े तो क्या होता है ? यही तो अज्ञान है। आत्मा में तो कोई गाँठ पड़ ही नहीं सकती। आत्मा में जो कामना की गाँठ की बात सोचता है वह अज्ञानी है। तुलसी बाबा ने कहा है—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

जड़ और चेतन में गाँठ सी पड़ गयी है। यद्यपि यह मिथ्या है फिर भी इसे खोल पाना बहुत कठिन है, यही तो अज्ञान है। आत्मा में कोई गाँठ-वाँठ नहीं पड़ती। यह बात जैसे बुद्धि से समझ में आई वैसे ही एक प्रकार का उदात्त सुख मिला, वह सात्त्विक सुख है। लेकिन वह भी बाँधता है। वह सुख की आसक्ति से बाँधता है। सोने की हथकड़ी भी हथकड़ी है। रेशमी फन्दा भी फन्दा ही है। उसके भी ऊपर वह सुख है जो आत्म सुख है, अपने में सुख है। गीता में कहा गया है कि बाहरी विषयों के संस्पर्श से अनासक्त चित्त ब्रह्म में संलग्न योगी आत्मा में ही जो सुख पाते है वही अक्षय सुख है। ऐसा अक्षय सुख कोई ब्रह्मज्ञान के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। यह सहज सुख है। कामनाओं से ग्रस्त होने पर जीव इस सुख को भूलकर झूठे सुख के पीछे डोलता फिरता है। *निसिदिन भ्रमति बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो* — ब्रह्मज्ञान का सुख सहज है। हमारा आपका सुख उधार पड़ा हुआ है। किसी का सुख कपड़े में है, किसी का मिठाई में, किसी का रुपए में, बैंक में, लॉकर में बन्द है। किसी का सुख दर्जी

के यहाँ है, किस फैशन का कपड़ा होना चाहिए। इसी में अच्छा है। हमारा आपका सुख उधार है, बंधक है। सहज नहीं है, कठिन है। आत्मा का सुख—*आत्मन्येवात्मना तुष्टः* —अपने में आत्म-संतुष्ट, सहज-सुख वह स्थितप्रज्ञ का सुख है। उसकी बुद्धि भटकती क्यों नहीं ? क्यों भटके ? भटकता कौन है? सूरदास की पंक्ति है—

तबहीं ते न भयो हरि थिर, जब तें जिव नाम धर्‌यो।

मैं विनोद में कहता हूँ—

'तबहीं ते न भयो हरि थिर, जब तें एम.पी. नाम धर्‌यो'।
नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यो।

यानी—क्यों नाच रहा हूँ ? कोई क्यों नाचता है ? क्यों स्थिर नहीं है ? क्योंकि वह कुछ पाना चाहता है जो उसके बाहर है। उसको पाने के लिए वह नाच रहा है—नाच रहा है। और जिसको सब कुछ अपने भीतर मिल गया है, जिसे बाहर का पाना कुछ नहीं है, वह स्थितप्रज्ञ है।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते— यह स्थितप्रज्ञ का परिपूर्ण लक्षण है। मन में किसी भी प्रकार की कामना का अभाव। सब प्रकार की कामनाओं का परित्याग। अपने आपे से सन्तुष्ट, इन्द्रियों से नहीं— कि आँख से किसी का रूप देखेंगे तो सुखी होंगे। कान से किसी का गाना सुनेंगे तो सुखी होंगे। नहीं— करणों से, इन्द्रियों से मिलने वाले सुख से नहीं। *आत्मन्येवात्मना तुष्टः* — अपने आप से सुखी। जो ऐसा है उसकी बुद्धि स्थित है। किसमें स्थित है ? परमात्मा में स्थित है। उसको कुछ पाना नहीं है, अतः उसकी बुद्धि भटकती नहीं। परमात्मा में स्थित है, विश्राम कर रही है। स्थितप्रज्ञ है। यह परिपूर्ण लक्षण है। यह सिद्ध का लक्षण है। श्रीकृष्ण भगवान ने सोचा कि सभी तो सिद्ध नहीं है। तो साधकों के लक्षण भी उन्होंने बताए। अब देखिए—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (२।५६)

पहली स्थिति में जो समाधिस्थ है— उसको तो दुःख-सुख का अनुभव ही नहीं होता। उसके लिए दुःख दुःख नहीं है। उसके लिए सुख सुख नहीं है। सुख-दुःख केवल आवागमन करने वाली प्रकृति के प्रवाह में आने-जाने वाले हैं। दुःख क्या होता है ? दुःख क्या चीज है ? उसको दुःख और सुख का बोध ही नहीं है, क्योंकि वह है *आत्मन्येवात्मना तुष्टः*। अब जो साधक, जो स्थितप्रज्ञता की साधना कर रहा है उस साधक के लिए बताया जा रहा है। दुःखेषु—बहुवचन है। सब प्रकार के दुःखों में। यह नहीं कि बटुआ चला गया। उसमें पाँच सौ रुपए थे। चाभी और बटुआ चला गया तो उसको झेल लेंगे।

नहीं—सब प्रकार के दुःख। बड़े से बड़ा दुःख। कोई दुःख बाकी नहीं। *दुःखेषुअनुद्विग्नमनाः* —दुःखों में, सब प्रकार के दुःखों में जिसका मन विचलित नहीं होता। *सुखेषु विगतस्पृहः* —सुखों में जिसको और सुख पाने की लालसा ही नहीं है। उसको दुःख और सुख का आभास होता है। वह समझता है कि यह दुःख आया। वह समझता है कि यह सुख आया। लेकिन दुःख और सुख के आने पर भी वह समझता है कि यह ऐसा मेहमान है, जिसको कहो, रहो तो चला जाएगा; और कहो जाओ तो रह जाएगा। इसलिए दुःख आता है तो कहता है, रहो-रहो तो वह चला जाता है। सुख आता है तो कहता है जाओ-जाओ तो रहता है। ये ऐसे मेहमान हैं, जिनको रहने के लिए कहो तो जाएँगे और जाने के लिए कहो तो रहेंगे। किन्तु हमारे गुरुजी तो कहते थे—

सुख सपना दुख बुदबुदा, दोनों हैं मेहमान।
सबका आदर कीजिए, जो भेजे भगवान।।

ये आने-जाने वाले हैं। जो आने-जाने वाला है उससे क्या उद्विग्न होना ? उसकी क्या लालसा करना ? वह जाने ही वाला है। रो-रोकर सिर पटक-पटक कर मरोगे तो भी सुख जाने ही वाला है। नहीं रहेगा। अतः थोड़े दिन रहने वाले, भगवान के भेजे हुए मेहमान का चाहे वह सुख हो या दुःख उसका आदर कीजिये। उससे न तो उल्लसित होइये, न कातर ! दोनों को प्रेमपूर्वक सह लीजिये।

वीतरागभयक्रोधः —इस पर ध्यान दीजिए। राग का अर्थ होता है आसक्ति। यह बना रहे। जो प्राप्त है उसके प्रति भी राग होता है, जो अप्राप्त है उसके प्रति भी राग होता है। इच्छा होती है कि जो प्राप्त है, वह बना रहे; और जो अप्राप्त है वह प्राप्त हो जाए। तो प्राप्त और अप्राप्त दोनों के प्रति राग है। एक बना रहे। एक मिल जाए। अपनी कुछ कमी का अनुभव करने के कारण ही राग होता है। आसक्ति होती है। सबसे मिलो जुलो। लेकिन किसी के प्रति आसक्ति हो जाए तो तुम बँधोगे। राग मतलब रंजित करना। रंग देना। तुम्हारी दृष्टि स्वच्छ नहीं होगी। हमलोग जब कहते हैं निर्मल जल तो निर्मल जल का क्या मतलब होता है ? जो लोग जल में अच्छा समझकर लाल गुलाब का शरबत मिला देते हैं तो वह जल निर्मल तो नहीं रह गया है। चाहे चीनी हो, चाहे नमक हो उसे जल में डालने पर वह जल निर्मल नहीं रहता। प्यास उससे नहीं बुझेगी। निर्मल जल जिसमें कोई मिश्रण न हो, जिसमें कोई रंग न हो। निर्मल बुद्धि—जिसमें किसी प्रकार का राग न हो। राग माने रंग। रंजन करना। उसको अच्छा मानना। उसको अपने साथ चिपकाए रखने की इच्छा रखना।

इसके लिए भय होगा। क्रोध माने द्वेष। एक बात और समझिये। रामानुजाचार्य

ने कहा कि राग और भय से क्रोध ज्यादा भयंकर है। *'वीतरागभयक्रोधः'*— राग और भय तो केवल अपने तक ही सीमित है। रंजन है तो मेरे मन में है। भय है तो मुझको हो रहा है। क्रोध दूसरे के प्रति होता है। जिसके प्रति क्रोध होता है उसकी हिंसा करते हैं 'क्रुद्धजिघांसायाम्' जिसके ऊपर क्रोध होता है उस पर प्रहार होता है, हाथ चल जाता है। वाणी तो चलती ही रहती है। तो दूसरे के प्रति होने के कारण क्रोध और भयंकर है। इसलिए— *वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।*

उसकी बुद्धि स्थिर है जो किसी के प्रति आसक्ति नहीं करता, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता और जो मुनि होता है। मुनि माने ? मननशील होता है। जो मौन धारण करता है। मुनिः — मननशील, मौन होकर विचार करने वाला। उड़िया बाबा ने कहा कि देखो भाई शरीर की शान्ति आसन में है। शरीर शान्त है। बहुत से लोग आपको दिखते होंगे कि हमेशा पाँव हिलाते रहते हैं। शरीर की शान्ति आसन में है। स्थिर आसन होना चाहिए। एकासन पर बैठे हैं। वाणी की शान्ति मौन में है। मन की शान्ति ध्यान में है; और बुद्धि की शान्ति ज्ञान में है। अगर आप शरीर को स्थिर रखना चाहते हैं तो आप आसन सिद्ध कीजिए। वाणी को अगर आप पवित्र करना चाहते हैं तो मौन साधिये। मौन केवल शारीरिक तप नहीं है। वाणी से चुप होना तो बचपना है। जो लोग वाणी से चुप रहकर मन में गाली दिए जा रहे हैं? नारायण! वे लोग मौन नहीं हैं। वाणी से चुप हैं तो बच्चे हैं : *गिरा मौनं तु बालानाम्।* मौन तो मन में होना चाहिए। मन शान्त होना चाहिए।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (१७/१६)

मौन वाणी का तप नहीं है। मौन मन का तप है। *स्थितधीर्मुनिरुच्यते*— मन शान्त होना चाहिए। मुनि होना चाहिए, मननशील होना चाहिए। तब उसकी बुद्धि स्थिर है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२।५७)

'प्रतिष्ठिता' शब्द में दो ध्वनियाँ हैं। एक तो स्थिर है, प्रतिष्ठित है। और एक ध्वनि है प्रतिष्ठा-प्राप्त है। कहते नहीं हैं कि बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। प्रतिष्ठित माने जिसको सम्मान प्राप्त है। किसको सम्मान प्राप्त होता है? जो हरदम भटकता रहता है? जो अगड़म-बगड़म बोलता रहता है? जो गलत-सलत काम करता रहता है? उसको प्रतिष्ठा प्राप्त होगी? कि जिसका निर्णय ठीक होता है, बुद्धि शुद्ध होती है और

जो शुद्ध-बुद्धि से किया गया निर्णय है, उस पर स्थिर रहता है। 'प्रतिष्ठिता' —इसमें दो व्यंजनाएँ हैं। एक तो उसकी प्रज्ञा, उसकी बुद्धि स्थिर है और उसकी बुद्धि दूसरों के द्वारा सम्मान्य मानी जाती है। यह कब होगा? *'सर्वत्र अनभिस्नेहः'* सबके प्रति स्नेह हो। इसलिए सबको प्यार करने का मतलब है किसी के प्रति आसक्ति न करना। भगवान गीता में स्नेह करने से मना नहीं करते। अभिस्नेह करने से मना कर रहे हैं। आसक्ति मत करो, सबका भला चाहो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।

सब सुखी हों, सब निरामय हों। सबका भला हो। लेकिन किसी एक का भला हो और सबका बुरा हो— यह अभिस्नेह है। यह आसक्ति है। और सब जहन्नुम में जाएँ लेकिन मेरा बेटा तो करोड़पति बन जाए। यह अभिस्नेह है। अभिस्नेह नहीं होना चाहिए। सबके प्रति स्नेह, सबके भले की कामना, अभिस्नेह किसी के प्रति नहीं। और शुभ हो या अशुभ हो— दोनों में समान। बहुत कठिन बात है यह। शुभ होता है तो मन फूल कर कुप्पा होता है। अशुभ होता है तो मन सूख कर छुहारा होता है। आँखों से आँसू बहने लगते हैं। लेकिन सन्त वही है जो दोनों को सहे। हमारे गुरुजी ने एक बार एक बात कही हमसे। आपलोगों को शायद मालूम नहीं हो, उनके गुरुजी थे उड़िया बाबा। उड़िया बाबा की हत्या हो गई। एक पागल था। वह नाराज हुआ। उसने लाठी मारी, सिर फट गया, उड़िया बाबा मर गए। हमारे गुरुजी उस समय अमृतसर में थे। और उनको जब पता लगा कि गुरुजी की, उड़िया बाबा की हत्या हो गई तो व्याकुल हो गए, व्यथित हो गये। जाने का कोई साधन नहीं मिल रहा था। गुरुजी ने हमको कहा कि उस समय हमारे मन में एक पंक्ति स्फुरित हुई। गुरुवाणी, नानक जी की वाणी—

उस तें होय नहीं कछु बुरा, औरै कहौ किनै कछु करा।

संत की वाणी है। उससे तो कुछ बुरा हो ही नहीं सकता। *'सदेवो यदेव कुरुते, तदेव मंगलाय'* —वह परमात्मा तो जो करता है, मंगल के लिए करता है। और बताओ ! करनेवाला दूसरा कौन है ? अगर उसी ने किया है तो इसमें भी उसका कोई उद्देश्य होगा। और मेरे गुरुजी ने बताया मुझको कि इस पंक्ति को दुहराते हुए मेरे मन में शांति आ गई। *'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्'*—शुभ और अशुभ दोनों मिलने से उसकी शांति नष्ट नहीं होती।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि— शुभ आया तो उसका अभिनन्दन नहीं करता, अशुभ आया तो उससे द्वेष नहीं करता। देखता है। इस बात को समझिये ! आभास अन्तःकरण को चेतन कर रहा है। लेकिन साक्षी केवल देख रहा है। हम साक्षी की

भूमिका में आएँ। आभास अन्तःकरण में जो बुलबुले उठा रहा है, उन बुलबुलों को देखें, उनसे जुड़ न जाएँ। सुख का भी बुलबुला है, दुःख का भी बुलबुला ही है। सुख भी जाने वाला है। दुःख भी जाने ही वाला है। उनको हम साक्षी की तरह देखें उनसे चिपक न जाएँ, न उनका अभिनन्दन करें, न उनसे द्वेष करें। तब हमारी बुद्धि, प्रकृष्ट ज्ञान करने में समर्थ बुद्धि प्रतिष्ठित होगी।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२।५८)

यह क्रम बता रहे हैं कैसे काम करना चाहिए ? यह हमारे-आपके लिए है। उन साधकों के लिए है जो कमजोर आदमी हैं, जो साधना शुरू कर रहे हैं, क ख ग घ पढ़ रहे हैं, उनके लिए यह श्लोक है। *'इन्द्रियार्थ'* किसको कहते हैं ?

इन्द्रियैः अर्थ्यते इति इन्द्रियार्थः— इन्द्रियाँ जिसको चाहती हैं उसको कहते हैं इन्द्रियार्थ। पुरुषार्थ किसको कहते हैं ? *पुरुषैः अर्थ्यते इति* — मनुष्य जिसको चाहता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष— ये पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ का आजकल मतलब हो गया है परिश्रम, मेहनत। हिन्दी में आ गया है यह अर्थ। यह मूल अर्थ नहीं है। इन्द्रियाँ किसको चाहती हैं ? बराबर याद रखिये। इन्द्रियाँ अपने विषयों को चाहेंगी। आँख सुन्दर रूप देखना ही चाहेगी। कान सुन्दर शब्द सुनना ही चाहेंगे। नाक सुगन्ध लेना चाहेगी, रसना सुस्वादु भोजन चाहेगी। त्वचा कोमल प्रिय स्पर्श चाहेगी। और इनके पीछे जो है— इन्द्रियाँ उनको नहीं देखतीं। चारे के पीछे कँटिया है— मछली देखती है ? नहीं देखती है। कँटिया में लगा हुआ चारा वह गपकती है, वंशी से खींच ली जाती है, मरती है। रूप के पीछे ज्वाला है, पतिंगा नहीं देखता। लड़के-लड़कियाँ इसी तरह से नष्ट होते हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों के पीछे जाएँगी ही। उन विषयों के पीछे दुःख की परम्परा है यह नहीं देखेंगी इन्द्रियाँ। रसना तो सुस्वादु भोजन ही करना चाहेगी। जितनी सर्दी हो, आइसक्रीम खाना चाहेगी। जितना पेट खराब हो, बादाम का शीरा अगर मिले तो चबा लो। डायबिटीज है तो अच्छा ! एक रसगुल्ला खाने में कोई दोष नहीं है। इन्द्रियाँ केवल विषयों के प्रति जाएँगी। कल्याण की ओर नहीं जाएँगी।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

कछुए का उदाहरण दिया है। कछुए की होती हैं चार टाँगें। एक सिर और एक पूँछ। कुल छह। लेकिन जब उस पर हमला होता है तो कछुआ अपने में दुबक जाता है भीतर। भगवान कहते हैं जहाँ खतरा हो, जहाँ इन्द्रियों के आकर्षण के विषय हों वहाँ अपने भीतर आओ। हमारे भी छह इन्द्रियाँ हैं। पाँच इन्द्रियाँ और एक मन। तो हम भी

उनको अपने भीतर खींचें। खतरा है। सावधान ! सावधान ! सावधान ! देखने में कोई दोष नहीं है—देख लें। जब देख लें तो अच्छा—पास रहने में भी कोई दोष नहीं है। पास बैठें। बात करने में तो कोई दोष है ही नहीं। अच्छा ! छू लेने में, स्पर्श करने में ! नारायण ! फिर किसमें दोष है मालूम नहीं। फिर क्या होता है, नहीं मालूम। खतरा है खतरा। जहाँ खतरा दिखे वहाँ कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को समेटो। इसको कहते हैं प्रत्याहार। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार। प्रत्याहार का मतलब—विषयों से इन्द्रियों को वापस बुला लेने की क्षमता। जैसे गाय के गले में डोरी है। वह भागती है तो क्या करते हैं। खींचते हैं कि नहीं। आजकल लोग गाय को घुमाने नहीं ले जाते। कुत्ते को घुमाने ले जाते हैं। कुत्ते के गले में पट्टा रहता है और कुत्ता जब जोर से भागता है तो उसको खींचते हैं। खींचते हैं कि नहीं? वही प्रत्याहार है, मन रूपी कुत्ते के गले में संयम का पट्टा बाँधो और जहाँ खतरा है, जीभ का खतरा, आँख का खतरा, कान का खतरा, त्वचा का खतरा— वहाँ उसे भीतर खींचो।

उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है जो कूर्म की तरह व्यवहार करे। कूर्म माने आधार, संयम। समुद्र मंथन कैसे हुआ ? भगवान को कूर्म रूप धारण करके जाना पड़ा। उनकी पीठ पर मंदराचल रखा गया—तब समुद्र मथा गया। कूर्म अर्थात् संयम का आधार। उस कूर्म की तरह हमें अपनी इन्द्रियों को खतरे के स्थानों में भीतर खींचने में समर्थ होना चाहिए। अगर हमने खतरे के स्थान पर अपनी इन्द्रियों को बेरोक-टोक छोड़ दिया तो नारायण ! इन्द्रियाँ खींच कर ले जाएँगी। इसलिए उदाहरण दिया कि कछुए की तरह अपनी सारी इन्द्रियों को मन के साथ शुद्ध बुद्धि खतरे के स्थान पर भीतर खींच लेती है। संयम पर दृढ़ रहकर जो अपनी इन्द्रियों पर शासन करता है, वह स्थितप्रज्ञ हो सकता है। हो गया है—ऐसा नहीं। हो सकता है। और देखिए ! इसमें एक बहुत सूक्ष्म बात बताई गई है। कई बार हम जोर-जबरदस्ती करते हैं। इन्द्रियों के ऊपर जोर-जबरदस्ती की जा सकती है, की जानी चाहिए। लेकिन जोर-जबरदस्ती ही काफी नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (२।५९)

इन्द्रियों के गले में संयम का पट्टा बाँधकर खतरे के स्थान पर खींचा। खींच लिया। किसको खींचा ? इन्द्रियों को खींचा। किससे खींचा ? आहार से खींचा। आहार का मतलब ? आहार का मतलब भोजन होता है। लेकिन यह आहार का संकुचित अर्थ है।

'*आसमन्तात्हियन्ते*'— चारों तरफ से जो भीतर लाया जाता है उसका नाम है

आहार। चूँकि हम भोजन को मुँह के माध्यम से भीतर ले जाते हैं। इसलिए इसको स्थूल रूप से आहार कहते हैं। लेकिन आँखों से जो देखकर भीतर ला रहे हैं। रूप आँखों का आहार है। गंध नासिका का आहार है। शब्द कानों का आहार है। स्पर्श त्वचा का आहार है। भोज्य सामग्री रसना का आहार है। तो अगर हमने निराहार रखा, इन्द्रियों के विषयों की ओर इन्द्रियों को नहीं जाने दिया, जबरदस्ती रोक लिया तो रुक जाएँगी, खिंच आएँगी। आपका पट्टा मजबूत है। आपने खींचा, वे खिंच आएँगी, क्या खिंच कर आया ? इन्द्रियाँ खिंच कर आईं। और इन्द्रियों के मन में जो विषयों के प्रति आसक्ति है, वह खिंची ? नहीं खिंची।

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'— अगर हमने इन्द्रियों को उनके आहार से वंचित रखा, जबरदस्ती रोक लिया तो आहार तो उन्होंने प्राप्त नहीं किया लेकिन अपनी छाती पर हाथ रखकर बोलो जिस दिन निर्जला एकादशी होती है उस दिन मन में क्या आता है ? कि पारण में क्या-क्या खाएँगे ? सच बोलो। जब लोग जबरदस्ती मौन रखते हैं तो मन में बोलते ही रहते हैं। नारायण ! क्या-क्या बोलते रहते हैं भगवान जाने। लड़के जब हॉस्टल में रहते हैं तो बड़े कड़े कायदे-कानून में और घर में आते ही? धमाचौकड़ी मचाते हैं ? क्योंकि उससे रस नहीं गया है। उन विषयों में सुख की प्रतीति नहीं गई है। हमने बलपूर्वक इन्द्रियों को रोक दिया। निराहार होने से विषय से तो वे वंचित हैं लेकिन भीतर-भीतर लालायित हैं उस रस को प्राप्त करने के लिए; और यह जो बलपूर्वक प्रयोग किया गया है यह धोखा है, इसमें बड़ा खतरा है। किसी समय विस्फोट हो जाएगा। रस जाना चाहिए। रस कैसे जाएगा ?

'परं दृष्ट्वा निवर्तते'— यही है असली बात। ब्रह्मज्ञान के बिना कोई स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। परं—परमात्मा—परमेश्वर। जब तक परमेश्वर का अनुभव नहीं हो गया, साक्षात्कार नहीं हो गया परम सत्य का, जब तक यह समझ में नहीं आ गया कि सुख अपने भीतर ही है परम सुख, तब तक बाहर इन्द्रियों के विषयों में रस बना रहेगा। आप बलपूर्वक उनको रोकेंगे, ठीक है कुछ समय तक इन्द्रियाँ रुकी रहेंगी। जहाँ आपका बल कमजोर होगा वहाँ वे हावी हो जायेंगी। बाढ़ का पानी कैसे आता है ? बाँध को तोड़ कर आता है। बाँध टूटता है कि नहीं ? बाँध की एक ताकत है, कि इतना पानी वह रोक सकता है। उससे ज्यादा पानी आ जाए तो बाँध टूटता है और जब बाँध टूटता है तो सैकड़ों गाँव बह जाते हैं। इसी तरह से हमने अपनी इन्द्रियों को निराहार रखा, हमने अपनी इन्द्रियों को विषयों से वंचित किया। यहीं फ्रायड आता है। फ्रायड कहता है कि वंचित करने वाले 'सप्रेशन' (Supression) करते हैं तो वे

बीमार हो जाते हैं। श्री अरविन्द घोष ने कहा है कि फ्रायड जीवन में शौचागार से घुसता है। वह केवल काम की बातें करता है। काम के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है जीवन में। काम की महिमा को हमने अस्वीकार नहीं किया है। *'सः एकाकी न रमते, सोऽकामयत्'।* भगवान भी कामना करते हैं। काम है। काम सृष्टि का मूल है। काम का अगर बलपूर्वक नियंत्रण किया गया है तब तो उससे हानि हो सकती है। तब तो उसका बाँध टूट सकता है। फ्रायड यहाँ रुक जाता है। अध्यात्म आगे जाता है। अध्यात्म कहता है बलपूर्वक रोकना इन्द्रियाँ को निराहार रखना है। रस को नष्ट कर दो। जब विषयों के प्रति रस नहीं रहेगा तो कोई 'डिप्रेशन' नहीं होगा। तब कोई न्यूरोसिस नहीं होगी। सीजोफ्रेनिया नहीं होगा। सारा फ्रायड बेकार। फ्रायड का काम, फ्रायड का शास्त्र *'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्जं.... '*—यहाँ तक सही है। जब तक रस है और बलपूर्वक रोका गया है तब तक उसकी विकृतियाँ, उसकी प्रतिक्रिया संभव है। इसलिए गीता कहती है— केवल निराहार मत रखो, उसकी जड़ जो है, विषयासक्ति का रस, उस रस को उच्छिन्न कर दो। और रस *'परं दृष्ट्वा निवर्तते'* —विषयों का रस व्याख्यान से नहीं जाता, विषय-रस तोता-रटन्त से नहीं जाता, विषय-रस तो भगवान की कृपा से, भगवान के साक्षात्कार से जाता है। जिन्होंने प्रभु का साक्षात्कार किया, उन्होंने विषय रस को जीत लिया।

'सर्वं जितं जिते रसे'— रस को जीत लेने पर आपने सारी दुनिया को जीत लिया। विषयों के रस को जीत लेने वाला सारी सृष्टि को जीत लेता है। और वहाँ फ्रायड बेकार है। काम की ग्रंथि कहाँ तक काम करती है? जब तक आप उसको निराहार रख कर के भीतर उसका रस लेना चाहते हैं। यह तो बेईमानी है। गीता आगे बता रही है कि यह कामाचार है। यह एक प्रकार की बेईमानी है। गीता बेईमानी नहीं सिखाती । नहीं-नहीं। रस ही नहीं रहना चाहिए। *'रसोवै सः'*— हमारा रस तो केवल परमात्मा है। परमात्मा के साथ जुड़ेंगे। और सारी बातें हमारे लिए नीरस हैं। *'परं दृष्ट्वा निवर्तते'*— परमात्मा का साक्षात्कार करने पर ही उस विषय रस को हम दूर कर सकते हैं, विषय रस को जीत सकते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। (२।६०)

यह फिर हमारे आपके लिए चेतावनी है। अहंकार नहीं आना चाहिए। अहंकार नहीं करना चाहिए कि मैंने इन्द्रियों को जीत लिया है। ज्ञानी व्यक्ति परिश्रम कर रहा है। इन्द्रियों को नियंत्रित करने की चेष्टा कर रहा है। उसकी पूरी चेष्टा करते रहने के

बावजूद *'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'* बलवान इन्द्रियों का समूह दुर्बल क्षणों में ज्ञानी को भी खींच कर ले जाएगा। केवल अपनी शक्ति से इन्द्रियों को मैंने जीत लिया—यह अहंकार नहीं होना चाहिए। अहंकारी का सिर नीचा हो जाता है। अद्‌भुत बात है। अतः बड़े का सहारा लीजिए।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२।६१)

संतों ने, आचार्यों ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के द्वितीय अध्याय को पूरी गीता का बीज अध्याय कहा है। द्वितीय अध्याय गीता के सम्पूर्ण शास्त्र का बीज तत्त्व है। द्वितीय अध्याय में जो कुछ कहा गया है—उसी को अन्य अध्यायों में पल्लवित किया गया है। देखिए ! स्थितप्रज्ञ कौन हो सकता है ? जो अध्यात्म-ज्ञान युक्त हो। इसी में आत्मा का निरूपण है। सारी बात अध्यात्म ज्ञान की, ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठित है। कौन हो सकता है स्थितप्रज्ञ—जो कर्मयोगी है। कर्मसूत्र, कर्मयोग की चतुस्सूत्री इसमें है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

ज्ञान और कर्म—दोनों का विशद विवेचन है। भक्ति और ध्यान योग का बीज रूप से विवेचन अब कर रहे हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

इन्द्रियों को तो वश में करो, उनका संयमन करो, उनका नियमन करो— केवल तुम्हारे बूते की बात नहीं है यह, अतः 'मत्परः' —मेरा आश्रय लो। मेरे परायण हो। लेकिन कब आश्रय लो? अपनी तरफ से पूरी चेष्टा करने के बाद लो। भगवान क्या कहते हैं? वेद भगवान की आज्ञा है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जनः इन्द्र इच्चरतः सखा ।। चरैवेति चरैवेति।

महती श्री की प्राप्ति करो। तो भगवान की श्री से बढ़कर और क्या है महती श्री? आश्रान्त माने ? बिलकुल थक कर चूर-चूर हुए बिना। अनाश्रान्त माने जो थक कर चूर नहीं हुआ है। नानाश्रान्त माने एकदम चूर-चूर हो गया है। दो नकार हैं। दोनों नकार अपने को काट देते हैं। आश्रान्त जहाँ का तहाँ। *'नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति'*—तुम श्री प्राप्त करना चाहते हो ! कैसी भी श्री प्राप्त करो। दुनिया का धन—विद्या, शक्ति, ब्रह्मज्ञान, परमार्थ की श्री ? बिना आश्रान्त हुए, थक कर चूर-चूर हो गए बिना, श्री की

प्राप्ति नहीं होती। *'इति रोहित शुश्रुम'* —हे रोहित! हमने पूर्वजों से ऐसा सुना है। *'पापोनृषद्वरो जनः'* —वह पापी है व्यक्ति जो अपने परिवार के आश्रय में छिपा रहता है। वेद भगवान निकम्मों का समर्थन नहीं करते। गीता भगवती माता है। निकम्मों का समर्थन नहीं करती। केवल अपने परिवार में, मां के आँचल में छिपा हुआ है। छिः ! वह पापी है। आओ संसार में, करो परिश्रम। चूर-चूर हो जाओ। उद्योग करो।

'इन्द्र इच्चरतः सखा'—भगवान चलने वालों के सखा हैं। बैठने वालों के नहीं। इन्द्र—भगवान के रूप में इन्द्र की बात है। चरतः—परिश्रम करने वालों के सखा हैं। कब भगवान की शक्ति उतरेगी ? जब तुम्हारी शक्ति समाप्त हो जाएगी। जब तक तुमने अपनी पूरी शक्ति का उपयोग नहीं किया, जब तक तुम्हारी शक्ति समाप्त नहीं हो जाती तब तक प्रभु की शक्ति नहीं उतरेगी। 'हारे को हरिनाम'। तुम थक कर हार जाओ, तब भगवान की शक्ति आएगी। परिश्रम करने के बाद तुम भगवान से सहारा माँगने के अधिकारी हो। मत्परः — मेरे परायण होओ, मुझको सबसे बड़ा मानो, मेरे आश्रय में आओ। मेरी शरण में आओ। मैं तुमको शक्ति दूँगा जिससे तुम इन्द्रियों को जीत सकोगे। युक्तः —योगयुक्त बनो। युक्त में ध्यानयोग का, पातंजलयोग का बीज है। मत्परः —भक्तियोग का बीज है। दूसरे अध्याय में इस श्लोक में भक्तियोग, ध्यानयोग दोनों का बीज है। बार-बार युक्त शब्द का प्रयोग है गीता में—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। (६।१७)

आहार विहार युक्त होना चाहिए। चेष्टाएँ युक्त होनी चाहिए। निद्रा युक्त होनी चाहिए। जागरण युक्त होना चाहिए। यह प्रसंग योग से भी जुड़ा है और युक्तियुक्त से भी और अन्तिम शरण परमात्मा की होनी चाहिए। *मत्परः* जहाँ हम हार जाते हैं वहाँ भगवान के चरणों का आश्रय लेते हैं। तुम सब कुछ हो, तुम्हारी कृपा के बिना कुछ नहीं। तो यह एक बड़ी लड़ाई है, भीतरी संघर्ष की।

रात्रिदिवस आम्हां। युद्धां च प्रसंग बहिरन्तर जग आणि मन। —मैंने इसका अनुवाद किया है। *'युद्धरत मैं रात-दिन, बहिरन्तर जग और मन।'* बाहर भीतर संसार भरा हुआ है। आँख से, कान से, नाक से। जो-सो भरा हुआ है। भीतर क्या-क्या भरा है नारायण! भगवान जाने। आँख बन्द करो और भीतर दृश्य देखते रहो। बाहर भी संसार, भीतर भी संसार। और अकेला मेरा मन है। उससे जूझ रहा है, युद्ध कर रहा है। उस युद्ध में भगवान सहारा देते हैं। भगवान से माँगो। माँगो सहारा, वे सहारा देंगे।

इन्द्रियों को वश में करना कितना कठिन है। सावधानी बता रहे हैं। लेकिन कोई

उपाय नहीं। कठिन काम है तो हमलोग भी तो रामजी के भक्त हैं, रामजी के सेवक हैं। कितना भी कठिन काम क्यों न हो, रामजी के सेवक के लिए कोई भी काम कठिन नहीं है। हम उनका सहारा लेकर कठिन-से-कठिन काम करेंगे। इन्द्रिय-जय के बिना बुद्धि स्थिर नहीं होगी। अगर इन्द्रिय-जय न हो?

अगले दो श्लोक पतन के रास्ते का मानचित्र उपस्थित कर रहे हैं। पतन की सीढ़ियाँ बताते हैं। हम सब अपनी परीक्षा कर सकते हैं। पतन की किस भूमिका पर हम हैं— इसे जाँच सकते हैं। गिरते समय समझ कर गिरना रोक सकते हैं। याद रखें — गीता पतन का सूत्र देती है तो उत्थान का भी सूत्र देती है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि पतन का रास्ता है। बुद्धि-मन-इन्द्रिय उत्थान का रास्ता हैं। उत्थान की बात अगले प्रवचन में। पतन की बात से डरा दूँ जिससे अगले प्रवचन में आप सब आएँ। विषयाकर्षण से हमारा आपका पतन होता है, सबका होता है।

जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महिं

संकट के समय, परीक्षा के समय केवल अपनी शक्ति से जूझने वाले हार जाते हैं। अभी भगवान ने बताया। *मत्परः मत्परायण*, मेरा सहारा लेकर तुम लड़ो, जीतोगे। हार कैसे होती है? देखिए ! इसे ध्यान से सुनिए—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (२/६२-६३)

कैसे विनाश होता है? कैसे पतन होता है ? यह रास्ता है। मैंने आपको बताया इन्द्रियार्थः क्या है? *'इन्द्रियैः अर्थ्यते इति इन्द्रियार्थः'। विषयः* —विषय किसको कहते हैं? जो हमको कस कर बाँध दे। जो इन्द्रियों के माध्यम से भीतर जाए और मन को कस कर बाँध दे। विषय— जिससे मन बँध जाता है और न चाहने पर भी बार-बार उसको याद करता है। जिस विषय के प्रति मन आकृष्ट हुआ, मन बँधा उसी विषय से है। हम अपने घर में हैं। *'ध्यायतो विषयान्पुंसः'*। वह विषय बार-बार हमारे मन में, हमारे ध्यान में आता है। हम बार-बार उसका चेहरा देखते हैं। बार-बार उसकी कल्पना करते हैं। मकान हो तो कितने कमरे का मकान हो ? ड्राइंग रूम कहाँ होगा ? डाइनिंग रूम कहाँ होगा ? पूर्व खुलेगा कि उत्तर खुलेगा ? उसमें बगीचा कैसा होगा ? *ध्यायतो विषयान्पुंसः।* ध्यायतो— हम लोग लेखक हैं तो सोच रहे हैं कि लेख लिखेंगे तो यह लिखेंगे, वह लिखेंगे। यह पढ़ेंगे उसके बाद वह पढ़ेंगे। वह मनुष्य जब किसी इन्द्रिय के

विषय को सोचने लगता है। *'संगस्तेषूपजायते'* —तब उससे आसक्ति होती है। संग माने चिपक जाना। वह मन में चिपक जाता है।

संगात्सञ्जायते कामः —विषय का जब हम ध्यान कर रहे थे तब हम उसकी संकल्पना कर रहे थे। सम्यक् कल्पना कर रहे थे। अभी मैंने कहा— *काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।* विषय का ध्यान क्यों कर रहे थे। क्योंकि विषय हमको अच्छा लग रहा था। विषय में किसी विशेषता की प्रतीति हो रही थी तो ध्यान कर रहे थे। उस विशेषता के कारण हम उससे चिपक गए। चिपक गए तो पाने की इच्छा हुई।

संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।

अब इस बात पर ध्यान दीजिए कि काम या तो पूरा होगा। काम पूरा होगा तो क्या होगा ? *'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'* —जितना काम पूरा होगा, उतना ज्यादा भोग करने की इच्छा होगी।

न जातु कामः कामानामुप, भोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते।।

आग में घी की आहुति दीजिए। शान्त होगी? आग में घी की आहुति देने से आग प्रज्वलित होगी। काम का उपभोग करने से काम बढ़ेगा। लोभ हो जाएगा। और-और-और। *और-और की ध्वनि है केवल, तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं।*

प्यास का कोई अन्त नहीं है। तो कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई तो सीमा आएगी जबकि आपका काम पूरा नहीं होगा। जहाँ काम पूर्ण हो रहा है तो लोभ और जहाँ बाधा आ रही है तो जिसके कारण बाधा आ रही है, उसके प्रति क्रोध। उड़िया बाबा ने कहा कि क्रोध का मतलब क्षोभ समझो। लोभ भी एक क्षोभ है और क्रोध भी क्षोभ है। जो भी कर लो। काम की अपूर्ति से क्रोध होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः —मुह वैचित्ये। मोह माने उलट जाना। मोह माने बुद्धि उलट गई। बात जैसी है, वैसी नहीं दिख रही है। उलटी-पुलटी बात हो गई। कई बातों में गाँठें पड़ गईं। क्रोध आता है तो अपने गुरु को भी हमलोग गाली देने लगते हैं। माँ-बाप को भी गाली देने लगते हैं। नारायण! माँ-बाप की हत्या भी होती है। माँ-बाप भी बेटे-बेटियों की हत्या करने लगे हैं। मोह है मोह। और सम्यक् मोह और भी भयंकर। मोह से भी एक सीढ़ी ऊपर है। *'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'* —सारी बातें उलट-पुलट गईं।

सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः —हमलोग जो व्यवहार करते हैं—कैसे व्यवहार करते हैं ? इस बात पर ध्यान दें प्रभु गंभीर बात बता रहे हैं। हमलोग जो व्यवहार करते हैं —अपने पूरे अनुभव के आधार पर करते हैं। अपने जीवन के पूरे संस्कारों के आधार

पर करते हैं। जिन बातों से हम जीवन में सफल हुए हैं, उन अनुभवों का उपयोग करते हैं काम करते समय। जिन बातों से हम जीवन में असफल हुए हैं, काम करते समय उन बातों से बचना चाहते हैं। यह स्मृति के द्वारा होता है। शास्त्रों में जो अच्छी-अच्छी बातें पढ़ी हैं, गुरु से जो अच्छी-अच्छी बातें सुनी हैं, उनको जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं—यह स्मृति के द्वारा होता है। हमारे व्यवहार का आकलन उसी क्षण की प्रतिक्रिया से नहीं करना चाहिए। जो हम कर रहे हैं, उसके पीछे हमारे जीवन का पूरा अनुभव है। हमारी स्मृति है और उस स्मृति के अनुसार हम व्यवहार करते हैं; और सफल होते हैं कई बार। सम्मोह में क्या हुआ? 'स्मृतिविभ्रमः'।

आज मेरा मन बढ़ा है, आज मेरा मन चढ़ा है।
हो गया बेकार सारा, जो लिखा है, जो पढ़ा है।।
रुक नहीं सकते हृदय के, आज तो अरमान रोके।
कौन यह तूफान रोके ?

जाओ! गड्ढे में गिरो। जाओ। एक गाना है— *मन जो भी कहेगा मानेंगे, दुनिया में हमारा मन ही तो है।*

तो जाओ गड्ढे में! मन तो गड्ढे में ही ले कर जाएगा। मन का कहा मानोगे? मन तो इन्द्रियों में जाएगा। इन्द्रियाँ विषयों में जाएँगी। मन का कहना मानोगे तो गड्ढे में जाओगे। जाओ! नहीं। स्मृतिभ्रंश हो गया। क्रोध आया तो कहनी-अनकहनी कहते हैं। कैसी-कैसी बात कहते हैं। नारायण ! देखो ! जब स्मृति भ्रष्ट होती है तो कैसे-कैसे व्यवहार करते हैं। स्मृति भ्रष्ट हो गई तो तात्कालिक प्रतिक्रिया हो रही है। तात्कालिक प्रतिक्रिया गलत होने के लिए बाध्य है। तात्कालिक प्रतिक्रिया तभी शुद्ध होती है जब मन शांत होता है और पूरा अनुभव, पूरी स्मृति तुमको सफलता का रास्ता बताती है। पूरा अनुभव तुम्हारा लुप्त हो गया, स्मृति तुम्हारी लुप्त हो गई तब किसी ने एक बात कही तो हम उसको दस बात कहेंगे।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो— हमारे गुरुजी एक बात कहते थे कि गीता में बुद्धि को जितना सम्मान दिया गया है उतना दुनिया के किसी धर्म-ग्रंथ में सम्मान नहीं दिया गया। *'बुद्धिनाशो।'* बुद्धि नष्ट होती है। तो क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए? क्या उचित है, क्या अनुचित है ? इसका निर्णय करने वाला विवेक नष्ट हो जाता है।

'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' किसका विनाश होता है ? आत्मा का तो विनाश होता नहीं है। प्रणश्यति। किसका ? उसी व्यक्ति की संभावनाओं का विनाश होता है। उस साधक के साधकत्व का विनाश हो जाता है। उसके उत्थान की स्थितियों का विनाश हो

जाता है। *बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।* देखो ! इन्द्रियों ने कहा कि यह बहुत अच्छा है। मन ने भी कहा— हाँ ! बहुत अच्छा है। बुद्धि ने समर्थन कर दिया। इन्द्रिय की बात मन ने मानी। मन की बात बुद्धि ने मानी, विनाश हो गया। भगवान क्या कहते हैं ? भगवान कहते हैं कि जिसका मैं भला करना चाहता हूँ, उसको क्या देता हूँ ?

ददामि बुद्धियोगं तं— जिसका मैं भला करना चाहता हूँ, उसको शुद्ध बुद्धि देता हूँ। कैसे आओगे तुम भगवान के पास ?

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

बुद्धि को शुद्ध बनाओ। बुद्धि को विवेक के रूप में बुद्धियोग बनाओ तब भगवान को पाओगे। और बुद्धि नाशात् ? *न मे भक्तः प्रणश्यति*— भगवान की दूसरी प्रतिज्ञा है। बुद्धि नष्ट हो गई तो तुम्हारा विनाश होगा; लेकिन अगर तुम भक्त होओगे तो बुद्धि नाश होने पर भी विनाश नहीं होगा। भगवान रक्षा करेंगे। सबसे बड़ा उदाहरण नारद का है। नारद की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी कि नहीं? सोचो। 'रामचरितमानस' में नारद-मोह प्रसंग पढ़ो। उसमें लिखा है कि जो अजर-अमर है, वह विश्वमोहिनी का वरण करेगा। उसका अर्थ उनको लगता है कि जो इसका वरण करेगा वह अजर-अमर हो जाएगा। उसके रूप को देख कर नारद मुग्ध हो जाते हैं। सुधबुध भुला कर कह उठते हैं— *हे विधि मिलइ कवन विधि बाला !*

नारद इतने कामातुर हो गये थे कि मर्यादा तोड़ कर बोले हे बाप जी यह बाला मुझे कैसे मिले ? लेकिन कामना पूर्ति के लिए गए किसकी शरण में ? गए भगवान की शरण में, अतः भगवान ने उन्हें विवाह नहीं करने दिया, उनकी साधना को नष्ट नहीं होने दिया। प्रतापभानु क्यों हार गया ? वह कपट मुनि की शरण में चला गया था। उसका विनाश हो गया। नारद की बुद्धि का नाश हो गया था। उन्होंने प्रभु को शाप दिया खुद। लेकिन वे भगवान की शरण में गए थे अतः अपनी प्रतिज्ञा *'न मे भक्तः प्रणश्यति'* के कारण भगवान ने पहले उनकी रक्षा की। यहाँ भी भगवान भक्तों को आश्वस्त करते हुए कहते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२/६१)

अतः मेरा आश्रय ग्रहण कर योगयुक्त होकर अपनी समस्त इन्द्रियों का संयम करो। याद रखो, जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, स्थिर है। भगवान् का आश्रय लेने वाला कभी विनष्ट नहीं होता। ●

प्रवचन-६*

स्थितप्रज्ञ दर्शन (उत्तरार्द्ध)

यह प्रभु की कृपा है कि गीता-प्रवचन का क्रम अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी चल रहा है। रामजी जो चाहें, जिससे चाहें—करा सकते हैं—इसका यह प्रमाण है। अपने पिछले प्रवचन में स्थितप्रज्ञ का आधा अंश विवेचित करने का मैंने प्रयास किया था। यह बताया गया था कि कर्मयोग की उच्चतम स्थिति, स्थितप्रज्ञता की उपलब्धि है। फलाशा का, फल की आसक्ति का, फल की कामना का त्याग करके मनुष्य कर्म करता है तो उसे स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा का मतलब बुद्धि, प्रज्ञा का मतलब—प्रकृष्ट ज्ञान। बुद्धि केवल घट-पट वस्तुओं का बोध कराने वाली इन्द्रिय—अन्तःकरण का एक विशेष अंश—इतना ही अर्थ इसका नहीं है। इस संदर्भ में बुद्धि का अर्थ है—-सत् और असत् का विवेक करने वाली बुद्धि। सत् और असत् का विवेक करके जो असत् का परित्याग करे और सत् के अनुकूल आचरण करे और उसमें किसी भी प्रलोभन से, किसी भी भय से विचलित न हो, ऐसी बुद्धि की स्थिरता स्थितप्रज्ञता है। जो लोग प्रज्ञ से या प्रज्ञा से विशेष ज्ञान का अर्थ लेते हैं, वे इसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि यह सामान्य ज्ञान, लौकिक ज्ञान, भौतिक विषयों के ज्ञान से अलग है। आत्मज्ञान विषयक जो निष्ठा है, आत्मज्ञान में रमी हुई जो बुद्धि है, वह जब अविचलित रहती है, स्थिर रहती है, दृढ़ रहती है तब स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति होती है। स्थितप्रज्ञ विवेचन क्रम के पूर्वार्द्ध में यह बताया गया था कि कामनाओं का त्याग करके जब अपने आप में साधक संतुष्ट रहता है तो सिद्ध स्थिति की प्राप्ति करता है और वह समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ का लक्षण है। जब समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ का विवेचन होता है तो उसे सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होता, वह सुख-दुःख की भूमिका के परे होता है, ऊपर होता है। जो साधक है, जिसने अभी सिद्धि की स्थिति प्राप्त नहीं की, वह सुखों में स्पृहा का, दुःखों में उद्विग्नता का बोध नहीं करता और आसक्ति, भय एवं क्रोध का त्याग कर अपने कर्त्तव्य कर्म को ग्रहण करता है। अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता

* द्वितीय अध्याय (सांख्ययोग) : श्लोक संख्या ६४ से ७२

है—ये सारी बातें पिछले प्रवचन क्रम में बताई गई हैं। उसमें जहाँ पर प्रवचन समाप्त किया गया था—वह प्रसंग-स्थितप्रज्ञता में आए हुए विक्षेपों का था। वे कौन से अन्तराय हैं, वे कौन से विघ्न हैं, वे कौन-सी पतन की स्थितियाँ हैं—जिन अन्तरायों, जिन विघ्नों का सामना न करने पर मनुष्य का पतन होता है। उस क्रम में बताया गया था कि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (२/६२-६३)

मैंने इसकी विवेचना की थी लेकिन आज इस क्रम को दोहराना इसलिए आवश्यक है कि यह निषेधात्मक स्थिति का, जिस स्थिति से बचने की चेष्टा करनी चाहिए उसका वर्णन है। अगला प्रसंग इसके आगे विधानात्मक या विधिमूलक दृष्टि से क्या किया जाना चाहिए उसका वर्णन करता है। इसमें बतलाया गया है कि क्या नहीं किया जाना चाहिए। गलत ढंग से अगर आचरण होगा तो उसका क्या परिणाम होगा, इसमें इसका निरूपण है। विषयों का अगर अनुशीलन होगा, ध्यान होगा तो उनके प्रति आसक्ति होगी। आसक्ति होगी तो उनको पाने की कामना होगी, उनको प्राप्त करने की इच्छा होगी। उनको प्राप्त करने की इच्छा अगर पूरी हुई तो लोभ बढ़ेगा और एक सीमा के बाद ऐसी स्थिति आएगी ही आएगी, जब कामना पूर्ण नहीं होगी। जब कामनापूर्ति में बाधा आएगी तो क्रोध होगा। क्रोध जब होगा तो अपने चित्त की स्थिति उलट जाएगी, उचित-अनुचित का विवेक छूट जाएगा। सम्मोह होगा, फिर हम किसलिए आए हैं, कौन हैं, कहाँ हैं, हमारा लक्ष्य क्या है— यह जो हमारी स्मृति है—यह भ्रष्ट हो जाएगी। और उससे फिर बुद्धि नष्ट होगी। बुद्धि-नाश से सर्वनाश होगा। मैंने पिछली बार ये बातें बताई थीं। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि हमारी अध्यात्म-साधना में बुद्धि को जितना महत्त्व दिया गया है, इतना महत्त्व दूसरी किसी अध्यात्म साधना में नहीं दिया गया है। बुद्धि के नाश से सर्वनाश होता है और बुद्धि की स्थिरता से कल्याण होता है—यही बात स्थितप्रज्ञ दर्शन के मूल में है। बुद्धि शुद्ध हो, निर्मल हो—यह आवश्यक है। हानि अशुद्ध बुद्धि से होती है। हानि राग-द्वेष ग्रस्त बुद्धि से होती है। और इसलिए बुद्धि का गौरव तो स्वीकार्य है, लेकिन बुद्धि की विकृति स्वीकार्य नहीं है। बुद्धि की विकृति से कैसे बचा जाए—यही बात अगले श्लोकों में बतायी जा रही है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। (२/६४)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। (२/६५)

बुद्धि कैसे भ्रष्ट हुई, बुद्धि कैसे नष्ट हुई— इसका क्रमशः वर्णन श्लोक संख्या ६२-६३ में किया गया है। बुद्धि कैसे प्रतिष्ठित हो सकती है, बुद्धि कैसे स्थिर हो सकती है, बुद्धि कैसे अपने लक्ष्य का संधान करने के लिए समर्पित हो सकती है— अब इसका क्रम बताया जा रहा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। ध्यान दीजिए कि इन्द्रियाँ अपने में हमारा अहित नहीं करतीं। विषय भी अपने में हमारा अहित नहीं करते। कौन सी इन्द्रियाँ अहित करती हैं? विषय कब हमारे लिए प्रतिकूल हो जाते हैं? पहली ही बात है— कि हमको विधेयात्मा होना चाहिए। *आत्मवश्यैर्विधेयात्मा*— विधेयात्मा को पहले समझिये। यहाँ आत्मा का अर्थ है मन। मन जब हमारे विवेकसम्मत विधान के अनुकूल आचरण करता है तब उसको विधेयात्मा कहते हैं। विधेय कहते हैं जिसके लिए विधान का निर्माण किया जाए और जो उस विधि को, विधान को, उस आज्ञा को उस निर्देश को स्वीकार करे। जब हमारा मन हमारे अधीन होगा, जब हम विधेयात्मा होंगे तभी हम उत्थान की ओर अग्रसर हो सकेंगे। पहली शर्त यही है। इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं। मन अगर इन्द्रियों के अधीन हो गया तो सर्वनाश है। इस बात को अच्छी तरह समझना चाहिए। पतन का रास्ता भी साफ है। उत्थान का रास्ता भी साफ है। पतन का रास्ता क्या है ? इन्द्रिय, मन, बुद्धि के द्वारा आचरण का रास्ता। इन्द्रियाँ सर्वथा बहिर्मुख होती हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों के प्रति अनुरक्त होंगी, आसक्त होंगी, विषय का उपभोग करना चाहेंगी। विषयों के पीछे जो खतरा है, विषयों के पीछे जो सर्वनाश की संभावना है, आशंका है, इन्द्रियाँ उस पर विचार नहीं करतीं। इन्द्रियाँ निरन्तर अपने विषयों की ओर धावित होती हैं। आँख सुन्दर रूप देखना चाहती है, रसना सुस्वादु भोजन करना चाहती है, त्वचा कोमल स्पर्श पाना चाहती है, कान सुन्दर शब्द सुनना चाहते हैं, नासिका घ्राण चाहती है। उसके पीछे, रूप के पीछे क्या है ? यह इन्द्रियाँ नहीं सोचतीं। यह बुद्धि देखती है। लेकिन इन्द्रियाँ अगर मन को खींच के ले गयीं, इन्द्रियाँ जहाँ-जहाँ गईं, वहाँ-वहाँ मन गया और मन ने बुद्धि को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, इन्द्रियों का कहा हुआ मन ने माना; और मन का कहा हुआ बुद्धि ने मान लिया तो बुद्धि, भोग-बुद्धि में बदल गई। और जहाँ वह भोग बुद्धि में बदली तो विषयों का भोग करने लगती है। आप इस बात पर ध्यान दीजिए। हम विषय का भोग करते हैं यानी क्या करते हैं, क्यों करते हैं। विषय का भोग हम विषयों की सत्यता और

रमणीयता के आधार पर ही कर सकते हैं। किसी विषय-विशेष का भोग करने का आग्रह हमारे मन में तभी होता है, जब हम उस विषय में पहले सत्यता की स्वीकृति देते हैं, फिर उसको रमणीय मानते हैं, उसको उपभोग के योग्य मानते हैं। विषयों की सत्यता और रमणीयता की स्वीकृति से हमारी बुद्धि पंकिल होती है, दूषित होती है, उसके प्रति आसक्त होती है; और भोग बुद्धि में बदल जाती है। इन्द्रिय मन, बुद्धि के अनुकूल किया गया आचरण पतन की ओर ले जाने वाला है। उत्थान की ओर जाने वाला रास्ता बिलकुल इसका उलटा है। बुद्धि के द्वारा, शुद्ध बुद्धि के द्वारा किया गया निर्णय कठोर हो सकता है। शुद्ध बुद्धि के द्वारा किया गया निर्णय कठिन हो सकता है। उसमें त्याग की अपेक्षा हो सकती है। लेकिन उस कठोर निर्णय को, कठिन निर्णय को अगर मन स्वीकार कर ले और मन उसको स्वीकार करके तदनुकूल इन्द्रियों से वह काम कराए तो बुद्धि-मन-इन्द्रिय के द्वारा परिचालित व्यक्ति, कर्त्तव्य-कर्म को करते हुए निरन्तर उत्थान की ओर अग्रसर होगा। अब इसमें देखिए — *रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियै* —ये तीनों इन्द्रियों की विशेषताएँ हैं। मन होना चाहिए विधेय। मन पर होना चाहिए अपने विवेक का नियंत्रण और विवेक के द्वारा नियंत्रित मन के अधीन होनी चाहिए इन्द्रियाँ । *आत्मवश्यैः*—मन के अधीन इन्द्रियों के द्वारा विषयों में बरतते हुए और उन इन्द्रियों की सबसे बड़ी विशेषता होनी चाहिए कि उन इन्द्रियों में विषयों के प्रति न आसक्ति हो और न विषयों के प्रति द्वेष हो। इन्द्रियों का वैशिष्ट्य बताया कि वे राग द्वेष से मुक्त हों। अधिकतर पाठ है *रागद्वेषवियुक्तैस्तु*। लेकिन गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय में पाठ है *रागद्वेषविमुक्तैस्तु*। राग और द्वेष से विमुक्त या राग और द्वेष से वियुक्त अपने में अनुशासित, विवेक के द्वारा अनुशासित जो हमारी इन्द्रियाँ हैं, वे इन्द्रियाँ निष्क्रिय न हों। कर्मयोग कर्म का निषेध नहीं करता। कर्म का निषेध न करते हुए भी इस बात का आग्रह करता है कि हम विषयों के प्रति न तो आसक्त हों, न विषयों के प्रति विद्वेष का पोषण करें। राग-द्वेष से विमुक्त होकर हमारी निगृहीत, वशीभूत इन्द्रियाँ विवेकसम्मत मन के अधीन रहकर विषयों में बरतें।

प्रसादमधिगच्छति— यह प्रसाद शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद शब्द का अर्थ क्या है इस पर कुछ मतभेद है। शंकराचार्य भगवान ने बताया है— *प्रसादस्तु प्रसन्नता*— प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता। प्रसन्न का अर्थ होता है निर्मल। उन्होंने एक और अद्‌भुत शब्द जोड़ा है। उन्होंने कहा है— *प्रसादस्तु प्रसन्नता स्वास्थ्यम्*— अद्‌भुत बात है यह। इस पर जरा ध्यान दीजिए। प्रसाद यानी इन्द्रियों की निर्मलता। अगर राग-द्वेष से वियुक्त मन, अगर विवेक सम्मत मन, राग द्वेष से मुक्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों में

बरतता रहेगा तो प्रसन्नता को, निर्मलता को प्राप्त करेगा। शंकराचार्य जी कहते हैं कि स्वास्थ्य में स्थित रहेगा, स्वास्थ्य की प्राप्ति करेगा। स्वास्थ्य किसको कहते हैं ? स्वस्थ रहने के भाव को स्वास्थ्य कहते हैं। स्वस्थ का क्या मतलब है ? अपने में स्थित। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि अँग्रेजी के Healthy शब्द में वह भाव नहीं है, जो संस्कृत के स्वस्थ शब्द में है। जो अपनी मर्यादा में, अपने रूप में अपने स्वरूप में स्थित है, वही स्वस्थ है। जो अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करेगा, उल्लंघन करेगा, वही अस्वस्थ होगा; और जो अस्वस्थ होगा वही विकृत होगा, मलिन होगा। वही अस्वच्छ होगा। वही विकारग्रस्त होगा। प्रसाद को प्राप्त करने का क्या मतलब है ? हमारे मन का, हमारी इन्द्रियों का विकार क्या है? मल क्या है ? जैसा अभी मैंने आपको बताया कि न इन्द्रियाँ, न विषय हमको कष्ट देते हैं। इन्द्रियाँ शत्रु हैं अगर वे स्वच्छन्द हैं। इन्द्रियाँ मित्र हैं, अगर वे विवेक के अधीन हैं। यही बात भगवान शंकराचार्य ने कही—

के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि। तान्येव मित्राणि जितानि यानि।।

शत्रु कौन है अपना ? अपनी अजित इन्द्रियाँ। अपनी उद्धत इन्द्रियाँ हमारी शत्रु हैं। वशीभूत इन्द्रियाँ अपनी मित्र हैं। भगवान ने गीता में कहा है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। (६/५)
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। (६/६)

अपना मित्र कौन है ? अपना ही मन। अपना शत्रु कौन है ? अपना ही मन। जिसने अपने मन को जीत लिया है— उसका मन उसका सबसे बड़ा मित्र है। जो अपने मन के अधीन हो गया है—उसका मन उसका सबसे बड़ा शत्रु है।

मन जो भी कहेगा, मानेंगे–दुनिया में हमारा मन ही तो है — यह गड्ढे में जाने का रास्ता है। मन का कहा मानोगे ? मन तो इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्मुख ही होगा। मन तो कभी विवेक की ओर, अन्तर्मुख होकर बुद्धि की ओर, अन्तरात्मा की ओर, प्रत्यगात्मा की ओर जाना ही नहीं चाहेगा। मन के ऊपर बुद्धि का नियंत्रण और नियंत्रित मन का इन्द्रियों पर संयम—यह विकास का रास्ता है। इससे प्रसाद की, प्रसन्नता की, स्वस्थता की प्राप्ति होती है।

प्रसादमधिगच्छति— प्रसाद तक हम पहुँचते हैं। प्रसाद सहज लभ्य नहीं है। सहज लब्ध तो विकार हैं। संस्कार साधना—लभ्य है। बराबर इस बात पर ध्यान दीजिए कि अगर हम स्थान को छोड़ देंगे तो धूल ही जमेगी, गन्दगी होगी। स्वच्छता

निरन्तर परिश्रम से होती है, जागरूकता से होती है। तो विकृति—यह स्वाभाविक है। प्रसाद, स्वस्थता, निर्मलता, स्वच्छता— यह साधना-लभ्य है। इसके लिए प्रयास करना पड़ता है।

प्रसादमधिगच्छति— और जब प्रसाद प्राप्त होता है, निर्मलता आती है तो—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। (२/६५)

प्रसन्नता प्राप्त होने पर दुःखों की हानि होती है। इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब है कि जब हमारा मन अस्वच्छ है, जब हमारा मन विकृत है, तभी वह खिन्न होता है। तभी वह दुःख प्राप्त करता है। अस्वस्थ मन दुःखी होता है। स्वस्थ मन, निर्मल मन—स्थिर होता है, अविकृत होता है। डिगता नहीं —न भय से, न प्रलोभन से। स्थिर रहता है। *'प्रसन्नचेतसो ह्याशु'*—जब प्रसन्न रहता है, चैतन्य रहता है, निर्मल रहता है। देखिए—जल की निर्मलता तब है जब कि उसमें और किसी चीज की मिलावट न हो। आप उसमें केवड़े का शर्बत भी डाल देंगे तो भी जल स्वच्छ नहीं रहेगा। चीनी भी डाल देंगे तो भी जल स्वच्छ नहीं है। नींबू और नमक डाल देंगे तो भी स्वच्छ नहीं है। कीचड़ और कादा डाल देंगे तब तो अस्वच्छ है ही। किसी दूसरी चीज की मिलावट न हो, तब जल स्वच्छ है। मन चिन्मुख हो, चैतन्य हो, *'प्रसन्नचेतसो चित संज्ञाने'*। हम जड़ और चेतन के समन्वित आकार में रहते हैं; और उसमें जब हम जड़ की ओर जाते हैं तो विकार की ओर जाते हैं। जब हम चेतना की ओर आते हैं तब हम निर्मलता की ओर आते हैं। यह कसौटी आप बराबर याद रखिए कि आपका मन किधर जा रहा है? जड़ विषयों से सुख पाने की चेष्टा कर रहा है। किसी रूप को देख कर, किसी गन्ध को सूँघ कर, कुछ खा कर सुखी होना चाहता है यदि आपका मन, तो आपका सुख उधार है किसी दूसरे के पास है। जड़ की ओर उन्मुख आपका मन दुःख की ओर जाएगा, दुःख प्राप्त करेगा। चैतन्य की ओर उन्मुख आपका मन सुख की ओर जाएगा, सुख प्राप्त करेगा। *आत्मन्येवात्मना तुष्टः* —जब इस भूमिका पर आएगा तब वह स्थितप्रज्ञ होगा। लेकिन आप किस दिशा में जा रहे हैं ? जड़ की ओर उन्मुख हैं कि चेतन की ओर उन्मुख हैं ? यह विचार बराबर चलना चाहिए कि आप किससे अपने को कृतार्थ मान रहे हैं, कृतकृत्य मान रहे हैं? इस बात का विवेक बना ही रहना चाहिए।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु-—जब चैतन्य निर्मल होता है, जड़ की विकृति से मुक्त होता है, जब चैतन्य— चैतन्य की ओर जाता है, तब उसमें प्रज्ञा की, बुद्धि की स्थिरता होती है, शीघ्र होती है। ह्याशु = आशु = तुरन्त। *बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।* अगर हम, आप अपनी

बुद्धि को स्थिर करना चाहते हैं तो उसको बराबर विवेकपूर्वक देखते रहना चाहिए। बराबर याद रखिए कि आप द्रष्टा हैं और यह सब दृश्य है। दृश्य और द्रष्टा का विवेक कीजिए। शरीर दृश्य है—यह दिखायी पड़ता है। इन्द्रियाँ दृश्य हैं—ये अनुभव का विषय हैं। अतः दिखाई पड़ती हैं। मन दृश्य है—मन में क्या संकल्प-विकल्प चल रहा है–यह दिखाई पड़ता है। बुद्धि कैसे निर्णय कर रही है—दिखाई पड़ता है। अन्तःकरण दृश्य है—इसलिए जड़ है। जो उसको देख रहा है—द्रष्टा है, वह चैतन्य है। वह चैतन्य अपने को जितनी मात्रा में जड़ वस्तु के साथ एक करेगा, उतनी मात्रा में बँधेगा। जब वह चैतन्य अपने को शरीर के साथ एक करके शरीर मानने लगता है तो दुःख पाएगा ही पाएगा। जब वह चैतन्य अपने को इन्द्रियों के साथ, मन के साथ, बुद्धि के साथ एक करेगा, जितनी मात्रा में जड़ से आपका चैतन्य अपने को एक करेगा, उतनी मात्रा में दुःख की ओर जाएगा। जितनी मात्रा में वह चैतन्य की ओर उन्मुख होगा, उतनी मात्रा में वह आत्मवश रहेगा, उतनी मात्रा में वह स्वच्छन्द, स्वाधीन रहेगा।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्

जितनी परवशता है, वही दुःख है; और जितनी आत्मवशता है वही सुख है। जितना निर्णय चैतन्य के अनुरूप आप कर सकेंगे उतना ही आप सुख की ओर जाएँगे, द्रष्टा की ओर जाएँगे।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। (२।६६)

प्रसाद का एक अर्थ—गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों ने भगवान की कृपा बताया है। प्रसाद का अर्थ अनुग्रह बताया है। तब भगवान का अनुग्रह, भगवान की कृपा प्राप्त होती है। लेकिन परंपरा से प्रसाद निर्मलता के ही अर्थ में आया है। याद रखिए गीता में अपने शब्दों की व्याख्या है। गीता में मानसिक तप बताया गया है, जो शारीरिक तप और वाचिक तप से बड़ा है। और मानसिक तप का लक्षण बताया गया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (१७।१६)

मानस तप क्या है ? मनःप्रसादः —मन की प्रसन्नता। यहाँ प्रसाद शब्द में ईश्वर का अनुग्रह नहीं है। मनःप्रसादः। द्वितीय अध्याय में जो प्रसाद शब्द आया है और वहाँ जो प्रसाद शब्द आया है— एक ही अर्थ में आया है। मन निर्मल होना चाहिए, मन स्वस्थ होना चाहिए, मन अपने अधिष्ठान में, चैतन्य रूप में स्थित होना चाहिए, उसकी ओर उन्मुख होना चाहिए।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः —यह जो मानसिक तप है उस तप की पहली सीढ़ी है मन की निर्मलता। मन की स्वस्थता। तो इसलिए कहा गया— *नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य* — अगर कोई अयुक्त है तो उसको शुद्ध बुद्धि, निर्मल बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। बुद्धि का यहाँ मतलब है निर्मल, स्वस्थ, स्वच्छ बुद्धि। हमलोग यही प्रार्थना करते हैं—

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।।

निर्मल मति, शुद्ध मति, शुद्ध बुद्धि। प्रसाद, प्रसन्नता, स्वस्थता बुद्धि की। और यह बुद्धि की प्रसन्नता युक्त होने पर ही होती है। बुद्धि की निर्मलता युक्त होने पर ही होगी। युक्त शब्द के कई अर्थ हैं। भक्त लोग तो मानते हैं कि युक्त का मतलब भगवान से जुड़ा हुआ, युक्त है। भगवान ने यहाँ भी कह दिया है कि अगर तुमसे इन्द्रियों का नियंत्रण स्वयं नहीं हो सकता तो मेरा सहारा लो। क्योंकि बिना मेरा सहारा लिए मन को, इन्द्रियों को जीत लेना बहुत कठिन है। इसी स्थितप्रज्ञ में भक्ति का बीज है, जब उन्होंने कहा—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२/६१)

मत्परः —मेरे परायण होकर, मुझको सबसे बड़ा मानकर, मुझसे युक्त होकर। तो युक्त का एक अर्थ है भक्ति के क्षेत्र में, भगवान से जुड़ा हुआ। युक्त का साधारण अर्थ है, जो योगयुक्त हो।

योगस्थः कुरु कर्माणि— युक्त का अर्थ हुआ जिसको युक्तियाँ आती हों। जो सही है। गीता में इस बात को भी रेखांकित किया है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (६/१७)

युक्ताहारविहारस्य— हमारा आहार और विहार युक्त होना चाहिए, उचित होना चाहिए, संगत होना चाहिए। हमारा सोना और जागना संगत होना चाहिए, युक्त होना चाहिए। अगर हम अयुक्त हो कर काम करेंगे तो गलत काम करेंगे, विवेकसम्मत काम नहीं करेंगे। *नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य*— अगर कोई भगवान का सहारा छोड़ देगा और केवल अहंकार लेकर अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित करना चाहेगा तो असफल रहेगा; उचित से या तो कम करेगा या अतिरेक करेगा। बहुत खाएगा, बहुत बोलेगा। नारायण !

जिह्वे प्रमाणं जानीहि भोजने भाषणेऽपि च।
अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी।।

ओ जीभ! भोजन और भाषण दोनों की मर्यादा को पहचानो। *अतिभुक्तिः* —बहुत खाना, *अतीवोक्तिः* —बहुत बोलना, *सद्यः प्राणापहारिणी*—जानलेवा है, जानलेवा। अयुक्त व्यवहार, अनुचित व्यवहार—यह मनुष्य को पतन की ओर ले जाएगा। भगवान से जुड़कर, योग से युक्त होकर संयत, संगत, विवेक युक्त व्यवहार जो करेगा उसी को निर्मल बुद्धि, शुभ बुद्धि, स्थिर बुद्धि की प्राप्ति होगी। और उसी को भावना की भी प्राप्ति होगी। मेरे गुरुजी ने कहा है कि यहाँ पर श्रवण और मनन जो करेगा उसे तो शुद्ध बुद्धि की प्राप्ति होगी; और भावना का अर्थ उन्होंने बताया है निदिध्यासन। उन्होंने कहा है —*ध्यातुं इच्छा*—दिध्यासा। *नितराम्दिध्यासा निदिध्यासनम्*— जो तुमने श्रवण और मनन के द्वारा लक्ष्य निर्धारित किया, उस निर्धारित लक्ष्य की ओर जब तुम्हारा सतत् मानसिक प्रवाह होता रहे—सजातीय प्रवाह हो और विजातीय प्रत्ययों का वर्जन हो जाये —तब निदिध्यासन होता है। तब वह बात जो सुनी है, जो मनन के द्वारा स्वीकार की गई है, उसको मन में स्थापित करना संभव होता है। देखो केवल बात कहने से बात बनती नहीं है। बोलना सबसे आसान है।

जो कुछ कहिय, करिय, भवसागर तरिय वत्सपद जैसे
रहनि आन विधि, कहिय आन, हरिपद सुख पाइअ कैसे ?

केवल कथनी से कोई काम नहीं बनता है; अच्छी करनी से काम बनता है। तो श्रवण और मनन के द्वारा जो बात तुमने स्थिर की, वह निदिध्यासन के द्वारा जीवन में उतरनी चाहिए, आचरण में आनी चाहिए। जो बात अभ्यास के द्वारा लब्ध नहीं होगी, केवल शब्दों का खेल होकर रह जाएगी, शब्दों का खेल। शब्दों का अर्थ नष्ट हो जाता है, अगर शब्द आचरण के द्वारा समर्थित नहीं होते। जिसके शब्द उसके आचरण द्वारा समर्थित हैं, उसी की बात का विश्वास किया जाता है। भावना तो अपने विश्वास, अपने लक्ष्य के अनुकूल दृढ़ की गई वृत्ति, निदिध्यासन के द्वारा दृढ़ की गई वृत्ति है। चलो इतनी बड़ी बात न भी मानो तो भावना का मतलब है, कर्त्तव्य की भावना। भावना का मतलब इस संसार में भी तुमने जिसको जिस रूप में स्वीकार किया है, उस पर दृढ़ रहो। अगर भावना दृढ़ न रहे तो क्या होता है? आजकल पहले तो भाई-बहन हैं, फिर प्रेमी-प्रेमिका, फिर विवाह और फिर तलाक— ऐसा होता है कि नहीं। किसी के प्रति भावना दृढ़ नहीं रहती। अभी गुरु के प्रति बहुत दृढ़ भावना है; और जरा सी बात पर गुरु से फिरंट। भावना जो हमने स्थिर की है, वह दृढ़ होनी चाहिए। तुमने इस

भावना को सेत-मेत में पाया है कि तुमने उसको कुछ दे कर पाया है? तुमने उसको अपने जीवन में, कर्म में श्रवण-मनन की साधना के द्वारा स्वीकार करके उस पर दृढ़ रहने का संकल्प किया है कि केवल हवाई बातें हैं? जब तक भावना स्थिर नहीं होगी, दृढ़ नहीं होगी, तब तक भावना बलवती नहीं होगी। तो जो अयुक्त होगा, उसको दृढ़ भावना नहीं प्राप्त होगी; और जिसको भावना दृढ़ नहीं होगी, उसको शान्ति नहीं मिलेगी। और जिसको शान्ति नहीं मिलेगी, उसको सुख कैसे मिलेगा ?

अशान्तस्य कुतः सुखम्। सुख का एक अर्थ, मेरे गुरुजी कहते थे— ख का मतलब होता है आकाश खं ब्रह्म। और यह आकाश जैसे हमलोगों के बाहर है वैसे ही भीतर भी है हृदयाकाश। सुख का मतलब हुआ जब अपने हृदय में काम-क्रोध की बदली छाई नहीं है, जब लोभ-द्वेष की आँधी नहीं चल रही है, जब तृष्णा की वर्षा नहीं हो रही है, अपना हृदय निर्मल है। हृदयाकाश स्वच्छ है, निर्मल है, तब सुख है। जब हृदयाकाश में काम-क्रोध की बदली है, तृष्णा की बारिश हो रही है, आँधी चल रही है, तो दुःख है। इसलिए सुख की प्राप्ति तो निर्मलता से, प्रसन्नता से, स्वस्थता से, भावना की दृढ़ता से, युक्तता से होगी। अयुक्त रह कर कौन सुखी हो सकता है ? तुलसीदास ने एक जगह कहा है कि तुम अपने-आप को राम का कहलाते हो ? फिर तुम लोगों के सामने दर-दर भीख क्यों माँगते हो? तुम्हारा क्या विश्वास किया जाये? भगवान का होने के बाद, किसी दूसरे से याचना करने की कल्पना भी कैसे हो सकती है ?

बनै तो रघुबर सों बनै, कै बिगरे भरपूर।
तुलसी बने जो और तें ता बनिबे सिर धूर।।

मेरी बात बनने वाली है तो रामजी से बने, नहीं तो बिगड़ जाये। किसी और से मेरी बात बनने वाली है तो उस बनने की ऐसी-की-तैसी। भावना दृढ़ होनी चाहिए। यह जो दृढ़ता है,यह निर्मलता से, प्रसन्नता से, स्वस्थता से, शुद्धता से आती है। और इस निर्मलता से, प्रसन्नता से आप शान्ति को प्राप्त करते हैं। शान्ति को प्राप्त करने का क्रम है। शान्ति का मतलब क्या हुआ ? शम। शान्ति तो स्वयं ब्रह्म है, शम है। कैसे प्राप्त करेंगे? इसका तरीका इसी क्रम में आगे बताया गया है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। (२/६७)

घड़े में एक भी छेद होगा तो पानी बह जाएगा। हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हमने चार पर नियंत्रण कर लिया, एक भी रह गई अनियंत्रित तो बात बिगड़ जायेगी। *इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते*— यत् एक वचन है। इन्द्रियों के द्वारा तुम विषय

में व्यवहार कर रहे हो। तुमने अपनी चार इन्द्रियों पर भी वश कर लिया, एक पर नहीं कर पाये, तो यत्—जो इन्द्रिय मनोऽनु विधीयते—मन को अपने पीछे-पीछे ले जाने में समर्थ हो गई, वह तुम्हारा अनिष्ट कर गयी। इन्द्रिय के पीछे मन और मन के पीछे बुद्धि अर्थात् पतन। जो इन्द्रिय मन को अपने पीछे, घसीट लाने में समर्थ हो गई, *'तदस्य हरति प्रज्ञां'*— वह एक इन्द्रिय इस मन की प्रज्ञा को हर लेगी। *वायुर्नावमिवाम्भसि* — जैसे अगर नदी में आँधी आ जाए और नाव में लंगर नहीं है, तो जिस नाव में लंगर नहीं है, उस लंगरविहीन नाव को आँधी बहा कर ले जायेगी, कहीं किसी से टकरा देगी, छिन्न-भिन्न कर देगी। उसी तरह एक भी इन्द्रिय अगर मन को अपने पीछे घसीट कर ले गयी, तो अकल्याण होकर रहेगा। सर्दी है— आइसक्रीम खाने में कोई दोष नहीं है। एक आइसक्रीम खा सकते हैं। पेट खराब है—लेकिन रबड़ी तो रोज-रोज नहीं मिलती। अच्छा ! थोड़ी सी खा लें। अच्छा एक बार देख लें। एक झलक और।

ठहर जाओ घड़ी भर और, तुमको देख लें आँखें।

...बस बात बिगड़ जायेगी। *इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते*— एक भी इन्द्रिय अगर मन को अपने पीछे घसीट कर ले गई। *तदस्य हरति प्रज्ञां*— मन चाहता नहीं है पाप करना। कोई भी नहीं चाहता। भगवान् ने तृतीय अध्याय में इसको बड़े विस्तार से समझाया है। लेकिन न चाहते हुए भी —यह अगर इन्द्रिय उच्छृंखल रह गई है, वह तुम्हें बलपूर्वक खींच कर ले जाएगी; और तुमसे पाप करायेगी, गलत काम करायेगी।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (२/६८)

इसलिए हे बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन! देखो! यह विशेषण बड़ा सार्थक है। बड़ी भुजाओं वाला अर्जुन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। तुम महाबाहो हो, तुम समर्थ हो। तुम इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त कर सकते हो। भगवान ने उसकी प्रशंसा करके, इन्द्रिय-विजय जैसे कठिन, दुर्गम कार्य के लिए उसको प्रेरित किया है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।

निगृहीत—नितरां, बिलकुल वही हो सर्वशः भी कहा है पक्के नियंत्रण के लिए प्रभु शब्द को दोहरा रहे हैं। जरा सी कच्चाई दुख देती है।

ललन सलोने अरु रहे, अति सनेह सौं पागि।
तनक कचाई देत दुःख, सूरन लौं मुँह लागि।।

बिहारी का दोहा है। प्रियतम सुन्दर भी हों और सनेह से, प्रेम से, अति प्रेम से पगे हों। प्रेम में जरा सी भी कच्चाई होगी तो प्रियतम दुःख ही देगा। जैसे जरा भी कच्चा रह गया सूरन, कच्चू, मुँह काट देता है, दुख देता है। *तनक कचाई*-- जरा सा भी कच्चा रह जाए तो *देत दुःख*। लेकिन अभी उस पर विचार करें जिसके लिए यह उदाहरण दिया है— इन्द्रियों के निग्रह में जरा सी भी अगर कच्चाई रह जायेगी तो दुःख होगा ही। इसलिए *सर्वशः* — सब तरह से, अच्छी तरह से, जब तक उन समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं होगा, जो इन्द्रियों के विषय से बरतते समय इन्द्रियों को भली-भाँति नियंत्रित नहीं रख पायेगा विवेक के अनुसार बरतने में जरा सा कच्चा रह जाएगा, उसका पतन हो जाएगा। स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया है मधुसूदन सरस्वती ने कि वासना सहित विषय से निवृत्ति जिसकी हो गई है, वही स्थितप्रज्ञ है। विषयों से निवृत्ति — यह तो सहज बात है। निराहार रहने से वासना की निवृत्ति नहीं होती। जिस दिन उपवास रहता है, खास कर निर्जला एकादशी; उस दिन सब लोग सोचते रहते हैं कल क्या-क्या खाकर पारण करेंगे। भूखे रहने से भोज्य पदार्थ के प्रति रस तो नष्ट नहीं होता। भोज्य-विषयों के प्रति जो रस है, आसक्ति है; उस आसक्ति को जब कोई जीत ले तब स्थित-प्रज्ञ होता है। स्थितप्रज्ञ विषयों से व्यवहार नहीं करता—ऐसी बात नहीं है। लेकिन विषयों के प्रति निग्रह का भाव होना चाहिए। यह निग्रह मन का भी होना चाहिए। यह निग्रह इन्द्रियों का भी होना चाहिए। बुद्धि शुद्ध होनी चाहिए। शुद्ध बुद्धि जब मन और इन्द्रियों के ऊपर निग्रह करती है और इन्द्रियाँ अपने विषयों में राग-द्वेष से रहित होकर विचरण करती हैं तभी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। इसके बाद श्रीकृष्ण ने एक उदाहरण दिया है कि सांसारिक जीवों में और स्थित-प्रज्ञों में अंतर क्या है ?

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (२/६९)

प्रतीकों की भाषा में भगवान बात कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि *या निशा सर्वभूतानां*—सांसारिक जीवों के लिए जो रात है, या साधारण प्राणियों के लिए जो रात है। *तस्यां जागर्ति संयमी* — उसमें संयमी जागता है। *यस्यां जाग्रति भूतानि* — और जो साधारण व्यक्तियों के लिए जागने वाला दिन है। *सा निशा पश्यतो मुनेः*— मुनि की दृष्टि में पश्यतो मुनेः। खाली मुनि नहीं कहा, देखने वाला मुनि कहा, जो द्रष्टा है, विचारक है। मुनि का मतलब ही होता है मननशील। तो जो द्रष्टा है, ज्ञानी है, जो देखने वाला मुनि है, वह संसार के लोगों के लिए जो दिन है उसको रात मानता है। क्या बताना चाहते हैं। अलग-अलग आचार्यों ने इसका अलग-अलग अर्थ किया है। लेकिन मोटी बात यह है

कि संसार के लोग लौकिक वस्तुओं के लिए प्रयास करते हैं, विषय-भोग की तृप्ति से अपने को सफल, अपने को सुखी मानते हैं। उनका सारा प्रयास अधिक अर्थ-संग्रह करने का, अधिक उपभोग करने का अधिक नाम कमाने का अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा को चरितार्थ करने का होता है। तुलसी ने कहा है—

सुत वित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी।। (उ. ७०/६)

इन एषणाओं ... कामनाओं में बुद्धि मलिन होती है, निर्मल नहीं। सामान्य मनुष्यों के सारे कार्यों के पीछे प्रेरणाएँ क्या हैं ? ये ही तीन प्रेरणाएँ हैं। कुछ लोग अर्थ पाने के लिए, कुछ लोग भोग पाने के लिए और कुछ लोग यश पाने के लिए काम कर रहे हैं। इन तीनों के लिए जो लोग काम करते हैं वे इस संसार को रिझाना चाहते हैं। वे लोग इस संसार के जीवों का सम्मान प्राप्त करना चाहते हैं। इस संसार की चीजों का भोग करना चाहते हैं। उनके लिए ये ही चीजें दिन हैं। इन्हीं को प्राप्त करने के लिए वे परिश्रम करते हैं। संयमी व्यक्ति के लिए यह सब व्यर्थ हैं, कुछ नहीं हैं। क्या कीमत है इनकी ? विषय और इन्द्रिय से जो भोग है वह तो दुःख की जड़ है। बाहर से जो भी सुख देने वाली बात है —उसमें तुम्हारा सुख तो उधार हो गया कि नहीं ? जिसका सुख उधार है—चाहे किसी प्रिय या प्रिया के पास, चाहे किसी होटल में, चाहे किसी लौन्ड्री में, चाहे किसी डिपार्टमेन्टल स्टोर में, वे सुखी कैसे हो सकते हैं। तुम्हारे पास तुम्हारा सुख नहीं है तो तुम दुःखी होगे ही होगे। अपने सुख के लिए बाहर—दुनिया के लोग जिसको सुख मानकर जिसके पीछे दौड़ रहे हैं—संयमी उसको रात मानता है। संयमी कहता है कि तीनों कालों में जहाँ सुख नहीं है, वहाँ तुम सुख मानोगे तो पाओगे कैसे ?

जानत गरल अमिय विमोहबस, अमिय गनत करि आगि है।
उलटी रीति, प्रीति अपने की, तजि प्रभु पद अनुरागि है।

विषय के सुख, जो वास्तव में विष हैं, उनको तुमने अमृत मान लिया है। और जो अमृत है, भगवान का सुख उसको तुम आग मानते हो। दुनिया के लोग जिसको रात मानते हैं, संयमी पुरुष उसमें जागता है। बाबा ने इसको कई बार कहा है—

मोह-निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा।।

बाबा ने इसको स्पष्ट किया है। कौन जाग रहा है? कौन सो रहा है? जो इस संसार रूपी रात में विषय-भोग के लिए पागल होकर दौड़ रहे हैं, ज्ञानियों की दृष्टि में

वे सोए हुए हैं। वे रात में दिखायी पड़ने वाले सपनों में फँसे हुए हैं। जो परमात्मा की ओर जा रहा है वह जागा हुआ है। जब तक विषय-भोग से वैराग्य नहीं होता तब तक प्रभु की ओर कोई उन्मुख नहीं होता। तब तक व्यक्ति जागता नहीं है।

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिर न डसैहौं।

बाबा ने बार-बार गीता की इन पंक्तियों को दोहराया है। मैं अब तक विषय-वासना की ओर दौड़ता रहा। इसी संसार के विषय-सुख की भावना में व्याकुल होता रहा, कष्ट पाता रहा। नष्ट होता रहा। अब रामकृपा से संसार की आसक्ति रूपी रात बीत गयी है, अब मैं जाग गया हूँ, अब फिर मोहासक्त हो कर नहीं सोऊँगा—

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं
मन मधुकर पन कर तुलसी रघुपति पद-कमल बसैहौं।
अब लौं नसानी, अब न नसैहौं ।

देखिए ! सीधी बात है। 'परबश जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन' ये इन्द्रियाँ मुझ पर हँसती हैं। क्यों ? क्योंकि ये जानती हैं कि मैं पराधीन हूँ। क्योंकि इन्द्रियाँ जानती हैं कि जितना भी गीता का ज्ञान बघारूँ, स्थितप्रज्ञ दर्शन का प्रवचन करूँ, मैं अब भी विषयलोलुप हूँ। स्थितप्रज्ञ दर्शन का प्रवचन करने से क्या होता है? इन्द्रियाँ जानती हैं कि यह विषयाधीन है, विषयासक्त है। अतः वे मुझ पर हँसती हैं। *'निज बस ह्वै न हँसैहौं'* —जब मैं, अपनी बुद्धि को, अपने मन को, अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन कर लूँगा तब मैं हास्यास्पद नहीं बनूँगा। जब तक आप स्वार्थवती बुद्धि, विषयासक्त मन और भोग-परायण इन्द्रियों के अधीन हैं, तब तक आप दुःखी हैं, आप हास्यास्पद हैं। जब आप निजवश हैं, जब आपने शुद्ध बुद्धि से अपने मन को, अपनी इन्द्रियों को निगृहीत करके वश में कर लिया है, तब आप उपहासास्पद नहीं है। क्या दिन है? क्या रात है? शंकराचार्य भगवान ने कहा है कि जैसे उल्लुओं को दिन में नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही विषयासक्त जीवों को आत्मज्ञान का प्रकाश दिखाई नहीं पड़ता। उनकी आँखें चौंधिया जाती हैं। और वे केवल मोह के अन्धकार में ही देख पाते हैं। आत्मज्ञान का वह जो दिव्य प्रकाश है, उसमें जागें; और ये जो विषय-भोग की गलित लालसाएँ हैं, इसमें सोएँ। तब हम आप स्थितप्रज्ञता की ओर बढ़ सकेंगे। बिलकुल उलटा है, ज्ञानलोक इस भोगलोक से, एक बढ़िया श्लोक है—

लोक दृष्ट्या तु बुद्धोऽयं उन्मत्त जड पिशाचवत्।
बुद्धे दृष्ट्या तु लोकोऽयं उन्मत्त जड़ पिशाचवत्।।

बुद्ध की दृष्टि में यह लोक पागल है, पिशाच की तरह व्यवहार करता है। उलटा-पुलटा काम करता है; और लोक की दृष्टि में बुद्ध पागल है, ज्ञानी पागल है उलटा-पुलटा काम करता है। भला-चंगा घर छोड़ कर चला गया। काम करता तो पैसा भी कमाता। और यह क्या करता है ? लोगों ने मकान खड़े कर लिए और यह किसी काम का नहीं रहा।,पागल है पागल। लोक की दृष्टि में बुद्ध और बुद्ध की या ज्ञानी की दृष्टि में लोक —ये परस्पर उलटे हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी —जो समस्त प्राणियों के लिए रात है, वह आत्म ज्ञान का दिव्य क्षेत्र, प्रकाशयुक्त क्षेत्र—उसमें संयमी जागता है। उस आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये, उस आत्मतत्त्व से एक हो जाने के लिए वह साधना करता है। जिसमें सारा संसार जागता है उसको ज्ञानी उपेक्षणीय मानता है। उसको अन्धकाराच्छन्न मानता है, उसको सोया हुआ मानता है। दोनों दो विपरीत दिशाएँ हैं—

जहाँ राम, तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी दोऊ ना मिलैं रबि-रजनी इक ठाम।।

बताइए कभी ऐसा हो सकता है कि सूरज चमकता हो और रात हो। ऐसा कभी नहीं हो सकता। सूरज रहेगा तो प्रकाश रहेगा। मैं गया हूँ कनाडा। रात के ग्यारह बजे भी सूरज चमकता रहता है, दिन बना रहता है। तो जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ कामना, वासना, लालसा, तृष्णा नहीं रहती। तुम आत्मज्ञान के प्रकाश में साधनारत हो कि विषय-भोग की लालसा की अँधेरी रात में सक्रिय हो। अपनी स्थिति को पहचानो, निर्णय करो।

ज्ञानी, द्रष्टा, विचारशील मुनि विषय-लालसाओं को महत्त्व नहीं देता। अब इसके बाद श्रीकृष्ण ने इस संदर्भ में उदाहरण दिया है। यह उदाहरण एक सीमा तक इस बात को समझाता है, किसी बात को समझाने के लिए उपमा दी जाती है उस उपमा को सब दिशाओं में पूरा नहीं बैठाया जाता; क्योंकि उपमाएँ एकदेशीय होती हैं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। (२/७०)

यहाँ प्रभु ने समुद्र का उदाहरण दिया है। इस पर विचार करने के पहले एक बात साफ कर लें। देखिये, जब बरसात के दिन आते हैं, पानी की रेलपेल मचती ही है। कबीर बाबा ने कहा—

भगति भाव भादौं नदी, सबै चलीं भहराय।
सरिता सोइ सराहिए, जेठ मास ठहराय।।

जब जय श्रीराम बोलने से प्रसाद मिलता हो, तो बहुत से लोग बोलेंगे। अगर बढ़िया भोजन मिले, तो बहुत से लोग जा करके मन्दिर में कीर्तन करेंगे। भादों में नाला भी नदी बन कर उमड़ता है। कबीर बाबा ने कहा— इसकी सनद नहीं। *'सरिता सोइ सराहिए जेठ मास ठहराय'*— जेठ की दुपहरी में, प्रचंड गर्मी की ज्वाला झेल कर जो नदी, नदी रह जाती है, सूखती नहीं, वही सराहने योग्य है। अनुकूलता में भक्ति और प्रतिकूलता में विभक्ति— यह भक्ति नहीं है। तुलसी बाबा ने लिखा है—

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल-कराल विलोकि न भागे,
राम कहाँ, सब ठाँव है, खम्भ में, हाँ, सुनि हाँकि नृकेहरि जागे।
बैरि बिदारि भये बिकराल कहे प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे।

काढ़ि कृपान— हिरण्यकश्यप ने तलवार खींच ली, *कृपा न कहूँ*— उसके मन में कृपा का लेश नहीं कि मेरा बेटा है। यह पिता नहीं है, साक्षात् मृत्यु है। विकराल काल बना हुआ, तलवार खींच कर बढ़ता हुआ हिरण्यकश्यप मृत्यु के समान है। उसको देख कर प्रह्लाद डरे नहीं, भागे नहीं। क्रोधित हो हिरण्यकश्यप ने पूछा—राम कहाँ ? कहाँ है तुम्हारा राम ? उत्तर दिया— सब ठाँव है। सब जगह है। खम्भ में? इस खम्भे में है तुम्हारा राम ? हाँ। सुनि हाँ, प्रह्लाद की हाँ सुन कर गरजते हुए नरसिंह खम्भे से प्रकट हुए। जो मृत्यु के सम्मुखीन होकर भी भक्ति से विचलित नहीं होता, वह भक्त है। अनुकूलता में नाले भी नदी का रूप धारण करते हैं। बल्कि नाले ही नदी बन जाते हैं। जो सुख में फूल कर कुप्पा होगा, वही दुःख में सूख कर छुहारा होगा। अनुकूल स्थिति में जो गुमान से भर जाएगा, वही दुःख में कातर होगा। उदाहरण दे रहे हैं समुद्र का— *आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।*

आपूर्यमाण— चारों तरफ से नदियों से निरन्तर भरता हुआ भी, भरा जाता हुआ भी समुद्र अपनी मर्यादा कभी नहीं छोड़ता। अचल है, प्रतिष्ठित है। गुरु जी ने इसमें एक और सूक्ष्मता पैदा की। चारों तरफ से भरा हुआ, न भरा हुआ। दोनों बातें। बरसात की नदियाँ भरती हैं। ग्रीष्म की नदियाँ खुद ही सूखी पड़ी हैं। क्या है? पानी आए तो भी, पानी न आए तो भी। *आपूर्यमाण*— इसके दो अर्थ किए हैं। भरता हुआ भी और न भरता हुआ भी। तो चारों तरफ से बरसात की नदियों के द्वारा भरा जाता हुआ भी या ग्रीष्म की नदियों में जल से न भरा जाता हुआ भी या ग्रीष्म के दिनों में या बड़वानल से खौलते हुए पानी से भाप बनकर उड़ता हुआ भी, अनुकूल स्थिति में भी, प्रतिकूल स्थिति में भी समुद्र जैसे अविचलित रहता है। *आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः*

प्रविशन्ति यद्वत्। जैसे जल भरता रहता है समुद्र में उसी तरह; जिसमें समस्त कामनाएँ आकर भर जाती हैं, कभी पूर्ण होकर, कभी अपूर्ण होकर; लेकिन जो विचलित नहीं होता, जो अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, जो स्थिर रहता है, उसको शान्ति प्राप्त होती है। *न कामकामी*— कामनाओं के पीछे दौड़ने वाले को नहीं। समझिये कि इसमें क्या बात बताई गई है ? इसमें बताया गया है कि समुद्र में चारों तरफ से पानी भरता रहता है तो भी वह अपनी मर्यादा से बढ़ता नहीं है। समुद्र बढ़े तो पृथ्वी डूब जायेगी। प्रलयकाल का यही मतलब है। प्रलयकाल में समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ता है तो पृथ्वी डूब जाती है। समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। किसी तरह से न भरने पर भी घटता नहीं, भरने पर भी बढ़ता नहीं। यह आंशिक उपमा है क्योंकि आजकल के वैज्ञानिक यह दिखा देंगे कि नहीं— थोड़ा सा बढ़ जाता है, थोड़ा सा घट जाता है— यह बात नहीं है। एक मर्यादा की बात है। और दूसरी बात यह है कि समुद्र और पानी —दोनों समान स्तर की वस्तुएँ हैं। जल और समुद्र सजातीय हैं। कामनाएँ और खासकर विषय की कामनाएँ और चैतन्य ये सजातीय नहीं हैं। इसलिए जैसे नदियों का जल समुद्र में पानी भरता है वैसे संयमी पुरुष के मन में कामनाएँ आकर सजातीय रूप से नहीं भरतीं। वे कामनाएँ उसको न तो विचलित करती हैं न आकृष्ट करती हैं। उन कामनाओं के प्रति वह निरपेक्ष रहता है। वे कामनाएँ उसमें आकर शान्त हो जाती हैं। कामनाएँ अपनी क्षमता को, अपनी प्रतिक्रिया को शान्त हृदय वाले संयमी पुरुष के मन में उत्पन्न करने में असमर्थ रहती हैं। उसमें आकर लीन हो जाती हैं। ऐसा ही व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है जिसमें सारी सृष्टि की कामनाएँ लीन हो जायें, जिसको सारी सृष्टि का धन मिल जाए तो भी कुछ नहीं। मिला हुआ सारी सृष्टि का धन उससे दूर चला जाए तो भी उसको कुछ नहीं। राजा जनक ने कहा कि जलती हुई मिथिला में मेरा कुछ नहीं जलता।

मेरा कुछ नहीं जलता। क्या मेरा है ? मेरा कुछ भी नहीं। जो कुछ भी है, वह तेरा है। मेरा कुछ भी नहीं। जो तुम्हारा है, बनाओगे— बनेगा। बिगाड़ोगे—बिगड़ेगा। मेरा क्या है ? कुछ नहीं। यह वृत्ति जब मन में आती है तो कामनाएँ अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहती हैं। वही व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है जिसके हृदय में विषय-भोग की कामनाएँ आकर लीन हो जाती हैं। उसको विचलित नहीं कर पातीं। इसके बाद वाला श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस में चार बातें बताई गई। जो लोग शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं उनको ये चार बातें स्मरण रखनी चाहिएँ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। (२/७१)

शान्ति प्राप्त करने की चार सीढ़ियाँ हैं। इन चारों सीढ़ियों पर जो चढ़ चुका है, इन्हें पार कर चुका है, वही शान्ति प्राप्त करेगा। पहली बात—*विहाय कामान्*—जो कामनाओं को छोड़ता है। याद रखिए—अप्राप्त को प्राप्त करने की वासना कामना है। कामना क्या है? कामना यह है कि जो चीज मुझको नहीं मिली है, जो मुझको अप्राप्त है, वह मुझको प्राप्त हो जाए। अप्राप्त को प्राप्त करने की वासना कामना है। कामना छोड़नी होगी। दूसरी बात स्पृहा छोड़नी होगी। *निस्पृहः* —निस्पृह का मतलब क्या हुआ? जो प्राप्त है वह बना रहे—यह स्पृहा है। जो नहीं मिला है, वह मिले—यह भी स्पृहा है। इस अर्थ में कामना और स्पृहा में समता है। लेकिन जो प्राप्त है वह बना रहे—यह स्पृहा है। अप्राप्त प्राप्त हो, यह कामना है। प्राप्त बना रहे—यह स्पृहा है। ममता—यह चीज मेरी है और अहंकार। जरा इस बात पर ध्यान दीजिये, चमत्कार है। अहंकार किस बात पर होता है ? ममता अहंकार को उत्पन्न करती है। जिसको आप अपना मानते हैं, वह जब आपकी दृष्टि में श्रेष्ठ होता है तो आपके मन में अहंकार होता है। अगर आप रुपये को श्रेष्ठ मानते हैं और आप रुपए को अपना मान कर कहते हैं—मेरे पास दस करोड़ रुपया है, मैं करोड़पति हूँ। अगर विद्या को आप श्रेष्ठ मानते हैं और आपके पास बहुत विद्या है तो मैं विद्वान् हूँ। अगर आप बाहुबलियों की जमात को श्रेष्ठ मानते हैं और आपके पास पचासों बाहुबली हैं—मैं सरदार हूँ, मैं नेता हूँ। यह याद रखिये कि आपके पास जो है उसकी श्रेष्ठता का बोध और उसकी ममता आपको अहंकारी बनाती है। जिन बातों को आप अपना मानते हैं, उनके कारण अहंकार होता है। कामना, स्पृहा, ममता और अहंकार—ये चार बाधाएँ हैं, जिनके कारण हमारा मन शान्त नहीं होता। हमारे मन में अगर अशान्ति है, तो इन चारों में से किसी एक कारण से होगी। और इन चारों के संबंध में जब विवेक करेंगे, जब हमको इसका सही सम्यक् ज्ञान होगा—

किं मोक्ष तरुबीजं सम्यक् ज्ञानं क्रियासिद्धम्।

भगवान शंकराचार्य कहते हैं। मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज क्या है ? सम्यक्, सही ज्ञान जो क्रिया में सिद्ध हुआ हो। मौखिक ज्ञान नहीं, पुस्तकीय ज्ञान नहीं, वाचिक ज्ञान नहीं—*सम्यक् ज्ञानं क्रियासिद्धम्*—सम्यक् ज्ञान, जो हमारे जीवन में, आचरण में उतर आए। अब देखिये ! आत्मज्ञान अगर प्राप्त हुआ है तो ये चारों चीजें ढह जाएँगी। आत्मज्ञान प्राप्त होने के बाद या आत्मज्ञान की ओर उन्मुख होने के बाद इनका प्रभाव नहीं पड़ेगा। आत्मज्ञान तो है ही विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षा अर्थात् मुक्ति पाने की इच्छा। यदि विवेक होगा तब तो सत् और असत् को अलगायेंगे । और यह

असत् है, ऐसा जिसको जान लेंगे उसके प्रति वैराग्य होगा कि नहीं? वैराग्य होगा तो कामना कैसे होगी ? आत्मज्ञानी नहीं हुए हैं, लेकिन आत्मज्ञान प्राप्ति की दिशा में बढ़े हैं। आत्मज्ञान प्राप्ति की दिशा में बढ़ने पर ज्ञान की दृष्टि से वैराग्य अनिवार्य है। चाहे वह भक्ति से हो, चाहे ज्ञान से हो। ज्ञान में तो रुपये-पैसे आदि की सत्ता ही नहीं है। और भक्ति में— *संपति सब रघुपति कै आही*—संपत्ति मेरी नहीं है। सम्पत्ति तो रामजी की है। अच्छा कभी इस बात पर आपलोगों ने ध्यान दिया है कि हमलोग भगवान को जो भोग लगाते हैं, वह प्रसाद कैसे बन जाता है ? भगवान को भोग लगाते समय जब हम उसके प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग करते हैं, तभी वह भगवान का प्रसाद बनता है। जो चीज हमने भगवान को अर्पित कर दी, भगवान की हो गई, तभी प्रसाद बनी कि नहीं ? जब चीज मेरी है, तब तक वह भगवान का प्रसाद नहीं बनेगी। भगवान का प्रसाद कोई भी वस्तु तभी बनेगी जब हम भगवान को उसको अर्पित कर देंगे। अच्छा आप किस चीज को अर्पित करेंगे? अर्पण और भगवान का, भगवदीय होना—इसमें अन्तर है। आप अपनी किसी चीज का त्याग कर सकते हैं, आप अपनी किसी चीज का दान कर सकते हैं, आप अपनी किसी चीज को अर्पित कर सकते हैं, जिस दिन आपकी यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि हमारा कुछ है नहीं, सब भगवान का है, तब सवाल उठता है कि उन्हें क्या अर्पित करें। एक बढ़िया दोहा याद आया—

प्राण तोर मैं तोर, मन बुधि चित यश तोर सब।
एक तू ही तो मोर, काहिं निवेदौं तोहिं प्रभु?

प्राण तोर— मेरे प्राण तुम्हारे हैं। मैं तुम्हारा। मेरा मन तुम्हारा, मेरी बुद्धि तुम्हारी, मेरा चित्त तुम्हारा, मेरा यश तुम्हारा। केवल तुम्हीं मेरे हो। रामजी अब मुझे बताओ तुमको कैसे निवेदित करूँ। इस बात पर ध्यान दीजिए। भक्ति भगवान को ममता की परिधि के भीतर ले आती है।

ममता तूँ न गई मेरे मन से— अगर लौकिक ममता को छोड़ना है तो आप ममता की परिधि के भीतर रामजी को ले आइये। बराबर याद रखिये कि बन्धन छोटा पड़ेगा तो चटाक् से टूट जाएगा। ममता की कोई डोरी इतनी बड़ी नहीं है कि रामजी से बड़ी हो जाए। इसलिए रामजी को अगर अपनी ममता की परिधि में ले आए तो वह ममता, ममता से ऊपर कुछ हो जाती है। हम रामजी के होते हैं, रामजी हमारे होते हैं। होते-होते हम रामजी ही हो जाते हैं। ज्ञान में क्षुद्र अहंकार को बड़ा बनाकर *'अहं ब्रह्मास्मि'* कहा जाता है। भक्ति में ममता के भीतर प्रभु को लाया जाता है। ज्ञान में 'अहं' के परिच्छिन्न रूप को, नाम और रूप से सीमित जो मैं है छोटा अहंकार, तुच्छ

अहंकार, अन्तःकरण वाला अहंकार—उसको नष्ट करके व्यापक अहं के साथ एकरूप हुआ जाता है। और भक्ति, सब कुछ रामजी ही हैं। उन्हीं की मैं सेवा कर रहा हूँ, उन्हीं का काम कर रहा हूँ। कर्त्तव्य ही पाल रहा हूँ, मेरा कुछ नहीं है। किसी भी दृष्टि से आप देखिए—सेवा में कामना नहीं। मैं यही सेवा करूँ, यह कामना हो सकती है ? जो सेवा रामजी देंगे, वह करूँगा। मैं अपनी इच्छा के अनुसार यदि सेवा करूँगा तो मैं सेवक कि मैं स्वामी ? सेवा के क्षेत्र में आप स्वाधीन हैं क्या ? आप को जो सेवा दी जाएगी, वही आप को करनी है। हनुमानजी के बताने पर कि रावण द्वारा सीता अपहृत कर ली गयी हैं, लक्ष्मणजी मूर्छित हैं, भरतजी को ग्लानि हुई कि इस समय मैं अयोध्या में? उनकी इच्छा हुई कि वे रामजी के बगल में जाकर खड़े होकर रावण से युद्ध करें। लेकिन क्या वे सेवा चुनने में स्वतंत्र थे ? तुलसीदास ने अद्‌भुत पंक्तियाँ लिखीं है—

आयसु इतहिं, स्वामि संकट उत, परत न कछू कियो है।
तुलसिदास विहर्‌यो अकास सो कैसे कै जात सियो है।

आयसु इतहिं—भरत ने चित्रकूट में कहा था, *अग्या सम न सुसाहिबु सेवा, सो प्रसाद जनु पावहिं देवा*— आज्ञा से बढ़कर कोई सेवा नहीं है। रामजी आप आज्ञा दीजिए, मैं वही करूँगा। रामजी ने आज्ञा दी कि तुम चौदह वर्षों तक अयोध्या में रहो। *आयसु इतहिं*-- एक तरफ रामजी की आज्ञा है कि मैं चौदह साल अयोध्या में रहूँ। *स्वामि संकट उत*— उधर लक्ष्मण मूर्छित हैं, सीता अपहृता हैं— रामजी पर संकट है, *परत न कछू कियो है*। कुछ करते नहीं बनता है। क्या करूँ ? यहाँ रहूँ कि वहाँ जाऊँ? धोती फट जाए तो कोई सी ले, कुर्ता फट जाए तो कोई सी ले। *तुलसिदास विहर्‌यो अकास*—आकाश फट गया है तो उसको कैसे सिया जाए ? लेकिन फिर भी—*सेवा धर्मः परम गहनो, योगिनामप्यगम्यः* —फिर भी जो परम कठिन योगियों के लिए भी अगम्य सेवा धर्म है उसी सेवा धर्म पर बल देकर—भरत लाल वहीं रहे, लंका नहीं गए। तो कर्त्तव्य-कर्म उसमें क्या कामना हो सकती है? उसमें क्या राग-द्वेष हो सकता है? जो कर्म सहज सुलभ प्राप्त है, वह कर्म करूँगा, भगवान का दिया कर्म करूँगा। इन्द्रियाँ-इन्द्रियों में बरत रही हैं। गुण गुणों में बरत रहे हैं। क्या है उसमें ? मूल बात यह है कि शान्ति कब प्राप्त होगी ? ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग किसी भी तरह से अपने मन को समझाइये किसी भी निष्ठा पर, किसी भी भावना पर दृढ़ रहिये तो किसी भौतिक विषय भोग वस्तु की कामना से हम ऊपर उठ सकते हैं।

विहाय कामान् यः सर्वान्— इसमें कोई व्यतिक्रम नहीं है। जो समस्त कामनाओं को त्याग देता है। सुख आए— आए। दुःख आए— आए। कठिन है, कठोर है।

अनुकूल है, प्रतिकूल है। रहे, जाए। कामनाओं को, स्पृहा को, ममता को, अहं को छोड़ कर जो कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वह शान्ति प्राप्त करता है। ये चारों चीजें अगर छूट जाएँ, कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार—तो क्या होता है?

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। (२/७२)

यही ब्रह्मत्व है। हम, आप—परिच्छन्नता—यानी सीमा में कटे-छँटे क्यों हैं? इसलिए हैं कि हम छोटी-सी बात की कामना करते हैं। छोटी-सी इच्छा—इससे मेरा ममत्व है—यह मेरा है। यह मेरा नहीं है—यह इसका है। हम छोटे हैं। ब्राह्मी स्थिति किसको कहते हैं ? इसके लिए लोगों ने अलग-अलग अर्थ किए हैं। शंकराचार्य जी कहते हैं कि जो ब्रह्म की स्थिति है—वह ब्राह्मी स्थिति है। तो अगर हमने कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार का त्याग किया, छोड़ दिया तो हम ब्रह्म हो गए। ब्राह्मी स्थिति— भक्त लोग कहते हैं कि ब्रह्म हो जाने की, ब्रह्म की ओर ले जाने वाली स्थिति। जो भी अर्थ ले लें। मूल बात यह है कि अगर हमने विषय-भोग की वस्तुओं की, जड़ वस्तुओं की कामना को त्याग दिया, हम अगर निःस्पृह हो गए, कोई स्थिति-विशेष बनी रहे—इसका आग्रह अगर छोड़ दिया; कोई स्थिति-विशेष न आए—इसका भय भी छोड़ दिया; राग भी छोड़ दिया; द्वेष भी छोड़ दिया; किसी को अपना मानना भी छोड़ दिया। जो सबका होता है, वह संकीर्ण अर्थ में किसी का नहीं होता। और जो अपने छोटे अहं से मुक्त हो गया वह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेता है। ईशावास्योपनिषद् के मंत्र याद आते हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

यही है ब्राह्मी स्थिति। सबमें मैं हूँ, मुझमें सब हैं। मुझसे परे, मुझसे अलग कुछ नहीं है। किस चीज की कामना की जाती है? जो मुझसे भिन्न होती है, अलग होती है। ब्राह्मी स्थिति तो होती ही तब है जब यह उपलब्धि हो जाती है कि कोई मुझसे अलग नहीं है, कुछ मुझको अप्राप्त नहीं है। कामना किसकी करूँ? अप्राप्त की कामना होती है। मुझे छोड़ कर कुछ और है ही नहीं। मैं यह नाम रूपी शरीर नहीं हूँ। यह छोटा अहं, क्षुद्र अहं, मेरा नहीं है। *ब्राह्मी स्थिति*—ब्रह्म के समान स्थिति। बड़ी कठिन बात है, मुश्किल बात है। गीता में यही बात बताई गई है। शुरुआत करने की आवश्यकता है। रामजी की कृपा हमको उस ऊँचाई तक ले जाएगी। लेकिन यह ध्यान देने की बात है

कि विषयों से मिलने वाला सुख, सच्चा सुख नहीं है। इसलिए विषयों की कामना जड़ता की ओर ले जाने वाली बात है। जो कुछ है, वह वैसा बना रहे—यह सिर्फ मूर्खता की बात है। नहीं बना रहेगा। प्रतिक्षण वर्तमान बदलेगा। यथास्थिति की स्पृहा रहेगी तो दुःखी रहेंगे, अशान्त रहेंगे। क्या है आपका? क्या लाए थे माँ के पेट से ? क्या छूट जाएगा? यह कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार—ये चार बड़े बन्धन हैं जिन्होंने हमको बाँध रखा है, जिन्होंने हमको छोटा बना दिया है, जिन्होंने हमको भिखमंगा बना दिया है, कंगाल बना दिया है, जिन्होंने हमको अशांत बना दिया है, दुःखी बना दिया है। अगर हम सचमुच शान्ति पाना चाहते हैं, सच्चा सुख पाना चाहते हैं, अगर हम विकास करना चाहते हैं, विस्तार पाना चाहते हैं, ब्रह्म के समान व्यापक होना चाहते हैं (जो सर्वव्यापी है, वही ब्रह्म है) तो फिर आज नहीं कल, कल नहीं परसों, आने वाले किसी समय—भगवान की कृपा से कामना छूटेगी, स्पृहा छूटेगी, ममता छूटेगी, अहंकार छूटेगा; और इन सबसे मुक्त होकर ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होगी और ब्राह्मी स्थिति में चिरन्तन शान्ति है, वास्तविक शान्ति है। शान्ति माने भगवान, शान्ति माने ब्रह्म। उसकी प्राप्ति होगी। एक बार यह अनुभव हृदय में आ जाने के बाद फिर मोह नहीं आएगा।

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला— मोह समस्त व्याधियों का मूल है। इस नाम रूप के भीतर एक ही सत्य है और वह सत्य मैं ही हूँ। इसलिए मेरा कुछ प्राप्तव्य नहीं है। कोई अतिरिक्त स्पृहा नहीं है। जो आ रहा है, जा रहा है उसमें बरताव हो रहा है; और उस व्यवहार में बरतता हुआ भी मैं मुक्त हूँ—अद्‌भुत बात है। स्थितप्रज्ञ। वासना से रहित, विषय भोग की कामना से शून्य, इन्द्रियों से विषयों में बरतता हुआ —उसमें फँसता नहीं है। मेरे गुरुजी इसमें एक बहुत अच्छा उदाहरण देते थे। दर्पण का उदाहरण देते थे। कहते थे कि अनासक्ति का सब से अच्छा उदाहरण दर्पण का व्यवहार है। उसके सामने सुन्दर आये, कुरूप आये, वह सबको प्रतिफलित करता है, किसी के जाने पर हाय-हाय नहीं करता, न वह किसी से चिपकता है, न कोई उससे चिपक सकता है। वह हमें शिक्षा देता है कि कैसे इन्द्रियाँ विषयों में बरतें और चिपकें नहीं, किसी विषय को अनुकूल न मानें, किसी विषय को प्रतिकूल न मानें, करेले से द्वेष नहीं होना चाहिए क्योंकि वह कड़वा है, वह पथ्य है। समय पर करेला, समय पर नीम का रस पीना चाहिए। जो जैसा जब मिला—उसको बरत लिया। भर्तृहरि का एक बढ़िया श्लोक है कि—

क्वचिद्‌भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनं
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।

क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।।

जो मनस्वी है, स्थितप्रज्ञ होकर जो कार्य कर रहा है, वह भगवान् का दिया हुआ काम कर रहा है। कर्त्तव्य-निर्वाह कर रहा है। उसको पलंग पर सोने को मिला —सो गया। जमीन पर सोने को मिला—सो गया। बढ़िया भोजन मिला—कर लिया। करेला मिला तो खा लिया। रेशमी वस्त्र मिला—पहन लिया। रेशमी वस्त्र में फँसता नहीं। जमीन पर सोने में कुढ़ता नहीं। मनस्वी है, कार्यार्थी है। वह सुख-दुःख को नहीं गिनता। स्थितप्रज्ञ है। कभी मोहग्रस्त नहीं होगा, यह इसकी प्रशंसा है। होना चाहिए जीवनकाल में ही। जीवनमुक्ति का जो विलक्षण आनन्द है वह तब प्राप्त होता है जब हम कामना से, स्पृहा से, ममता से मुक्त होकर कर्त्तव्य कर्म करते हैं। जीवनमुक्ति—जीते जी मुक्ति। परलोक में होगा कोई सुख। गीता का कर्मयोगी उधार का सुख नहीं करता। सब काम करते हुए मौज-मस्त। सच्चिदानन्द—हर हाल में मस्त। मृत्यु के समय भी अगर आ जाए यह बात, तो भी ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति होती है। बौद्धों का ध्वंसात्मक निषेधात्मक निर्वाण नहीं कि बुझ गया। सच्चिदानन्द में लीन हो जाना। ब्रह्मनिर्वाण का क्या मतलब हुआ? जीवित व्यक्ति, जो अपने को सीमित, परिच्छिन्न मानता था, वह ब्रह्म से एकाकार हो गया। तद्रूप हो गया। यह ब्रह्म-निर्वाण संभव है—अगर हम स्थितप्रज्ञ हो सकें। स्थितप्रज्ञ होकर, बुद्धि को शुद्ध कर, बुद्धि को स्वस्थ —मर्यादित रखकर, मन के ऊपर निग्रह प्राप्त कर, शुद्ध बुद्धि के द्वारा परिचालित मन और इन्द्रिय के द्वारा कार्य करते-करते हम क्रमशः जब इस भूमिका पर पहुँचेंगे कि हमारी समस्त कामनाएँ छूट जाएँगी, स्पृहा छूट जाएगी, ममता छूट जाएगी, अहंता छूट जाएगी तो ब्राह्मी स्थिति में जाकर, मोहमुक्त होकर ब्रह्म में तल्लीन हो जाएँगे।

ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति— निर्वाण किसको कहते हैं ? बाण जब लगता है तो पीड़ा होती है, मूर्च्छा होती है, मृत्यु होती है। निर्वाण न पीड़ा, न मूर्च्छा, न मृत्यु, सच्चिदानन्द स्वरूप। उस सच्चिदानन्द में विलीन हो जाना, उससे एकरूप हो जाना, स्थितप्रज्ञ होने पर संभव है। हम आज तो नहीं हैं स्थितप्रज्ञ—लेकिन हममें श्रद्धा तो है, हमारी भावना तो दृढ़ है, हम भगवान से प्रार्थना तो करें कि प्रभु आपकी कृपा से एक दिन ऐसा जरूर आएगा जब हम स्वस्थ शुद्ध बुद्धि के द्वारा निगृहीत मन से, वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषयों में व्यवहार करते हुए उनसे अयुक्त रहकर कामना, स्पृहा, ममता, अहंता से मुक्त होकर आप में लीन होने की क्षमता प्राप्त करेंगे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। ●

प्रवचन-७*

कर्मयोग-१

भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत के महासमर के बीच गीता का उपदेश दिया था। जीवन में जब कठिन परिस्थितियाँ आती हैं, जीवन के संग्राम में जब तीक्ष्णता आती है तभी गीता का प्रयोजन सबसे अधिक होता है। अगर हमारे, आपके जीवन में परिस्थितियाँ संगीन हैं, तो समझिए कि हम गीता का अर्थ समझने की पात्रता अर्जित कर रहे हैं। गीता अत्यन्त तेजस्वी शास्त्र है। इस तेजस्विता में ब्रह्मज्ञान की शान्ति भी निहित है और कर्म की प्रखरता भी। ज्ञान और कर्म का ऐसा अद्‌भुत समन्वय है गीता-शास्त्र में कि हमारा प्रत्येक क्षण इसके अनुशीलन से पवित्र हो सकता है। द्वितीय अध्याय श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का बीज अध्याय है और इस बीज अध्याय में ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग—इन तीनों योगों के बीज-रूप को संकेतित किया गया है। यद्यपि यह सच है कि ज्ञान और कर्म अपेक्षाकृत अधिक मुखरित होकर इसमें आए हैं और भक्ति केवल *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'* के अन्तर्गत मात्र संकेतित हुई है। मत्परः में भक्ति की अनुभूति कर पाना इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना केवल अपनी शक्ति से, केवल अपने बलबूते से संभव नहीं है। इसलिए भगवान का आश्रय लेकर, भगवत्परायण होकर जब हम प्रयास करते हैं, तब हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन होती हैं। यह मत्परायणता बीज है भक्ति-तत्त्व का। इसी तरह आत्मा अखंड है, अनंत है, अमर है, अच्छेद्‌य है, अनादि है। यह जो आत्म-स्वरूप का, आत्म-तत्त्व का निरूपण हुआ है; और अनासक्त कर्म की बात कही गई है— इन दोनों बातों को कहने का फल अर्जुन पर थोड़ा विचित्र-सा हुआ।

अर्जुन के मन की अपनी इच्छा उसकी जिज्ञासा में मुखरित होती है। अर्जुन ने प्रथम अध्याय में कहा था— *'न योत्स्ये'* —मैं युद्ध नहीं करूँगा। और उस युद्ध नहीं करने की उसकी इच्छा द्वितीय अध्याय का श्रवण करने के बाद भी उसके मन में गुप्त रूप से निहित है, छिपी हुई है; इसलिए वह यह प्रश्न करता है। प्रश्न में विनम्रता भी है,

* तृतीय अध्याय (कर्मयोग) : श्लोक संख्या १ से १६

संनिकटता भी है, थोड़ा उलाहना भी है, थोड़ी अपनी इच्छा की पूर्त्ति का आग्रह भी है। देखिए ! भगवान ने कहा कि—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जयः।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (२/४९)

डंके की चोट पर उन्होंने कहा कि केवल कर्म बुद्धियोग की तुलना में बहुत अवर है, निकृष्ट है। इसलिए तुम बुद्धि की शरण में जाओ। जो केवल फल की आशा से कर्म करते हैं, वे निकृष्ट हैं। तो बुद्धि को कर्म से श्रेष्ठ बताया।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जयः

बहुत ही निकृष्ट है बुद्धियोग की तुलना में केवल कर्म ! और फिर भी कहते हैं कि— *'तस्मादुत्तिष्ठ युद्धाय युज्यस्व'* —उठो! युद्ध के लिए खड़े हो जाओ। कहते हैं कर्म करो। तो अर्जुन का सवाल है कि प्रभु ! मेरी समझ की भूल हो सकती है। लेकिन आपकी बात मुझे मिली-जुली-सी लग रही है।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। (३/१-२)

दो श्लोकों में जिज्ञासा है। वे कहते हैं कि प्रभु ! अगर तुम्हारा यह निष्कर्ष है कि कर्म से बुद्धि श्रेष्ठ है। *'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव'* —अगर बुद्धि श्रेष्ठ है, ज्ञान श्रेष्ठ है तो मुझको ज्ञान में ही लगाओ। अच्छा ! ज्ञान में लगाते समय अगर तुमको लगे कि ज्ञान में लगने की अभी पूरी स्थिति नहीं हुई है, ज्ञान में लगते-लगते मैं लगूँगा तो सत्कर्म में लगाओ। सौम्य कर्म में लगाओ। *'घोरे कर्मणि'*? युद्ध के कर्म में, रक्तपात में, हत्या में तुम मुझे क्यों लगा रहे हो ? हे केशव ! इस बात का स्पष्टीकरण करो, मुझे बताओ कि एक तरफ तो तुम कहते हो कि कर्म से बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ है दूसरी तरफ तुम मुझे बुद्धि में प्रवृत्त होने का, बुद्धियोग, ज्ञानयोग करने का आदेश नहीं देते। युद्ध करने का आदेश देते हो, घोर कर्म करने का आदेश देते हो? अब इसके बाद की पंक्ति सुनिए—

'व्यामिश्रेणेव' इसमें इव है। इस इव शब्द में भगवान् के प्रति उसकी श्रद्धा छिपी हुई है। भगवान ! आप तो मिली-जुली बात नहीं कहते। आप तो परम ज्ञानी हैं। आप तो अपनी बात में उलझन उत्पन्न करना नहीं चाहते होंगे। लेकिन मेरे मन में उलझन उत्पन्न हो रही है। इसके लिए मैं आपको नहीं, अपने को ही दोषी करार देता हूँ।

इसलिए यह नहीं कह रहा हूँ कि आप मिली-जुली बात बोल रहे हैं। मिली-जुली-सी बात बोल रहे हैं— ऐसा मुझको लगता है। आप देखिए। प्रश्न करने का तरीका हमको आना चाहिए। जब हम किसी बड़े से प्रश्न कर रहे हैं तो उससे प्रश्न करने में विनम्रता होनी चाहिए। बड़े की बुद्धि जाँच रहे हैं— ऐसा भाव नहीं होना चाहिए। बड़े की बात को गलत बता रहे हैं, आपकी बात को हम समझने की चेष्टा करके भी समझ नहीं पा रहे हैं। उस समझने की असमर्थता का अपराध मैं अपने सिर पर लेता हूँ। मैं अपराधी मान लेता हूँ अपने को अब तो कृपा करके उस बात को स्पष्ट कीजिए, ऐसी भाषा में कहिए कि मुझको समझ में आ जाए।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे

प्रभु! न तो आप मिली-जुली बात कहना चाहते हैं, न आप यह चाहते हैं कि मेरी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो। आप ऐसा नहीं चाहते। लेकिन आपकी बात सुनकर मेरी बुद्धि भ्रान्त हो गई है। कमी मेरी है। कसर, त्रुटि, अपराध मेरा है। लेकिन मैं जैसा हूँ प्रभु! आपका हूँ; इसलिए आपसे प्रार्थना करता हूँ— *'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।'* मैंने चूँकि आपकी शरण ली है इसलिए द्विधाहीन भाषा में, द्व्यर्थहीन भाषा में, जिस भाषा के दो अर्थ न निकलें—ऐसी निश्चित् भाषा में मुझे अपना मत बताइये। *'श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'* —जिसके द्वारा मैं परम श्रेय, परम कल्याण, मोक्ष की प्राप्ति करूँ। ऐसा आप निश्चित करके मुझे मेरे योग्य भाषा में बतायें जिससे मुझको यह भ्रान्ति न हो कि मिली-जुली बात सुन रहा हूँ, जिससे मेरी बुद्धि भ्रान्त न हो।

अच्छा! इस बात पर ध्यान दीजिए। श्रेय प्राप्ति क्या है? श्रेय का मतलब होता है परम कल्याण। श्रेय का मतलब होता है मोक्ष। हम भारतवर्ष में जन्म लेने वाले लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि हमारा चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है, मोक्ष की प्राप्ति है। मुक्ति हमारा परम श्रेय है, यह हमको प्राप्त होना चाहिए। उस परम श्रेय की प्राप्ति का मार्ग आप मुझको बतायें। श्रेय का एक ही रास्ता है— ऐसा हम भारतवर्ष में नहीं मानते। हम यह मानते हैं कि लक्ष्य एक है। लक्ष्य के साधन अनेक हैं। साधन की अनेकता, मार्ग की बहुलता की स्वीकृति— यह भारतीय संस्कृति का आधारभूत लक्षण है। किस मार्ग से तुम जाओ—इसमें कुछ वैयक्तिक स्थिति की विशेषता की भी आवश्यकता है। हर एक के लिए एक मार्ग ? सब धान बाईस पसेरी ? हम नहीं मानते। हम यह मानते हैं कि हम अलग-अलग प्रवृत्ति लेकर, अलग-अलग स्वभाव लेकर, अलग-अलग विशेषताएँ लेकर पैदा हुए हैं। हमारी प्रवृत्ति, हमारी प्रकृति, हमारी विशेषताओं के अनुरूप हमारे लिए मार्ग होना चाहिए। सबके लिए एक ही मार्ग हो—

यह भारतीय मेधा ने स्वीकार नहीं किया है। मैं इस बात को असंख्य बार दोहरा चुका हूँ। असंख्य बार दोहराऊँगा। क्योंकि यह भेदक लक्षण है, हमारी संस्कृति का दूसरी संस्कृतियों से। भेदक माने— अन्य से अलग कर देने वाला। भिन्न बताने वाला। यहूदी संस्कृति, ईसाई संस्कृति, इस्लामी संस्कृति और कम्यूनिस्ट संस्कृति इनके अनुसार एक ही रास्ता है। भारतीय संस्कृति कहती है कि एक ही रास्ता नहीं है, बहुत से रास्ते हैं। लेकिन उन बहुत से रास्तों का महालक्ष्य एक है और साधन मार्ग अलग-अलग हैं। इसलिए अर्जुन कहता है कि श्रेय तो प्राप्त करना चाहता हूँ; लेकिन मैं कैसे श्रेय प्राप्त करूँ ? मेरे योग्य रास्ता सद्गुरु आप मुझे बताएँ। गुरु का महत्त्व यह भी है। गुरु अपने शिष्य को पहचानता है। शिष्य नहीं जानता कि उसके लिए कौन-सा रास्ता ठीक है। शिष्य तो भ्रान्त होता है। शिष्य तो जिस रास्ते को अच्छा मानता है उस ओर जाना चाहता है। भले ही उसकी प्रकृति के अनुकूल वह न हो। सुनी-सुनाई बात से वह प्रभावित होता है। गुरु शिष्य को पहचानता है। शिष्य के योग्य, उसकी प्रकृति के अनुकूल परम कल्याण का रास्ता बताता है। इसलिए गुरु श्रेष्ठ है। इसलिए भगवान के चरणों में अर्जुन निवेदन करता है कि मेरी ही भ्रान्ति के कारण आप की निष्कलुष भाषा भी मुझको उलझी सी लगती है। मेरी ही सीमाओं के कारण, मेरी ही भ्रान्ति के कारण, मेरी ही दुर्बलताओं के कारण मुझको ऐसा लग रहा है कि आपकी बात से मेरी बुद्धि भ्रान्त है, मुग्ध है, मोहित हो रही है। मुझ पर कृपा कीजिए। मेरी योग्यता, पात्रता को दृष्टि में रख कर मेरे परम कल्याण का मार्ग बताइए।

श्री भगवानुवाच— भगवान ने कहा—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। (३/३)

अर्जुन, तुम गलत नहीं बोल रहे हो। गुरु का धर्म देखिए ! गुरु शिष्य का मन बढ़ाता है। गुरु कहता है— हाँ हाँ ! तुम ठीक ही बोल रहे हो। लेकिन थोड़ा और संभाल लो। भीतर से सहारा देकर ऊपर से आघात करना— यह गुरु का लक्षण है। कबीर बाबा ने कहा है कि कुम्हार जैसे बर्तन बनाता है तो भीतर से हाथ देकर वह ऊपर से थापी देता है, वह मोड़ता है। वैसे ही गुरु भीतर से सहारा देता है कि शिष्य निराश न हो, हताश न हो। हीनता-ग्रंथि से ग्रस्त न हो और ऊपर से उसको रास्ता बताता है। तो यहाँ भी प्रभु अर्जुन को वैसे ही समझा रहे हैं। हाँ ! तुम ठीक समझते हो। दो रास्ते हैं। मैंने ही दो रास्ते बताए हैं।

'पुरा प्रोक्ता मयानघ' —पुरा शब्द के ऊपर लोगों ने विचार किया है। एक तो

सीधे-सीधे इसका अर्थ होता है सृष्टि के प्रारम्भ में– पुरा– जब सृष्टि की रचना हुई। महाभारत में एक प्रकरण आता है कि सृष्टि की रचना के बाद भगवान ने दो रास्ते बताए। एक निवृत्ति-मार्ग बताया और एक प्रवृत्ति-मार्ग बताया। निवृत्ति मार्ग ज्ञानियों के लिए है, प्रवृत्ति-मार्ग कर्मयोगियों के लिए है। दो मार्ग पहले से बताए गए हैं। इसलिए इन दो मार्गों की विविधता इनकी प्रकृति के कारण अलग-अलग लगते हुए भी ये दोनों मार्ग एक ही लक्ष्य तक जाते हैं। दोनों मार्ग परम श्रेयस्कर हैं। अच्छा ! इसमें देखिए फिर थोड़ा-सा विवाद खड़ा किया गया है। उसको समझना चाहिए। शंकराचार्य महाराज यह कहते हैं कि कर्म-ज्ञान-समुच्चय हो ही नहीं सकता। ज्ञान और कर्म —दोनों एक साथ नहीं चल सकते। इसके पीछे की युक्ति क्या है —इसको आप समझिए। कर्म का बीज है कामना; और कर्म का फल है बंधन। कर्म के पीछे कामना है। बिना कामना के कर्म नहीं होता। जब हमारे मन में कोई-न-कोई कामना होती है तब हम कोई-न-कोई काम करते हैं। बिना कामना के साधारण तौर पर कोई कर्म नहीं करता। काम करने के पीछे कोई एक कामना होती है, कोई एक वासना होती है। और उस कामना, वासना से प्रेरित होकर मनुष्य जब कर्म करता है तो उसमें कर्तृत्व का अहंकार होता है और जब कर्तृत्व का अंहकार होगा तो उसका भोक्तृत्व अनिवार्य है। जहाँ-जहाँ कर्तृत्व है, वहाँ-वहाँ भोक्तृत्व है। अगर कर्त्तापन है तो भोक्तापन होगा ही। जो काम करने वाला है, वही फल भोगता है। यह नहीं हो सकता कि काम करने वाला कोई और हो और फल भोगने वाला कोई और। तो जहाँ कामना की प्रेरणा से किया हुआ कर्म है वहाँ कर्तृत्व है; और उस कर्तृत्व का फल भोगने के लिए व्यक्ति अभिशप्त है। भोक्तृत्व है और इससे बंधन है। जब ज्ञान होगा तो ज्ञान में समस्त कामनाएँ मिट जाएँगी। और ज्ञान में जब कामना मिट जाती है तो कुछ पाना ही नहीं है। कर्म किया जाता है कुछ पाने के लिए, कुछ छोड़ने के लिए, कुछ बनाने के लिए, कुछ बिगाड़ने के लिए, कुछ बदलने के लिए। न कुछ पाना है, न कुछ छोड़ना है। जैसे हैं—वैसे ही हम ब्रह्म हैं। कुछ हमको पाना नहीं, कुछ छोड़ना नहीं तो फिर कर्म की प्रवृत्ति ही नहीं होगी और जब कर्म की प्रवृत्ति नहीं होगी तो फिर ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही नहीं हो सकता। इसलिए भगवान शंकराचार्य कहते हैं कि कर्मयोग केवल चित्त-शुद्धि के लिए है। चित्त-शुद्धि के लिए यानी ज्ञान की प्राप्ति की पात्रता अर्जित करने के लिए कर्म आवश्यक है। चित्त-शुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए और चित्त शुद्ध हो जाने के बाद जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वे यह नहीं मानते कि केवल कर्म के द्वारा मोक्ष हो सकता है। जो लोग कर्ममार्गी हैं, कर्मयोगी हैं, वे कहते हैं कि

नहीं। ज्ञान तो आवश्यक है लेकिन ज्ञान कर्म का बाधक है, ऐसा नहीं है। कर्म निष्काम हो रहा है और उस निष्काम कर्म को करते हुए हमने परम ज्ञान प्राप्त किया, तो ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी हम कर्म कर सकते हैं। और कर्म करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति होगी। निष्काम कर्मयोग मोक्ष-प्राप्ति का स्वतंत्र साधन है। यह दूसरा पक्ष है। अब इन दोनों पक्षों में थोड़ा-थोड़ा मतभेद है, विवाद है। गीता का मत यह लगता तो है कि ज्ञान को महत्त्व दिया गया है; लेकिन उसी के साथ-साथ यह भी लगता है कि निष्काम कर्मयोग भी निःश्रेयस का साधन है, मोक्ष का साधन है— यह भी स्वीकृत है। अब देखिए— *लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।*

हे निष्पाप अर्जुन! मेरे द्वारा दो निष्ठाएँ कही गई हैं। निष्ठा का मतलब क्या हुआ? नितराम स्थिति। स्था से ष्ठा हो गया। एकदम दृढ़, पक्का होकर कोई अपने मन में विचार धारण कर स्थिर कर लेना जिससे किसी भी प्रकार का पतन, विचलन, स्खलन संभव ही न हो। नितराम किसी का मतलब पक्की, डाँवाडोल रहित स्थिति। जिस बात को हमने अपने अनुभव से, अपने ज्ञान से समझा है, उसको हम अपने जीवन में, आचरण में उतार रहे हैं। इसमें कोई विचिकित्सा, कोई भ्रम, कोई संदेह, कोई विकल्प नहीं है। एक बात पर ध्यान दीजिए! बुद्धि बाँझ नहीं हो सकती। आज के बुद्धिजीवियों की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि उनकी बुद्धि बाँझ होती है। बुद्धि फलप्रसू होनी चाहिए। बुद्धि कर्म में उतरनी चाहिए। केवल बहस, कर्महीन बहस। केवल बात को बढ़ाना— यह बुद्धि की वंध्या स्थिति है। बुद्धि फल-प्रसू होनी चाहिए, बुद्धि कर्म में उतरनी चाहिए।

किं मोक्ष तरोर्मूलं सम्यक् ज्ञानं क्रियासिद्धम्।

भगवान शंकराचार्य बोल रहे हैं। मोक्ष रूपी वृक्ष की जड़ क्या है। *'सम्यक् ज्ञानं क्रिया सिद्धम्'*— सम्यक् ज्ञान जो क्रिया के द्वारा सिद्ध हो। ज्ञान के अनुकूल क्रिया हो और क्रिया उस ज्ञान की ओर प्रेरित करे। क्रिया का पर्यवसान ज्ञान में हो जाए। तो बुद्धि फल-प्रसू होनी चाहिए। बुद्धि बाँझ नहीं होनी चाहिए। इसलिए परम तत्त्व, परम लक्ष्य को स्वीकार कर लेने के बाद लक्ष्य एक, निष्ठाएँ दो। लक्ष्य एक, रास्ते दो यानी अनेक। रास्ते अनेक यानी एक से अधिक। यहाँ अभी प्रसंग चल रहा, है चूँकि ज्ञान और कर्म का। इसलिए *'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'* कहा है; लेकिन आगे भक्तियोग भी कहेंगे। आगे शरणागति योग भी कहेंगे। इसलिए इस बात को समझना चाहिए कि एक ही महालक्ष्य को स्वीकार करने के बाद भी उस महालक्ष्य तक पहुँचने के रास्ते, उसकी निष्ठाएँ अलग-अलग हैं। साधनाएँ अलग-अलग हैं।

'ज्ञानयोगेन सांख्यानां'— सांख्य का मतलब कई बार बताया गया कि संख्या का मतलब होता है बुद्धि। सांख्य मतलब जो संख्या से युक्त हो। माने जो बुद्धिमान हो, ज्ञानी हो। अपने शरीर को ही हम कभी-कभी आत्मा मान लेते हैं। यह बड़ी भारी मूर्खता है। सबसे बड़ी गलती यही है कि हम देहात्म-बोध से ग्रस्त हैं। एक बढ़िया श्लोक है—

पाषाणखंडेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेति धीः शोणितमांसपिंडे।
पंचात्मके वर्ष्मणि चात्मबुद्धिर्जयत्यसौ काचन मोहलीला।।

इस मोह लीला की जय हो ! देखो ! कैसी अद्‌भुत बात। अज्ञान की कैसी लीला।

पाषाणखंडेष्वपि रत्नबुद्धिः— पत्थर के टुकड़ों में हमारी रत्न बुद्धि होती है। यह हीरा है, यह पन्ना है, यह लाल है, यह मूँगा है। अरे ! सब पत्थर के टुकड़े हैं। पत्थर के टुकड़ों को रत्न समझना। रक्त और मांस के पिण्ड को प्रियतम या प्रियतमा समझना— *कान्तेति* —कान्ता इति कान्तेति। आखिर जिसको हम प्रियतम या प्रियतमा समझते हैं, वह क्या है? वही मांस-मेद-मज्जा-रक्त— वही मांस-पिण्ड, रक्त-पिण्ड। उसमें प्रियतम या प्रियतमा का भाव। *'पंचात्मकेवर्ष्मणि चात्मबुद्धिः'*— जो कई चीजों से बनी हुई वस्तु होती है, वह अपने लिए नहीं होती है। यह सिद्धान्त है। इस बात को गाँठ बाँधो। मोटर कई उपकरणों से बनी हुई है तो मोटर अपने लिए नहीं है। जो कई चीजों से बनी हुई होती है वह अपने लिए नहीं होती। वह किसी दूसरे के लिए होती है। हमारा श.रीर पंच धातुओं से बना हुआ है। यह शरीर आत्मा हो ही नहीं सकता। यह शरीर अपने लिए नहीं है। शरीर, शरीर के लिए नहीं है। शरीर आत्मा के साधन, वाहन के रूप में है। आत्मा के निवास के रूप में है। शंकराचार्य ने कहा न— *आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।* हे भोलेनाथ, हे भगवान शिव! तुम आत्मा हो, भगवती पार्वती (शुभ) बुद्धि है, पंचप्राण सहचर हैं और यह शरीर तुम्हारा घर है, निवास स्थान है। शरीर आत्मा नहीं है। शरीर केवल आत्मा का घर है। साधन के रूप में यह शरीर धन्य है। साध्य के रूप में यह शरीर दो कौड़ी का है।

नर तन सम नहिं कवनेउ देही —मानव शरीर के समान और कोई शरीर नहीं है, यह साधन के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसी मानव शरीर से हमे ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसी से हम निष्काम कर्म कर सकते हैं। इसी से हम भक्ति कर सकते हैं। इसी से हम मोक्ष संपादित कर सकते हैं। साधन के रूप में यह शरीर धन्य ह, दिव्य है। इसको चिकना बनाने के लिए, इसको गोल-मटोल बनाने के

लिए, इसको रंग बिरंगे कपड़े पहनाने के लिए, इसको गुलगुले गद्दे पर सुलाने के लिए अगर जीवन है तो यह दो कौड़ी का है। जितना इसको रंगो-पोतो, जितना इसको चिकना बनाओ, जितना इसको कोमल गद्दों पर सुलाओ, यह तो मरने ही वाला है, छूटने ही वाला है।

पाँच तत्त्वों से बना हुआ यह शरीर, इसमें आत्म-बुद्धि, इस शरीर को अपना आपा मानना, महा मूढ़ता है। *'जयत्यसौ काचन मोहलीला'* यह मोहलीला की अद्‌भुत स्थिति है। तो यह जो शरीर हमको मिला है साधन के रूप में। लक्ष्य एक है परम श्रेय की प्राप्ति। साधन के मार्ग अनेक हैं। यहाँ दो साधनों पर बल है। जो ज्ञानी लोग हैं, उनके लिए ज्ञान योग; और जो कर्म योगी हैं, उनके लिए कर्मयोग। एक बात पर ध्यान दीजिए, क्यों लोगों को कर्म के प्रति सहजता का अनुभव होता है, ज्ञान के लिए कठिनता का अनुभव होता है। देखिये, हमारे असंख्य पूर्व जन्म हुए हैं, गीता मानती है कि जीवों के असंख्य पूर्व जन्म हुए हैं। असंख्य पूर्व जन्मों में हमने कर्म ही किया है। कर्म करते रहना यह हमारा असंख्य पूर्व जन्मों का संचित संस्कार है। पूर्व जन्मों में हमने कितना ज्ञान प्राप्त किया है— यह संदिग्ध है। अगर पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता तो मोक्ष हो गया होता। चूँकि हमने शरीर प्राप्त किया—इससे प्रमाणित होता है कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया। तो हमारा पूर्व जन्मों में ज्ञान का अर्जन तो बहुत कम है; और कर्मों का अर्जन है प्रभूत। इसलिए प्रवृत्ति मार्ग, कर्म मार्ग लोगों को अपेक्षाकृत सुलभ और सरल लगता है; और ज्ञान मार्ग अपेक्षाकृत रूप से कठिन लगता है। ज्ञानी बहुत विरले होते हैं लाखों में एक। काम करने वाले तो बहुत से होते हैं, कर्मयोगी बहुत विरल होते हैं। लेकिन ज्ञान योग की तुलना में कर्म-योग सरल है। अभी हम बता रहे थे कि कामना है कर्म का बीज और इसलिए कर्म करते हैं तो बँधते हैं। तो क्या इसलिए कर्म न करें? न कर्म करें तो मुक्त हो जाएँगे ? अरे! यह भी मूढ़ता है। भगवान का वचन सुनो!

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। (३/४)

भाई मेरे ! काम छोड़ देने का बहाना भले तुम बनाओ पर केवल काम छोड़ देने का अहंकार करने से किसी को निष्कर्मता की प्राप्ति नहीं होती। कर्मशून्यता, कर्म से ऊपर उठ जाना— दो तरह से संभव है। कर्म ही नहीं करना है और सब प्रकार के कर्म करते हुए भी यह भाव रखना है कि हम अकर्त्ता हैं। तो दोनों स्थितियों में, कर्म न करना— यह केवल काम छोड़कर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाने से सिद्ध नहीं होता। कर्मों को शुरू न करने से ही कोई नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं करता। क्यों नहीं करता ? क्योंकि

हाथ-पर-हाथ रखकर बैठना भी कर्म है। क्योंकि लेटना भी कर्म है। क्योंकि सोना भी कर्म है। मनुष्य की जितनी क्रियाएँ हैं, वे समस्त क्रियाएँ कर्म हैं। अगर उस क्रिया के पीछे तुममें कर्तृत्व का बोध है तो बैठना भी कर्म है बल्कि वह और जघन्य कर्म है। क्यों जघन्य कर्म है ? देखो इसमें आगे बताया है कि—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः

सब लोग, सारा संसार प्राकृत गुणों से प्रेरित होकर कर्म करते ही रहते हैं। प्राकृत गुण कौन से हैं?

प्रकृतिजैर्गुणैः — हमलोगों के पूर्वज कैसे महापुरुष थे। उन्होंने सारी सृष्टि को तीन विभागों में बाँट दिया— स्थिति, क्रिया और प्रकाश। स्थिति जो है—जड़ता, अज्ञान, अंधकार, निकम्मापन-तमोगुण का लक्षण है। जड़ता, मूर्खता, अज्ञान, निकम्मापन, निठल्लापन सब तमोगुण हैं। और क्रिया, हलचल, चेष्टा, दूसरे से मुकाबला, उच्च फलों को प्राप्त करने की इच्छा, यह करेंगे, वह करेंगे ये सब रजोगुण है। प्रकाश-आलोक, ज्ञान, भीतर शान्ति, स्थिरता, दया, करुणा, मैत्री— ये सब प्रकाश हैं। ये सब हमें रास्ता दिखाने का, उच्च भूमिका पर कर्म करने के संकेत देते हैं। तो सारी सृष्टि तीन भागों में विभक्त है— स्थिति, क्रिया और प्रकाश में। तीन गुणों में— तमोगुण में, रजोगुण में और सत्त्व गुण में; और इन तीनों गुणों से प्रेरित होकर हम काम करते हैं। एक रहस्य की बात समझिये कि क्रिया तो करने से होती है और विक्रिया अपने आप होती है। क्रिया के लिए कर्तृत्व अपेक्षित है। क्रिया स्वाभाविक है। इस कमरे को छोड़ दो तो इसमें धूल-गर्द जमा होगी। इसमें मकड़ी का जाला लगेगा, दुर्गंध आएगी। विक्रिया अपने आप होगी। कुछ करो-न-करो, बाल सफेद होंगे। समय आएगा—दाँत टूटेंगे, चमड़ी पर झुर्रियाँ पड़ेंगी। बच्चे बड़े होंगे बड़े बूढ़े होंगे। श्रीराम-नाम-सत्य होगा। विक्रिया अपने आप होगी। विक्रिया स्वाभाविक है। सत्त्व गुण, रजो गुण में बदल जाएगा और रजो गुण तमो गुण में। दया घृणा में बदल जाएगी, घृणा क्रोध में, फिर आलस्य होगा। विक्रिया स्वाभाविक है। इसलिए हाथ-पर-हाथ रख कर बैठने वाला विद्वान भी तमोगुणी हो जाएगा। क्रिया प्रयास-सिद्ध है। जब विवेकानन्द कहते थे कि गीता पढ़ने से फुटबाल खेलना अच्छा है—तो उनका कहना था कि बहुत से तमोगुणी लोग सात्त्विक राम-नामी ओढ़ लेते हैं। भीतर तो तमोगुण का भंडार है, आलस्य-पिंड है। काम नहीं करना चाहते। इसलिए हाथ में झूठ-मूठ गीता लिए बैठे हैं। तमोगुणी लोग हैं। इससे फुटबाल खेलेंगे तो रजोगुणी तो होंगे। गीता का अर्थबोध और सत्त्व गुण भी क्रिया से अर्जित किया जाता है और विक्रिया स्वाभाविक है। इसलिए जब कहा कि

अगर तुम काम शुरू नहीं करोगे तो तुम नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं करोगे। तुम तमोगुण को प्राप्त करोगे, तुम्हारा पतन होगा, अधोगति होगी।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।

कर्म-त्याग या कर्म-संन्यास मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। संन्यास का मतलब है त्यागना। कर्म के त्याग से सिद्धि नहीं मिलती। कर्म त्याग के पहले कर्म-त्याग की पात्रता अर्जित करो। कर्म-त्याग करने की पात्रता अर्जित नहीं की और कर्म त्याग करोगे तो तुम तमोगुणी बनोगे, आलसी बनोगे और कठोर बंधनों में फँसोगे। तुम्हारी पतित स्थिति होगी। इसलिए यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि काम शुरू न करने से ही हम निष्कर्मता प्राप्त कर लेंगे या केवल कर्म त्याग करने से हमको सिद्धि मिल जाएगी —ये भ्रान्त विचार हैं।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। (३/५)

एक क्षण के लिए भी कोई बिना काम किए बैठ नहीं सकता। आप बैठे हैं—बैठना भी काम है। आप लेटे हैं—लेटना भी काम है। आपने चादर ओढ़ ली। सोना भी एक काम है। आप जो हवाई-किले बना रहे हैं मन में —वह भी काम है। कैसे बचेंगे काम से? काम से बचने के बहाने अर्जुन तुम केवल आलसी बनना चाहते हो। काम से बचने के बहाने तुम तमोगुणी बन रहे हो। गुरु इसकी आज्ञा नहीं देता। इसलिए यह सारी प्रक्रिया— यह सोचने का ढंग गलत है कि हम काम छोड़ देंगे तो हम बुद्धि योगी हो जाएँगे, ज्ञानी हो जाएँगे। और कोई काम घोर होता है क्या ? *'किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।'* अरे ! घोर क्या होता है ? कर्म धर्म से प्राप्त होता है, कर्त्तव्य से प्राप्त होता है। स्वधर्म है। जो सहज स्वाभाविक धर्म के रूप में हमको प्राप्त है वह कर्म घोर नहीं है। याद रखो कोई कर्म न अच्छा है, न बुरा है। कर्म के पीछे की भावना—यह उसको अच्छा या बुरा बनाती है। विनोबा भावे ने एक बहुत अच्छी बात कही है। उन्होंने कहा है कि कागज का तो नोट है। कीमत नोट की है या उस पर छाप की है? कागज का टुकड़ा है। उस पर पाँच रुपए की छाप है तो उसकी कीमत पाँच रुपए, दस रुपए की छाप है तो उसकी कीमत दस, सौ रुपए की छाप है तो सौ और पाँच सौ रुपए की छाप है तो पाँच सौ। जितने बड़े पाँच सौ के नोट पर पाँच सौ की छाप है क्या उतने बड़े कागज का दाम पाँच सौ रुपया है? कीमत किस बात की है ? कागज की कि कागज पर लगी मोहर की? बात समझ में आ रही है? कागज की कीमत नहीं है; कागज पर लगी मोहर की कीमत है। गंभीरता से सोचिए तो यही मूर्ति-पूजा का रहस्य

है। बहुत से पंडित, ज्ञानी लोग कहते हैं कि पत्थर की पूजा करते हो। जब हम पूजा करते हैं तो पत्थर की पूजा करते हैं? उसको पत्थर समझ कर पूज रहे हैं ? उसमें तो मैंने अपनी, श्रद्धा, अपनी भक्ति, अपनी भावना की मुहर लगा दी है। वह तो मेरा इष्टदेव है। तुम्हारी इस ठस्स बुद्धि में कागज पर मुहर लग जाने से पाँच सौ रुपए की कीमत समझ में आती है; और प्रतिमा पर मुहर लगने से कीमत समझ में नहीं आती। धन्य बुद्धि है तुम्हारी! यह जिसको मैं इष्टदेव मानकर पूजा कर रहा हूँ—तुम्हारी दृष्टि में पत्थर है? तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गया है। वह पत्थर नहीं है भाई! वह माध्यम है। उसमें मेरी श्रद्धा है, उसमें मेरी भक्ति है, उसमें मेरी मान्यता है। वह मेरे इष्टदेव का प्रतीक है। उस प्रतीक को परमात्मा मेरी श्रद्धा, मेरी भक्ति बना रही है। मुझको उसका सहारा चाहिए। कर्म घोर नहीं होता। कर्म के पीछे की भावना उसको घोर या उत्कृष्ट बनाती है। क्षत्रिय के लिए, योद्धा के लिए धर्म संगत युद्ध करना कर्त्तव्य है—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि। (२/३३)

यदि वह धर्म संगत युद्ध नहीं करेगा तो उसका स्व कार्य और यश नष्ट होगा, उसे पाप लगेगा। इसके बाद एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। (३/६)

अच्छा ! काम न करो। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाओ। मनीराम क्या करता है? मनीराम माने अपना मन। तुम तो बैठ गए लेकिन मन तो सपना देखता है। मन में तो सिनेमा चल रहा है। तुम्हारे जितने भोग हैं, जो तुम प्राप्त करना चाहते हो, मन उनका रस ले रहा है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य— कर्मेन्द्रियों के ऊपर तो तुमने लगा दिया ताला। उनको तो तुमने बलपूर्वक निरुद्ध कर दिया। *य आस्ते मनसा स्मरन्*— और मन से उनका तुम स्मरण कर रहे हो। *इन्द्रियार्थान्*— इन्द्रियों के विषयों का। मन से तुम इन्द्रिय के विषय का भोग कर रहे हो और तन से चुपचाप बैठे हो, तब तो तुम मिथ्याचारी हो। मिथ्याचारी शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो गाली ही है। तुम पाखण्डी हो। और दूसरा सूक्ष्म अर्थ है—इस तरह का आचार मिथ्या है, गलत है। यानी तुम केवल पाखण्डी हो—यह नहीं कह रहे हैं। तुम बलपूर्वक इन्द्रियों को रोक कर मन से भोग कर रहे हो और यह समझ रहे हो कि मैंने संन्यास प्राप्त कर लिया है—यह गलत प्रक्रिया है। यह आचार ही मिथ्या है। चाहे तुम उसको पाखण्डी कह लो और चाहे समझ लो कि काम

करने की यह प्रक्रिया गलत है, मिथ्या है, अशुद्ध है। यह तरीका नहीं है। बच्चन की पंक्तियाँ याद आ गयीं—

मन में सावन-भादो बरसे, जीभ करे पर पानी-पानी।
चलती फलती है दुनिया में अक्सर ऐसी बेईमानी।।

यानी मन में तो सावन-भादों बरस रहा है और जीभ को तुम रोके पड़े हुए हो। यह बेईमानी है। यह नहीं करना चाहिए। इससे कई गुना अच्छा बिलकुल सही रास्ता भगवान बताते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। (३/७)

बलपूर्वक कर्मेन्द्रियों को रोककर, मन से इन्द्रिय के भोगों या विषयों के बारे में सोचते रहना, मन से उनका रस लेते रहना, यह गलत रास्ता है। यह आचार ही मिथ्या है। सही रास्ता क्या है? —सही रास्ता ऊपर के श्लोक में बताया गया है।

भगवान कहते हैं, अर्जुन! यह बात स्थितप्रज्ञ दर्शन में मैंने कही है; और इसको फिर दुहरा रहा हूँ। व्यवसायात्मिका बुद्धि किसे कहते हैं ? व्यवसायात्मिका बुद्धि कहते हैं— कार्य के आरंभ से अन्त तक जो स्थितियाँ आएँगी—उनको मनमें देख कर उन्हें निपटाने का क्रम निश्चित कर लेना। *अवसानं अवसाय* —अवसान माने समाप्त होना। व्यवसाय माने विशेष रूप से किसी कार्य के आरंभ से अवसान तक भिन्न-भिन्न स्थितियों को देख लेना, उनके बारे में सोच लेना—क्या क्षति होगी, क्या लाभ होगा, कैसे क्षति से बचें, कैसे मंगल की ओर जाएँ—यह सारा विचार करने के बाद जो निश्चयात्मक बुद्धि होती है, उसको कहते हैं व्यवसायात्मिका बुद्धि। और उस व्यवसायात्मिका बुद्धि ने जो निर्णय किया, उसको मन स्वीकार करे। मन ने जिसको स्वीकार कर लिया उसको कर्म के द्वारा, इन्द्रियाँ अनूदित कर दें व्यवहार में। यह उत्थान का रास्ता है। बुद्धि, मन-इन्द्रिय के द्वारा जब कार्य सिद्ध होता है तो मनुष्य का उत्थान होता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।

मन के द्वारा अपनी इन्द्रियों को अनुशासित करने का अर्थ है, पहले विवेकपूर्वक मन को संयत किया और फिर मन के द्वारा इन्द्रियों को अनुशासित किया। इन्द्रियों को अनुशासित करने के बाद *'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः* —अनासक्त रूप से हमने कर्मेन्द्रियों को उनके कर्मों में लगा दिया। जहाँ कर्म में आसक्ति लुप्त हुई, कर्म कर्मयोग हो जाता है। मेरे गुरुजी ने एक अद्‌भुत बात बताई थी। मेरे गुरुजी ने बताया एक जगह

कि जब बुद्धि में ईश्वर का अवतरण होता है तो ज्ञानयोग होता है। जब भाव में ईश्वर का अवतरण होता है तो भक्तियोग होता है; और जब कर्म में ईश्वर का अवतरण होता है, तो कर्मयोग होता है। योग का मतलब उपाय, साधन। जो योग, जो उपाय, जो साधन हमको ईश्वर तक ले जाए। जिसमें ईश्वर का अवतरण हो जाए वह योग है। जब हमारी बुद्धि केवल रुपया-पैसा कमाने में लगी रहती है तो वह ज्ञान योग नहीं है। जब हमारी भावना केवल पत्नी-पुत्र तक, मित्र तक, परिवार तक सीमित रहती है, पार्टी तक सीमित रहती है तब वह भक्ति योग नहीं है। जब हमारा कर्म केवल अपनी जीविका, अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने तक होता है तब वह कर्म योग नहीं है। जब इनमें ईश्वर का अवतरण होता है तब यह बुद्धि, ये भाव, ये कर्म-योग बन जाते हैं। तो कर्मेन्द्रियों के द्वारा अनासक्त होकर कर्म करना—यह कर्म-योग है। ऐसा व्यक्ति श्रेष्ठ है। गीता की दृष्टि में, निकम्मे, तीसमार खाँ, अफीम की पिनक लेने वालों से वह व्यक्ति लाख गुना अच्छा है जो काम करता है। फिर कोटियाँ हैं काम करने की।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। (३/८)

गीता ने एकदम डंके की चोट पर कहा है— *'अकर्मणः कर्म ज्यायो।'* गीता किसी को निठल्ला, निकम्मा होते नहीं देख सकती। निठल्लापन पाप है। निकम्मापन पाप है, क्योंकि कर्म न करने पर तो शरीर भी नहीं टिकेगा। शरीर रक्षा के लिए भी खाना, पीना आदि आवश्यक है। 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' कर्म न करने से कर्म करना अच्छा है। करने में, निषिद्ध कर्म छोड़कर विहित कर्म करना अच्छी बात है। आप निषिद्ध कर्म करते हैं तो आप पामर हैं। पतित हैं। चोरी, बेईमानी— ये सब निष्काम भाव से नहीं हो सकती भैया! बिना इसके पीछे भोग की प्रेरणा के ये काम नहीं होते। तो निकम्मे रहने से काम करना अच्छा। काम करने में निषिद्ध कर्म से विहित कर्म करना अच्छा। विहित कर्म में अगर आप भोग-परायण हैं तो आप विषयी हैं। उस विषयी स्थिति में अगर आप धर्म कर रहे हैं, शास्त्र-विहित कर्म कर रहे हैं तो आप साधक बन सकते हैं। उसमें भी जब आप निष्काम कर्म करेंगे तब आप कर्मयोगी बनेंगे। सीधे कर्मयोगी नहीं बना जा सकता। बहुत कर्म करने का मतलब कर्मयोग करना नहीं है। कर्मयोग अलग चीज है; और कर्मठता अलग चीज है। कर्मठता माने आपने बहुत से कर्म किए लेकिन अपने लिए किये। हमने बहुत परिश्रम किया लेकिन पैसे के लिए किया, यश के लिए, भोग के लिए किया— यह कर्मयोग नहीं है।

'नियतं कुरु कर्म'— नियत कर्म। नियत कर्म पर बड़ा शास्त्रार्थ है। कुछ लोग

कहते हैं कि बुद्धि के द्वारा नियत कर्म। पहले बुद्धि से सोच लो, बुद्धि के द्वारा जो मंगलमय लगे वही करो। कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्र-नियत कर्म। शास्त्रों में जो बताया गया है वह करो। कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष के लिए जो आवश्यक हैं, वे कर्म नियत कर्म हैं। लेकिन निषिद्ध कर्म मत करो, भोगासक्त चित्त से कर्म मत करो, अनासक्त होकर कर्म करो—यह बात प्रभु ने कही; और उसके बाद एक अद्‌भुत बात कही है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। (३/९)

बोले—हाँ। कर्म बाँधते हैं। कौन से कर्म बाँधते हैं? मैंने अभी बताया कि कर्म के पीछे कामना, बीज है और कर्म का फल है भोग, बन्धन। हाँ कर्म बाँधते हैं। कौन से कर्म बाँधते हैं ? जो यज्ञार्थ नहीं होते जो स्वार्थ के लिए होते हैं।

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र'— कर्म कर्म में अन्तर बहुत है। यज्ञ के लिए किए गए कर्म दूसरे हैं। *'लोकोऽयं कर्मबन्धनः'*— और लोक के लिए किए गए कर्म दूसरे हैं। वे बन्धन में डालते हैं। *'तदर्थं कर्म कौन्तेय'*— उसके लिए, यज्ञ के लिए, परमात्मा के लिए कर्म करो। *'मुक्तसंगः'*—अनासक्त होकर, तदर्थ कर्म, यज्ञार्थ कर्म करो। एक बात पर आप ध्यान दीजिए। हमारी संस्कृति यज्ञ-प्रधान संस्कृति है। हमारी संस्कृति हमारे जीवन को यज्ञ बनाना चाहती है। आप लोगों ने कभी ध्यान दिया है कि हमारे जीवन का अंतिम संस्कार क्या है? अंत्येष्टि संस्कार। इष्टि माने यज्ञ। याद रहे इष्ट शब्द दो धातुओं से बनता है। इष्-इच्छति और यज् यजति। यज् धातु से यजन इसी से यज्ञ होता है। यज् माने देव-पूजा, संगति, दान। तो हमारा जीवन यज्ञ होना चाहिए पूरा जीवन। इसीलिए हमारे अंतिम संस्कार में हम अपने शरीर की आहुति देते हैं, जलती चिता में। भारतवर्ष में जितने धर्म हैं— वैदिक धर्म हो, बौद्ध धर्म हो, जैन धर्म हो, सिक्ख धर्म हो, सब में विधान है कि मरने के बाद चिता में जाना है। यह अंतिम यज्ञ है। आहुति दे रहे हैं अपने शरीर की। तो—यज्ञ किसको कहते हैं? गीता में अनेक प्रकार के यज्ञ बताए गए हैं जैसे—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। (४/२८)
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि– (१०/२५)

इनके अलावा भी अनेक प्रकार के यज्ञ हैं। यज्ञ कहने से हमारी आँखों के सामने जो बिम्ब उभरता है, वह है एक बड़े समारोह के साथ सामाजिक कार्य का।

जिसके बीच में वेदी है। उसमें यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित है। उसमें समिधा और आहुति डाल रहे हैं और कह रहे हैं— *'इदं न मम, इदं अग्नये, इदं अग्नये स्वाहा'* — यह अग्नि के लिए है, यह मेरा नहीं है। यह अग्नि के लिए समर्पित। तो यह तो हुआ द्रव्य यज्ञ। केवल यही यज्ञ नहीं है। अभी यहाँ इस कक्ष में जो काम चल रहा है, यह क्या है? गीता की भाषा में यह ज्ञान-यज्ञ चल रहा है। यह जो मैं भगवती गीता का विवेचन अपनी अल्प-बुद्धि से कर रहा हूँ यह भी, जितनी मेरी पात्रता है, उस पात्रता का ज्ञान-यज्ञ है। यज्ञ का मतलब समझ लें। यज्ञ का मतलब होता है कि सामूहिक रूप से किसी बड़े उद्देश्य से किया गया कर्म। कभी-कभी अकेला भी होता है। *'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि* —जपयज्ञ, अकेले ही किया जाता है। आप देखिए हमारी संस्कृति के अनुसार हमलोग ऋणी पैदा होते हैं। हर आदमी, यहाँ जितने आदमी बैठे हैं—सब ऋणी हैं। कहते हैं हमलोग पश्चिम की बात सीख लेते हैं कि मैं स्वतंत्र हूँ। मैं जो चाहूँगा, करूँगा अरे भाई! तुम कहाँ से व्यक्ति बन गए? तुमको व्यक्तित्व दिया किसने? कैसे बना तुम्हारा यह व्यक्तित्व? तुम कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं—जो चाहोगे-करोगे, अपनी इच्छा से ? वाह वाह। बड़े तीसमार खाँ आए! तुम कितने ऋणी हो ? जो शरीर तुमको मिला है, किस दुकान से खरीदा है तुमने? माता-पिता से मिला है। जो भाषा बोल रहे हो कहाँ बनाई तुमने? परंपरा से मिली है। जो ज्ञान-विज्ञान है, तुमने पैदा किया है? तुम धरती पर हो, तुमको सहारा दिया हुआ है इस धरती माता ने। तुमको श्वास-प्रश्वास की सुविधा वायु देता है। तुमको सूर्य प्रकाश देता है, ताप देता है। वर्षा जल देती है। क्या इन सबकी रचना तुमने की है ? यह जो इतना बड़ा शहर बना हुआ है, चलते हुए तुम्हारा कोई गला नहीं काट लेता, लूट नहीं लेता। क्यों नहीं लूट लेता? क्योंकि यहाँ राज्य के द्वारा, समाज के द्वारा सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है। ये सब विविध ऋण हैं। हमलोगों पर देवऋण है, ऋषिऋण है, पितृऋण है, भूतऋण है, नृऋण है, लोकऋण है। बिना ऋण-मुक्त हुए तुम्हारी जो इच्छा आएगी सो करोगे? अच्छे आदमी का लक्षण क्या है ? किसी से तुम पचास रुपया लो और उसको अँगूठा दिखा दो, तो क्या तुम अच्छे आदमी हो? जो ऋण लिया है उसका शोधन करना चाहिए। ऋण-शोधन किए बिना, अऋण हुए बिना मोक्ष कैसे होगा? यह पंच-महायज्ञ की कल्पना है। हम जब ज्ञान अर्जित करते हैं तो ऋषि-यज्ञ करते हैं। हम देवता का स्मरण करते हैं, चाहे एकांत में, चाहे सामूहिक रूप से, तो हम देव-यज्ञ करते हैं। हम जब माता-पिता की सेवा करते हैं, श्राद्ध करते हैं तो पितृ-यज्ञ करते हैं। अतिथि-सेवा करते हैं तो हम नृयज्ञ करते हैं। जब हम प्राणी-मात्र के लिए, प्रकृति के लिए करते हैं तो हम भूत यज्ञ करते

हैं। बिना यज्ञ किए तुम उऋण कैसे होओगे? हमारा सारा जीवन यज्ञ होना चाहिए। गीता कहती है कि सूर्य यज्ञ कर रहा है। चन्द्रमा यज्ञ कर रहा है, वायु यज्ञ कर रही है, वर्षा यज्ञ कर रही है। नदियाँ यज्ञ कर रही हैं। हम ही यह नहीं करेंगे?

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

इस संसार में केवल अपने लिए जीना— यह पाप है। सबों के मंगल के लिए यज्ञ के रूप में हमारा जीवन हो और उस यज्ञ के लिए कर्म करते हुए जब हम जियेंगे तो हमारा विकास होगा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। (३/१०-१३)

भगवान् ने जब सृष्टि की रचना की तो यज्ञ करके ही की। बताया गया है कि—यज्ञ के साथ सारी सृष्टि हुई। यज्ञ सारी सृष्टि को धारण करता है। इस यज्ञ से जगत-व्यवहार भी चलता है; और इसी यज्ञ से मोक्ष-प्राप्ति भी होती है। इसलिए उचित है कि हम यज्ञ करें। हमारे यज्ञ कर्म से प्रसन्न होकर देवता या दैवी शक्तियाँ हमको सहारा दें और हम यज्ञ की आहुतियों के द्वारा दैवी शक्तियों को प्रसन्न करें। यज्ञ के द्वारा उनका दिया हुआ प्रसाद ग्रहण करें। उनको आहुति अर्पित करके उनका प्रसाद ग्रहण करें। भगवान ने यज्ञ के साथ सृष्टि बनाई। फिर उन्होंने कहा कि तुम लोग पारस्परिक अवलंबन के द्वारा वृद्धि प्राप्त करो। मनुष्यो! देवताओं की तुमलोग उपासना करो, देवगण तुम्हारे लिए मंगल का विधान करें। तुम सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु इनको शुद्ध रखो। इनकी कृतज्ञता स्वीकार करो। और-तो-और हमारे देश में माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता वास करते हैं। हाथ का देवता इन्द्र है, पाँव का देवता विष्णु हैं, नेत्र के देवता सूर्य हैं, कान के देवता वायु हैं। अपनी इन इन्द्रियों को सम्हाल लो। जो अपनी इन्द्रियों को सम्हाल लेंगे उनका जीवन पवित्र हो जाएगा, आगे बढ़ जाएगा। ये जो हमारी इन्द्रियों में रहने वाले देवता हैं—इन देवताओं को साधो। ये तुम्हारा और तुम इनका कल्याण करो, तब तुम्हारा विकास होगा। *'प्रसविष्यध्वम्'*—तुम्हारी समृद्धि होगी,

उन्नति होगी। *'इष्टकाम-धुक्'*— इष्ट कामधुक् के दो अर्थ किए गए हैं। तुम जो चाहोगे मिलेगा और इष्ट माने यज्ञ। यज्ञ की वस्तु भी इससे मिलेगी, अच्छे कार्यों की प्रेरणा मिलेगी। हम जो कुछ भी ग्रहण करें, भगवान का दिया हुआ प्रसाद मानकर ग्रहण करें। भगवान को अर्पित करके प्रसाद ग्रहण करें। भगवान को अर्पित किए बिना अकेले खाना पाप है। यज्ञ भगवान का ही रूप है। वेद में कहा गया है, *यज्ञो वै विष्णुः* यह यज्ञ ही विष्णु हैं। अतः यज्ञ करना भगवान की उपासना करना है। जो संत हैं, साधु हैं, सज्जन पुरुष हैं —वे केवल अपना पेट भरने के लिए काम नहीं करते। केवल अपने लिए नहीं कमाते —वे यज्ञ से बचा हुआ खाते हैं। यज्ञ से जो बचा हुआ है, वह अमृत है। वह हमें समस्त पापों से मुक्त कर देता है। परिवार में सबको खिलाने के बाद माताएँ जो बचा हुआ खाती हैं, वह भी अमृत है। परिवार का जो मुखिया होता है, जो माँ होती है, उसको क्या सबसे पहले खाना चाहिए? बड़ा पहले खाएगा? नहीं, सब छोटों को खिलाकर बड़ा खायेगा। परिवार में एक भी आदमी भूखा रह गया तो गृहपति को, गृह स्वामिनी को, नहीं खाना चाहिए। सारे समाज की चिन्ता रख कर काम करना और उसके लिए जीना—यह यज्ञ है। यज्ञ के लिए जो कर्म किए जाते हैं, वे बाँधते नहीं हैं। वे खोलते हैं, वे मुक्त करते हैं। जैसे सूर्य और चन्द्र यज्ञ कर रहे हैं —सबों के मंगल के लिए अपना प्रकाश दे रहे हैं— उसी प्रकार हम भी यज्ञ करें। और जो यज्ञ नहीं कर रहे उनके लिए कहा है— *भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।*

जो केवल अपने लिए पकाते हैं, वे पाप का, अघ का भोजन करते हैं। अघ का मतलब होता है—वह बुरा कर्म जिसका फल भोग किए बिना जो मिटता नहीं। पाप वह है, जिसका दण्ड भोगना ही पड़ेगा। आप पुण्य करें तो पुण्य का फल ईश्वर को समर्पित कर दे सकते हैं। पाप का फल ईश्वर को समर्पित नहीं किया जा सकता। आपको अगर भारत-सरकार 'भारत-रत्न' की उपाधि दे तो आप ना कर सकते हैं? अगर श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय डॉ. हेडगेवार प्रज्ञा पुरस्कार दे तो पुरस्कार किसी को समर्पित कर सकते हैं; लेकिन भारतीय दण्ड विधान में आपको जेल जाने की आज्ञा मिले और आप कहें—यह ईश्वर को समर्पित कर दिया—यह नहीं हो सकता। आपको जेल जाना ही पड़ेगा। पाप वह है, अघ वह है जिसका फल भोग करके ही मिटता है। जिसका फल आप दूसरे को समर्पित नहीं कर सकते। पुण्य का फल आप दूसरे को समर्पित कर सकते हैं। पाप का फल आप किसी को समर्पित नहीं कर सकते। इसलिए जो यज्ञ किए बिना केवल अपने लिए जीते हैं, केवल अपने लिए, भोग के लिए, काम करते हैं वे पापी हैं।

अब इसके बाद बढ़िया दो श्लोक हैं और इन श्लोकों में यज्ञ की पूरी धुरी बताई गई है। सात सीढ़ियाँ हैं। बीच में यज्ञ है। तीन ऊपर हैं—परम श्रेय की प्राप्ति के लिए। तीन नीचे हैं जगत् व्यवहार के लिए।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। (३/१४-१५)

इन श्लोकों में सात बातें बताई गई हैं। अब इन सातों का एक तो सामान्य अर्थ है। पहले सामान्य अर्थ करता हूँ। फिर मेरे गुरुजी ने एक विशिष्ट अर्थ किया है, उसको बताने की चेष्टा करता हूँ। सामान्य अर्थ क्या है? सामान्य अर्थ यह दिखाई पड़ता है कि हम अगर भोजन न करें तो श्रीराम नाम सत्य हो जाएगा। हम जीवित नहीं रह सकते।

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि'— जितने प्राणी हैं, वे अन्न से बचते हैं, जीवित रहते हैं। और यह अन्न कहाँ से आता है? पर्जन्य से—वर्षा से। और यह वर्षा कहाँ से होती है? यज्ञ से। हमलोग कहते हैं कि यज्ञ-धूम मेघ में रूपान्तरित होता है, उससे वर्षा होती है। और यज्ञ कैसे होता है ? यज्ञ कर्म से होता है। *'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'* —यज्ञ का एक बड़ा भारी कर्म-विधान है, बिना कर्म के यज्ञ होता ही नहीं। चाहे आप उसे भूत-यज्ञ, द्रव्य-यज्ञ कहें, चाहे ज्ञान-यज्ञ कहें चाहे ब्रह्म यज्ञ कहें, जो भी यज्ञ होगा, उसके पीछे कर्म होगा। और कर्म क्या है? *'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'*— ब्रह्म शब्द का यहाँ अर्थ क्या है ? ब्रह्म शब्द का अधिकांश लोगों ने यहाँ अर्थ बताया —वेद। यज्ञ का कर्म जो है, वेद की परम्परा से प्राप्त होता है। रामानुजाचार्य जी ने यज्ञ का यहाँ अर्थ बताया—

मम योनिर्महत् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

तो यह जो प्रकृति रूपी योनि है—यह महत् ब्रह्म है, यही यहाँ ब्रह्म का अर्थ है। यानी कर्म जो है यह प्रकृति से उत्पन्न होता है। प्रकृति की प्रेरणा से कर्म होता है। और प्रकृति जो है *'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'* —और ब्रह्म यानी यहाँ इसका अर्थ चाहे वेद कर लो, चाहे प्रकृति कर लो वह परमात्मा से, अक्षर से उत्पन्न है। इसलिए यह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा इस यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अब आप देखिए यह जो यज्ञ-चक्र है, इसके बीच में है नाभि। नाभि में है यज्ञ और उसके नीचे है अन्न, भूत और पर्जन्य। और उसके ऊपर है कर्म, ब्रह्म और अक्षर। हमारे गुरुजी ने बताया कि यह जो अन्न, भूत, पर्जन्य है यह तो है संसार जगत् व्यवहार के लिए। और यह जो कर्म, ब्रह्म और अक्षर है, यह है

परमात्मा के साक्षात्कार के लिए। अब इसको उन्होंने बताया कि 'अन्न' शब्द का अर्थ केवल गेहूँ, जौ, आटा, चावल नहीं लेना चाहिए। उनका कहना है कि अन्न जो है —यह पंच महाभूत, यह क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर—यह सूर्य, चन्द्र इन सब का हम भोग करते हैं। जिसका हम भोग करें—वह अन्न है। हममे से कोई भी ऐसा नहीं है जो इन पाँचों भूतों की कृपा के बिना जीवित रह सके। तो हम इनका भोग करते हैं, यह हुआ अन्न और इससे ये सारे प्राणी और ये जो जीव हैं —ये सारे लोग —ये पर्जन्य हैं। पर्जन्य मतलब? पर्जन्य का अर्थ उन्होंने बताया भोक्ता के रूप। तो हम इस पूरी सृष्टि को किस प्रकार उत्तम ढंग से, अनासक्त भाव से अपने, भोग के रूप में यज्ञ के माध्यम से ग्रहण करें, कैसे यज्ञ इस सारी सृष्टि के व्यवहार को हमारे लिए मंगलमय बना दे और तब फिर हमारा जो कर्म है वह ब्रह्म का यानी वेद का और वेद परमात्मा के साक्षात्कार का कारण बन जाएगा। यज्ञ जो है, हमारे इस लोक के जीवन को और परलोक के जीवन को भी धारण करने वाली नाभि है यज्ञ चक्र की। जैसे रथ का पहिया चलता है न! रथ के पहिए में जो छेद होता है उसमें धुरी होती है, उसी धुरी के सहारे रथ चलता है। तो यह सारा लोक-व्यवहार और यह सारा भगवत्-प्राप्ति मोक्ष का भी यह सब का सब उपक्रम यज्ञ पर निर्भर है। मोटे तौर पर इस यज्ञ को आप समझिए कि जिससे हमारा कल्याण हो—ऐसा पवित्र कर्म और इसीलिए आप देखिए कि यज्ञ हमको उच्चता की भूमिका की ओर ले जाता है। हम इसका अर्थ यह भी कर सकते हैं कि जो सारे कर्म हमको उच्चता की भूमिका की ओर ले जाते हैं, वे सारे कर्म यज्ञ हैं। इसलिए अपने देखा होगा किए कर्मों के लिए भूदान यज्ञ, नेत्रदान यज्ञ, ज्ञानदान यज्ञ, गीताज्ञान यज्ञ जैसे शब्द प्रयोग चलते हैं। स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज जहाँ जाया करते थे वहाँ गीताज्ञान-यज्ञ —यही संज्ञा देते थे गीता प्रवचन को। अतः जो भी हमारा आचरण हो, जो भी हमारा कर्म हो, वह केवल हमारे स्वार्थ के लिए न हो। एक बात और *'यज्ञो वै: विष्णुः'* —यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञ ही परमात्मा है। तो यज्ञार्थ कर्म का एक अर्थ यह भी कि भगवदर्थ कर्म। भगवान के लिए किया गया कर्म। कर्त्तव्यबोध से जहाँ भक्ति का स्पर्श जुड़ा—वह कर्त्तव्य-बोध भी भगवत्कर्म हो जाता है। यह गीता में कहा गया है कि हम अपने कर्म को पूजा बना दें—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

यतः प्रवृतिर्भूतानां— जिस परमात्मा से समस्त प्राणियों को कर्म करने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है, *येन सर्वमिदं ततं*—जो परमात्मा इस सारी सृष्टि में ओत-प्रोत

भाव से विद्यमान है। उस परमात्मा की हम पूजा कैसे करें? उस परमात्मा की पूजा क्या हम केवल जल से, चन्दन से, अक्षत से कर सकते हैं? हम जल, चन्दन, अक्षत से अपनी भावना को तृप्त करने के लिए, अपनी इष्टदेव के प्रतीक की पूजा कर सकते हैं। लेकिन परमात्मा की सर्वव्यापी परमात्मा की पूजा करने का रास्ता गीता बताती है। *'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'* अर्थात् अपने कर्म के द्वारा भगवान की पूजा करके जो काम हम कर रहे हैं, वह काम भगवान की पूजा कर रहे हैं —यह समझ कर करो। *सिद्धिं विन्दति मानवः* —तब मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। जब हमारा कर्म पूजा बन जाए। तो वह कर्म घोर हो सकता है क्या?

यज्ञ है युद्ध भी— *मामनुस्मर युद्ध्य च*— मेरा स्मरण करो और संघर्ष करो, धर्म के लिए संग्राम करो— यह भी यज्ञ है। और इसलिए भगवान कहते हैं कि इस यज्ञ में सारी सृष्टि प्रतिष्ठित है। *तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।* इस यज्ञ में यह सारी प्रकृति, यह सारा ब्रह्म, यह वेद प्रतिष्ठित है ओत-प्रोत भाव से।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। (३/१६)

इस तरह से जो चक्र प्रवर्तित किया गया है—यह सृष्टि-चक्र है, यज्ञ-चक्र है। इस यज्ञ चक्र के रूप में भगवान ने स्वयं तपस्या करके यज्ञ के द्वारा इस सृष्टि की रचना की। इस यज्ञ के द्वारा रचित सृष्टि का उत्थान अगर तुम करना चाहते हो तो अपने जीवन को यज्ञमय बना दो। जिसका जीवन यज्ञमय है, वह पवित्र है। वह भगवान की ओर जा रहा है, उसकी उन्नति हो रही है; और जो केवल अपने लिए खा रहा है, केवल अपने लिए काम कर रहा है, जो इन्द्रियाराम है वह इन्द्रियों का दास है, इन्द्रियों में रमा हुआ है, वह आत्माराम नहीं है वह इन्द्रियाराम है। जिसको इन्द्रियों में रमण करके सुख मिलता है, वह अघायु है, उसका पापमय जीवन है। *'मोघं पार्थ स जीवति'* — हे पार्थ ! उसका जीना बेकार है, व्यर्थ है। जो व्यक्ति केवल अपने लिए जी रहा है, जो व्यक्ति यज्ञ का जीवन नहीं जीता, उस व्यक्ति के जीवन को धिक्कार है। भगवान् गीता में यह बात कह रहे हैं। यज्ञ की भावना तृतीय और चतुर्थ अध्याय में विकसित की गई है। हम अपने जीवन को यज्ञमय करें, हमारे कर्म यज्ञार्थ हों, आज के प्रवचन से हम यह प्रेरणा प्राप्त करें। ●

प्रवचन-८*

कर्मयोग-२

भगवान की कृपा का अनुभव होता है, जब सतत व्यस्त जीवन में भी भगवान का दिया काम मनुष्य कर पाता है। श्रीमद्भगवद्गीता का अनुशीलन अपने लिए, अपनों के लिए मंगलमय है—यह मेरी श्रद्धा है। और इसी श्रद्धा से यह प्रवचन-क्रम चल रहा है। आश्रय तो मेरे गुरुदेव स्वामी अखंडानन्दजी सरस्वती का है। भगवान इसका निर्वाह करेंगे। पिछले प्रवचन में यह निरूपित किया गया था कि यज्ञ-चक्र चलाए रखना चाहिए। जो व्यक्ति अभ्युदय चाहता है, इस संसार में कोई विशेष स्थिति चाहता है, यश चाहता है, पुत्र चाहता है, वित्त चाहता है—कुछ भी चाहता है, तो इस संसार में अभ्युदय के लिए भी वह यज्ञ करे और अगर वह परम निःश्रेयस् चाहता है तो उसके लिए भी यज्ञ करे। यज्ञ अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि का साधन है। उस यज्ञ-चक्र का निरन्तर प्रवर्तन होना चाहिए—यह अभिप्राय भगवान का है। अर्जुन के मन में शंका उठी कि तब क्या हर व्यक्ति को कर्म करना ही चाहिए। यज्ञ तो कर्माश्रित है तो कर्म-त्याग की जो बात कही जाती है —क्या वह गलत है ? अर्जुन की इस शंका का उत्तर प्रभु अगले दो श्लोकों में दे रहे हैं।

यह ठीक है कि कर्म बहुत बड़ा पवित्र साधन है; यज्ञ के रूप में अभ्युदय का भी, निःश्रेयस् का भी; किन्तु यह भी सत्य है कि कुछ ऐसे महापुरुष हो सकते हैं जिनके लिए कर्म करना अनिवार्य न हो। ऐसे कौन से महापुरुष हैं, जिनको कर्म करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता? पहले यह सोचना चाहिए कि कर्म करना किनको आवश्यक प्रतीत होता है? जो लोग अपनी वृत्ति, अपनी प्रीति बाहर किसी में पाते हैं, पति को पत्नी में, पत्नी को पति में, भाई में, भतीजे में, बेटे में—प्रेम अगर अपने से बाहर किसी में है तो उसका प्रेम बना रहे, उसका प्रेम मिले—इसके लिए कुछ करना होगा। अगर कोई अपनी तृप्ति अन्न-पान में पाता हो, खीर खाने से ही अगर किसी को तृप्ति होती हो, या अन्य किसी भोज्य वस्तु से तृप्ति होती हो तो उस तृप्ति के लिए

* तृतीय अध्याय (कर्मयोग) : श्लोक संख्या १७ से ३५

उसको भोजन करना ही पड़ेगा। उस भोजन को पाने के लिए कर्म करना ही पड़ेगा। अगर किसी को संतोष संसार की किसी स्थिति से, किसी वस्तु से होता हो कि इतना बड़ा मकान हो, इतना रुपया हो, मंत्री बन जाएँ, एम. पी. बन जाएँ, एम. एल. ए. बन जाएँ या इतने कल कारखाने हो जाएँ, मोटरें हो जाएँ—अगर संतोष अपने से बाहर की वस्तु में है, तो ऐसे संतोष के संपादन के लिए भी काम करना पड़ेगा। मनुष्य रति, तृप्ति और तुष्टि—इन तीनों के विधान के लिए कर्म करता है और ये तीनों बिना कर्म के संपन्न नहीं होतीं, प्राप्त नहीं होतीं। लेकिन ऐसी संभावना भी है कि अगर रति भी अपने से हो, तृप्ति भी अपने से हो और तुष्टि भी अगर अपने से हो तो फिर कर्म क्यों होगा? अब आप अगले दो श्लोकों को पढ़िए—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। (३/१७-१८)

जो आत्म रति से ही, आत्म तृप्ति से ही, आत्म संतुष्टि से ही कृतकृत्य है, प्राप्त प्राप्यव्य है—उसके लिए फिर कर्म का विधान नहीं है। प्रीति, तृप्ति और तुष्टि वास्तव में बाहर मिलती नहीं। बाहर जिससे आप प्रेम करके सामयिक रूप से अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं वह प्रेम बदल जाता है। अबतक आपके जीवन में कितनों से प्रेम हुआ, कितनों से प्रेम छूटा। जिनसे प्रेम हुआ, फिर वे ही दुःख के कारण हो गए कि नहीं? कोई कभी किसी से तृप्त हुआ है? तृप्ति क्या शाश्वत है? आज, फिर कल और फिर कल और, और-और...

और - और की ध्वनि है केवल तृप्ति प्रलय - पर्यन्त नहीं।

किसको संतोष होता है भाई! है कोई तृप्त ? यह झूठी तृप्ति है, यह झूठी तुष्टि है, यह झूठी रति है। जो रति, जो तृप्ति, जो तुष्टि बाहर से प्राप्त होती है वह न वास्तविक रति है, न वास्तविक तृप्ति है, न वास्तविक तुष्टि है। और इसलिए वह अल्पकालिक है; और बड़े दुःख का हेतु है। आभास होता है रति का, तृप्ति का, तुष्टि का और वह किसी बड़े दुःख का हेतु बन जाती है। इसलिए वास्तविक प्रीति का आलम्बन तो अपने ही पास है। परमात्मा से, अपने प्रभु से प्रीति कर वास्तविक तृप्ति का अनुभव कर, उन्हीं की कृपा पाकर उन्हीं में तुष्टि होती है। यह जो आत्म रति, आत्म-तृप्ति, आत्म-तुष्टि है, यह एक ही भाव का उत्तरोत्तर विकास है। आत्म-रति क्या है? आत्म-चिन्तन में निमग्न हो जाना। आत्म रति यह है कि यह जो सारी सृष्टि

है इसका विवेक करो। विवेक करो माने अलग-अलग करो। इसको बाँटो, समझो, इसमें जड़ और चेतन—दो की गाँठ पड़ गई है।

जड़-चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा, छूटत कठिनई।।

यह सारी बात अभी विस्तार से कहूँगा। इसलिए अभी संकेत है। तो अपने आपे से, चैतन्य तत्त्व से ही वास्तविक प्रीति कर सार्वकालिक तृप्ति, सार्वभौतिक तृप्ति, वास्तविक तुष्टि हो सकती है। आपका जो दूसरा प्रेम-पात्र है, क्या वह सर्वत्र सुलभ है ? क्या सब कालों में वह सुलभ होगा ? कौन पहले जाएगा —आप या आप का प्रेम-पात्र ? कौन जाने ? आप यहाँ हैं—आप का प्रेम-पात्र यहाँ है क्या ? नहीं है। जो बाहर है प्रीति का आलंबन—वह सर्वकाल सुलभ नहीं, वह सर्वत्र सुलभ नहीं, वह सबमें सुलभ नहीं। अपना आत्मा, अपने में ही विराजमान अपना प्रभु—वह सब समय सुलभ है। उसी का निरन्तर चिन्तन, उसी में लीन होने की भावना, उत्तरोत्तर लीनता की प्रगाढ़ता—यही आत्म रति है, यही आत्म-तृप्ति है, यही आत्म-तुष्टि है। जो अपने उस तत्त्व-चिन्तनक्रम में, समझ पाता है कि जो जड़ है, वह हमारे प्रेम का आलम्बन नहीं होना चाहिए, जड़ अगर प्रेम का आलम्बन होगा तो हमको निम्नमुखी बनाएगा, दुःखी करेगा। चैतन्य-स्वरूप हम हैं; और परम चैतन्य स्वरूप के साथ ही अपना तादात्म्य हम करें—यही वास्तविक विवेक है, यही है जड़ चेतन को अलग-अलग करना। जड़ और चेतन को अलग-अलग करके अपने वास्तविक स्वरूप से जुड़ जाना, अपने भीतर रति, तृप्ति और तुष्टि का अनुभव करना, हर-हाल में अलमस्त रहना है। हर-हाल में अलमस्त सच्चिदानन्द हूँ—यह कौन कह सकता है? जिसको बाहर से कुछ पाना नहीं है, जिसका प्रेम बाहर की किसी वस्तु पर, बाहर की किसी स्थिति पर, बाहर के किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। अपने वास्तविक आपे से जुड़कर जो तृप्त है, उसके लिए कोई काम करना शेष नहीं रह गया। *'नैव तस्य कृतेनार्थो'* —मनुष्य कर्म करता है रति, तृप्ति, तुष्टि के लिए। उसको तो आत्म-रति प्राप्त, आत्म-तृप्ति प्राप्त, आत्म-तुष्टि प्राप्त तो वह क्यों कर्म करेगा? न उसका कर्म करने से कोई प्रयोजन है न कर्म न करने से कोई प्रयोजन है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसलिए महापुरुष के लिए कर्म करना और न करना — दोनों विलास है। उनसे उसका कुछ आता-जाता नहीं है। कर्म करना भी, न करना भी—एक जैसा है क्योंकि सारे प्राणियों से *'न चास्य सर्वभूतेषु'*। इस 'भूत' शब्द की व्याख्या में आचार्यों में थोड़ा-थोड़ा पार्थक्य है। ज्यादातर लोगों ने बताया कि सब प्राणियों से– और कुछ लोगों ने उसको और भी सूक्ष्म बनाकर कहा प्रकृति से जो भी उत्पन्न है पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राएँ, किसी से उसको

कुछ भी लेना देना नहीं है। *'अर्थव्यपाश्रयः'* —इसका मतलब है, जब किसी को किसी से कोई प्रयोजन हो तब उसकी पूर्ति के लिए उसके आश्रय की सहारे की कामना होती है। इस बात पर ध्यान दीजिए कामना कब होती है? जब आपको किसी वस्तु में सत्यत्व की, रमणीयत्व की और सुखत्व की भावना होती है कि यह वस्तु सच्ची है, यह वस्तु रमणीय है, यह वस्तु सुखदायिनी है, तब उसको प्राप्त करने की कामना होगी। समझिए हीरा या धन है। हीरे को या धन को जो लोग सच्चा मानेंगे, वे हीरा पाना चाहेंगे, वे धन कमाएँगे। उस धन में उनको रमणीयता का, उसमें रमण करने का उनको अनुभव होगा; और उसका भोग करने पर उसमें उनको तृप्ति का अनुभव होगा। तो जब सत्यत्व की, रमणीयत्व की और सुखत्व की भावना मन में होती है, तभी किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति के लिए कामना होती है। ऐसे महापुरुषों ने जब जड़ और चेतन का विभाग कर दिया और जड़ को उन्होंने अस्वीकार ही कर दिया तो अपने से भिन्न उनको किसी में भी सत्यत्व की, रमणीयत्व की और सुखत्व की भ्रांति हो ही नहीं सकती। तो इसलिए किसी से भी उनका अर्थव्यपाश्रय नहीं है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि किसी से भी उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि दूसरे से प्रयोजन सिद्ध होना, असत् से प्रयोजन सिद्ध होना असम्भव है। जो जानता है कि मरुस्थल में मृगमरीचिका है; वह जो वृक्ष दिखाई दे रहा है वह वृक्ष किसी तालाब में प्रतिफलित नहीं हो रहा है; वह केवल मेरी आँखों का धोखा है, तो वह दौड़कर वहाँ नहीं जाएगा। हरिण को लगता है कि वहाँ उलटा वृक्ष दिखाई पड़ रहा है। जरूर वह वृक्ष पानी में प्रतिफलित हो रहा होगा। वहाँ पानी होगा इसलिए दौड़ कर जाता है; और दौड़-दौड़ कर मर जाता है। तो जैसे मृगमरीचिका अज्ञान के कारण बार-बार मृग को जल के लिए इधर-उधर ले जाती है, वैसे ही हम सब भी अज्ञान के कारण जिसमें वास्तविक प्रीति होनी चाहिए, जिसमें वास्तविक तृप्ति होनी चाहिए, जिसमें वास्तविक तुष्टि होनी चाहिए, उन सब को छोड़कर दूसरी तरफ जाते हैं। तुलसी बाबा ने कहा है—

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओस-कन की।

यह मन की मूढ़ता है कि राम की भक्ति की गंगा बह रही है, जिससे वास्तविक तृप्ति होगी, जिससे वास्तविक प्रीति होनी चाहिए, उसको छोड़ कर विषय के ओस-कणों को चाटता फिरता है, यह मन। कैसे उसे सच्चा प्रेम प्राप्त होगा, कैसे उसको सच्ची तृप्ति मिलेगी ? ज्ञानी को किसी दूसरे से अर्थव्यपाश्रय नहीं रह जाता। वह आत्मा से, अपने आपे से, परमात्मा से, प्रभु से ही परम प्रीति, परम तृप्ति, परम तुष्टि

की अनुभूति करता है। इसलिए यह सारा संसार उसके लिए करणीय-अकरणीय—इन दोनों के परे है, कुछ नहीं है। इसमें ज्ञानियों में और कर्मयोगियों में थोड़ा मतभेद है। कर्मयोगी लोकमान्य तिलक कहते हैं कि ऐसे ज्ञानियों को भी काम करना ही चाहिए; क्योंकि भगवान स्वयं काम करते हैं। जो पक्के ज्ञानमार्गी हैं वे कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद कर्म नहीं करना चाहिए। इसमें एक बात समझिये! जो ज्ञानी है वह क्या चलता-फिरता, उठता-बैठता नहीं है ? खाता-पीता, सोता-जागता नहीं है ? जागता है। याद रहे कि कर्म और कार्य में मौलिक अन्तर है। इस श्लोक में इसको स्पष्ट किया गया है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।। (३/१९)

यह जो चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना है, यह तो ज्ञान प्राप्त होने के बाद भी होता रहेगा। ये तो शरीर की क्रियाएँ हैं। जो किया जाए, वह कर्म, यह अर्थ नहीं है यहाँ। यहाँ कर्म का अर्थ है कार्य, कर्त्तव्य। ज्ञानी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं। *'कार्यं कर्म समाचर'* —क्यों कहा गया ? *कार्यं कर्म समाचर*— माने जो कर्त्तव्य-कर्म हैं, उसका भली-भाँति आचरण करो। जो अकार्य कर्म है, जो अकर्त्तव्य कर्म है, उसको मत करो। गीता कर्म करने को कहती है, तो उसमें एक विशेषता लगाती है— *कार्यं कर्म समाचर।* अब इस बात को समझिये कि जो अज्ञानी हैं या जिनकी प्रीति, तुष्टि, रति अपने आप से नहीं है, वे कैसे प्रीति, तुष्टि, रति की शुद्धि करें — इसके लिए भी कर्म आवश्यक है। इसके लिए उनको कार्य कर्म करने चाहिए। क्या गीता का यह श्लोक सुनने पर प्रीति, रति और तुष्टि अपने से उनको आज ही हो जाएगी ? आज तो नहीं होगी। हमारी इन्द्रियाँ तो अपने विषयों में जाएँगी। तो हमारी इन्द्रियाँ अपने विषयों में जाकर कहीं प्रेम का अनुभव करेंगी, कहीं कुछ पाकर, खाकर तृप्ति का अनुभव करेंगी, कहीं किसी के साथ रहकर, कुछ भोग कर तुष्टि का अनुभव करेंगी। प्रीति, तृप्ति, तुष्टि बाहर से मिल रही है। अच्छा ये सब कम-से-कम अकर्त्तव्य से तो न मिलें। कम-से-कम पाप से तो न मिलें। कम-से-कम पुण्य से तो मिलें, उचित कर्म से तो मिलें। इसलिए *कार्यं कर्म समाचर।* इसलिए एक कर्त्तव्य कर्म-उचित कर्म, विहित कर्म और एक अकर्त्तव्य कर्म, अविहित कर्म, पाप कर्म। पाप कर्म का तो कोई समर्थन कर ही नहीं सकता। गीता नहीं कर सकती। लेकिन ज्ञानी के लिए और अज्ञानी के लिए मौलिक अन्तर क्या है कर्म करने में? मौलिक अंतर यह है कि ज्ञानी के लिए कोई कार्य कर्म नहीं है। उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है। कर्त्तव्य शेष न होने पर वह

काम करे कि न करे— कुछ लोग कहते हैं कि न करे। कुछ लोग कहते हैं कि यह उसकी मौज है। वह करना चाहे तो करे, न करना चाहे तो न करे। अगर ज्ञानी के लिए कर्म करने की आज्ञा नहीं है, विधि नहीं है तो ज्ञानी के लिए कर्म करने का निषेध भी नहीं है। ज्ञानी कर्म करे ही, इस प्रकार की अगर आज्ञा नहीं है तो ज्ञानी कर्म नहीं ही करे— इस प्रकार का निषेध भी नहीं है।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।

जो त्रिगुणातीत हो गए हैं, वे जीवन के पथ पर विचरण करते रहें उनके लिए न कोई विधि है, न कोई आज्ञा है कि यह-यह करो ही करो, न निषेध है कि यह-यह नहीं करो। कुछ नहीं। वे विधि और निषेध से परे हैं। तो वे अपनी मौज में लोकानुग्रह करने के लिए चाहें तो कर्म करें, न चाहें तो न करें। ज्ञानी कर्म नहीं करता। ज्ञानी को कर्म न करने की छूट है लेकिन क्या अर्जुन भी कर्म न करे? इस पर प्रभु कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

तस्मात् माने इसलिए। ज्ञानी कहते हैं कि चूँकि तू ज्ञानी नहीं है। तू मुमुक्षु कार्यरत अधिकारी है, तू मुमुक्षु है, मुक्ति चाहता तो है, लेकिन तुझको ज्ञान नहीं हुआ है और चूँकि तुझको ज्ञान नहीं हुआ है इसलिए तेरे लिए कर्म करना आवश्यक है। तस्मात् — चूँकि तू ज्ञानी की श्रेणी में नहीं आता इसलिए तू काम कर। एक अर्थ। यह ज्ञानियों का अर्थ है। लेकिन अर्जुन ज्ञानी नहीं है। इसलिए उसको काम करने का आदेश दिया। जो लोग कर्ममार्गी हैं, उनका कहना है कि जो परम ज्ञानी है उनके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। तो भी वे कर्म कर सकते हैं तो तू भी कर। अगर वे भी कर्म करते हैं और इसका एक उदाहरण देखिए— परमात्मा स्वयं कर्म करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों को कर्म करना चाहिए—यह कहने वाले हैं। तो तस्मात् का अर्थ करते हुए कर्ममार्गी कहते हैं— इसलिए कि ज्ञानी जिसका कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं है, वह भी कर्म करता रहता है तो तू भी कर्म कर।

तस्मादसक्तः —इसलिए अनासक्त हो। यह आसक्ति जो है नासमझी के सिवाय कुछ नहीं है। आँख ने कितने रूपों को देखा है। क्या आँख किसी रूप से चिपकी है? कोई रूप आकर आँख से चिपक गया है ? हम देखते हैं कि पाँव चलता रहता है क्या वह किसी जगह पर गड़ जाता है। स्पर्श कितनों का हुआ है। इसके बिना हम जी नहीं सकते। यह तो चाहिए ही चाहिए। इस प्रकार की आसक्ति न तो इन्द्रियों में है न विषयों में। इन इन्द्रियों और विषयों के संयोग पर जब हममें मूर्खता उत्पन्न होती है तो उस नासमझी में, उस अनभिज्ञता में, उस मूढ़ता में आसक्ति है। इसलिए प्रभु कह रहे हैं

अर्जुन तू बुद्धिमान व्यक्ति है। अनासक्त होकर लगातार कर्त्तव्य कर्म करता रह। अच्छी तरह। गीता कहती है कि काम बेगार की तरह मत करो। बेगार भी अगर करनी पड़े तो उसको भी अच्छी तरह करो। *समाचर*—सम्यक् रूप से आचरण करो, भली-भाँति से करो। *असक्तो ह्याचरन्कर्म*— जो अनासक्त होकर कर्म करता है। *परमाप्नोति पूरुषः* — वह परम पुरुष को भी, परमात्मा को भी प्राप्त करता है। इस पर फिर बहस है। कर्म से परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है—यह ज्ञानी लोग नहीं मानते। तो उनका कहना है कि कर्म से चित्त-शुद्धि होगी। और चित्त-शुद्धि से ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता होगी; और ज्ञान-प्राप्ति के बाद परम कल्याण होगा। लेकिन जो कर्म-मार्गी हैं वे कहते हैं— इसमें तो एकदम साफ कहा है कि अनासक्त भाव से कर्त्तव्य-कर्म करते रहने पर परम तत्त्व की पुरुष को प्राप्ति हो जाती है। *परमाप्नोति पूरुषः*— पुरुष निश्चय ही परम तत्त्व की प्राप्ति करता है। एक बात पर ध्यान दीजिए— सत्रहवें श्लोक में भी 'मानवः' आया है। यह मानव शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानवः शब्द का अर्थ हुआ कि कोई भी मानव। चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो। चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई हो, पारसी हो, चाहे भारतीय हो, पाकिस्तानी हो, अमरीकी हो या जापानी हो— यह नहीं कि कौन किस जगह पैदा हुआ है? यह कि क्या वह अपने से, अपने आपे से प्रीति करता है, शरीर से नहीं, आत्मा से। आत्म रति का मतलब अपने चमड़े के रूप पर मुग्ध होना नहीं है। आत्म रति का मतलब है कि अपने भीतर जो आपा है, उसी से प्रेम है, उसी में तृप्ति है, उसी में अपनी तुष्टि है। कोई भी पुरुष (पुरुष में स्त्री भी सम्मिलित है, मानव में मानवी भी सम्मिलित है) जो अनासक्त होकर काम करेगा वह परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। इसमें फिर किसी वर्ण, किसी आश्रम, किसी उपासना पद्धति का निर्देश नहीं है। इसलिए हमलोग कहते हैं कि गीता सार्वभौम, सार्वजनिक, सार्वकालिक शास्त्र है। यह केवल हिन्दुओं के लिए या मुसलमानों के लिए या ईसाइयों के लिए नहीं है। अपने भीतर परमात्मा से प्रेम करो— इतना ही काफी है गीता के लिए। और इसके बाद कहते हैं कि कर्म करना बड़ी बात है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।। (३/२०)

उदाहरण दिया— एक तरफ जनक हैं अश्वपति हैं; एक तरफ अष्टावक्र हैं शुकदेव हैं — तो जैसे कर्म करने वालों की परंपरा है, वैसे ही ज्ञानियों की भी परंपरा है। इसीलिए बताया गया है कि दो निष्ठाएँ हैं — सांख्यानाम् ज्ञानियों के लिए—

ज्ञानयोग और कर्मयोगियों के लिए कर्मयोग। तो सांख्य (ज्ञान) और कर्म दोनों निष्ठाओं से परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। इस बात को श्रीकृष्ण बार-बार दोहराते हैं। इस प्रश्न में कुछ नए बीज शब्द गीता के अपने हैं। उनमें से एक अपूर्वता गीता की है— लोकसंग्रह। लोकसंग्रह का क्या मतलब ? लोक का मतलब सारी सृष्टि है, संपूर्ण प्राणी हैं, मनुष्य समाज है। ज्ञानियों की तुलना में भाव प्रेरित होता है सामान्य मनुष्य-समाज। लोक संग्रह शब्द की कई व्याख्याएँ हैं, इसके कई अर्थ हैं। मोटे तौर पर इसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि सारी सृष्टि में कैसे समन्वय बना रहे। सारी सृष्टि में कैसे व्यवस्था बनी रहे? सारी सृष्टि किस प्रकार अच्छी तरह से चले ? सारी सृष्टि, सारा मानव-समाज केवल मानव-समाज नहीं, पशु-पक्षी भी कैसे एक दूसरे के लिए कल्याणकारक हो जाएँ। सबका भला कैसे हो? लोक संग्रह का मतलब लोगों को इकट्ठा कर लेना नहीं है। भीड़ इकट्ठा करना नहीं है। लोकसंग्रह का मतलब है— लोकरक्षण भी एवं लोकशिक्षण भी। लोककल्याणार्थ संपूर्ण सृष्टि की व्यवस्था बनी रहे— इसके लिए प्रयास करना। मनुष्य तटस्थ कैसे हो जाएगा? अलग कैसे हो जाएगा? सारे समाज का मंगल मेरा मंगल है— मेरा मंगल लोकमंगल में निहित है। इसलिए लोकमंगल के लिए, लोककल्याण के लिए, लोक हित के लिए उसे कर्त्तव्य कर्म करने चाहिए। आगे लोक और वेद के दो स्तर माने जाते थे। जब निषादराज ने कहा कि *लोक वेद बाहेर सब भाँतीं।* तो लोक का मतलब हुआ साधारण लोग और वेद का मतलब हुआ ज्ञानी लोग, श्रेष्ठ लोग। विनम्रतापूर्वक निषादराज ने अपने को दोनों स्तरों के बाहर बताया था। गीता सार्वजनिक है, सबके लिए है इसलिए *'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'* का मतलब हुआ कि जो अच्छे लोग, जो भगवान की ओर आगे बढ़ने वाले लोग, श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे केवल अपने ही लिए नहीं, लोक कल्याण के लिए भी लगातार काम करते रहें। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। (३/२१)

श्रेष्ठ पुरुष जैसा करता है, साधारण लोग वैसा ही करते हैं, उसका अनुगमन करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष ने तो ज्ञान प्राप्त होने के बाद कर्म को छोड़ दिया; और जो लोग ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके हैं वे उसकी नकल कर कर्म करना छोड़ देंगे, जिससे उनका और समाज का परम अनिष्ट हो जायेगा। कहावत प्रसिद्ध ही है—

देखा-देखी साधे जोग। छीजै काया, बाढ़ै रोग।।

ज्ञानी ने तो ज्ञान प्राप्त करके कर्म छोड़ा, वे बिना ज्ञान प्राप्त किए कर्म छोड़ेंगे

तो तमोगुणी हो जाएँगे। उनका जो विकास हो सकता है वह नहीं होगा। कर्म से ही चित्त-शुद्धि होती है, कर्म से ही अभ्युदय होता है —उनका विकास रुक जाएगा। इसलिए स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ज्ञानी भी और श्रेष्ठ पुरुष भी केवल अपने लिए काम न करें, लोगों के सामने उन्नत आदर्श प्रस्तुत करने के लिए काम करें। आज जो समाज की स्थिति बिगड़ गयी है, वह इसलिए कि जिनको लोग बड़ा मानते हैं, वे गलत काम कर रहे हैं। वे भ्रष्टाचार करते हैं तो भ्रष्टाचार चारों तरफ फैलता है। भ्रष्टाचार क्या धुआँ है जो नीचे से ऊपर को जाता है? किसी गरीब की झोपड़ी में माँ ने खाना बनाया है, उसका धुआँ नीचे से ऊपर जाता है। इसी तरह क्या भ्रष्टाचार नीचे से ऊपर जाता है? चपरासी, क्लर्क घूस लेता है, इसलिए भ्रष्टाचार फैलता है? नहीं-नहीं। भ्रष्टाचार झरना है। वह तो ऊपर से नीचे आता है। जब ऊपर के बड़े अधिकारी भ्रष्ट होते हैं, बड़े राजनेता भ्रष्ट होते हैं, तब भ्रष्टाचार निचले स्तर तक फैल जाता है। गीताकार ने स्पष्ट कहा है— *यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।*

जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, अधिकारी हैं—वे अच्छा काम करेंगे तो अच्छे काम का अनुकरण होगा। वे बुरा काम करेंगे तो बुरे काम का अनुकरण होगा। अगर प्रधान मंत्री, मुख्य मंत्री, मंत्री, ऊँचे अधिकारी बेईमान होंगे, भ्रष्ट होंगे तो सारा समाज भ्रष्ट होगा। जो घूस नहीं लेगा, उसको बेवकूफ समझा जाएगा। ऐसा क्यों है? क्योंकि अच्छे लोग अच्छा उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। गीता कहती है कि अच्छे लोगों को अपने आचरण से अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। अगर अच्छे लोग काम करना बन्द कर देंगे तो चारों ओर अव्यवस्था फैल जाएगी। लोक संग्रह की जगह लोकविनाश हो जाएगा, समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। यह बात हमलोग आज के जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। भगवान को कुछ अप्राप्त है? भगवान का कोई कर्त्तव्य शेष रह गया है? क्या है जो भगवान को प्राप्त नहीं है? भगवान को सब कुछ प्राप्त है, फिर भगवान कर्म क्यों कर रहे हैं? वे स्वयं अपना उदाहरण देते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।। (३/२२)

कुछ ऐसा नहीं है जो भगवान को प्राप्त नहीं है। लेकिन फिर भी वे प्रतिक्षण कर्मरत हैं। सूर्य क्यों निकलता है ? हवा क्यों बहती है? पृथ्वी क्यों घूमती है? वायु क्यों चलती है? क्योंकि भगवान काम कर रहे हैं। भगवान अगर काम न करें तो यह सारी सृष्टि-व्यवस्था ध्वस्त हो जाए। भगवान को कुछ भी प्राप्त करना नहीं है; फिर भी वे क्यों काम करते रहते हैं, इसका रहस्य समझाते हुए वे कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। (३/२३-२४)

अद्‌भुत शब्द हैं। *कर्मणि*—कर्मों में। *अतन्द्रितः* —बिना किसी आलस्य के। बिना झपकी लिए, बिना सोए, सतत जागरूक रहकर भगवान काम करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि वे काम नहीं करेंगे, तो उनकी देखादेखी उनका अनुसरण करते हुए सामान्य लोग भी काम करना बन्द कर देंगे। मेरे रामजी काम कर रहे हैं और मैं बिना काम किये घर में बैठ जाऊँ? तब हमारा जन्म किस लिए हुआ है? श्रीरामचरितमानस में बार-बार एक ऐसी बात कही गयी है जो रामचरितमानस को, तुलसी को मध्यकालीन सामान्य भक्तों से अलग करती है। मध्यकाल के किसी भक्त ने राम के काम पर इतना बल नहीं दिया है, जितना तुलसीदास ने दिया है। और सब लोगों ने नाम पर बल दिया है, प्रेम पर बल दिया है। तुलसी बाबा ने भी उनपर बल दिया है किन्तु उन्होंने उतने ही आग्रह से यह भी बताया है कि हमारा-आपका जन्म किस लिए हुआ है—

राम-काज लगि तव अवतारा
x x x x
राम काजु करि फिरि मैं आवौं,
सीता कइ सुधि प्रभुहिं सुनावौं
तब तव बदन पैठिहउँ आई
x x x x
राम-काज छन भंगु सरीरा।

हमलोग पैदा हुए हैं राम का काम करने के लिए। रामजी काम कर रहे हैं और हम निकम्मे रहें ? रामजी अतन्द्रित काम कर रहे हैं, बिना विश्राम लिए काम कर रहे हैं; और हम निकम्मे बैठे रहें ? ऐसा कैसे हो सकता है? यदि प्रभु ही काम नहीं करेंगे तो उनकी देखा-देखी और लोग भी काम नहीं करेंगे और यह सारा लोक ध्वस्त हो जाएगा। प्रभु कहते हैं तब तो मैं इस संसार की व्यवस्था को बिगाड़ने वाला बन जाऊँगा— *संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।*

इस सारी प्रजा को विध्वस्त करने वाला, वर्ण संकर बनाने वाला, व्यवस्था से च्युत कर देने वाला बन जाऊँगा। इसलिए मैं काम करता हूँ कि सब काम करते रहें। यह जो प्रभु ने अपना उदाहरण दे दिया है, यह उदाहरण चरम उदाहरण है। उन्होंने सोचा

कि जनक आदि का उदाहरण देना—यह प्रमाण नहीं है। लोग तर्क करेंगे कि हमारी स्थिति तो जनक से भिन्न है। जनक तो अपने समय में कर गए मगर आज तो ऐसा नहीं हो सकता। लेकिन जब उन्होंने कहा कि परमात्मा सतत काम कर रहा है, तब इस उदाहरण के बाद किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता कि हम सबको प्रभु के दिए हुए संकेत के अनुसार अनासक्त भाव से, कर्त्तव्य-कर्म को करते ही रहना चाहिए। क्या सब अनासक्त हो जाएँगे? नहीं होंगे। अनासक्ति क्या मुझमें आ गई है? नहीं आई है भाई! मुझमें तो नहीं आई है। मैं खुद फलासक्त व्यक्ति हूँ। लेकिन अनासक्ति का उदाहरण तो सामने है। अनासक्ति का उदाहरण सामने रख कर जब हम काम करते हैं तो आसक्ति कम तो होती है। इसके बाद प्रभु ने एक बहुत व्यावहारिक बात कही—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। (३/२५)

उन्होंने यह बताया कि विद्वान जो काम अनासक्त होकर करेंगे साधारण लोग उस काम को आसक्तिपूर्वक करेंगे। लेकिन वे जिस काम को अच्छा बता देंगे, दूसरे लोग वह काम करेंगे भले आसक्तिपूर्वक सही। कोई बात नहीं। वे आसक्त होकर काम करें लेकिन ज्ञानीजन, विद्वज्जन अनासक्त होकर काम करें। ज्ञानी ने कोई अच्छा काम फल की लालसा के बिना किया, उसने किसी की सेवा की। दूसरे लोग सेवा करेंगे, भले उनके मन मे फल की लालसा रहे। दूसरे लोग सहयोग करेंगे दूसरों से, भले उनके मन में यश की लालसा रहे। लेकिन यदि ज्ञानीजन अनासक्त होकर अच्छे काम करते रहेंगे तो उनके उदाहरण को देखकर साधारण लोग आसक्त-चित्त से भी अच्छे ही काम करेंगे। इससे समाज का भला होगा। श्रीकृष्ण ने सावधान करते हुए यह भी कहा कि साधारण लोगों के मन में कर्म करते रहने के सम्बन्ध में बुद्धि भेद उत्पन्न करना उचित नहीं है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।। (३।/२६)

उनके मन में अगर ज्ञानीजन बुद्धि-भेद उत्पन्न कर देंगे तो उस बुद्धि-भेद से उनका विकास रुक जायेगा। भगवान यह नहीं कहते कि अज्ञानी को अज्ञानी बनाए रखो। भगवान यह कहते हैं कि जो, जो साधन कर रहा है, उससे अगर बेहतर साधन तुम उसको दे सकते हो तब तो तुम उसको उसके साधन से अलग करने के अधिकारी बन सकते हो। अन्यथा अगर तुमने उसके साधन से उसको विमुख कर दिया और

अच्छा साधन उसको मिला ही नहीं तो जो साधन उसके पास था, वह भी चला गया। अब इससे तो उसकी हानि ही होगी। उदाहरणार्थ कोई गंगा-स्नान करने जाता है; और आपने कह दिया कि—

मन चंगा तो कठौती में गंगा।

और यह सुनकर वह बोला कि फिर क्या जरूरत है गंगा जाने की ? नहीं गया। लेकिन गंगा न जाकर उसने किया क्या? सोया रहा, झगड़ा करता रहा, दूसरों के प्रति उसके मन में आसक्ति बढ़ती रही, उसके तमोगुण रजोगुण बढ़े। आपने यह तो नहीं बताया कि मन चंगा कैसे होगा? और गंगा-स्नान से उसे रोक दिया। आप ही बतायें आप ने उसका भला किया कि बुरा किया? मन चंगा कैसे होगा? सारी साधन योजना के पीछे मन को चंगा करने का ही अभिप्राय है। गंगा-स्नान करके, तीर्थ-यात्रा करके, सत्संग करके, कथा श्रवण करके, पूजन करके मन को चंगा बनाया जा रहा है। मन-चंगा बनाने का और कोई बड़ा साधन अगर आप उसको दें, तो छोटे साधनों से उसे विरत कर सकते हैं। अन्यथा आपने उसका साधन तो छुड़ा दिया और कोई बड़ा साधन दिया नहीं तो वह तो *इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः* —इधर से भी डूब गया, उधर से भी डूब गया। ऐसा नहीं करना चाहिए। यही है बुद्धि भेद उत्पन्न करना। लोग कहते हैं कि—

पाथर पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार।।

ठीक है आप की बात कि पत्थर की पूजा करने से भगवान नहीं मिलते। लेकिन एक बात बताइये जो लोग पूजा करते हैं वे पत्थर की पूजा करते हैं क्या ? हमलोग जो मूर्ति-पूजा करते हैं, उसको पत्थर मान कर पूजते हैं? नहीं। हम तो उसको परमात्मा मान कर उसकी पूजा करते हैं। तुलसी बाबा ने एक बढ़िया सवैया लिखा है—

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ ? सब ठाँव हैं, खम्ब में, हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे।
बैरि बिदार भये बिकरार कहे प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे।

हिरण्यकश्यप ने तलवार खींच ली, उसके मन में कृपा का, करुणा का लेश भी नहीं था, साक्षात् कालरूप पिता को देख कर भी प्रह्लाद के मन में रंच मात्र भय नहीं हुआ, न वह विचलित हुआ, न भागा। हिरण्यकशिपु ने गरज कर पूछा, बता, तेरा राम कहाँ है? प्रह्लाद ने कहा— रामजी सब जगह हैं। हिरण्यकशिपु ने पूछा— खम्भे में है? वह बोला— हाँ। हिरण्यकशिपु ने लात मारी, खम्भा फटा, प्रभु प्रकट हुए, वैरी

हिरण्यकशिपु का वध किया और प्रह्लाद ने जब उनको मनाया तो शान्त हुए। लोगों के मन में प्रीति और विश्वास की भावना बढ़ी, लोग पत्थर के माध्यम से प्रभु की पूजा करने लगे। तो लोग पत्थर की पूजा नहीं करते हैं। उस पत्थर से प्रकट होने वाले प्रभु की पूजा करते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए। तो जो लोग प्रीति-प्रतीति का प्रतीक मान कर मूर्ति-पूजा कर रहे हैं, उनके मन में मूर्ति पूजा के बारे में तुमने बुद्धि-भेद उत्पन्न कर दिया और उनको निर्गुण निराकार की उपलब्धि कराने की क्षमता नहीं दी, तुमने उनका भला किया कि बुरा किया? स्पष्टतः बुरा किया। इसलिए—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्

जो कर्मों में आसक्त हैं और जो पूरे ज्ञानी नहीं हैं, उनके मन में अपने साधन के प्रति अश्रद्धा मत उत्पन्न करो। उनकी बुद्धि को विचलित मत करो। उनके अपने साधन से बड़ा साधन, श्रेष्ठ साधन अगर तुम दे सकते हो, तब तो तुम उनके गुरु बनो, उनकी उँगली पकड़ कर उनको ऊपर तक खींच कर ले आओ तब ठीक है। नहीं तो तुम उनके मन में बुद्धि-भेद उत्पन्न मत करो। और स्वयं ठीक रहते हुए, युक्त रहते हुए विद्वान सब अज्ञानियों को उनके अनुरूप, उनके लिए मंगलदायक, उनके अनुकूल कर्मों में प्रवृत्त करे। इसके बाद के जो श्लोक हैं वे कुछ गंभीर हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नवित्र विचालयेत्।। (३/२७-२९)

आदमी बँधता क्यों है? *अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्*— मनुष्य अच्छा या बुरा जो काम करता है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है। किसको भोगना पड़ता है? जो कर्म का कर्त्ता होता है। कर्तृत्व बुद्धि से जो काम तुमने किया, उसका फल भोगना पड़ेगा। सोए सोए तुमने करवट ली और करवट लेने से इधर एक मच्छर दब गया तो उस मच्छर की हत्या का पाप तुमको नहीं लगेगा। तुमसे पानी गिर गया और वह पानी गिर कर तुलसी जी में चला गया तो तुलसी जी को उस पानी का अर्घ्य देने का पुण्य तुमको नहीं मिलेगा। बात समझ में आ रही है? अनिच्छा और अज्ञान कृत जो स्वाभाविक कर्म हैं, उनका न पाप लगा, न पुण्य मिला। पाप-पुण्य किसको मिलता है? कर्त्ता को मिलता है और यह कर्तृत्व ही बंधन की जड़ है। मनुष्य

जब अपने को कर्त्ता मानता है तो अपनी मूढ़ता का प्रमाण देता है। कर्म कौन कर रहा है? भगवान कहते हैं कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

काम तो सब प्रकृति कर रही है। प्रकृति के गुण सारे काम कर रहे हैं। जो अहंकार से विमूढ़ आत्मा है वह अपने को कर्ता मानता है; और इसलिए फँसता है। आगे बताया कि *'गुणा गुणेषु वर्तन्त'* —गुण ही गुण में बरतते हैं। यह एक मुहावरा हो गया है। इसका मतलब कितने लोग समझते हैं—मुझे नहीं मालूम। दोहराते बहुत से लोग हैं। इसका मतलब समझना चाहिए। गुण का क्या मतलब है? प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से प्रकृति बनी है। अब इसमें जो तमोगुण का अंश है— उससे पंचमहाभूत बने हैं। और उन पंच महाभूतों से ही यह शरीर बना। हड्डी, चमड़ा, खून आदि का बना ही साँस लेने वाला शरीर तमोगुणी पंच महाभूतों का कार्य है; और यह जड़ है। अब इसमें जो इन्द्रियाँ हैं, वे सत्त्वगुणी अहंकार से बनी हैं। पंच तन्मात्राएँ और पंच महाभूत तमोगुणी अहंकार से बनते हैं। मन और रजोगुणी अहंकार से होती है क्रिया। तमोगुणी अहंकार से बना शरीर— हमारा, आपका, सबका। सत्त्वगुणी अहंकार से बनी इन्द्रियाँ— पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन या उसको और बड़ा करके वेदान्तियों ने अन्तःकरण कर दिया। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। तो अन्तःकरण और बाह्यकरण—ये जो चौदह औजार हमको मिले हैं— ये भी प्रकृति के कार्य हैं। ये जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध आये और उनको धारण करने वाले पंच महाभूत हैं, ये भी प्रकृति के कार्य हैं। ये दूसरे जो प्रकृति के कार्य हैं— ये हो गए विषय और ये जो पहले प्रकृति के कार्य हैं— ये हो गए करण। बाह्यकरण और अन्तःकरण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये वाह्यकरण और चार औजार अन्तःकरण के— ये जो चौदह करण हैं, ये जड़ हैं; ये प्रकृति के कार्य हैं; लेकिन ये हैं करण। इनसे हम काम करते हैं और इस पूरी सृष्टि में ये जो विषय हैं ये भी प्रकृति के कार्य हैं। ये हैं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध रूपी तन्मात्राएँ क्षिति-जल-पावक-गगन, समीर— ये पंच महाभूत, ये तमोगुण से बने हुए विषय हैं; और रजोगुण हमको क्रिया में प्रवृत्त करता है। तो होता क्या है? प्रकृति के कार्य के रूप में करण इन्द्रियाँ प्रकृति के कार्य के रूप में विषय में रमती हैं। आँखें अच्छे रूप को देख कर सुख पाती हैं, बुरे रूप को देख कर उसमें द्वेष होता है। अच्छे रूप में राग होता है, बुरे रूप में द्वेष होता है। रसना को स्वादिष्ट भोजन में राग होता है; और अस्वादु भोजन में द्वेष होता है। तो हो क्या रहा

है? प्रकृति के कार्य रूपी करण यानी इन्द्रियाँ, प्रकृति के कार्य रूपी विषय में रम रही हैं। कौन रम रहा है ? कौन कार्य कर रहा है? प्रकृति की ही बनी इन्द्रियाँ, प्रकृति के विषय में रम रही हैं। प्रकृति के गुण, प्रकृति के गुणों में बरत रहे हैं। सत्त्व गुण-रजोगुण मिलकर तमोगुण में बरत रहे हैं। और हम मानते हैं अपने को कर्त्ता? जो लोग अपने को कर्त्ता मानते हैं, उनसे दो तीन बातें पूछनी चाहिए। आप अपने को कर्त्ता मानते हैं, तो आप सब कुछ करते होंगे। अपने शरीर में आप क्या-क्या करते हैं ? आप का जो रक्त-संचार हो रहा है—यह आपकी इच्छा से हो रहा है? आप इसे इच्छा से रोक सकते हैं? आप का नाखून बढ़ रहा है, बाल बढ़ रहा है, यह जो हमलोगों की उम्र बढ़ रही है। यह सब कैसे होता हैं? रूप बदल गया, बूढ़े हो गए बाल सफेद हो गये, दाँत झड़ गये यह जो हम साँसें ले रहे हैं, इन सबमें हमारे हाथ में क्या है? यह जो हम भोजन पचाते हैं। हमारी इच्छा से ही यह काम हो तो किसी को अनपच हो? किसी को कब्ज हो? किसी को अतिसार हो? हम कर्त्ता हैं— यह तो अपने शरीर की सामान्य क्रियाओं के बारे में भी झूठ है। फिर जो यह बाहरी कार्य हो रहा है। याद रखें —ये प्रकृति के कार्य रूपी करण यानी इन्द्रियाँ प्रकृति के कार्य रूपी विषय भोगों में बरत रही हैं। कौन अच्छा कर रहा है? कौन बुरा कर रहा है? जिसमें सत्त्व गुण अधिक, रजो गुण तमो गुण कम हैं, वह कुछ अच्छे कार्य कर रहा है। और जिसमें रजो गुण-तमोगुण ज्यादा है, सत्त्व गुण कम हैं, वह बुरे काम कर रहा है। तो यह भी तो प्रकृति का ही खेल है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

प्रकृति के गुण सारे कर्म करते हैं। *अहंकार-विमूढात्मा*—इसका मतलब क्या है? एक है अपना सच्चा अहं और एक अपना है झूठा अहं। जब हम अपने को सत्-चित् और आनन्द मानते हैं— आत्म स्वरूप मानते हैं, तो वह है हमारा सच्चा अहं। जब हम अपने सच्चे अहं की जगह जो हम नहीं हैं, उसको इस शरीर को अपना आपा मान लेते हैं तो हम मूढ़ हो जाते हैं। अहंकार से विमूढ़ हो जाते हैं। अपना अंहकार क्या है? त्रिगुणात्मिका प्रकृति जब साम्यावस्था में रहती है तो सृष्टि नहीं होती। गीता में भगवान् ने सांख्य-शास्त्र की प्रक्रिया को लिया है; लेकिन उसको अपनी तरह से लिया है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति स्वतंत्र कर्तृ है और पुरुष अलग है, उसमें द्वैत है। गीता प्रकृति को स्वतंत्र कर्तृ नहीं मानती। गीता में साफ कहा गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

प्रभु की अध्यक्षता में, उपस्थिति में, उनकी अनुमति से सारे चराचर जगत की

सृष्टि प्रकृति करती है। यानी प्रकृति और जीवात्मा के ऊपर पुरुषोत्तम परमात्मा प्रभु हैं। उनका चिदंश, चिदात्मा, चित् तत्त्व ज्यों-का त्यों रहता हुआ उनका जो सत् तत्त्व है, सदंश है— वह प्रकृति के रूप में, चराचर जगत में बदल जाता है; और बदल कर जो जड़ पंच महाभूत हैं, उसका ही संघात यह शरीर है। इसमें जो इन्द्रियाँ हैं—वे सात्त्विक अहंकार की सृष्टि हैं। और जो हमारा अन्तःकरण है वह भी सात्विक अहंकार की रचना है, जड़ है। इस अन्तःकरण में आत्मा के सान्निध्य के कारण चेतनता आती है। जैसे लोहे का गोला आग में डाल दिया गया तो लोहे का गोला हो गया लाल-लाल। लोहे के गोले में जो प्रकाश आया, जो दाहकता आई, जलाने की ताकत आई— यह अग्नि से आई। लोहे का गोला गोल होने कारण, आग गोल दिखाई पड़ने लगी। यह आग में गोलपन कहाँ से आ गया ? लोहे के गोले के कारण। आग का धर्म लोहे के गोले में और लोहे के गोले का धर्म आग में आ गया। लोहे के गोले का धर्म आग में आया, इसलिए आग गोल हो गयी; और आग का धर्म लोहे के गोले में आया इसलिए लोहे का गोला जलने लगा। इसलिए लोहा लाल हो गया। इसी तरह आत्मा की चेतनता जब अन्तःकरण को प्रतिभासित करती है, तो अन्तःकरण चैतन्य होता है। इस जड़ के संघात को— इस शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को जब हम अपना आपा मान लेते हैं— इसमें अहकार करते हैं, तो हम विमूढता का प्रमाण देते हैं। हम हैं सच्चिदानन्द और हम नाम-रूप से सीमित इस शरीर को अपना आपा मान लेते हैं। मैं विष्णुकान्त शास्त्री— यह जो मेरा नाम, मेरा रूप क्या —यही मैं हूँ? इस शरीर में 'मैं पन' और इस शरीर के संबंधियों में 'मेरापन' — यही मूढ़ता है। 'मैं पन' इस शरीर में प्रकृति का, जड़ का संघात है और हम हैं चेतन। चैतन्य होते हुए भी इस जड़ के संघात इस शरीर को अपना आपा मानना— यह मूढ़ता है; और इस शरीर के संबंधियों को अपना मानना— यह दूसरी मूढ़ता है। 'मैं पन' और 'मेरापन'--अहंता और ममता—यही संसार है। ज्ञान होने पर क्या होगा इसको समझिये। सृष्टि दो प्रकार की है। एक है ईश्वर सृष्टि और एक है जीव-सृष्टि। ये जो नारी-पुरुष बने हुए हैं हमारे सामने बैठे हैं, ये जो सूरज-चाँद-सितारे हैं, यह धरती है, आकाश है, ये जो नदियाँ हैं, समुद्र हैं—ये हैं ईश्वर-सृष्टि। ज्ञान हो जाने के बाद भी ये ज्यों-की-त्यों भासित होंगी। ज्ञान हो जाने के बाद क्या हमको आदमी आदमी नहीं लगेगा? क्या हमको बैल, शेर लगने लगेगा? ऐसा नहीं है। ज्ञान हो जाने के बाद भी ईश्वर-सृष्टि ज्यों-की-त्यों भासित होगी; लेकिन उसमें तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से समझ में आएगा कि ये सारी आकृतियाँ प्रभु के सत् अंश में कल्पित हैं। आकृतियाँ अलग-अलग हैं।

आकृतियाँ भासित हो रही हैं लेकिन यह प्रभु की सत्ता है —जिस सत्ता में ये आकृतियाँ कल्पित हैं। चैतन्य प्रभु का है जिस चैतन्य के अंश के रंजित हो जाने के कारण मूढ़ता से हम उस परमात्मा के दिए हुए चैतन्य को अपना चैतन्य मान लेते हैं। आनन्द को सीमित कर लेते हैं। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल जाते हैं; और इस जड़ कलेवर को, इस संघात को अपना आपा मान लेते हैं। ज्ञान होने पर जीव-सृष्टि नष्ट हो जाती है। ज्ञान होने पर ईश्वर-सृष्टि ज्यों-की-त्यों भासित होगी। ज्ञान होने पर शरीर में 'मैं पन' नहीं रहेगा। ज्ञान हो जाने पर इस शरीर के संबंधियों में 'मेरापन' नहीं रहेगा। न मैं किसी का न कोई मेरा। यह जो ज्ञान है— यह ज्ञान अपने कलेवर को, दूसरे के कलेवरों को नहीं बदलता। केवल उसके संबंध को बदलता है। ज्ञान होने पर ईश्वर-सृष्टि का भासित होना नहीं रुकेगा। ईश्वर-सृष्टि की भासमान स्थिति में ये सब एक ही प्रभु के संदेश में कल्पित आकृतियाँ हैं —यह बात समझ में आएगी। इसमें 'मैं पन', 'मेरापन' नहीं होगा। इसलिए अधिकार नहीं होगा। मोह नहीं होगा। इसलिए अज्ञान नहीं होगा। इसलिए काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर नहीं होगा। इनमें सत्यत्व, रमणीयत्व, सुखत्व की भ्रांति नहीं होगी। आकार तो भासित होंगे ही। जब तक शरीर रहेगा, तब तक भूख तो लगेगी ही,तब तक खायेंगे, सोयेंगे, चलेंगे, उठेंगे, बैठेंगे— ये कर्म होंगे पर कर्तृत्वपूर्ण किया गया कार्य नहीं होगा।

जो तत्ववेत्ता हैं, उन्होंने गुण और कर्म का विभाग किया है। गुण और कर्म विभाग— इस पर बहुत बहस है। एक तो गुण-कर्म विभाग का सीधा अर्थ हुआ गुण विभाग और कर्म विभाग। गुण विभाग जैसा मैंने आपको बताया कि करण और विषय— इन दोनों के बीच में आया कर्म। इन्द्रियाँ हमको मिलीं— ये प्रकृति की देन हैं। जो विषय हमको मिले, ये भी प्रकृति की देन हैं। इसलिए इन्द्रिय रूपी गुण, विषय रूपी गुण में बरत रहे हैं। यह प्रकृति का ही खेल चल रहा है। लेकिन इस प्रकृति के खेल में अपने अहंकार की बात हम कर रहे हैं। हमने प्रकृति के गुण विभाग को भी देख लिया और कर्म विभाग को भी देख लिया। मधुसूदन सरस्वती ने बताया है कि विभाग भी अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। विभाग माने जो विभक्त हो जाए, जड़ से। जड़ के गुण से, जड़ के कर्म से जो अलग हो जाए वही अपना वास्तविक रूप है। जड़ से अपने को अलग कर लेना—यह जड़ शरीर मैं नहीं हूँ, इस जड़ शरीर की वस्तुओं से मेरा संबंध नहीं है, यह मानकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को अलग कर लेना— यह विभाग है। खैर, यह तो अलग-अलग बहस की बात है। मूल बात यही है कि गीता हमको-आपको कर्त्ता के अहंकार से मुक्ति देना चाहती है। कर्तृत्व का अहंकार

विमूढता है। यह नासमझी है, यह मूर्खता है कि हम प्रकृति के किए हुए कार्य को अपना कार्य मान कर उससे बँध रहे हैं। *कृत्स्नविद* माने पूर्ण ज्ञाता, *अकृत्स्नविद* माने जो अपूर्ण ज्ञाता है। जो पूर्ण ज्ञाता हैं वे मन्दों को, अज्ञानियों को विचलित न करें। उनको समझाने की चेष्टा करें और उनकी सीमा के भीतर उनके लिए जो मंगलमय साधन हों, उन साधनों से उनको वियुक्त न करें। बार-बार भगवान की करुणा अपनी सृष्टि के ऊपर बरस रही है। उन्होंने ज्ञानियों को भी बनाया है, अज्ञानियों को भी बनाया है। अज्ञानियों का भला उनकी अपनी सीमा में रहकर हो सकता है। उनकी सीमा में उनके लिए जो कल्याणकारक साधन हैं, उन कल्याणकारक साधनों से उनको विचलित मत करो, यह बताकर कि तुम जड़ता के साथ अपने को एक कर रहे हो। जब तक उनका इस शरीर में अहंकार का बोध है, तब तक उनसे कहो कि तुम गंगा नहाओ, तुम मंदिर जाओ, तुम सच बोलो, बेईमानी-व्यभिचार मत करो। क्योंकि अगर तुम सब अज्ञानियों को भी यह ज्ञान समझाओगे तो अज्ञानी ज्ञान तो प्राप्त करेंगे नहीं; और सच्चा ज्ञान न प्राप्त करके तुम्हारे ज्ञान का दुरुपयोग करेंगे।

ब्रह्मैव सर्वमिति वेदविदो वदन्ति, तस्मान्न मे सखि परापर भेद बुद्धिः।
जारे तथा निजपतौ सदृशोऽनुरागः, लोकाः किमर्थमसतीति कदर्थयन्ति।।

इससे स्पष्ट होता है बेईमानी का तर्क कैसा होता है। कुलटा बोल रही है, *ब्रह्मैव सर्वमिति वेदविदो वदन्ति*— वेद के ज्ञाता यह बताते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है। इस ज्ञान को कोई गलत बता सकता है? इसलिए सखी! मुझमें अपने और पराए का भेद नहीं है। जब अपने और पराए का भेद नहीं रहा तो जैसा जार (उपपति) वैसा अपना पति। *जारे तथा निजपतौ सदृशोऽनुरागः*— इसलिए अपने उपपति जार से, और अपने पति से मैं समान प्रेम करती हूँ। *'लोकाः किमर्थ मसतीति कदर्थयन्ति'* — फिर मुझको समझ में नहीं आता कि दुनिया मुझको असती कहकर मेरी निन्दा क्यों करती है? मैं तो पति, उपपति को समान भाव कर दोनों को समान अनुराग करती हूँ।

अब यह क्या है? यह छल है कि नहीं? ज्ञान का दुरुपयोग है कि नहीं? ज्ञान का दुरुपयोग किस सीमा तक होता है— यह इसका उदाहरण है। इसलिए जो जिसका पात्र है, जो जिस भूमिका पर है, उस भूमिका से हटाकर उसको ऊँची बात बता दोगे तो वह उसका दुरुपयोग करेगा। ज्ञानी कुछ नहीं करता, इसलिए अज्ञानी आलस्य-पिंड हो जाएगा। हमारे देश में अध्यात्म का इतना दुरुपयोग हुआ है कि एक बार राम-नामी ओढ़ लो और काम करना छोड़ दो। भीख माँग कर खाओ।

नारि मुई गृह संपति नासी, मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी। (७/९९/६)

ऐसे संन्यासी को फटकारा है तुलसी बाबा ने! यह संन्यास का दुरुपयोग है। ज्ञान का दुरुपयोग संभव है। इसलिए अज्ञानियों को तुम ज्ञान की ऊँची बात बताओगे तो वे उसका छल करेंगे। जो जिस भूमिका पर है, उसको उसी की भूमिका के अनुरूप उपदेश दो, जिससे कि उसका मंगल हो। वह भूमिका से ऊँचे जाए और ऊँचे चला जाए, इस इच्छा मात्र से उसको अंतिम भूमिका का ज्ञान दे करके उसको मन में छल उत्पन्न करोगे, बेईमानी उत्पन्न करोगे। चाहे उसको आलसी बनाओगे, चाहे उसके व्यभिचारी बनाओगे। इसलिए कृत्स्नविद अकृत्स्नविद को विचलित न करे। यह भगवान की करुणा है। यह नहीं कि वे उनको अज्ञानी बनाए रखना चाहते हैं। वे यह बता रहे हैं कि उनको अपनी क्षमता के अनुरूप साधन मिले जिससे उनका कल्याण हो। तीसवाँ श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तीसवाँ श्लोक बताता है कि हमको आपको कर्म कैसे करना चाहिए? गीता को आपलोग सुन ही रहे हैं। आप लोगों में से कुछ जरूर ज्ञानी होंगे। मैं प्रणाम करता हूँ उनको। एक श्लोक विवेकानन्द बार-बार दोहराते थे। मैं आपको वह श्लोक सुनाना चाहता हूँ—

भक्तिर्भगश्च भजनं भवभेदकारी
गच्छन्त्यलं सुविपुलं गमनाय तत्त्वम्।
वक्त्रोद्धृतन्तु हृदये न च भाति किंचित्
तस्मात् त्वमेव शरमं मम दीनबन्धो।

कहता तो हूँ कि भक्ति— भग— पुरुषार्थ भी वैराग्य भी, भजनं—भगवान का भजन करना, भवभेदकारी— संसार को छिन्न-विच्छिन्न करने में समर्थ है। *'गच्छन्त्यलं सुविपुलं गमनाय तत्त्वम्*— जिस परम तत्त्व की ओर जाना परम श्रेयस्कर है, उस तत्त्व की ओर पहुँचा देने में ये समर्थ हैं। *वक्त्रोधृतन्तु*-— यह बात मैं केवल मुँह से बोलता हूँ, उद्धृत करता हूँ किन्तु जो बात कह रहा हूँ वह हृदय में नहीं उतरती। *'हृदये न च भाति किंचित्'*। हे मेरे दीनबन्धु! श्री रामकृष्ण परमदेव महाराज! तुम्हीं एक मात्र मेरी शरण हो। अच्छा! आपलोगों में से कितने लोगों के मुँह से जो बात निकलती है, वह मन में भी आती है। सच बताइये मन में आकर फिर क्रिया में भी उतरती है वह बात? तुलसी बाबा तो कुछ और ही कहते हैं। बाबा बुढ़ापे में 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में लिखते हैं—

रावरो कहावौं, गुन गावौं राम रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावौं राम रावरी ही कानि हौं

जानत जहान मन मेरे हू गुमान बड़ो
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानि हौं।
पाँच की प्रतीति न, भरोसो मोंहि आपनोई
तुम अपनायो हौं तबै ही परि जानिहौं
गढ़ि-गुढ़ि छोलि-छालि, कुंद की सी भाई बातें
जैसी मुख कहौं तैसी जीय जब आनिहौं।

तुलसी बाबा की उक्ति है कि मैं मुँह से जो कह रहा हूँ—वह बात हृदय में जब उतर आयेगी (और आचरण में प्रतिफलित होगी) तभी मैं मानूँगा कि प्रभु तुमने मुझे अपना लिया है, अपना बना लिया है। सोचिये तुलसीदास जैसे बड़े सन्त यह बात विनयपत्रिका में कह रहे हैं। बुढ़ापे में, रामचरितमानस की रचना करने के बाद कह रहे हैं कि तुमने मुझको अपनाया, यह मैं तभी जानूँगा जब मेरा यह सहज बहिर्मुख मन जो इन्द्रियों से विषयों की ओर जाता है, अन्तर्मुख होकर जब तुमसे सहज प्रेम करने लगेगा, जब मुझे आत्म-रति का अनुभव होगा, जब प्रभु अपनाएँगे, तब आत्म-रति, तब आत्म-तृप्ति, तब आत्म-तुष्टि। हम काम करें। कैसे करें? काम करने का तरीका गीता से सीखिए। यह तीसवाँ श्लोक हमको-आपको काम करने की पद्धति बताने वाला श्लोक है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। (३/३०)

करुणा से द्रवित होकर भगवान कह रहे हैं अर्जुन तुम ऐसे काम करो। क्या करो? सारा-का-सारा कर्म समूह मुझ पर निक्षिप्त कर दो, मुझे निवेदित कर दो। चलो! हम लोग अपना काम रामजी को निवेदित कर दें। कहाँ हैं रामजी बताओ? रामजी कोई आलमारी है! रामजी कोई ट्रंक हैं? कि हम उसमें अपना काम रख दें?

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य

कहते हैं काम करो, अपना सारा काम मुझको निवेदित करके! कैसे ? कहाँ मिलोगे तुम ? और हम काम तुममें कैसे ठूँस दें? क्या करें। *'अध्यात्मचेतसा'*— इस बात पर ध्यान दीजिए— कहते हैं कि तुम काम निवेदित करो मुझको। कैसे करो? अध्यात्म बुद्धि से करो। अध्यात्म चेतसा का मतलब क्या है?

आत्मनि देहे एव इति अध्यात्म— अपने शरीर के भीतर के जो कल-पुर्ज हैं— इनको ठीक-ठीक जानना अध्यात्म है। देखो ! शरीर पाँच तत्त्वों का बना हुआ है। इसको जान लो। इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से बनी हुई हैं। अपने भीतर जो काम हो रहा है—

इस यंत्र को ठीक से जानो। और इसमें गड़बड़ी जो होती है—उसको जानो। काम तो प्रकृति के गुण कर रहे हैं। तुम उसको अपना मान रहे हो। यही गड़बड़ी है। अपनी बुद्धि को शुद्ध करो। उस विवेकवती बुद्धि से जिसने यह निश्चय कर लिया है कि प्रकृति के गुण इन्द्रिय के रूप में, प्रकृति के विभाग विषय के प्रति कर्म करते हैं। इसलिए प्रकृति के गुण ही गुण में बरत रहे हैं। मैं कर्त्ता नहीं हूँ। और यह प्रकृति रामजी के अधीन है। *'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*। इसलिए इस प्रकृति के स्वामी भी रामजी ही हैं। तो जो सबके स्वामी हैं उन रामजी का होकर मैं काम करूँ। *अध्यात्मचेतसा* —मतलब तुमने जो कर्म स्वीकार किए हैं, रामजी के कर्म के रूप में स्वीकार किए हैं। रामजी के लिए कर्म करो। रामजी के होकर कर्म करो। प्रेरित कर्त्ता की तरह काम करो। प्रेरक रामजी हैं। उन्होंने तुमको प्रेरित किया है। उन्होंने अपना काम तुमको सौंपा है। तुम रामजी का दिया हुआ काम, रामजी की प्रसन्नता के लिए कर रहे हो। अपने लिए नहीं कर रहे हो। कलम लिख रही है कि आप लिख रहे हैं। माइक बोलता है कि माइक के पीछे वाला बोल रहा है। माइक उसको प्रसारित कर रहा है। कलम जिस तरह से प्रेरित कर्त्ता है। लिखने वाला जो बोलता है, कलम वही लिखती है। वैसे ही हम स्वतंत्र कर्त्ता नहीं हैं। सारे कर्म रामजी के हैं। रामजी को अर्पित करने वाले हम कौन ? अर्पण हम क्या कर सकते हैं? जो हमारा अपना हो। हमारा अपना क्या है? हमारा अपना कुछ भी नहीं। तो अर्पण कैसे होगा? अर्पण ऐसे होगा कि हम जिस चीज को अपना माने हुए थे, उसको रामजी का मान लें और उसमें जो ममत्व बुद्धि थी, उसको छोड़ दें। शरीर में जो अहं बुद्धि थी उसको छोड़ दें। रामजी का सब कुछ है। रामजी के लिए ही काम करेंगे —यह बुद्धि ही समर्पण है। समर्पण में बाधक केवल अहंता और ममता की बुद्धि है। जब हमने अपने आपको भी रामजी का मान लिया, अपनी बुद्धि को भी रामजी का मान लिया, अपने कर्म को भी रामजी का मान लिया, तब हमने अध्यात्म बुद्धि से रामजी को सब कुछ समर्पित कर दिया। रामजी सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं, यहीं हैं और सारे कर्म रामजी के हैं। कोई कर्म ऐसा नहीं है, जो रामजी का न हो। सारी गीता में कहीं यह नहीं बताया कि यह काम करो, यह काम मत करो। कहा यही गया है कि कर्म अहं बुद्धि से, कर्त्ता की बुद्धि से मत करो। यह नहीं कहा कि केवल पूजा-पाठ करो। यह नहीं कहा कि युद्ध मत करो। युद्ध करो। कर्त्तव्यकर्म को केवल रामजी का समझ करके, रामजी की सेवा के लिए, अपने को रामजी का सेवक मानकर रामजी के द्वारा प्रेरित कर्त्ता के रूप में करो। अपने अहंकार की तृप्ति के लिए, अपने स्वार्थ के लिए काम कर रहा हूँ, यह जो स्वार्थ बुद्धि है इस स्वार्थ बुद्धि को छोड़कर अध्यात्म-बुद्धि से काम करो। और युद्ध

का मतलब है, जीवन के समस्त कर्त्तव्य कर्म। निराशो यानि फल की आशा छोड़कर, ममता छोड़ कर, संताप छोड़ कर जीवन कर्म करते रहना —यही एकमात्र सही तरीका है काम करने का। कर्मयोग यही है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढ़ांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।। (३/३१-३२)

जो इसके अनुसार आचरण करते हैं, जो इस मत पर श्रद्धा रखते हैं, जो इसमें दोष नहीं निकालते, भगवान की कृपा उन पर होती हैं, वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। जो इसमें मीन-मेख निकालते हैं, भगवान से भी ईर्ष्या रखते हैं, उनकी भी गलतियाँ निकालना चाहते हैं, उन अविवेकी ज्ञान हीन व्यक्तियों का पतन होता है। अन्तिम बात समझो कि तुम्हारी जबरदस्ती नहीं चलेगी। प्रकृति अपनी तरह काम करेगी। प्रकृति से जबरदस्ती काम करने में धोखा है, खतरा है। ज्ञानमार्गी लोग कई बार जबरदस्ती करते हैं, तो भक्त लोग कहते हैं कि—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा, परत खगेस होइ नहिं बारा। (७/११८/१)

ज्ञान का रास्ता तो खाँड़े की धार, तलवार की धार पर चलने के समान है। उससे गिरना बहुत सहज है। भक्त लोग, कर्मयोगी लोग, कहते हैं कि प्रकृति का अपना धर्म है वह प्रकृति के अनुसार ही होगा। भगवान ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। (३/३३)

प्राणी प्रकृति के अनुरूप ही आचरण करते हैं। मनुष्य की आँख देखेगी ही, कान सुनेगा ही। कोई चाहे कि हम कान से देखें और आँख से सुनें यह नहीं हो सकता। जो प्रकृति का धर्म है वही होगा। भूख लगेगी। काम-क्रोध जागेगा, लोभ जागेगा। ज्ञानियों को भी सामान्यतः प्रकृति के अनुरूप ही आचरण करना पड़ता है। इसलिए जबरदस्ती मत करो। बल प्रयोग से लाभ नहीं होगा, निग्रह नहीं चलेगा। तो क्या चलेगा? यह मानो कि प्रकृति के कारण दुर्बलताएँ आती हैं। अगर गलती हो जाए तो गलती प्रभु को निवेदित कर दो। गलती को गलती न मानना ही एकमात्र गलती है। गलती हो गई तो वह भी प्रभु को निवेदित कर दो। नारदीय भक्ति सूत्र में कहा गया है कि—

तदर्पिताखिलाचारिता कामक्रोधाभिमानादिकम्।

तस्मिन्नेव करणीयम्— सब आचरण प्रभु को अर्पित कर देने पर क्रोध, अभिमान आदि भी उन्हीं से करना चाहिए। उनसे नहीं हुआ, दूसरे से हुआ तो उनको सुना दें, उनको बता दें, छिपाएँ नहीं, छल नहीं करें। और इसलिए प्रकृति के साथ, प्रकृति के नियम के अनुसार व्यवहार करने की बात बताई जा रही है। आँख तो देखेगी ही और उसको सुन्दर रूप अच्छा लगेगा, आँख को कुरूप अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए प्रकृति के इस स्वभाव को स्वीकार करके इतना ही करो कि राग-द्वेष के अधीन मत हो जाओ। देखिए प्रभु बता क्या रहे हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (३/३४)

प्रकृति अपनी तरह ही काम करेगी। मनुस्मृति में तो एक जगह यह लिख दिया— *'न मांस भक्षणे दोषो, न मद्ये, न च मैथुने, प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला*— मांस खाना, शराब पीना, भोग करना यह भी मनुष्य की प्रवृत्ति है। इसको बुरा-बुरा कहके और जिसने ऐसा किया, उसके क्या उत्थान के सारे रास्ते बंद हो गये? नहीं। उसको भी धीरे-धीरे अच्छा बनाया जा सकता है। *'प्रवृत्तिरेषा भूतानां'*—यह तो मनुष्यों की प्रवृत्ति है। *'निवृत्तिस्तु महाफला'*— जो इनसे निवृत्त हो सकता, उनको महान फल प्राप्त होगा। तो प्रकृति की प्रवृत्ति के प्रति सहिष्णुता रहनी चाहिए। किसी की प्रकृति ने उसको छल लिया। इसलिए उसके विकास के सारे रास्ते बंद हो गए, ऐसा नहीं है। भगवान ऐसा नहीं मानते। बताना चाहते हैं कि उस प्रकृति को जीतो कैसे ? राग-द्वेष के अधीन न हो। राग-द्वेष तो होगा। इन्द्रिय का राग अपने विषय में होगा। रसना का राग सुस्वादु भोजन में, त्वचा का राग कोमल स्पर्श में, कान का राग मीठी वाणी में, नासिका का राग सुगन्ध में होगा। और इससे जो विपरीत हो तो द्वेष होगा। तो राग-द्वेष के अधीन नहीं होने का मतलब क्या हुआ? पहली बात तो यह कि हमको आपको मालूम ही नहीं पड़ता कि राग-द्वेष कब हुआ? राग हो जाने के बाद मालूम पड़ता है कि राग हुआ। द्वेष हो जाने के बाद मालूम पड़ता है कि द्वेष हुआ। राग होने के पहले राग होगा, ऐसा नहीं मालूम पड़ता। द्वेष होने के पहले द्वेष होगा—ऐसा नहीं मालूम पड़ता। जो चीज होने के बाद मालूम पड़ती है उसका रोकना बहुत कठिन है। बात समझ में आ रही है? इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में होते-होते होंगी। आज ही तो नहीं होंगी। आज क्या करें? आज दो काम करो। पहला तो यह कि जो राग-द्वेष आए तो उसको सपने की तरह आया-गया कर दो। उस पर अपनी मोहर मत लगाओ। उसको अपनी बुद्धि का समर्थन मत दो। वृत्तियाँ बदल जाती हैं। राग बदल जाता है, द्वेष बदल जाता है। राग

और द्वेष को जब तुम्हारी बुद्धि का समर्थन प्राप्त होता है तो उनकी गाँठ पक्की होती है। अगर राग-द्वेष आ जाए तो जैसे सपना रात को देखा, भूल गए। सपना आया-गया। जैसे वृत्तियाँ आईं, गईं। आती-जाती वृत्तियों के समान राग-द्वेष को आया गया कर दो। और अगर राग-द्वेष प्रकट हो, अनुभव हो तो पहला काम कि बुद्धि से उनका समर्थन मत करो। जो आदमी बुद्धि से अपने राग और द्वेष का समर्थन करेगा —उसका राग-द्वेष नहीं छूटेगा। तुम अगर राग-द्वेष से मुक्त होना चाहते हो तो उसे गलत-गलत-गलत कहते हुए उसका जोर कम कर दो। और फिर उसे निकल जाने दो। राग-द्वेष चूँकि परिपन्थी हैं, चोर हैं, डाकू हैं, अनजाने में चोरी करते हैं और जबरदस्ती से डकैती करते हैं। चोर और डाकू दोनों हैं राग-द्वेष। इसलिए उनसे सावधान रहो। चोरी मत करने दो और अगर डकैती करे तो उसका मुकाबला करो भगवान का भरोसा लेकर। भगवान की शक्ति से शक्तिमान होकर राग-द्वेष से लड़ो। उसे स्वीकृति या समर्थन मत दो। राग-द्वेष होना स्वाभाविक है पर उनके वशीभूत न होना संभव है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। (३/३५)

गीता का अपना एक शब्द है लोकसंग्रह। वैसे ही दूसरा शब्द स्वधर्म। स्वधर्म का मतलब हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई धर्म नहीं है। स्वधर्म का एक अर्थ तो है, ज़्यादा लोगों के अनुसार वह जो मेरा सहज-प्राप्त कर्म है। परिवार में हैं तो परिवार का पालन-पोषण—यह मेरा धर्म है। पुत्र उत्पन्न हुए हैं तो पुत्र को मनुष्य बनाना—यह स्वधर्म है। समाज में हैं तो समाज की सेवा करना—यह स्वधर्म है। समाज के हम ऋणी हैं। ऋण चुकाना यह हमारा धर्म है। जो सहज प्राप्त कर्त्तव्यकर्म है वह हमारा धर्म है। हमारा जो सहज प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म है वह हमको इतना आकर्षक नहीं लगता। दूसरे का जो सहज प्राप्त कर्त्तव्य है—वह हमको ज्यादा आकर्षक लगता है। तो हम अपना कर्त्तव्य-कर्म छोड़कर उसका कर्त्तव्य-कर्म करें? नहीं। गीता कहती है, वह पर-धर्म है। वह जितना भी आकर्षक हो उसका अनुगमन नहीं करना चाहिए। दूसरे की थाली में लड्डू बड़े-बड़े दिखते हैं। जिसकी थाली में वह लड्डू है वह तुम्हारी थाली वाले लड्डू को ताक रहा है। रवीन्द्रनाथ की एक कविता का मैंने हिन्दी अनुवाद किया है। हिन्दी अनुवाद ही सुनाता हूँ—

नदी का यह पार बोला छोड़कर निःश्वास
सुख सभी उस पार मेरा है यही विश्वास।
नदी का वह पार बोला साँस लम्बी छोड़,
हाय! सुख जितने, सभी तो रह गए उस ओर।।

यह पार कह रहा है— वह पार सुखी है। वह पार कह रहा है— यह पार सुखी है। सुखी कोई नहीं है। तो हमको अपना सहज-प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म अनाकर्षक लगता है और दूसरा जो कर्म कर रहा है— वह बड़ा आकर्षक लगता है। यह धोखे की टट्टी है, भ्रम है। उसके लिए उसका कर्म, मेरे लिए मेरा कर्म जो मेरा सहज प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म है, वही मेरा धर्म है। वह कठिन हो तो भी, वह अप्रीतिकर लगे तो भी, वह युद्ध करने जैसा भयंकर हो तो भी वही मेरा स्वधर्म है। यह क्यों बता रहे हैं? क्योंकि अर्जुन को कहेंगे कि स्वधर्म समझ कर तुम युद्ध करो। युद्ध करना घोर कर्म है, भयंकर कर्म है। अर्जुन ने कहा था—

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।

तुम इस घोर कर्म में मुझको क्यों लगाते हो? इसलिए कि वह तुम्हारा धर्म है। स्वधर्म, अपना धर्म, आकर्षक अनाकर्षक नहीं होता। वही मेरा कर्त्तव्य-कर्म है। मुझे उसी का निर्वाह करना है। मेरे लिए दूसरे का धर्म भयावह है— उसकी नकल नहीं करेंगे। करेंगे तो भ्रष्ट हो जायेंगे। स्वधर्म का यह है एक अर्थ। मेरे गुरुजी ने इसका एक और बड़ा अर्थ बताया।

गुरुजी के अनुसार स्वधर्म अपने आपे का धर्म है। परधर्म वह है जो निसर्ग का धर्म है, प्रकृति का जो धर्म है या संसृति का धर्म है। निसर्ग का धर्म क्या है? जैसा अभी मैंने बताया कि हमारी प्रकृति में काम है—वंश-विस्तार प्रकृति चाहती है। इसलिए वंश-विस्तार यह निसर्ग का धर्म है। भूख लगती है, भोजन यह निसर्ग का धर्म है। नींद आती है, सोना यह निसर्ग का धर्म है। यह है प्रकृति और इसमें संस्कृति है कि हम वंश-विस्तार तो करेंगे लेकिन व्यभिचार करके नहीं करेंगे। विवाह करके धर्म के अनुसार वंश-विस्तार करेंगे। भूख लगेगी—खायेंगे, दूसरे से छीन कर नहीं खाएँगे; होगा तो भूखे रहेंगे, अपना भी दूसरे को देंगे— यह संस्कृति है। एक प्रकृति हुई, एक संस्कृति हुई। एक प्रकृति का धर्म हुआ, एक उसी प्रकृति के धर्म को उन्नत बनाकर सुसंस्कृत धर्म हुआ। ये दोनों प्रकृति के धर्म हैं। स्वधर्म नहीं है अपना धर्म, कुछ और ही है। ये प्रकृति के धर्म हैं। इसलिए इसमें सत्-रज-तम गुण हैं। अपना धर्म तो विगुण है। स्वधर्म —आत्मा का धर्म, सच्चिदानन्द स्वरूप होने का धर्म है। इसमें कोई गुण नहीं है इसलिए विगुण है, गुणविहीन है, त्रिगुणातीत है। विगुण कहीं से बुरा अर्थ लगता है और त्रिगुणातीत कहीं से अच्छा अर्थ लगता है। सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणों के जो परे है— वह अपना आपा है। वह त्रिगुणातीत है। इसलिए वह निर्गुण है। इसलिए वह विगुण है। अपने धर्म में, आत्मा के इस धर्म में हम रमण करेंगे। सच्चिदानन्द

स्वरूप में रमण करेंगे। यह जो पर-धर्म है, यह जो प्रकृति का धर्म है चाहे वह प्रवृत्तिपरक हो, चाहे सुसंस्कृत करने पर निवृत्तिपरक हो। ये प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों प्रकृति के धर्म हैं। मेरे आपे का जो धर्म है, अपना धर्म —वही मेरे लिए श्रेयस्कर है। प्रकृति का न तो प्रवृत्तिपरक, न निवृत्तिपरक धर्म मेरे लिए श्रेयस्कर है। क्योंकि सुसंस्कृत धर्म भी तत्त्वज्ञान से छूट जाता है। तो तत्त्वज्ञान में स्थित रह कर, अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप का अनुभव करते हुए हमें व्यवहार करना चाहिए। जहाँ से शुरू किया था— आत्म-रति, आत्म-तृप्ति, आत्म-तुष्टि ही है हमारा स्वधर्म। अपने आत्मा के धर्म में रमण करते हुए हमलोग अपना जीवन-यापन करें। परधर्म भयावह है, उसके अधीन न हो जाएँ। श्रीराम - जय राम-जय-जय राम। ●

प्रवचन-९*

कर्मयोग-३

सचमुच भगवान की अद्‌भुत कृपा है कि जैसे महाभारत के बीच उन्होंने गीता कही वैसे ही नाना प्रकार के संघर्षों के बीच भी गीता-प्रवचन का क्रम चल रहा है। पिछले प्रवचन के समापन में आपलोगों को याद होगा कि भगवान की इस उक्ति का विवेचन किया गया था— *स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।*

अपने धर्म में चाहे वह क्लेशकारक ही क्यों न हो, मर जाना भी श्रेयस्कर है, परधर्म स्वीकार करना और परधर्म के अनुसार आचरण करना भयावह है। इस पर शंका हुई है और यह शंका मानव-जीवन की एक आधारभूत समस्या की ओर संकेत करती है। अर्जुन की जिज्ञासा है कि अगर स्वधर्म इतना महत्त्वपूर्ण है, स्वधर्म इतना कल्याणकारक है तो लोग स्वधर्म का पालन क्यों नहीं करते? परधर्म की ओर—जो स्वधर्म का विरोधी है, उसकी ओर उनकी प्रवृत्ति ही क्यों होती है? अपने धर्म का पालन करने से सुख होता है, अधर्म का पालन करने से दुःख होता है, तो लोग पाप क्यों करते हैं— यही प्रश्न है।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। (३/३६)

किसके द्वारा प्रयुक्त किए जाने पर, किसके द्वारा प्रेरित किए जाने पर मनुष्य पाप करते हैं? कोई सहज पाप करना नहीं चाहता। *'अनिच्छन्नपि'* —चाहता तो है मनुष्य कि पाप न करे, पाप करने की इच्छा स्वाभाविक इच्छा नहीं है। *अनिच्छन्नपि*— इच्छा न होते हुए भी *बलादिव नियोजितः* —जैसे किसी ने बलपूर्वक पाप के कर्मों में लगा दिया है, नियुक्त कर दिया है, ऐसे विवश होकर मनुष्य पाप क्यों करता है? कौन उसको प्रेरित करता है पाप करने के लिए? यह जिज्ञासा है। अब आप देखिए कि भगवान इसका उत्तर दे चुके थे। लेकिन जो उत्तर दिया गया था उसमें पाप शब्द का सीधे-सीधे व्यवहार नहीं किया गया था। इसलिए उस उत्तर की ओर अर्जुन का ध्यान भली-भाँति गया नहीं और

* तृतीय अध्याय (कर्मयोग) : श्लोक संख्या ३६ से ४३

उसने यह सवाल पूछा। उसको लगा कि इच्छा न रहते हुए भी पाप करना—यह तो बड़ा अस्वाभाविक है। कौन पाप कराता है? भगवान ने उत्तर दिया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (३/३७)

मनुष्य के कर्मों का प्रेरक कौन है? साधारण तौर पर लोग कहते हैं कि ईश्वर है। कुछ लोग कहते हैं कि अपना प्रारब्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि परिस्थितियाँ हैं। कुछ लोग कहते हैं कि संग है। जैसा साथ वैसा काम। कुछ लोग कहते हैं कि काल की प्रबलता है। इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिए जा सकते हैं। इन अनेक उत्तरों में सबसे सटीक उत्तर, सबसे प्रामाणिक उत्तर क्या है या यों कहिए कि अगर अनेक प्रेरक हेतु हैं, अगर अनेक कारण हैं तो सबसे प्रधान कारण कौन-सा है? कौन मनुष्य को कर्म में प्रेरित करता है? ऐसा ही प्रश्न केनोपनिषद् में है। केनोपनिषद् का आरम्भ ही होता है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः —किसके द्वारा प्रेषित होने पर मन किसी जगह जाता है? *'केनेषितं प्राण'* किसके द्वारा प्रेरित होने पर लोग हलचल करते हैं? *'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति'* —किसके द्वारा प्रेरित होने पर लोग बोलते हैं? कौन चक्षु को, श्रोत्र को प्रेरित करता है? यह प्रश्न है केनोपनिषद् का और उसमें जो उत्तर है उसमें सीधे-सीधे परमात्मा का उल्लेख किया गया है। उसमें कहा गया है कि जो मन का भी मन है, आँख की भी आँख है, हृदय का भी हृदय है, प्राण का भी प्राण है, चक्षु का भी चक्षु है, वह प्रेरित करता है। उस प्रश्न में और इस प्रश्न में एक मौलिक अन्तर है। वह प्रश्न शुद्धात्मा जिज्ञासु का है। इसलिए कहा गया कि परमात्मा प्रेरक है। यह प्रश्न एक व्यावहारिक संसारी जीव का है। इस व्यावहारिक संसारी जीव के उत्तर में यदि कहा जाए कि परमात्मा ही प्रेरक है तो फिर व्यवहार के स्तर पर दूसरा प्रश्न उठता है कि अगर परमात्मा प्रेरक है और परमात्मा ही कर्म-फल-दाता भी है, अर्थात् परमात्मा काम करवाता भी है—कर्म फल प्रेरक भी है और परमात्मा कर्म-फल-दाता भी है, किए हुए कर्मों का फल भी देता है तो यह तो बड़ा अनर्थ है कि स्वयं वह गलत काम कराए और स्वयं उसका दंड दे? यह तो कोई अच्छी बात नहीं है। अगर वह स्वयं कर्मों का प्रेरक है, स्वयं गलत काम करवाता है, और गलत काम करने का दंड हमको देता है? करवाता है खुद, दंड देता है हमको? यह तो बड़ा अनर्थ है। यह तो बहुत अनुचित बात है। तो परमात्मा प्रेरक है—यह कहाँ तक व्यावहारिक सच्चाई है? इस बात को समझना चाहिए कि परमात्मा की प्रेरणा सबके मंगल के लिए है। उस मंगल

की प्रेरणा में जब अमंगल की भावना आती है, उस मंगल की प्रेरणा में स्वार्थ की जब लिप्सा जागती है तो वह प्रेरणा परमात्मा की नहीं होती। उदाहरण के लिए समझिए कि जब बिजली पावर-हाउस से आती है और पंखे चलते हैं तो हवा मिलती है, बल्ब जलते हैं तो प्रकाश मिलता है, एयरकंडीशनर चलता है तो ठंडक मिलती है, और कहीं-कहीं चूल्हा जलता है तो गर्मी मिलती है। बिजली एक है, अनेक प्रकार के यंत्र हैं। उन अनेक प्रकार के यंत्रों के द्वारा बिजली के अनेक प्रकार के फल हैं, परिणाम हैं। फिर और एक बात पर ध्यान दीजिए। पंखा ठीक है तो ठीक-ठीक चलता है, आवाज नहीं करता। पंखे में खराबी है तो वह खटर-खटर शब्द करता है। और पंखा ज्यादा खराब है तो उसमें आग लग जाती है। सबसे अच्छा उदाहरण आजकल आपको रोज ही देखने को मिलता है। एक ही धारावाहिक एक ही केन्द्र से प्रसारित किया जा रहा है, जिनका टेलीविजन अच्छा है, उनको साफ-साफ दिखता है। जिनका टेलीविजन खराब है, उनको उसमें झक-झक, झक-झक होता दिखता है। यानी खराबी यंत्र की है जिससे गलत आचरण हो रहा है। खराबी पावर-हाउस, बिजली या जो दूरदर्शन के प्रसारण यंत्र की नहीं है। उसकी भी हो सकती है अगर पावर-हाउस खराब हो जाए, वह तो बात अलग है। इसी तरह से जब यह बात मन में आती है कि हमको एक ही परमात्मा मंगल की प्रेरणा देता है। फिर हमारे मन में पाप की वृत्ति क्यों जागती है? एक बढ़िया श्लोक है दुर्योधन का कहा हुआ—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

जानामि धर्मं— धर्म क्या है? —यह मैं जानता हूँ। *न च मे प्रवृत्तिः*— लेकिन धर्म करने में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। *जानाम्यधर्मं* —अधर्म क्या है? यह भी जानता हूँ। *न च मे निवृत्तिः*— लेकिन अधर्म से मेरा छुटकारा नहीं होता। *केनापि देवेन हृदिस्थितेन* —किसी देवता के द्वारा जो मेरे हृदय में बैठा हुआ है, *यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि* —जैसा वह कहता है वैसा मैं करता हूँ। यह कौन देवता है? यह देवता राम नहीं है। यह देवता काम है। राम पाप की प्रेरणा नहीं देते। पाप की प्रेरणा काम देता है; और इस बात को अच्छी तरह से गीता में साफ-साफ कहा गया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (३/३७)

अच्छा ! पाप क्या है ? थोड़ी सी चर्चा इसकी भी कर लें। पाप क्या है? तीन प्रकार के शास्त्र हैं— एक विधि-शास्त्र है, एक नीति-शास्त्र है, एक धर्म-शास्त्र है। क्या

वैध है, क्या अवैध है? क्या कानूनी है, क्या गैरकानूनी है? इसका फैसला विधि-शास्त्र करता है, संविधान करता है, कानून करता है। लेकिन उसमें धोखा यह है कि आप अगर गैरकानूनी काम करें; और आप पकड़े न जाएँ तो आप दंड नहीं पा सकते। इसलिए वैध-अवैध का बोध भी आपको अवैध काम करने से रोकता नहीं। अगर आपको यह प्रतीत होता है कि आपके इस अवैध कर्म को कोई पकड़ेगा नहीं, अगर आप पुलिस को धोखा दे सकते हैं, तंत्र को धोखा दे सकते हैं तो आप अवैध कर्म करते रहेंगे — अवैध कर्म का तत्काल फल आपको नहीं मिलेगा। इसलिए विधि-शास्त्र भीतर से बुरे काम को रोकने में समर्थ नहीं है। इसी तरह से नीति-शास्त्र—क्या उचित है, क्या अनुचित है—इसका विवेक हमको देता है। लेकिन व्यक्तिगत विवेक बदल सकता है और इसलिए उचित-अनुचित की परिभाषा में अपनी सुविधा के लिए हम परिवर्तन कर लेते हैं। धर्मशास्त्र हमको भीतर से बुरे काम से बचने की प्रेरणा देता है। पाप शब्द की परिभाषा है कि जिससे हमारी रक्षा अपगत हो जाए। या जिसका मतलब होता है *'पाति रक्षति अस्मात्'* जिससे दूर रहकर मनुष्य अपनी रक्षा करे। जिस कर्म करने से बचकर कोई अपनी रक्षा करे, वह पाप है। यानी पाप कर्म करने से हम अरक्षित हो जाते हैं। पाप-कर्म करने से हमारी रक्षा नष्ट हो जाती है। पाप को ही पाप्मा कहते हैं। पाप्मा के लिए एक बहुत ही अच्छी उक्ति है— *'पाप्मा च मलमुच्यते'*, पाप की सीधी परिभाषा है कि जिससे हमारा मन, वचन, कर्म मलिन होता है, वह पाप है। आप धर्म का भी लक्षण देखें—

आत्मप्रसादकत्वं धर्मत्वम्— जिससे अपने मन में निर्मलता आये, प्रसादकत्व आये वह धर्म है। बराबर याद रहे कि धर्म और अधर्म की कसौटी हमारे पास है। जिस कर्म को करने से हमारा मन पवित्र हो रहा है— *पुणाति*— यह पुण्य है। जिस काम को करने से हमारी बुद्धि शुद्ध हो रही है, हमारा कर्म हितकर है, वह पुण्य है, धर्म है। जिस काम को करने से हमारा मन मलिन होता है, बुद्धि अशुद्ध होती है, हम अरक्षित हो जाते हैं कोई भी हमको पतित कर दे सकता है, पातनीय कर्म को, गिराने वाले कर्म को पाप कहते हैं। जिस कर्म के करने से मनुष्य की बुद्धि अशुद्ध हो जाए, मन अशुद्ध हो जाए, व्यवहार अशुद्ध हो जाए, वाणी अशुद्ध हो जाए, वह पाप है। और एक बात पर ध्यान दीजिए कि कई बार हमारे धर्म और अधर्म को केवल परमात्मा से या किसी विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड से जोड़ा जाता है। भारत की चिन्ता-पद्धति में धर्म और अधर्म की कसौटी केवल पारलौकिक नहीं है। आप देखिये धर्म की जो परिभाषा, जो लक्षण दिए गए हैं— वे अद्‌भुत हैं।

धृतिः, क्षमा, दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्।।

धर्म के जो दस लक्षण हैं— उनमें ईश्वर का कहीं नाम नहीं है। उसमें किसी ग्रंथ के अनिवार्य रूप से स्वीकार किए जाने का उल्लेख नहीं है। उसमें किसी आचार-विशेष का निर्देश नहीं है। धृति— धीरज, क्षमा, अपने मन पर नियंत्रण, चोरी न करना, मन-वाणी-कर्म की पवित्रता, अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण, बुद्धिमत्ता, विद्या का अध्ययन, सत्य बोलना और क्रोध न करना— ये धर्म हैं। और ऐसे ही आप देखिए— पाप के भी दस लक्षण बताए गए हैं। हमारे आचार्यों ने बताया कि पाप पहले मन में आता है, मन से फिर वाणी में आता है और वाणी से फिर इन्द्रिय में आता है। और भी पीछे जाएँ तो बुद्धि में आता है। बुद्धि समझती है, मन उसको चाहता है और इन्द्रियाँ करती हैं। तो हमारे यहाँ जो दस पाप बताए उसमें मानसिक पाप, वाचिक पाप और शारीरिक पाप — तीन प्रकार के पाप बताए हैं। मानसिक पाप सबसे पहले है। मानसिक पाप क्या है?

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्ट चिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।

दूसरे की संपत्ति के प्रति अभिध्यान करना, दूसरे की संपत्ति से ईर्ष्या करना, दूसरे की संपत्ति कैसे हम हथिया लें, कैसे उस पर कब्जा कर लें— इस प्रकार की दुरभिसंधि सोचना—यह पाप है। *मनसानिष्ट चिन्तनं*— मन से बुरी बातों को सोचना, अनिष्ट का चिन्तन, —जिससे हमारा भला नहीं होगा, विषयों का, भोग का चिन्तन, अनुचित भोग का चिन्तन, बुराई किसकी कैसे कर दें आदि। मन से अनिष्ट चिंतन, बराबर डरते रहना, बराबर अपना बुरा सोचना, अकल्याण की भावना— ये सब पाप हैं।

जो तथ्य नहीं है, जो सच है उसके प्रति दूर रहकर जो वितथ है उसको जबरदस्ती चलाना— अरे कौन जानता है पाप क्या है, पुण्य क्या है— जब तक जियो भोग करो, मौज करो— *यावद्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा, घृतं पिवेत्।*

कौन ईश्वर को जानता है। बस यही शरीर, यही जीवन सब कुछ है? भोग लेना ही सब कुछ है ? यह जो वितथ के प्रति, जो सच नहीं है उसके प्रति अभिनिवेश, उसमें मन का एकदम रम जाना— ये सब मानस पाप हैं। दूसरे की संपत्ति के प्रति ईर्ष्या, दूसरे की संपत्ति को हथियाने का दुराग्रह— बुरी बातों को सोचना, बुरी बातों के प्रति अपने मन को लगाना और जो हमको भोग-विलास की ओर ले जाए, जो हमको तप से विमुख करे, ईश्वर, सत्य, उचित-अनुचित को छोड़कर वितथ के प्रति, असत् के प्रति जो अभिनिवेश होता है वह मानसिक पाप है। चार प्रकार के वाचिक पाप हैं। अद्भुत हैं—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।

परुष माने कठोर बात, कड़वी बात। कठोर बोलना पाप है। *अनृतं चैव*— झूठ बोलना पाप है। विवेकपूर्वक जिसको हम जानते हैं उसको वैसा न बोलकर किसी छोटे से लाभ के लिए या किसी दंड से बचने के लिए हम झूठ बोलते रहते हैं। यह पाप है। *पैशुन्य चापि सर्वशः*— एक से दूसरे की चुगली करना पाप है। हमलोग कितनी चुगली करते रहते हैं, इससे बचना चाहिए, यह पाप है। *असंबद्धः प्रलापश्च*—जब हम असंबद्ध बातें कहते ही चले जाते हैं, उचित-अनुचित का विवेक भूल कर प्रलाप करने लगते हैं, तब पाप करते हैं। पूछा कुछ जाये, उत्तर कुछ और दें तो पाप करते हैं। अकबर इलाहाबादी का एक शेर याद आ गया—

जोशे ग़ज़ब में देखिए ख़ूबी बयान की।
पूछी ज़मीन की, तो कही आसमान की।।

इस तरह जब हम प्रसंग से विच्छिन्न बातें करते हैं तो पाप करते हैं। जब हम असंबद्ध बातें कहते हैं, बेसिर-पैर की हाँकते हैं तो हम पाप करते हैं। यह वाणी का अपप्रयोग है। यह पाप है। तीन प्रकार के मानसिक पाप, चार प्रकार के वाचिक पाप और तीन प्रकार के शारीरिक पाप बताये गये हैं।

अदत्तानामुपादानं, हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।

ये तीन शारीरिक अर्थात् शरीर द्वारा किये जाने वाले पाप हैं। *अदत्तानामुपादानं* —जो हमको दिया नहीं गया है, जिस पर हमारा हक नहीं है— उसको ले लेना—यह पाप है। छिप कर ले लें, यह चोरी है। खुले खजाने जबर्दस्ती लें तो डकैती है। हम अपने हक की चीज लेंगे। जिस पर हमारा हक नहीं बनता—वह नहीं लेंगे। *हिंसा चैवाविधानतः* —जो विधान-वर्जित हिंसा है, वह पाप है। सैनिक जब देश-रक्षा के लिए गोली चलाता है, आक्रमणकारी शत्रु का वध करता है— तो वह पाप नहीं है। कहा ही गया है—

'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'

अर्थात् आततायी को आते हुए देखें तो बिना विचारे उसका वध कर दें— यह पाप नहीं है। लेकिन अभिधानपूर्वक किसी के मन को, किसी के शरीर को पीड़ा पहुँचाना, दुःख पहुँचाना— यह हिंसा है, पाप है। अपने वचन से, कर्म से, मन से किसी का अनिष्ट सोच कर उसका बुरा करना— यह पाप है, हिंसा है।

परदारोपसेवाच— परस्त्री या पर पुरुष का सेवन— यह पाप है। दस प्रकार के

जो पाप बताये गये हैं वे हमारे विवेक को शुद्ध करने के लिए हैं। और भी बहुत से पाप हैं धर्मशास्त्रों में लेकिन याद रहे आधारभूत पाप ये ही हैं। और जो पाप हैं — उनकी परिकल्पना बदलती रहती है। वे पाप किसी युग में पाप माने जाते हैं, किसी युग में नहीं माने जाते। किसी युग में समुद्र-यात्रा पाप मानी जाने लगी थी। पहले नहीं मानी जाती थी, अब भी नहीं मानी जाती। किसी समय में छुआछूत का बहुत विचार किया जाता था, अब नहीं किया जाता। यह भी अपने धर्म में बताया गया है कि युग धर्म बदल जाता है।

अन्ये कृते युगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे धर्माः युगह्रासानुसारतः।।

युग के अनुरूप धर्म और अधर्म में भी, उनकी संकल्पनाओं में भी परिवर्तन आ जाता है। लेकिन जो आधारभूत बात है वह यह है कि जिससे हमारी बुद्धि, हमारी वाणी, जिससे हमारे कर्म मलिन होते हैं, वही पाप है। पाप को ही पाप्मा कहते हैं। पाप्मा यानी पाप क्या करता है? पाप्मा की परिभाषा है— *'पिबति कर्त्तारमिति पाप्मा'* जो अपने करने वाले को पी जाए, नष्ट कर दे। पाप वह है जिसके करने से हम-आप नष्ट होते हैं। पाप करने से कई बार लगता है कि हमको सफलता मिल रही है। आजकल तो बहुत बार ऐसा ही लगता है। लेकिन शास्त्रों में कहा है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।

अधर्म के द्वारा कई बार हमको लग सकता है कि हम पाप करते हैं तो बड़े-बड़े सुख मिलते हैं। बहुत मौज-मजा करते हैं। *भद्र*—अच्छाइयाँ मिलती हैं। हमको यह भी लग सकता है कि पाप करने से हम अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं लेकिन उसका परिणाम है— *समूलस्तु विनश्यति*— जड़ समेत हम उखड़ जाएँगे— यह पाप का परिणाम है। पाप वह है जो अपने करने वाले को खा जाता है। तो पाप से बचना चाहिए। जो पाप ऐसा दुःखदायी है, उसे हम करते क्यों हैं? अर्जुन ने कहा कि —*अनिच्छन्नपि*— इच्छा न रहते हुए भी। भगवान ने कहा कि नहीं-नहीं अर्जुन! तुम कहते हो कि इच्छा नहीं है। लेकिन उसके मूल में सूक्ष्म इच्छा रहती है।

'काम एष' —काम का क्या मतलब हुआ ? *'इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छा कामशब्दिता'* मुझको यह मिल जाए, मुझको यह मिल जाए— यही इच्छा काम है। काम का मतलब है कामना। काम का मतलब है जो अप्राप्य है, उसको प्राप्त करने की लालसा, इच्छा। तो यह कहना कि 'मैं बिना इच्छा के पाप करता हूँ'—सच नहीं है।

तुम पाप कई बार जानबूझ कर नहीं करते लेकिन पाप जिससे संभव होता है, वह सूक्ष्म इच्छा काम के रूप में हमारे मन में विद्यमान रहती है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

प्रभु ने बड़ी अद्भुत बात कही है। यह काम है, यह क्रोध है। संस्कृत में तीन वचन होते हैं—एक वचन, द्विचन और बहुवचन। तो काम एष, क्रोध एष— दो बातें हुईं न। तो रजोगुणसमुद्भवः— एक वचन कैसे ? रजोगुणसमुद्भवौ होना चाहिए था। द्विवचन होना चाहिए था लेकिन द्विवचन नहीं, एकवचन है। क्या मतलब ? असल में जो काम है, वही क्रोध है। जिन लोगों को बहुत क्रोध आता है— वे अपने मन में सोचें —क्यों क्रोध आता है? बराबर याद रहे कि जब काम पूरा होता है, जब कामनाएँ पूरी होती हैं तो लोभ का आकार धारण करती हैं— *जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।*

और जब काम खंडित होता है, जब कामना अपूर्ण रहती है तो क्रोध का रूप धारण करती है। क्रोध तभी आता है जब हमारा चाहा हुआ पूरा नहीं होता। जिसके कारण हमारा चाहा हुआ पूरा नहीं होता, उसपर क्रोध आता है और जिसके कारण हमारा चाहा हुआ पूरा नहीं होता, वह अगर शक्तिशाली हो तो उससे भय होता है। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि ये तीनों बातें जुड़ी हुई हैं। मूल में है— काम। काम अगर पूरा होगा तो लोभ होगा। काम ही प्रेरक है। गीता में कहा गया— काम एष क्रोध एष।

तुलसी बाबा ने कहा—

काम बात कफ लोभ अपारा, क्रोध पित्त नित छाती जारा।

प्रीति करहिं जों तीनिउ भाई, उपजइ सन्यपात दुखदाई।। (७/१२०/३०)

वात माने वायु। आयुर्वेद के अनुसार समस्त विकारों को वायु ही प्रेरणा देती है। तो काम की प्रेरणा से हम कर्म करते हैं और तब उसमें पाप होता है। राम की प्रेरणा से हम कर्म कर रहे हैं कि काम की प्रेरणा से कर रहे हैं ? इस बात को बार-बार अपने मन से पूछिए। अगर राम की प्रेरणा होगी तो आपका चित्त शुद्ध होगा। अगर राम की प्रेरणा होगी तो उस कर्म को करने के बाद आपको पवित्रता का अनुभव होगा। राम की प्रेरणा होगी तो उसमें हित होगा, मंगल होगा। और अगर काम की प्रेरणा होगी तो उसमें तात्कालिक सुख का भोग होगा, उसमें तत्काल तो मौज-मजा आएगा लेकिन उसमें बंधन होगा, मन अपवित्र होगा और दुःख की परंपरा उसमें लगी रहेगी। काम की प्रेरणा है कि राम की प्रेरणा है— इसकी बार-बार परीक्षा होनी चाहिए। राम की प्रेरणा होगी तो क्रोध नहीं आएगा। काम की प्रेरणा होगी और वह पूर्ण नहीं होगी तो क्रोध जरूर आएगा। हमारे पूर्वजों ने सारी सृष्टि को तीन भागों में बाँटा—प्रकाश, क्रिया और

स्थिति। जिन बातों से हमारे मन में प्रकाश आता है, पवित्रता आती है— वे सब बातें सत्त्व गुण के अन्तर्गत आती हैं। जिनसे हममें ज्ञान मिलता है, सुख का अनुभव होता है, उदारता आती है, कर्त्तव्य-निष्ठा जागती है, दूसरे के लिए हम सहयोग की वृत्ति करते हैं, तपस्या करते हैं— ये सब सत्त्व गुण के अन्तर्गत हैं।

'लोभःप्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा'

जब लोभ की प्रवृत्ति आए, काम करते ही रहें, उसका फल भोगें— यह प्राप्त करें— वह प्राप्त करें, यह जो निरन्तर कर्म करते रहने की प्रवृत्ति है— यह रजोगुण है। और जब जड़ता आए—

किस-किस को याद कीजिए, किस-किस को रोइए
आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक के सोइए।

तो समझिए तमोगुण है। यह जो रजोगुण है— यह हमको लगातार काम करने के लिए प्रेरित करता है, लगातार चंचल रखता है — यह प्राप्त करेंगे तो सुख होगा, उसको हरा देंगे, उसके आगे, उसके आगे— यह सब *'रजोगुणसमुद्भवः'* —रजोगुण से उत्पन्न है। काम होता किसके प्रति है? काम अपने से अलग, भिन्न के प्रति होता है। अपने से भिन्न किसी को मानना—पहली बात। और उस अपने से भिन्न माने हुए में रमणीयता का अनुभव, उसमें सत्यत्व, रमणीयत्व का बोध जब होता है, जब उसमें सम्यक्ता की कल्पना होती है, तब कामना होती है उसे प्राप्त करने की।

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।

मैं तुम्हारी जड़ को जानता हूँ। हे काम ! तुम संकल्प से उत्पन्न होते हो। संकल्प का मतलब क्या हुआ? सम्यक् कल्पना। किसी वस्तु, किसी व्यक्ति, किसी स्थिति के प्रति अगर सम्यक्ता की, उसके अच्छे होने की, उसके सच्चे होने की, उसके आनन्ददायी होने की, उसमें सुख प्राप्त करने की संभावना की जब हम कल्पना करते हैं तो उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है। संकल्प का बेटा है काम। अगर काम को मिटाना है तो हम अपने से भिन्न में रमणीयत्व, सुखत्व की भ्रांति को मिटाएँ। यह तो बड़े उच्च तत्त्वज्ञान की बात हुई। लेकिन रजोगुण से उत्पन्न होने वाला संकल्प जो काम है— वह हमको प्रेरित करता है और उस प्रेरणा से हम पाप करते हैं। तो काम न करें? काम-वासना बिलकुल त्याज्य है? तब संसार कैसे चलेगा? यह सारा-का-सारा-संसार काम से उत्पन्न है।

सोऽकामयत्— भगवान ने कामना की। *एकोऽहं बहुस्याम*। मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। भगवान की कामना का परिणाम यह सारी सृष्टि है। काममय है यह पुरुष,

इसलिए काम का हम बिलकुल वर्जन कर दें— यह बात कठिन है। और अगर हम कामना का बिलकुल परित्याग कर दें— तो फिर हम कर्म ही न करें क्या ? यह भी मुश्किल बात है। इसलिए भगवद्गीता में काम के दो भेद किए हैं। एक है धर्म विरुद्ध काम और एक है धर्माविरुद्ध काम। भगवान ने गीता में कहा है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' (७/११)

हे अर्जुन, सारे-के-सार काम निन्दित हैं— ऐसी बात नहीं है। धर्म से जो अविरुद्ध है— वह काम मनुष्यों में मैं हूँ, गृहस्थों के लिए वह निन्दित नहीं है।

श्रुति स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः, कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

धर्म की जड़ में क्या है ? श्रुति यानी वेद। स्मृति, सदाचार, अपना प्रिय। कौन-सा अपना प्रिय? *सम्यक् संकल्पजः कामः* — संकल्प में एक सम्यक्ता है ही, उस सम्यक् के पहले भी एक सम्यक् आया है। धर्म की जड़ में सम्यक् संकल्प से उत्पन्न काम है, यानी धर्म से अविरुद्ध काम है। धर्म से अविरुद्ध काम मनुष्य को जीवन जीने के लिए आवश्यक उपकरण प्राप्त करने की प्रेरणा देगा। धर्म से अविरुद्ध काम मनुष्य को अपने ऋणों से अनृण होने की प्रेरणा देगा। हम जन्म से ही निष्काम नहीं हो सकते। निष्काम होना बहुत मुश्किल काम है। निष्काम होने की साधना से पहले धर्म विरुद्ध काम का त्याग और धर्म से अविरुद्ध काम का ग्रहण— यह आवश्यक है। कहा गया है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा जनाः निष्करुणाःभवन्ति

भूखा आदमी निष्करुण होता है वह सारे पाप करता है। तुलसी बाबा ने कहा है— *नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं*— दरिद्रता से बढ़ कर कोई दुःख नहीं है। कबीरदास ने कहा है—

साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ।।

यानी धर्म से अविरुद्ध रहते हुए हम उपार्जन करें। धर्म से अविरुद्ध रहते हुए हम वंश-विस्तार करें, धर्म से अविरुद्ध रहते हुए हम देव ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, लोक-ऋण आदि से अनृण हों, यह गीता को इष्ट है। जिस काम की भर्त्सना है, जिस काम की निन्दा है, संसारी व्यक्तियों के लिए वह धर्म से विरुद्ध काम है और फिर संसार से सामान्य लोग शुद्ध कर्म करते हुए, धर्म से अविरुद्ध कर्म करते हुए, जब ऊँची भूमिका पर जायेंगे तब उनके लिए निष्कामता सुलभ होगी। मन में कामनाएँ भरी हुई हैं और मुँह से निष्काम बन रहे हैं, यह तो पाप है। यह तो पतन का लक्षण है। पुण्य यह है कि—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते।। (३/७)

कर्मेन्द्रियों को अनुशासित करके जब हम अनासक्त भाव से कर्म करते रहेंगे तो बहुत उन्नति होगी। इन्द्रियों पर वश रख कर हम धर्म से अविरुद्ध काम की प्रेरणा से काम करेंगे तो अच्छे आदमी बनेंगे। अच्छा आदमी ही एक भूमिका के बाद निष्काम हो सकता है। बुरा आदमी कभी निष्काम नहीं हो सकता। तो पहली बात यह कि *'धर्माविरुद्धेषु भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभः'* इसको याद रखकर काम की विवेचना करें।

महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।

काम महा पेटू है। कई बार यह लगता है कि यह इच्छा पूरी हो जाएगी तो तृप्ति हो जाएगी — किन्तु यह ठीक नहीं है।

न वित्तेण तर्पणीयो मनुष्यः— कितना भी पैसा क्यों न मिल जाए—मनुष्य को तृप्ति नहीं होगी।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवःस्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थं इति मत्वा शमं व्रजेत्।।

इस पृथ्वी में जितना भी चावल है, जौ है— यानी जितना भी अनाज है, सोना है, धन है, पशु है, पुरुष के लिए कहा गया भोग के लिए स्त्रियाँ हैं स्त्रियों के भोग के लिए पुरुष हैं— यदि ये सब-के-सब मिल जाएँ तो भी एक व्यक्ति भी तृप्त नहीं होगा। पृथ्वी का सारा अनाज, पृथ्वी का सारा सोना, धन, पशु, स्त्री-पुरुष प्राप्त हो जाएँ तो भी एक भी व्यक्ति की तृप्ति के लिए ये पर्याप्त नहीं हैं। इस बात को समझ कर मनुष्य में शान्ति, वैराग्य आना चाहिए।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

भोग भोगने से, कामों को भोगने से कभी किसी की तृप्ति नहीं होती। उदाहरण दिया— आग में घी की आहुति डालें तो क्या आग तृप्त होगी ? आग और भड़कती जाएगी, और तेज होती जाएगी। जितनी आहुति डालेंगे, आग उतनी तेज होगी। जितना भोग भोगेंगे, भोग भोगने की लालसा, स्पृहा उतनी ही बढ़ती जाएगी। किसी के पास कितनी भी संपदा क्यों न हो जाए वह तृप्त नहीं होगा। भर्तृहरि का एक बढ़िया श्लोक है—

निःस्वो वाष्टि शतं, शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेशः क्षितिपालतां, क्षितिपतिः चक्रेशतां वाञ्छति।

चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा शैवपदं, शिवो हरिपदं ह्याशावधिं को गतः।।

जिसके पास कुछ भी नहीं है जो निःस्व है वह चाहता है कि उसे सौ रुपए मिल जाएं। जिसके पास सौ रुपए हैं वह चाहता है हजार रुपए हो जाएँ। जिसके पास हजार हैं, वह चाहता है लाख रुपये हों। पुराने समय में लाख रुपया बहुत होता था। आजकल तो कई हजार करोड़, लाख करोड़ की बात होती है भगवान जाने !

लक्षेशः क्षितिपालतां— लखपति चाहता है वह राजा हो जाए। *क्षितिपतिः चक्रेशतां वांछति*— राजा चाहता है चक्रवर्ती राजा हो जाए। *चक्रेशः सुर राजतां*— चक्रवर्त्ती राजा सोचता है हाय ! इसी पृथ्वीलोक के राजा ! छिः ! स्वर्गलोक के राजा इन्द्र तो होते। *सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति*— इन्द्र चाहता है केवल इन्द्र बना ! ब्रह्मा तो होता। *ब्रह्मा शिवपदं*—ब्रह्मा चाहते हैं शिव होते ! *'शिव हरिपदं'* —शिव चाहते हैं विष्णु होते। *ह्याशावधिं को गतः* —लालसा की कोई सीमा है क्या? याद रहे अर्थ का अभाव और अर्थ का प्रभाव—ये दोनों मनुष्यों को बिगाड़ देते हैं। अर्थ का अभाव भी अवांछित है—*बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।* और अर्थ का प्रभाव भी अवांछित है।

और-और की ध्वनि है केवल, तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं।

इसलिए कहीं एक सम्यक् कल्पना, सम्यक् संकल्प— सम्यक्ता को दोहराया गया। विवेक के द्वारा हम निर्धारित करें कि कितने से हमारा काम चल जाएगा। और उसके बाद हाय-हाय छोड़ दें। कुछ ऐसे काम करें, जिससे हम पवित्र बनें, जिसके कारण तपस्या हो, जिससे हमारे ऋण दूर हों। लोकहितकर कार्य करें। तब हम निष्कामता की ओर जा सकेंगे। याद रहे, बड़ी संपत्ति ऐसे कभी नहीं आती।

न छित्वा परमर्माणि न कृत्वा कर्म दुष्करम्।
न हत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्।।

दूसरों का मर्म छेदन किए बिना, दुष्कर कर्म किए बिना, मछुए की तरह जाल फैला कर, लोगों को आकृष्ट कर, फिर जाल में मछली की तरह समेटे बिना किसी को महती श्री प्राप्त नहीं होती। आजकल के विज्ञापन ? यह केवल जाल फेंक कर लोगों को फँसाने के तरीके हैं। महती श्री के पीछे पाप है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं। इसलिए एक विवेक सम्मत, धर्म से अविरुद्ध काम की प्रेरणा स्वीकार कर पहले मनुष्य अच्छा आदमी बने और फिर निष्कामता की ओर जाए। काम की निन्दा मौखिक रूप से करना बहुत आसान है। काम का अतिक्रमण करना बहुत कठिन है। इसलिए विवेक कहता है कि धर्म-विरुद्ध काम की जगह धर्म से अविरुद्ध काम का पहले अवलंबन

करो और फिर तुम उस काम को भी त्याग करने की भूमिका में आ सकते हो। *'महाशनो'* —इसका पेट भरेगा नहीं। *'महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्'* —इस पापी काम को वैरी समझो। देखो! एक बात पर ध्यान दो। लोग अपने काम को मित्र समझते हैं। कौन अपने काम को वैरी समझता है? एक इयर रिंग और हो जाए। ऐसा कपड़ा मिल जाए। यहाँ घूमने चले जाएँ, वहाँ घूमने चले जाएँ। ये जो कामनाएँ हैं— ये हमारी शत्रु हैं, मित्र के रूप में आती हैं। सर्दी है, पर आइसक्रीम खा लें। यह कामना शत्रु है, मित्र के रूप में आती है। दुःख की परंपरा अपने पीछे छिपा कर लाती हैं। कामना को जो मित्र मानते हैं, वे गलत काम करते हैं। गीता कहती है कि पहले उनको मानो कि वे शत्रु हैं। जो लोग काम को शत्रु ही नहीं मानेंगे, वे काम से बचेंगे कैसे?

'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' —काम को, अपने अभाव को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की वृत्ति को, अपने से ऊपर-ऊपर देखते रहो, अपने को दरिद्र ही मानते रहो, अपने को टुटपुंजिया ही मानते रहो— यह भाव, यह काम तुम्हारा वैरी है, मित्र नहीं है। मित्र लगता है इसलिए और खतरनाक दुश्मन है। जो मित्र बनकर आए वह शत्रु और खतरनाक होता है। इसके बाद तीन लक्षणों, तीन उदाहरणों के द्वारा काम के तीन प्रकारों का निरूपण करते हैं प्रभु—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। (३/३८)

वह काम सात्त्विक पुरुष को कैसे अपने फन्दे में लेता है? सात्त्विक पुरुष के मन में जब काम आता है तो उसका लक्षण बताया है कि वह धुएँ से ढकी हुई आग जैसा होता है। धुआँ भी दिखता है, आग भी दिखती है। सात्त्विक व्यक्ति के मन में कामना जागती है। लेकिन उसको अग्नि का, उसको कर्त्तव्य का, उसको ज्ञान का अनुभव भी होता रहता है। धुएँ से ढकी हुई आग जैसे झलकती रहती है, सत्त्वगुणी व्यक्ति को काम उसी प्रकार आवृत करता है, ढाँकता है। रजोगुणी व्यक्ति को काम कैसे ढाँकता है? जैसे दर्पण पर धूल जमा हो जाती है। दर्पण पर धूल जमा हो जाती है तो अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखता। उँगली से जरा धूल हटा दो तो जितने स्थान से धूल हटती है उतने ही स्थान पर प्रतिविम्ब दिखता है। उतनी ही मात्रा में रजोगुणी व्यक्ति को कर्त्तव्य का बोध होता है। तमोगुणी व्यक्ति को काम कैसे ढाँकता है, जैसे गर्भ को उसकी झिल्ली ढाँके रहती है। गर्भ बिल्कुल नहीं दिखता। तमोगुणी व्यक्ति को काम बिल्कुल आच्छन्न करता है, रजोगुणी व्यक्ति को काम उससे जरा कम, लेकिन सत्वगुणी व्यक्ति से ज्यादा आच्छन्न करता है। सत्त्वगुणी व्यक्ति को भी काम अपने धुएँ से व्याकुल, विह्वल कर देता है।

क्रोध जब प्रतीत होता है तो इससे उलटा है। तमोगुणी व्यक्ति को जब क्रोध आता है तो वह उस पर छाया ही रहता है। रजोगुणी का क्रोध ढँक भी जाता है थोड़ा, और सत्त्वगुणी का क्रोध जल्दी प्रकट नहीं होता। जिन लोगों ने इसको क्रोध माना, उन लोगों ने इसका क्रम उलट दिया। जिन लोगों ने इसको काम माना उन्होंने सत्त्वगुणी का काम बताया धुएँ से ढकी हुई आग को, रजोगुणी का बताया धूल से ढके हुए दर्पण को और तमोगुणी का काम बताया झिल्ली से ढके हुए गर्भ को। क्रोध इससे उलटा है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। (३/३९)

इस बात पर ध्यान दीजिए। काम अज्ञानी पुरुष का नित्य वैरी नहीं है। अज्ञानी पुरुष कामोपभोग करते समय सुख का अनुभव करता है। उस समय वह उसका मित्र मालूम पड़ता है। जो ज्ञानी पुरुष है वह भी काम का वशवर्ती होता है; लेकिन काम का वशवर्ती होते हुए भी उसको लगता है कि यह गलत हो गया, यह पाप हो गया और उसके मन में अपराध-बोध जागता है। अपराध-बोध के साथ भोगा गया काम, काम का सुख भी नहीं देता। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति के लिए काम नित्य वैरी है, बराबर शत्रु है। अज्ञानी व्यक्ति को काम उपभोग के समय मित्र प्रतीत होता है, और जब उसका परिणाम खराब होता है— पेट खराब है और कोई गरिष्ठ भोजन करता रहे, जब पेट ज्यादा खराब हो जाए तो उसे लगता है कि अरे ! यह तो गलत काम हो गया। तो गलत काम हो जाने के बाद उत्पन्न दुःख, खेद, क्षोभ का अनुभव अज्ञानी व्यक्ति को बताता है कि काम शत्रु था और ज्ञानी व्यक्ति कामोपभोग करते समय भी उसको वैरी मानता है। *कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।*

यह कामरूप है।

जानि न जाइ निसाचर माया, कामरूप केहि कारन आया।

निशाचर का एक लक्षण है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार रूप बदल सकता है। शूर्पणखा जब चाहती अत्यन्त सुंदरी बन जाती, जब चाहती अत्यन्त भयंकरी हो जाती। वैसे ही काम अत्यन्त सात्विक रूप धारण कर सकता है, मित्र बन सकता है, शत्रु बन सकता है। उपकार करने का ढोंग रचकर किसी का साहचर्य और फिर उसके साथ गलत व्यवहार कर उसे नष्ट कर देना, काम के लिए सहज है।

'कामरूपेण कौन्तेय'— काम अनेक रूप धारण करता है। सावधान! उसे पहचानना मुश्किल है। *'दुष्पूरेणानलेन च'* — वह ऐसी आग है जिसकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। अतः उसे जीतना ही हमारा कर्त्तव्य है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। (३/४०)

जो हमारा शत्रु है और जिस शत्रु को हमें जीतना है, उस शत्रु को कैसे जीता जा सकता है? जब तक यह समझ में नहीं आएगा कि शत्रु रहता कहाँ है, तब तक हम उस पर आक्रमण कैसे करेंगे? तब तक उस पर विजय कैसे प्राप्त करेंगे? अगर किसी शत्रु को पराजित करने की इच्छा है तो पहले इसका पता होना चाहिए कि वह शत्रु रहता कहाँ है । जो गुप्तचर संस्थाएँ दुश्मनों के शिक्षण-केन्द्र चलाती हैं, उन शिक्षण-केन्द्रों का बोध हो तब न उन पर आक्रमण किया जाए। तो अधिष्ठान — माने रहने की जगह। यह काम कहाँ रहता है? *'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'* —तीन ही बातें यहाँ कही हैं, पर हैं वैसे पाँच बातें। विषय में काम है। विषय की बात कही नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने में विषयों को समेट लेती हैं। विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख होता है, वही राजस सुख है। और रजोगुण से ही काम उत्पन्न होता है। राजस सुख का लक्षण यह बताया है गीता ने—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। (१८/३८)

विषय और इन्द्रिय के संयोग से जो पहले अमृत जैसा सुख लगता है, बाद में जो विष जैसा होता है, वह सुख राजस सुख है। खाँसी है, सर्दी है, आइसक्रीम अमृत जैसी लग रही है—यह राजस सुख है और इसका परिणाम बुखार हो सकता है, बीमारी हो सकती है। परिणाम में दुःख आ सकता है। सात्विक सुख इससे बिलकुल अलग है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। (१८/३६-३७)

सात्त्विक सुख अनायास नहीं होता। *'अभ्यासात् रमते यत्र'* —लम्बे समय के अभ्यास से जिसमें मन रमता है। किसी को पढ़ना अच्छा लगता है? टेलीविजन छोड़कर कोई अच्छी किताब पढ़ना चाहेगा जो कि समझने में भी मुश्किल हो? लेकिन टेलीविजन छोड़कर, गप मारना छोड़ कर, घूमने जाना छोड़ कर जो विद्यार्थी मन लगाकर कठिन पुस्तकें पढ़ते हैं, समझते हैं, तब उसमें उनको धीरे-धीरे रस आता है। कब रस आता है ? लम्बे अभ्यास के बाद। और लम्बे अभ्यास के बाद जिसमें रस आता है, जिससे दुःख नष्ट होते हैं, जो पहले विष सरीखा लगता है, लेकिन जिसका

परिणाम अमृत सदृश होता है— मन को शुद्ध करने वाला, निर्मल करने वाला वह सात्त्विक सुख है। कामना सात्त्विक सुख की ओर नहीं ले जाती। क्योंकि कामना *'रजोगुणसमुद्भवः'* —राजस तत्त्व से उत्पन्न है। सात्विक सुख से हमारा संबंध कामना नहीं जोड़ती। सात्विक सुख से हमारा संबंध जोड़ता है तप। सात्विक सुख से हमारा संबंध जोड़ता है —शुद्ध कर्म, पवित्र कर्म, भगवत्कर्म, भगवदर्थ कर्म। शुद्ध कर्म से हमको ज्ञान जोड़ता है, भोग नहीं जोड़ता। तो यह जो राजस सुख प्राप्त कराने वाला इच्छानुसार अपना रूप बदल सकनेवाला काम—यह कहाँ रहता है ? यह विषय में रहता है, और इन्द्रियों में रहता है। विषय और इन्द्रिय के संयोग से जो सुख अमृत जैसा लगता है, और जो बांद में अपने साथ दुःख की परंपरा लाता है, वह कामोद्भव सुख है। किसी सुन्दर लड़की को देखकर कोई लड़का, किसी सुन्दर लड़के को देख कर कोई लड़की, जब व्याकुल होती है तो उस व्याकुलता के मूल में काम है। काम केवल बाहरी रूप रंग देखता है, आकृति देखता है, रंग देखता है, गुण-अवगुण नहीं देखता, उचित-अनुचित पर विचार नहीं करता। जो बहुत अच्छा लगता है, जिसको देख कर मन में काम-वासना जागती है, कल्पना से उसके शरीर की पतली चमड़े की झिल्ली उतार कर उसके रूप को देखिये। मेरे गुरुजी कहते थे कि उड़िया बाबा ने उनको बताया कि जिसको देखकर तुम्हारे मन में काम-वासना प्रबल रूप से जागती है, उसकी जरा चमड़ी की एक परत उतार दो। फिर वह क्या है? वही मांस, वही हड्डी, वही रक्त, वही चर्बी और कुछ नहीं। एक हल्की सी रंगीन चमड़े की झिल्ली भीतर के सारे अस्थि-मांस मेद-मज्जा, मलमूत्र आदि ढके हुए हैं। क्या है इस शरीर में? शरीर अपने में घोर अपवित्र वस्तु है। इसका जो चैतन्य तत्त्व है, वही पवित्र है। एक अच्छी उक्ति है, *'क्वात्यन्त मलिनो देहः क्वायमात्मा नभश्छदिः'* अर्थात् कहाँ यह अत्यन्त मलिन, अपवित्र शरीर, कहाँ आकाश को भी छेद कर उसके भी परे जाने वाली आत्मा! इस आत्मा के कारण ही शरीर का महत्त्व है। नहीं तो इस शरीर से जो कुछ भी निकलता है— वह सब अपवित्र है। क्या निकलता है इस शरीर से ? मल, मूत्र, कफ, थूक, पसीना, रक्त, ये ही तो निकलते हैं शरीर से। दाँत, बाल पक कर झड़ते हैं, टूटते हैं। ये सब के सब अपवित्र है। इस शरीर में जो चैतन्य तत्त्व है, वही पवित्र है। वही हम हैं। वही शुभ है। उसी से जुड़ना चाहिए। उसके जितने ज्यादा समीप जाएँगे, उतने पवित्र होंगे। जितने समीप जाएँगे अस्थि-मांस-मेद-मज्जा के, जड़ के, उतने अपवित्र होंगे।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

काम कहाँ रहता है? विषयों में रहता है, इन्द्रियों में रहता है, मन में रहता है,

बुद्धि में रहता है। बुद्धि पहले समझती है कि यह चीज ठीक है, फिर मन उस पर ललचाता है और फिर इन्द्रियाँ उसके पीछे भागती हैं। मन में अगर पाप आए, तो हमारे गुरुजी कहते थे कि उसको क्रिया तक मत ले जाओ। मन में अगर पाप आ जाए और उसको क्रिया तक नहीं जाने दोगे तो वह पाप क्षीण हो जाएगा, दुर्बल हो जाएगा। लेकिन मन में आए हुए पाप का बार-बार अनुध्यान करके जब तुम उसको क्रिया में रूपान्तरित करते हो तो वह पाप तुमको पतन की ओर ले जाता है। तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के रहने के स्थान हैं।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।

इनको विमुग्ध करके काम हमको वशीभूत करता है। यहीं तमोगुण आता है। *रजोगुण समुद्भवः* —काम रजोगुण से उत्पन्न होता है किन्तु इस रजोगुण में तमोगुण सन्निहित है। तमोगुण का लक्षण क्या है ? तमोगुण का लक्षण है—मूढ़ कर देना, मोह लेना, ज्ञान रहित कर देना। इन्द्रिय मन, बुद्धि को काम मोह लेता है, मोहासक्त करता है, ढाँक देता है। याद रहे काम देही को नहीं, देहाभिमानी को ढाँक लेता है। जो आत्मा है, वह तो ज्ञानस्वरूपा है, कामना उसको छू नहीं सकती; लेकिन हमारा जो छोटा अहंकार है, जो देहाभिमानी है, जो अपने को नाम-रूप-मात्र ही मानता है; उस देहाभिमानी को काम ढाँकता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। (३/४१)

हे अर्जुन, अगर तुम चाहते हो कि तुम काम रूपी शत्रु के द्वारा पराजित न हो, तो तुम पहला काम करो कि इन्द्रियों को, मन को, बुद्धि को अपने नियंत्रण में लाओ। आपको मैं याद दिलाना चाहता हूँ कि दूसरे अध्याय में भगवान् यह बात बता चुके हैं। दूसरे अध्याय में भगवान् ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

यह भगवान ने बताया है। किसी विषय का ध्यान करते रहो तो उसके प्रति आसक्ति होगी चाहे जिस विषय का भी ध्यान करो। किसी को खाने की चीज अच्छी लग सकती है, किसी को देखने की, किसी को पहनने की, किसी को सूँघने की, किसी को छूने की। विषय का ध्यान करते रहने से उसके प्रति आसक्ति होगी ही। फिर उस

आसक्ति के बाद उसको पाने की इच्छा होगी। इच्छा पूरी नहीं होगी तो क्रोध होगा। क्रोध होगा तो सम्मोह होगा। सम्मोह होगा तो स्मृति भूल जाओगे कि कहाँ हो तुम? यहाँ क्यों आए हो? तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है? फिर तुम्हारी बुद्धि नष्ट होगी और बुद्धि नष्ट होगी तो विनाश हो जायेगा। बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। और इसका उलटा भी भगवान् ने बताया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

डंके की चोट पर आप कह सकते हैं कि हमारा धर्म अकेला धर्म है जिसमें बुद्धि की इतनी महिमा है। किसी दूसरे धर्म में यह नहीं कहा गया कि बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश होता है। किसी दूसरे धर्म में यह नहीं कहा गया है कि अगर शुद्ध बुद्धि प्रतिष्ठित होगी तो तुम्हारा कल्याण होगा। हमको इस बात का गौरव होना चाहिए कि हमारा धर्म बुद्धि और श्रद्धा—दोनों को समन्वित करता है। बुद्धि और श्रद्धा दोनों को समन्वित करके मनुष्य के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करने वाला धर्म है गीता-धर्म। बुद्धि पर इतना बल किसी दूसरी धर्म-पुस्तक में नहीं दिया गया है। बुद्धि के साथ ही गीता ने श्रद्धा को जोड़ा है। गीता ने स्पष्ट कहा है *श्रद्धावाँल्लभतेज्ञानम्*— श्रद्धावान् को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रद्धा माने सत्य को धारण करने वाली वृत्ति। बुद्धि और श्रद्धा—दोनों का मणिकांचन संयोग मनुष्य के आत्म-कल्याण का साधन बनता है। तो यह कहा गया कि अपनी इन्द्रियों – मन और बुद्धि को नियंत्रित कर तुम इस पापमय काम को *'पाप्मानं प्रजहि ह्येनं'* —प्रजहि माने त्याग दो। काम तुम्हारी बुद्धि का, जानकारी का और उस जानकारी को उपयोग में लाने वाली क्षमता का भी नाश करने वाला है। ज्ञान माने जानकारी और विज्ञान माने उस जानकारी को काम में उतार लेने की क्षमता। तुम्हारे ज्ञान और विज्ञान दोनों नष्ट हो जाएँगे अगर तुम कर्त्तव्य के ऊपर कामना को छा जाने दोगे। इसलिए ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाले इस काम का परित्याग कर दो। लेकिन छोड़ने से यह छूट जाएगा क्या? याद रखो कि शत्रु से चार प्रकार से निपटने का आदेश हमारा नीतिशास्त्र देता है। साम, दाम, दंड, भेद। यह जो काम है—यह न साम का पात्र है, न दाम का पात्र है और न भेद का पात्र है। इसको समझाने से यह समझता नहीं। इसको थोड़ा देने से ज्यादा माँगता है। भेद करने की चेष्टा करोगे तो तुम्हारे सिर पर ही सवार हो जाएगा। इसको तो जीतने का मात्र एक ही रास्ता है—

दण्ड। कैसे इसको दण्डित कर सकते हो? प्रजहि—इसका त्याग करो। छूट जाएगा? जब तक तुम परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लोगे, परम ज्ञान प्राप्त नहीं कर लोगे, तब तक काम छूटेगा नहीं। उसके बाद की पंक्तियाँ बहुत ही अद्‌भुत हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। (३/४२-४३)

हम काम-विजय की प्रक्रिया सीख रहे हैं गीता के माध्यम से। काम को कैसे जीतें? सीढ़ी-दर-सीढ़ी हमें आगे बढ़ना है और काम पर दोतरफा आक्रमण करना है। एक तरफ तो हम इन्द्रिय,मन और बुद्धि को अपने नियंत्रण में रखें, फिर हम यह समझें कि इन्द्रियों से सूक्ष्म है बुद्धि। पर माने सूक्ष्म। शरीर में इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। *इन्द्रियाणि पराण्याहुः। इन्द्रियेभ्यः परं मनः* —इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, क्योंकि हम आँख से नहीं देखते। हम मन के द्वारा आँख से देखते हैं। हम कान से नहीं सुनते। हम मन के द्वारा कान से सुनते हैं। जब हम दिलचस्प उपन्यास पढ़ते रहते हैं तो माँ पुकारती रहती है, सुनाई पड़ता है? माँ की आवाज सुनाई नहीं पड़ती। कान तो है; लेकिन मन उपन्यास में लगा हुआ है। इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है; और मन से सूक्ष्म बुद्धि है। बराबर याद रहे कि काम अगर धर्म-विरुद्ध होगा तो बुद्धि उसमें बाधा उपस्थित करेगी। बुद्धि धर्म-विरुद्ध काम की तृप्ति में असहमति उत्पन्न करती है। बार-बार पाप करते रहने से जब बुद्धि अशुद्ध हो जाती है, तब वह उसका प्रतिवाद नहीं करती। लेकिन आरम्भिक स्तर पर धर्म-विरुद्ध काम की पूर्ति के लिए जब भी प्रयास किया जाएगा तो बुद्धि उसका प्रतिवाद करेगी, उसका विरोध करेगी। इसलिए मन से बुद्धि सूक्ष्म है, श्रेष्ठ है। तो एक चेष्टा है कि इन्द्रिय-मन-बुद्धि को हम नियंत्रित करें। लेकिन इससे काम को अंतिम रूप से परास्त नहीं किया जा सकता। काम को अंतिम रूप से कैसे परास्त किया जा सकता है? काम आभास भास्य नहीं है, काम साक्षीभास्य है। यह सामने जो चित्र है, माला है। यह सामने जो इतने सारे व्यक्ति बैठे हैं— ये आभास-भास्य हैं। ये सामने दिखाई पड़ रहे हैं। मैं इनको देखना चाहूँ, न देखना चाहूँ लेकिन ये हैं। मैं इनको न देखूँ, इनसे कुछ न कहूँ, तो भी ये हैं। लेकिन जो साक्षी भास्य होता है, वह बाहर नहीं दिखता। वह अपने मन में अनुभूत होता है। काम जो है— यह माला की तरह, चित्र की तरह आभास-भास्य नहीं है। यह दिखता नहीं है, यह अपने से अलग नहीं है, परे नहीं है। यह अपने मन के भीतर है। हम इसका अनुभव करते हैं। यह साक्षी-भास्य है। अपने

को अलग करके इसको देखना सीखो। इस बात पर ध्यान दो कि हम सारी दुनिया को देखते हैं। जो दृश्य है, वह द्रष्टा नहीं है। द्रष्टा दृश्य से अलग है।

'रूपं दृश्यं लोचनं दृक्, तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्याधीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते।।'

रूप दृश्य है, लोचन द्रष्टा है। लोचन दृश्य हो गया, मन द्रष्टा है। मन की वृत्तियाँ—यह काम है, यह क्रोध है, यह वीरता है, यह कायरता है, यह करुणा है, यह लोभ है, यह उदारता है— मन की वृत्तियाँ दिख रही हैं। मन की वृत्तियाँ जब दिख रही हैं तो उसका जो द्रष्टा है, उस साक्षी द्रष्टा को कोई नहीं देख पाता। वह जो द्रष्टा है, वह मैं हूँ। आप एक बात पर ध्यान दीजिए कि जो कुछ दृश्य है, वह मैं नहीं हूँ। इसीलिए हमलोग कहते हैं कि इन्द्रिय-मन-बुद्धि जड़ हैं। इन्द्रिय-मन-बुद्धि दृश्य हैं। यह सारी सृष्टि जो दृश्य है, वह जड़ है। हमारे अपने-मन की वृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं— वे जड़ हैं। हमारी अपनी बुद्धि की युक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं— वे जड़ हैं। बुद्धि के परे जो है —वह द्रष्टा है, वह मैं हूँ। उस द्रष्टा को जो जान लेगा, वही काम का वध करेगा। इस बात पर फिर ध्यान दीजिए— *मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।*

बुद्धि से परे जो है। लोग परमात्मा को बुद्धि से नहीं समझ सकते; क्योंकि वह बुद्धि से परे है। उँगलियों से हम सब कुछ पकड़ सकते हैं लेकिन उँगलियों को कैसे पकड़ेंगे? चिमटी हो उससे हम सब कुछ पकड़ सकते हैं लेकिन वह चिमटी जिन उँगलियों में है—उन उँगलियों को वह चिमटी पकड़ सकती है? नहीं पकड़ सकती है। बुद्धि के परे जो है, वह द्रष्टा, वह अनुभव के द्वारा ही गम्य है। जब तक तुम्हारी चित्त वृत्तियाँ शुद्ध नहीं होंगी, जब तक तुममें पवित्रता नहीं आएगी, जब तक तुम उसका अनुभव नहीं कर सकोगे, तब तक तुम उसके बारे में निर्णय नहीं कर सकोगे। जो बुद्धि के भी परे है, वह तुम हो, वह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है।

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा' — यह बात आवश्यक है कि जब तक बुद्धि के परे जो आत्म-तत्त्व है, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, जो द्रष्टा है, जो चेतन है, जो हम हैं, जो सब हैं। हममें सब हैं; और सबमें हम हैं। हमसे भिन्न कोई नहीं है। जब हम बुद्धि के परे के उस तत्त्व को ठीक ठीक जान लेंगे तभी काम मरेगा। कामना अपने से परे, अन्य की, दूसरे की होती है। जब तक हम अपने से परे, किसी और की सत्ता स्वीकार करते रहेंगे तब तक उससे भय भी होगा।

द्वितीया द्वै भयं भवति— जब तक हम द्वितीय को, अन्य को मानते रहेंगे, तब तक उसकी कामना भी होगी। सच्ची निष्कामता तभी होगी जब 'हममें सब हैं और

सबमें हम हैं'—यह बोध बुद्धि के परे जो हमारा वास्तविक द्रष्टा स्वरूप, चैतन्य स्वरूप है, जो हम हैं, उसको हम ठीक से पहचान लेंगे। काम को जीतने की विधि बताते हुए प्रभु ने कहा *'संस्तभ्यात्मानमात्मना'* —यह गीता का प्रिय शब्द प्रयोग है। आत्मा शब्द के कई अर्थ हैं। यहाँ पहले आत्मा शब्द का अर्थ है बुद्धि, शुद्ध बुद्धि। और दूसरे आत्मा शब्द का अर्थ है मन।

आत्मानम् आत्मना संस्तभ्य— आत्मना माने आत्मा के द्वारा यानी शुद्ध बुद्धि के द्वारा अपने आत्मानम् — अपने मन को नियंत्रित करके, स्थिर करके, इच्छा के अनुसार रूप धारण कर आने वाले इस दुष्ट काम को मार डालो। एक बात पर ध्यान दीजिए। महाभारत —एक तो भौतिक पक्ष है, मैं उसको सच मानता हूँ। निश्चय ही कुरुक्षेत्र में कौरव-पाण्डव का युद्ध हुआ था; लेकिन एक आध्यात्मिक महाभारत है। जैसे एक आधिभौतिक रामायण है, आधिदैविक रामायण है, एक आध्यात्मिक रामायण है। अज्ञान रूपी रावण है। काम रूपी मेघनाद है। अहंकार रूपी कुम्भकर्ण है— आदि-आदि। और ज्ञान रूपी श्रीराम हैं। शान्ति रूपी सीता हैं इस प्रकार एक अध्यात्म रामायण है। वैसे ही एक आध्यात्मिक महाभारत है। जिस युद्ध की कल्पना गीता में की गई है, उस युद्ध की ओर भी संकेत है। किससे है लड़ाई? हाँ एक लड़ाई है कौरवों और पाण्डवों की। एक लड़ाई है जिसमें अर्जुन भीष्म का वध करते हैं। द्रोणाचार्य का वध धृष्टद्युम्न करता है। कर्ण का वध करते हैं अर्जुन। लेकिन एक और लड़ाई है, जो हमारे ही अपने भीतर रहने वाले मोह से, हमारे ही अपने भीतर रहने वाले काम से निरन्तर चल रही है; और उस आध्यात्मिक युद्ध में हमें काम रूपी शत्रु का वध कर देना है। कैसे करेंगे हम उसका वध?

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा' —इस बुद्धि के परे जो शुद्ध आत्म चैतन्य तत्त्व है जो हमारी बुद्धि की वृत्तियों को भी देखता है, द्रष्टा है, उस द्रष्टा, उस चैतन्य तत्त्व के साथ एक होकर, अभिन्न होकर इस शत्रु रूपी काम का वध कर दो। जहि—प्रजहि माने त्यागो। त्याग से शुरू करो और वध तक जाओ। काम को जीतने की जो प्रक्रिया है वह कामना के त्याग से शुरू होती है और कामना के निर्मूल करने तक चलती रहती है। काम को जीतने की जो प्रक्रिया है, वह दुतरफी है। एक तरफ इन्द्रिय-मन-बुद्धि पर नियंत्रण करके हम काम को अपने अधीन करते हैं; और दूसरी तरफ परमात्मा से जुड़कर, उस शक्ति से हम काम का वध करते हैं। एक तरफा, केवल अपने प्रयास से काम-विजय संभव नहीं है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि के ऊपर नियंत्रण कर हम एक सीमा तक काम का त्याग कर सकते हैं लेकिन काम के निर्मूलन की क्षमता उसी परम तत्त्व के

साक्षात्कार के द्वारा, बुद्धि के परे जो परम तत्त्व है, उसको जानकर अपनी शुद्ध बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर करके बहुत मुश्किल से पकड़ में आने वाले इच्छा के अनुरूप अपना वेश बदलने में समर्थ, मित्र से लगने वाले इस दुष्ट काम का वध करो। जब इस काम का वध करोगे तब पाप से बच जाओगे। यह जो पाप है—अपने को मलिन करने वाला, अपने को पतित करने वाला, अपने को गिराने वाला—यह काम के द्वारा प्रेरित है, राम के द्वारा प्रेरित नहीं है। हमारे शरीर के यंत्र में, हमारी इन्द्रिय-मन-बुद्धि में भोग की लालसा जब जागती है तो भगवान की दी हुई शक्ति विपथगामी होती है; और उस विपथगामिता के कारण हम पाप करते हैं। पाप का प्रेरक राम नहीं है, पाप का प्रेरक काम है। इस काम के परित्याग का इस काम को जीतने का और इस काम के वध का महाप्रयास हमें शुरू करना है। एक तरफ इन्द्रिय-मन-बुद्धि को जीतकर, दूसरी तरफ परमात्मा के साथ अभिन्न होकर, परमात्मा की शक्ति से शक्तिमान होकर हमें इस काम का निर्मूलन करना है। ●

*प्रवचन-१०**

अवतारवाद

भगवान की कृपा का अनुभव हम सब कर रहे हैं और यह चौथा अध्याय भी कृपा से ही आरंभ होता है। चौथे अध्याय में अर्जुन कोई प्रश्न नहीं करता। बिना अर्जुन के प्रश्न के प्रभु बोल रहे हैं। बिना प्रश्न के, बिना पूछे बोलना और विशेषकर विद्वानों का बोलना शोभन नहीं है। बिना पूछे नहीं बोलना चाहिए लेकिन जब अपने भक्तों की बात आती है, सखा की बात आती है, जब उसके कल्याण की बात आती है, तब करुणा से द्रवित होकर प्रभु बोलते हैं। प्रभु की कृपा का यह एक संकेत है, निदर्शन है कि एक बड़े रहस्य का उद्घाटन करने के लिए वे ऐसी बात बोल रहे हैं, जिसके कारण अर्जुन के मन में कुछ शंका जगे। अर्जुन कुछ ऐसी बात पूछे जिसके द्वारा न केवल अर्जुन को बल्कि समस्त मानवता को अवलम्ब प्राप्त हो। भगवान् की जो अन्तर्निहित करुणा है, वह करुणा इस वचन में प्रतिफलित होती है। उन्होंने यह बताया कि मैं जिस कर्मयोग का और शंकराचार्य जी महाराज के अनुसार ज्ञानयोग का निरूपण दूसरे तीसरे अध्याय में कर चुका हूँ, वह कोई नई बात नहीं है। संसार में अनेक प्रकार के लोग होते हैं। कुछ लोगों को पुरानी बातें अच्छी लगती हैं। कुछ लोगों को नई बातें अच्छी लगती हैं। प्रभु इस परम्परा के हैं कि हमारी बात अमूलक नहीं होनी चाहिए।

मूलो नास्ति कुतः शाखा— अगर किसी की जड़ ही नहीं होगी तो उसमें शाखा-प्रशाखा कैसे आएगी? तो किसी बड़ी सच्चाई, किसी बड़े सत्य को उसके मूल से जोड़ कर हमें जानना चाहिए। जिस सच्चाई का, जिस सिद्धान्त का, जिस व्यवहार का, सिद्धान्त पर आधारित व्यवहार का निरूपण भगवान ने दूसरे-तीसरे अध्याय में किया है, क्या वह उनकी अपनी कल्पना है? एक बात पर ध्यान दीजिए। हमारे देश में मौलिक शब्द अपनी परम्परा के अर्थ में भी चलता है और आगन्तुक अर्थ में भी चलता है। मौलिक शब्द के तीन अर्थ आज हिन्दी में प्रचलित हैं। एक जो मूलभूत है, आधारभूत है, यह भी परम्परा से समर्थित है जिसको 'बेसिक' कहते हैं। इसी मूलभूत

* चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १ से ९

से यह अर्थ निकलता है कि वह ऊपर से आरोपित नहीं है, वह एक परम्परा से प्राप्त है जिसकी कहीं जड़ है। इस अर्थ में वह बिलकुल अपने देश का अर्थ हैं। अंग्रेजी में जिसको Original कहते हैं, उस अर्थ में भी आजकल मौलिक शब्द चलता है। आजकल ओरिजिनल होने की बड़ी बहादुरी मानी जाती है। वास्तव में कितने लोग ओरिजिनल होते हैं—ये तो रामजी जानें। लेकिन हमारे देश की परम्परा यह है कि जो बात कही जाए वह केवल कल्पना-विलास न हो, वह किसी परम्परा से प्राप्त सत्य का विकास हो और इसलिए प्रभु इसमें कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।। (४/१-२)

अब इन दो श्लोकों में कई बातें संकेतित की गई हैं जिन पर आपका ध्यान जाना चाहिए। पहली बात कि मैं जो तुमको बता रहा हूँ—उस अव्यय योग (*योगं अव्ययम्*— जिस योग का व्यय नहीं होता, जिस योग का नाश नहीं होता, जो योग शाश्वत है) का उपदेश सृष्टि के आरंभ में मैंने पहले सूर्य को किया था। सूर्य आदर्श कर्मयोगी है, सूर्य के कर्म में कभी स्खलन नहीं होता। चाहे लोक दृष्टि से सूर्यग्रहण लग गया हो फिर भी सूर्य आत्मदान करते ही रहते हैं। सूर्य का प्रकाश है, सूर्य से प्राप्त ताप है कि हम आप जीवित हैं। अगर सूर्य से ताप नहीं मिलता तो हम आप जड़ हो गए होते, मर गए होते। इतनी ठंडक होती, इतनी ठंडक होती कि जीवन की संभावना ही नहीं होती। अगर उसका प्रकाश नहीं होता तो हम काम कैसे करते? सूर्य हैं इसलिए हम जीवित हैं। इसलिए कहते हैं—*सूर्य आत्माएव.... कथ्यते।*

संपूर्ण जगत की आत्मा सूर्य है। सूर्य जो निर्दोष रूप से कर्म योग सतत करते चले आ रहे हैं इसका कारण यह है कि स्वयं प्रभु के द्वारा सूर्य को कर्मयोग का उपदेश दिया गया। विवस्वान् को, सूर्य को मैंने यह अव्यय योग उपदेश में दिया। विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु को कहा। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को कहा। यह परम्परा से प्राप्त, राजर्षियों के द्वारा ज्ञात कर्म योग तुमको भी, राजर्षि को ही फिर बताया जा रहा है। राजर्षि शब्द पर ध्यान देना चाहिए। राजा और राजर्षि में अंतर है। हमारी परम्परा है कि- *–धर्माय राजा भवतु न काम कर्माय तु*—राजा तो धर्म के लिए होता है केवल काम-भोग-विलास के लिए नहीं। काम के, भोग विलास के लिए राजा नहीं होता। राजा होता है धर्म का पालन करने के लिए, धर्म का पालन कराने के लिए। इसलिए राजाओं में भी

वे ऋषि हैं जो स्वयं धर्म का पालन करते हैं और जो धर्म का पालन कराते हैं —एक बात। दूसरी बात पर ध्यान दीजिए कि ये तमाम राजर्षि गृहस्थ हैं। विवस्वान् के पुत्र हैं मनु, मनु के पुत्र हैं इक्ष्वाकु। इसलिए यह संकेत है कि कर्मयोग मूलतः गृहस्थों के लिए दिया है। हम-आप जो गृहस्थ हैं—भगवान के इस उपदेश से बहुत आश्वस्त होते हैं। यह केवल तपस्वियों, संन्यासियों,.गृहस्थ-त्यागियों की विद्या नहीं है। यह विद्या, अनासक्त होकर कर्म करने की विद्या मूलतः गृहस्थों की है। एक बढ़िया श्लोक है—

वनेषु दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेषु पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते, निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनम्।।

'वनेषु दोषा प्रभवन्ति रागिणाम्' —वनेषु—जंगलों में भी। *दोषाः प्रभवन्ति रागिणां* —जो रागी हैं, आसक्त चित्त के लोग हैं, वे अगर जंगल में भी चले जाएँ तो भी उन्हें अनेक प्रकार के दोष घेर लेंगे। *गृहेषु पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः*— जो घर में रहते हुए, गृहस्थ जीवन पालन करते हुए अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह करते हैं; जिनकी आँख पापमय दृश्य को नहीं देखती, जिनके कान परनिन्दा, असत्य-श्रवण नहीं करते, जिनकी जिह्वा अशोभन, अनुचित आस्वाद के लिए लालायित नहीं होती, जिनकी त्वचा अवैध, अधार्मिक स्पर्श नहीं पाना चाहती, जिनकी नासिका शुभ सुगन्ध ही ग्रहण करती है, पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जो गृहस्थ रहते हुए भी संयत जीवन जी रहे हैं, वे तपस्या कर रहे हैं। तपस्या का अर्थ जंगल जाना नहीं है। जब कोई बड़ा काम किसी बड़े उद्देश्य के लिए कष्ट वरण करते हुए किया जाता है, तब वह तपस्या है। वे तमाम गृहस्थ लोग तपस्वी हैं जो अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर संयमन करते हैं, नियंत्रण करते हैं।

अकुत्सितं कर्मणि यः प्रवर्तते— जो अकुत्सित कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनं— अद्‌भुत पंक्ति है। जो अपने जीवन में घर में रहते हुए कुत्सित कर्म नहीं करते— *अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते* —जो अकुत्सित, अनिन्दित धर्म के कर्म करते हैं— ऐसे राग से जो निवृत्त हो गए हैं, उनका घर ही तपोवन है। गृहस्थ का घर तपोवन है। मनुस्मृति में एक श्लोक आता है—

न मांस भक्षणे दोषः सुरापाने न मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिश्च महाफला।।

मांस खाने में, शराब पीने मे, मैथुन करने में दोष नहीं है। यह तो प्रवृत्ति है मनुष्य की। यह तो साधारण व्यक्ति का आचरण है। *निवृत्तिश्च महाफला*— जो इन प्रलोभनों से ऊपर उठते हैं— निवारण करते हैं, निवृत्ति करते हैं, वे महाफल प्राप्त करते हैं। जिनका राग निवृत्त हो गया, आसक्ति को जिन्होंने जीत लिया है, अनासक्त

भाव से रहते हुए जो शुभ कर्मों में लगे रहते हैं, उन गृहस्थों का घर तपोवन है। जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है। भगवान गृहस्थों पर करुणार्द्र होकर— इस गृह में निर्वाह करते हुए भी तपोवन का लाभ हम प्राप्त करें— इस विद्या का, इस कर्म का उपदेश दे रहे हैं। बहुत आश्चर्य की बात है। अभी बोले— *योगं अव्ययं* —यह योग अव्यय है, कभी नष्ट नहीं होता। *योगो नष्टः परंतप* —क्या प्रभु अपनी ही बात काट रहे हैं? नहीं-नहीं। *परंतप*— यह लाक्षणिक प्रयोग है कि उस परंपरा का जब प्रवर्तन नहीं हुआ, जब ऐसे राजर्षि, ऐसे गृहस्थ नहीं हुए, उनकी परंपरा वृत्तियों के ऊपर नियंत्रण कर पाने का उनका संप्रदाय नहीं चला— तब यह योग अप्रचलित हो गया। *योगो नष्टः परंतप* – मतलब योग का नाश हो गया— ऐसा नहीं। बल्कि योग, व्यवहार में नहीं आता रहा, कोई परंपरा नहीं रही— इसलिए इस अर्थ में योग नष्ट हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।

उस पुरातन, उस परंपरा प्राप्त, उस महनीय योग को मैं तुम्हारे लिए कह रहा हूँ। क्यों कह रहा हूँ? किसको बात कही जानी चाहिए? आप बिना पूछे कह रहे हैं। बिना पूछे किसको कहा जा सकता है?

भक्तोऽसि मे सखा चेति— जो आपका निष्कपट भक्त हो, जो आपका सखा हो। सखा का लक्षण ही यह है —समान ख्याति वाला, समान शील वाला, जो समय पर आपके दोषों को छिपाए, आपको सही बात बताए, आपके गुणों को उजागर करे जो दुःख में आपका साथ दे, वही सखा है। इसलिए बिना पूछे *चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्*— यह उत्तम रहस्य की बात है, सब नहीं जानते। बिना बताए, बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता— *'गुरु बिनु होइ कि ज्ञान'*। रहस्य की बात है, मर्म की बात है; और उस मर्म में भी जो उत्तम मर्म की बात है, जो बड़ी सूक्ष्म बात है, उस बात को मैं तुमको बता रहा हूँ परंपरा के रूप में।

आप ध्यान दीजिए —प्रभु ने जान-बूझकर ऐसी बात छेड़ी जो अर्जुन को भले न लगे हमारे आप जैसे बुद्धिजीवियों को जरूर लगेगी। यह कैसी अटपटी बात? कि जो बुद्धिवादी है वह कहेगा —भगवान कैसी बात कर रहे हैं, यह तो हुए वसुदेव के पुत्र —वासुदेव, अभी सामने हैं। सूर्य कब के, इक्ष्वाकु कब के हुए। यह क्या कह रहे हैं कि इन्होंने सूर्य को उपदेश दिया? यह जिज्ञासा अर्जुन की है— ऐसा नहीं भी हो सकता है। भले अर्जुन ने कहा कि तुम मुझको उपदेश दो— इस बात के ज्ञाता हो। अर्जुन ने बार-बार इस बात का संकेत दिया है कि हम तुम्हारी महिमा को समझ रहे हैं, पूरी तरह से वे भी नहीं जानते थे कि ये परमेश्वर हैं कि नहीं— यह भी एक जिज्ञासा हो सकती है।

एक बात यह भी हो सकती है अर्जुन के मन में कि ये मुझको बता रहे हैं, मैं मान लूँगा तो दूसरे भी मानेंगे क्या? जब भक्त, संत कोई जिज्ञासा करते हैं तो केवल अपने लिए नहीं करते। जब भरद्वाज पूछते हैं याज्ञवल्क्य से— तो केवल अपने लिए नहीं पूछते, लोक कल्याण के लिए पूछते हैं। उन्होंने कहा याज्ञवल्क्य से कि तुम अच्छी तरह भगवान की महिमा जानते हो, तुमने संसार के हित के लिए पूछना चाहा है— यह हमको मालूम है— फिर उपदेश देते हैं। हमारे आपके समान जो आज के बुद्धिवादी लोग हैं उनके मन में यह जिज्ञासा, यह शंका जरूर जागेगी कि भगवान यह क्या कह रहे हैं? हुए हैं आधुनिक काल में, वर्तमान समय में; और कह रहे हैं कि मैंने सूर्य को उपदेश दिया। इसी के माध्यम से, अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में उस परम कल्याण का कथन प्रभु कहते हैं जो भारतवर्ष के जीवन का आधार है। अर्जुन का प्रश्न है—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति। (४/४)

प्रभु! आप जो कहते हैं वह सिर माथे पर, लेकिन क्षमा करें, मेरे मन में जिज्ञासा है, मेरे मन में प्रश्न जागता है कि आपका जन्म तो सांप्रतिक है, आप तो हमारी आँख के सामने अभी विद्यमान हैं आप तो इस काल में हैं, इस शरीर तक सीमित हैं, इस रूप के हैं, और सूर्य तो कब के हुए? *'परं जन्म विवस्वतः'* —सूर्य, कब उनका जन्म हुआ? यह कैसे हम मान लें कि आपने ही सूर्य को उपदेश दिया। यह प्रश्न अवतारवाद का बीज है। अवतारवाद के संबंध में जो ज्ञान है, उस ज्ञान का कथन, उस सत्य का निरूपण इस जिज्ञासा के उत्तर में होता है। भगवान कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप। (४/५)

हे अर्जुन! ऐसा नहीं है कि मेरा और तेरा— यह पहला जन्म है। मैंने भी अनेक जन्म लिए हैं, तुमने भी अनेक जन्म लिए हैं। मैं उन सबको जानता हूँ, तुम उनको नहीं जानते। ईश्वर और जीव का मौलिक भेद यह है कि ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। ईश्वर न केवल अपने समस्त जन्मों का ज्ञान रखता है बल्कि सारी सृष्टि के सम्बन्ध में उसको ज्ञात है। ईश्वर सर्वज्ञ है, सबका ज्ञाता है। जीव अल्पज्ञ है, वह अपने पूर्व जन्मों को भी नहीं जानता। उसके ज्ञान के ऊपर माया का आवरण पड़ा हुआ है। उस आवरण को भेदकर वह परम सत्य को नहीं जानता। प्रभु का ज्ञान निरावृत्त है, प्रभु का ज्ञान समग्र है। जीव का ज्ञान अल्प है, आवृत्त है, ढँका हुआ है। सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का जो मौलिक अन्तर है ईश्वर और जीव का, वह इसमें

पहले स्पष्ट हुआ है। इसके बाद वे अवतार की प्रक्रिया बताते हैं, अवतार का हेतु बताते हैं, अवतार का फल बताते हैं। लेकिन इसके पहले थोड़ी चर्चा अवतार के संबंध में की जानी चाहिए।

अवतार का मतलब क्या होता है? *अवतरणम् अवतारः* —ऊपर से नीचे आना अवतार है। इसलिए जो गंभीर कूप होता है, उसकी जो सीढ़ी है उसे भी अवतरण कहते हैं। अवतरणिका भी कहते हैं किसी चीज को रख कर उपस्थित करने के लिए। *अवतारः* —मतलब क्या हुआ? भगवान क्या ऊपर से नीचे आते हैं? मतलब भगवान क्या ऊपर हैं, नीचे नहीं हैं — ऐसा कोई नहीं कहता। भगवान अगर अभी यहीं, इसमें - उसमें, मुझमें आपमें, सबमें नहीं हैं तो कभी नहीं हैं, कहीं नहीं हैं, किसी में नहीं हैं। इस बात की पूरी श्रद्धा रहनी चाहिए कि भगवान अगर सर्वव्यापी हैं तो भगवान यहाँ भी हैं। भगवान अगर सार्वकालिक हैं तो इस समय भी हैं। भगवान अगर सबमें हैं तो हममें - आपमें - सब में हैं। यह बात ठीक नहीं है कि भगवान केवल ऊपर हैं, नीचे नहीं हैं। क्यों कही गयी? अवतार में यह बात क्यों कही गयी कि *'अवतरणं अवतारः'*। देखिए एक सीमित अर्थ तो यह कि भक्त लोग यह मानते हैं कि भगवान के जो नित्य लोक हैं— जैसे विष्णु का वैकुण्ठ, राम का साकेत एवं कृष्ण का गोलोक; इन नित्य लोकों में प्रभु विराजमान हैं, वे नित्य लोक ऊपर हैं और वहाँ से वे भूमि पर, भूलोक में आते हैं— नित्य लोक से भूलोक में साकार रूप में आना —यह अवतार हुआ। भगवान निराकार रूप में निर्गुण रूप में सर्वत्र हैं। लेकिन सगुण, साकार रूप में भक्तों की मान्यता के अनुसार वैकुण्ठ में, साकेत में, गोलोक में —जो नित्य लोक हैं, जो द्यौ लोक के ऊपर हैं, वहाँ से चूँकि भू-लोक में सगुण साकार रूप में आते हैं— इसलिए अवतार हुआ। एक संकेत यह है।

एक दूसरा गंभीर संकेत भी है; और वह संकेत गीता में दिया गया है। गीता में वैकुण्ठ, साकेत या गोलोक का संकेत नहीं है। गीता में जो संकेत दिया गया है, वह जरा गंभीर है— इस पर ध्यान दीजिए। भगवान अवतरण करते हैं अवतार करते हैं— यह लाक्षणिक प्रयोग है। भगवान ऊपर, नीचे, दायें, बायें सर्वत्र हैं। भक्त अपने को पतित, गिरा हुआ मानता है। भक्त अपनी पतित भूमिका से भगवान से प्रार्थना करता है और वे उसके उद्धार के लिए अवतार लेते हैं। हम चूँकि अपने को पतित, गिरा हुआ मान रहे हैं इसलिए अवतार की संगति उद्धार से है। हमारा-आपका उद्धार करने के लिए प्रभु को अवतार लेना पड़ता है। परमेश्वर, मनुष्य इसलिए बनता है कि मनुष्य, परमेश्वर बन जाए। हमारे-आपके भीतर जिस ईश्वरत्व का बीज निहित है— हम-आप वास्तव

में जो हैं—उसको अपने सीमित क्षुद्र अहंकार के कारण, अपने ममत्व के कारण, अपने मिथ्या कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बोध के कारण भूल गए हैं। देखो—संसार में यही चार चीजें हैं। संसार ज्ञानियों की दृष्टि में कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। जो कहता है मैं कर्त्ता हूँ उसको भोक्ता होना ही पड़ेगा। जो करेगा, वह भोगेगा ही। हम कर्त्ता नहीं हैं। यह बात गीता में बार-बार बतायी गयी है। जब तक हम अपने को कर्त्ता मानते रहेंगे तब तक कर्म का फल हमको भोगना ही पड़ेगा और उस कर्म फल के भोग के कारण बार-बार जन्म ग्रहण करेंगे, बार-बार मरेंगे। कर्तृत्व-भोक्तृत्व बना रहेगा, तब तक संसार बना रहेगा —यह ज्ञानी की दृष्टि है। भक्त की दृष्टि है कि मैं जब तक अपने को अलग मानूँगा, अहं भावना रहेगी, भगवान का दास नहीं मानूँगा, भगवान का भक्त नहीं मानूँगा, जब तक भगवान को छोड़कर संसार की किसी दूसरी चीज को अपना मानता रहूँगा, तब तक इस अहंता-ममता के कारण बँधा हुआ रहूँगा। जब इस अहंता को भगवान के चरणों में अर्पित कर दूँगा—

अहं तु नारायणस्य दास दासो
दासस्य दासस्य च दास दासः

जब अपनी ममता का आस्पद भगवान को बना लूँगा— *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'* —मैं भगवत्-स्वरूप हो जाऊँगा, भगवान का हो जाऊँगा। अब मैंने यह जो अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानकर या अपनी अहंता और ममता के कारण अपने को अलग सत्ता मान रखा है— इसी के कारण मैं संसार में बँधा हूँ। भगवान कहते हैं कि तुम जब अपने को पतित मान लेते हो, सीमित शक्ति के कारण असफल और विफल होते हो, दुःखी होते हो, गलतियाँ और पाप करते हो, उसके लिए पछताते हो और तुम चाहते हो कि तुम मेरा अवलंब लेकर ऊपर उठो, तो तुम्हारी इस पतित भूमिका से तुम्हारा उद्धार करने के लिए मैं अवतार लेता हूँ। अवतार की संगति उद्धार से है— मैं बताऊँगा आपको— गीता में इसका निश्चित संकेत है। प्रभु इसलिए आते हैं कि हम प्रभु बन सकें, प्रभुमय बन सकें।

आज अवतार के संबंध में लोग पूछते हैं कि क्या अवतार संभव है? देखो— किसका सवाल किसका जवाब। जो लोग भगवान को ही नहीं मानते, उनके लिए अवतार का कोई सवाल ही नहीं उठता।

मूलो नास्ति कुतः शाखा— परमात्मा का अवतार होता है, तुम परमात्मा को ही नहीं मानते। परमात्मा को मानना चाहिए—या नहीं—यह एक लंबी बहस की बात है। जो लोग अपने को नास्तिक मानते हैं—वे अवतार को नहीं मानते और कहते हैं कि

यह तो वहम् है। *'अंधे नैव नीयमाना यथान्धाः'* —यह तो अंधा है। अंधा अंधे को रास्ता दिखा रहा है— यह तो गड्ढे में गिरने वाले हैं। उनकी बुद्धि उनको मुबारक। वे किस गड्ढे में हैं— यह उनको दिखायी नहीं पड़ता। हम किसका अवलंब लेकर ऊपर उठ रहे हैं — इस सच्चाई को वे स्वीकार नहीं कर पाते कि इस परम प्रभु की कृपा से ही सृष्टि चल रही है। खैर, जाने दीजिए। जो लोग परमात्मा को मानते हैं, उनमें से भी परमात्मा का अवतार बहुत से लोग नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापी है, सर्वशक्तिमान है— तो वह कैसे एक सीमित रूप लेकर जन्म लेगा। जो अजन्मा है वह जन्म कैसे ले सकता है। जो अपरिणामी है उसका परिणाम कैसे होगा? उसका बचपन, उसकी किशोरावस्था, उसकी तरुणावस्था, बुढ़ापा होगा, कैसे होगा? जो माया से परे है, वह माया की सृष्टि के भीतर कैसे आएगा, अनेक प्रकार की शंकाएँ, अनेक प्रकार की बहस करते हैं। दो-तीन बातों पर ध्यान दीजिए—

परमात्मा निर्गुण-निराकार है, इसलिए शरीर धारण नहीं कर सकता, उनसे पूछिए कि जीवात्मा निर्गुण निराकार है या नहीं। हम-आप इस समय आकार के रूप में हैं लेकिन हमारे भीतर जो आत्मा है, उसका कोई आकार है क्या? यह शरीर छोड़कर जब आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण करेगा तब उसका दूसरा आकार होगा लेकिन जब शरीर नहीं है तब क्या आत्मा का कोई आकार है? सर्ववादी, सब संप्रदाय वाले मानते हैं कि आत्मा का कोई आकार नहीं होता जैसे उन्होंने कहा—

न जायते म्रियते वा कदाचि -
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (२/२०)

शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता, कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं। अगर आत्मा अजर अमर होते हुए शरीर ग्रहण कर सकता है तो परमात्मा शरीर क्यों नहीं ग्रहण कर सकता। आत्मा अगर शरीर ग्रहण करता है; और जो भी पुनर्जन्म मानेगा, उसको मानना पड़ेगा कि आत्मा का कोई शरीर नहीं है; क्योंकि एक शरीर लेकर तो दूसरे शरीर में जाता नहीं है। आत्मा अपने मूल रूप में निराकार है, लेकिन वह आत्मा अपनी वासना के कारण, अपने कर्मभोग का फल पाने के लिए पराधीन होकर जन्म ग्रहण करता है। यानी शरीर धारण करता है, तो परमात्मा क्या अपने संकल्प से अपने लिए शरीर नहीं बना सकता। यदि परमात्मा ने असंख्य लोगों के लिए शरीर बना दिया, जितने पशु-पक्षी-मनुष्य आदि हैं— इनका शरीर किसने

बनाया? परमात्मा ने बनाया। परमात्मा सबके लिए शरीर बना सकता है, अपने लिए नहीं बना सकता — यह बात कम समझ में आती है। इसलिए परमात्मा निर्गुण निराकार है, वह सगुण साकार हो ही नहीं सकता— यह बात ठीक नहीं है। परमात्मा संकल्प से, अपनी लीला से, अपनी करुणा से प्रेरित होकर अपने लिए एक नहीं, असंख्य शरीर धारण कर सकता है। अब प्रक्रिया में जो कठिन बातें हैं— उनको समझिए—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।। (४/६)

मैं अजन्मा होते हुए भी— सत् होते हुए भी — अव्ययात्मा होते हुए भी— (जिसका कोई नाश नहीं होता। *भूतानां*— भूत का मतलब यहाँ पंचमहाभूत , प्राणी है) —समस्त प्रकृति का स्वामी होते हुए भी— (एक प्रकृति है जो जगत का निर्माण करती है, वह अपरा प्रकृति है। एक स्व प्रकृति है — *प्रकृति स्वाम्*-—अपनी प्रकृति और जगत् की प्रकृति में अन्तर क्या है — इसका मतलब अभी समझाएँगे।) *अधिष्ठाय संभवामि* — सम्यक् रूप से प्रकट होता हूँ। *आत्म मायया*— अपनी माया के कारण। परमात्मा सारी सृष्टि रचता है, कैसे रचता है? एक बात पर ध्यान दीजिए। हमारी दृष्टि में और अभारतीय दृष्टि में या भारत में जो अद्वैतवादी नहीं हैं, उनकी दृष्टि में— नाना (अनेक) की तरह भासता है, नाना होता नहीं है। ये तो सब मानते हैं, लेकिन जो भास है वह सच्चा है कि वह विवर्त है। इस पर शांकर अद्वैतवादियों में बहुत झगड़ा है। जो लोग शांकर अद्वैतवादी हैं वे प्रतीयमान भास को विवर्त मानते हैं। और कुछ लोग हैं जो उसको शुद्ध परिणाम मानते हैं। परिणाम दो प्रकार का होता है— एक विकृत परिणाम और एक अविकृत परिणाम। दूध से दही बनता है। दूध का परिणाम दही है। दही फिर दूध नहीं बन सकता। दही दूध का विकृत परिणाम है— बिगड़ा हुआ परिणाम जो फिर अपने पूर्व रूप में नहीं आता। सोने से जब गहना बना, अंगूठी, चूड़ी, कड़ा, करधनी बनी तो यह अविकृत परिणाम है। सोना नए नाम रूप धारण करके नाना नाम रूपों में अपने को प्रभासित करता है, लेकिन जब उस सोने को गलाया जाए, अलंकार को गलाया जाए तो वह फिर सोना बन जाता है। गीता मूलतः अद्वैतवादी है, हम यह मानते हैं। परमात्मा का पहली बार अवतार केवल राम-कृष्ण थोड़े ही हैं, सारी सृष्टि ही परमात्मा का अवतार है; और फिर बड़ी विचित्र बात कहते हैं— *'अनारोपितः कारं तत्वम्।'* तत्व क्या है? जिस पर आकार का आरोप न हो। आप सच बताइए क्या आपने सोना देखा है? आपने सोने की चूड़ी, छल्ला, हार, बिस्कुट, चूरा देखा है।

आपने केवल सोना देखा है? सुवर्ण जो तत्त्व है उसका किसी ने दर्शन नहीं किया क्योंकि सुवर्ण तत्त्व आकाररहित है। आपने सुवर्ण के अवतार का दर्शन किया है। वह जब चूड़ी, अंगूठी, करधनी, चूरे के रूप में हुआ—उसको आपने देखा है, सोने को नहीं। अगर सोने जैसी वस्तु जो हाथ से छुई जा सकती है, नापी जा सकती है— वह अगर दृष्टिगोचर नहीं है तो जगत् का जो मूल उपादान है, निमित्त है— वह तो है ही निर्गुण निराकार। सोना जैसे सृष्टि में सगुण साकार होता है, वैसे ही वह अवतार क्यों नहीं ले सकता? परमात्मा अपने संकल्प से अपने को रूप में ग्रहण कर सकता है— वेदों में यह कई जगह कहा गया है।

मनो बहुधा विजायते— जिसका जन्म न होते हुए भी जो बहुधा जन्म लेता है। एक बहुत ही अद्‌भुत बात कही है— *पुरुषोऽयं जायमानो भवति*— जब वह जायमान होता है तो हमारे श्रेय के लिए होता है, सुन्दर श्रेय के लिए। तुलसी बाबा की एक पंक्ति याद आ जाती है। उन्होंने कहा है—

व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी सतचेतन घन आनंद रासी
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी। (१/२२/७)

व्यापक है, एक है, ब्रह्म आनंद राशि है, चेतन है, घन आनंद राशि है। अच्छा बताओ, निर्गुण निराकार आत्मा के रूप में वह परब्रह्म हमारे तुम्हारे भीतर है कि नहीं; और हम सब दुखी हैं कि नहीं। सच बोलो कौन सुखी है इस संसार में। राम, कृष्ण आते हैं जब यहाँ, तो उनको भी दुःख भोगना पड़ता है। लीला में भी दुःख भोगना पड़ता है।

प्रभु अछत हृदय अबिकारी— ऐसे अक्षत अविकारी प्रभु के हृदय में रहते हुए भी, *'जीव जग दीन दुखारी'*— संसार के सब जीव दीन हैं, दुखी हैं।

सोऽयं जायमानो भवति— वह परमात्मा जब जायमान होता है, हमारी वृत्ति पर आरूढ़ होता है, तो हमारे ऊपर कृपा करके लीला के कारण उसका अवतार होता है और हमारे परम श्रेय का कारण होता है। वही भीतर रहने वाला निर्गुण निराकार परमात्मा *'नाम-निरूपन नाम जतन तें, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें'*— जैसे रत्न आपके पास है, आप खाना नहीं खा सकते, उसे बेच कर उसका दाम लेकर आप जो चाहें, जब खरीद लें। वैसे ही नाम जप से उस अन्तर्निहित परमात्मा को अपने ऊपर अनुकूल करके, कृपालु करके हम अपना भला करते हैं।

परमात्मा हमारे ऊपर करुणा करके हमारी वृत्ति पर आरूढ़ होता है। *'मुख्यं तस्य कारुण्यं'* —भगवान की सारी लीला में, भगवान के सारे अवतारों में मुख्य हेतु

उनकी करुणा है। जब वह करुणा-वरुणालय हमारे ऊपर कृपा करके अवतरित होता है, तब हमारा परम कल्याण साधित होता है।

'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई'। प्रभु हमको बताएँ कि हमको कैसा आचरण करना है, बताएँ कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? प्रभु अपनी लीला के द्वारा हमको अनुभूत कराएँ कि उनके अनुकूल बन जाएँ, उनके जैसे बन जाएँ, वे ही हो जाएं। अवतार का मुख्य हेतु उद्धार है—गीता में इसका संकेत दिया गया है, मैं इसको अभी बताऊँगा। देखिए—भगवान के अवतार की प्रक्रिया कैसी विचित्र है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

जन्म न होते हुए भी उसका जन्म है। जो कभी नाश नहीं होता वह लीला संवरण करता है, जो समस्त भूतों का ईश्वर है वह इस सृष्टि-प्रकृति में इसका अंश बन कर आता है।

'भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय'— इस बात पर ध्यान दीजिए। सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। यह प्रकृति और परमात्मा की स्वाम् प्रकृति— *'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय'* —परमात्मा की प्रकृति—परमात्मा की प्रकृति क्या है? परमात्मा की अपनी प्रकृति सत्त्व, रज, तम नहीं है, वह त्रिगुणातीत है। सारी सृष्टि त्रिगुणात्मिका प्रकृति की रचना है, परमात्मा तो त्रिगुणातीत है। तीनों गुणों के परे है, इसलिए उसको निर्गुण कहते हैं। परमात्मा की अपनी प्रकृति क्या है? परमात्मा की अपनी प्रकृति सच्चिदानन्द-स्वरूप है। सच्चिदानन्द अद्वय-तत्त्व है परमात्मा। परमात्मा की अपनी प्रकृति है — सत् स्वरूप होना, चित् स्वरूप होना, आनन्द-स्वरूप होना और अद्वय—अद्वैत होना। यह याद रखो कि हमारा तुम्हारा शरीर बना है सत्त्व, रज, तम, से। हम-तुम अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं, परमात्मा का शरीर सत्त्व-रज-तम से नहीं है। तुलसी बाबा ने कहा— *'चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत बिकार जान अधिकारी'*। परमात्मा का स्वरूप चिदानन्द है, सच्चिदानन्द-स्वरूप है। परमात्मा का शरीर अस्थि, मांस, मज्जा, मेद से नहीं बनता। परमात्मा का शरीर शुद्ध सत्व रूप है, शुद्ध चित् स्वरूप है, चिदानन्द है। उसमें कोई विकार नहीं है— जो अधिकारी पुरुष हैं-— वे इसको जानते हैं। भगवान कहते हैं कि मैं *'संभवामि'*—सम्यक् रूप से प्रकट होता हूँ। जैसा हूँ वैसा ही रहता हूँ। वही सच्चिदानन्द स्वरूप। किसी रूप में आऊँ, राम के रूप में, कृष्ण के रूप में, मीन, वराह, कूर्म— किसी भी रूप में, बराबर ज्यों का त्यों रहता हूँ। *'आत्ममायया'* अपनी माया से। माया के बहुत से भेद बताए–अविद्या माया जो जीव को मोहित करती है, विद्या माया—जो जीव को छुड़ाती है। भगवान की नैपुण्य

प्रकाशिका माया है, जो भगवान के लिए शरीर रचती है। अपनी माया से अपनी प्रकृति का अधिष्ठान कर अवतार ग्रहण करता हूँ। अवतार ग्रहण करने की बड़ी जटिल सूक्ष्म प्रक्रिया है। हमारे-आपमें छह बातें हैं—हम जन्म ग्रहण करते हैं, हम बढ़ते हैं, हम विकसित होते हैं, हममें विकार आता है, हम विनष्ट हो जाते हैं। परमात्मा के बिना परिवर्तित हुए, परिवर्तन का भास होता है; और वे उस रूप में हमारे सामने आते हैं। यह तो उनकी अवतार की प्रक्रिया बताई गई। अवतार के हेतु बताए गए।

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। (४/७)

यदा-यदा— जब-जब। काल का बंधन अस्वीकार करते हुए। परमात्मा का अवतार किसी काल विशेष में होगा, किसी युग-विशेष में होगा—ऐसा कोई नियम नहीं है। यदा-यदा—जब-जब। *'धर्मस्य ग्लानिर्भवति'* —धर्म की ग्लानि कैसे होगी भाई? धर्म तो एक तत्त्व है। ग्लानि तो हमारी आपकी होती है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। जब धर्मात्माओं को ग्लानि होगी। जब धर्मात्माओं के मन में यह दुःख, पीड़ा, कष्ट हो। क्यों सब अनाचार दुराचार कर रहे हैं, क्यों सदाचार का लोप होता जा रहा है या जब-जब धर्म की विकृति होती है। बाबा तुलसी ने इसका अनुवाद किया है— *'जब-जब होंहि धरम कै हानी।'* ग्लानि को उन्होंने हानि कर दिया कि जब-जब धर्म की हानि होती है। *'अभ्युत्थानमधर्मस्य'* —अधर्म का अभ्युत्थान होता है। अधर्म का कैसे उत्थान होगा? अधर्म फिर एक वृत्ति है। मतलब अधार्मिक व्यक्तियों का उत्थान होगा— यह लाक्षणिक प्रयोग है। जो धर्म-विरोधी हैं, जो धर्महीन हैं। जब धर्महीन, धर्म-विरोधी मनुष्य समाज में श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं, वरिष्ठ आसन प्राप्त करते हैं, तो अधर्म का उत्थान होता है। 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' —तब मैं अपनी रचना करता हूँ। प्रभु की क्या रचना होगी प्रभु तो स्वयं हैं। तो क्या प्रभु अपनी सृष्टि करते हैं। वे तो अनादि, अनन्त हैं। *'तदात्मानं सृजाम्यहम्'* —यह फिर लाक्षणिक प्रयोग है। अपने लिए शरीर की रचना करता हूँ। *आत्मानं अवतारदेहं* —मैं अपना जो अवतारकालीन शरीर है, उसकी रचना मैं अपनी माया से करता हूँ। प्रभु की सृष्टि कौन करेगा ? *'आत्ममायया'* —वह माया जो उनकी नैपुण्य-प्रकाशिका है। परमात्मा किसी समय भी आएँ, वे सब समय सच्चिदानन्द-स्वरूप ही रहते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। (४/८)

युगे-युगे पर पहले ध्यान दीजिए। *युगे-युगे*—*यदा-यदा* की तरह है। काल का निषेध। जो भक्त हैं वे एक और बात कहते हैं —युगे-अयुगे। संधि हो गई संस्कृत

नियम से। मतलब समय-असमय। अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी समय प्रभु आ सकते हैं। और युगे-अयुगे— ये दोनों काल के बंधन का निषेध है, काल का अतिक्रमण है। प्रभु कालातीत हैं, वे अपनी इच्छा से काल में अवतरित होते हैं, यद्यपि वे उस समय भी अकाल ही रहते हैं। कालातीत— इसीलिए हमलोग उनको *'महाकाल'* कहते हैं। जो काल का भी काल है। तुलसी बाबा ने कहा—

लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को, काल जासु कोदंड।। (६/०)

काल के दो रूप हैं। एक उसका खंड-खंड रूप है, एक उसका अखंड रूप है। एक लौ, एक परमाणु यानी आज की भाषा में कहें तो सेकेंड, मिनट, पहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दी, सहस्राब्दी। बाबा कल्पना करते हैं कि ये जो खंड-खंड हैं काल के — ये तो भगवान् के बाण हैं, प्रचंड बाण हैं; और जो अखंड काल है— वह उनका कोदंड है, धनुष है। उस धनुष के ऊपर यह खंड-खंड काल के बाण चढ़ाकर समय के अनुकूल हमारा लोप करते हैं। एक ने पूछा—क्या खबर है? उसने कहा—खबर तो एक ही है भइया। क्या है?

सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता

यही खबर है। अलग-अलग लोग उसे अलग-अलग ढंग से देखें। सारी दुनिया के लिए यही खबर है। क्या? *'सूर्याग्निना'* —आग किसकी लगी हुई है—सूर्य की। रात्रि दिन-ईंधनेन— उसमें ईंधन क्या है? रात और दिन का। महीने और ऋतु की है कलछुल-उलटते-पलटते रहते हैं; और संसार रूपी महामोह के कड़ाहे में जीवों को यानी हमको-तुमको *'कालः पचति'* —यानी काल पकाता है। यह अभी शिशु है, बालक हुआ और पका, युवा हुआ, प्रौढ़ हुआ, वृद्ध हुआ— श्रीराम नाम सत्य। पका आम हूँ- —कब टपक जाऊँगा—कौन जाने। यही एकमात्र खबर है। अवतरण के प्रभु तीन कारण बताते हैं— साधुओं का परित्राण करने के लिए, अधर्म का विनाश करने के लिए, धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में आता हूँ। बहुत बहस है। साधु कौन हैं? परित्राण कैसे होता है? मोटे तौर पर जो साधारण अर्थ लोग लेते हैं— भक्तों का रक्षण करने के लिए। साधु मतलब सज्जन। ऐसे साधु को जब कष्ट होता है; जो भक्त हैं, समाज-सेवक हैं, सत्य-वक्ता हैं, परोपकारी हैं—उन सज्जनों को जब दुःख-कष्ट होता है, उन पर अत्याचार होता है तो उनकी रक्षा करने के लिए। दुष्टों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में आता हूँ। लोग पूछते हैं कि क्या इन तीनों कामों के लिए भगवान का आना अनिवार्य है? क्या इन तीनों कामों को उनका भेजा

हुआ कोई दूत नहीं कर सकता? वे खुद क्यों आते हैं? इसके कई लोगों ने कई तरह से उदाहरण दिए हैं। एक तो यह कि उनकी करुणा है; और इसलिए दुःखी देखकर द्रवित होते हैं और आ जाते हैं। कुछ गंभीर अर्थ भी बताए गए हैं। साधु का मतलब हुआ वे भक्त जो भगवान की लीला का रसास्वादन करना चाहते हैं; और लीला रसास्वादन में असमर्थ होने के कारण भगवान के विरह-ताप से जो अत्यन्त कष्ट पा रहे हैं। समझिए श्री राधा, कौशल्या, देवकी, यशोदा। समझिए वे तमाम सखा, वे ऋषि जो भगवान का साक्षात् दर्शन करना चाहते हैं। भगवान की लीला संबंधी उनकी तृषा कैसे मिटेगी। स्थूल रूप से साधुओं की रक्षा, अधर्म का विनाश, धर्म की रक्षा —यह तो उनका कोई प्रतिनिधि भी कर सकता है। जब राधा कृष्ण के साथ रास रचाना चाहेंगी, तो कौन प्रतिनिधि आ सकता है? जब कौशल्या अपनी गोदी में *'चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ'* — क्या छिपाव है, मैं तुमको अपना बेटा बनाना चाहती हूँ।

अरे अशेष, शेष की गोदी, तेरा बने बिछौना-सा।
आ मेरे आराध्य! खिला लूँ, मैं भी तुझे खिलौना-सा।।

मेरी लालसा है कि मैं प्रभु को अपनी गोद में अपने शिशु की तरह खिलाऊँ —इस इच्छा की पूर्त्ति कौन प्रतिनिधि कर सकता है? *परित्राणाय साधूनां* —मतलब वे भक्त जो भगवान के साथ लीला-विलास करना चाहते हैं, भगवान का साक्षात्कार करना चाहते हैं, जो भगवान के लीला-सहचर बनना चाहते हैं, जो भगवान के साक्षात् दर्शन करना चाहते हैं, उनके लिए प्रभु आते हैं। किसी भी समय आ सकते हैं। तुलसीदास के लिए, सूरदास के लिए, मीरा के लिए, रामकृष्ण परमहंस के लिए प्रभु आ सकते हैं। काली के रूप में, राम के रूप में, कृष्ण के रूप में। हम तुम्हारा दर्शन करना चाहते हैं। उस दर्शन की आर्ति को हम चरम-परम क्षण में ले जाएँ। उस आर्ति में किसी भी क्षण हमारा शरीर छूट सकता है। उस आर्ति-त्राण के लिए प्रभु आते हैं। केवल साधारण सज्जनों या भक्तों की बात नहीं है,. यह अंतरंग भक्तों की बात है। *'विनाशाय च दुष्कृताम्'* —केवल रावण के लिए नहीं, केवल कंस के लिए नहीं, हमारे-तुम्हारे भीतर जो राक्षस बैठा हुआ है—

पुण्य-पाप का युद्ध है, जीवन जिसका नाम।
जारी है हर हृदय में, देव-दनुज संग्राम।।

जिसको हमने-तुमने जीवन का नाम दिया है, यह जीवन वास्तव में क्या है? यह पुण्य-पाप का सतत युद्ध है। हमारे हृदय में कभी देवता जागता है, कभी राक्षस जागता है। हमारे हृदय का देवता हमारे हृदय के राक्षस से हारता है कि नहीं। यह जो

बार-बार दैत्यों की विजय होती है, बार-बार देवता पराजित होते हैं, वनों में जाते हैं, आश्रय की कल्पना करते हैं, कभी विष्णु, कभी दुर्गा उनकी रक्षा करती हैं। यह हमारे ही भीतर का असुरत्व है, हमारे ही भीतर का देवता बार-बार उनसे पराजित होता है।

विनाशाय च दुष्कृताम्— केवल रावण या कंस के नाश के लिए नहीं—हमारे तुम्हारे भीतर जो आसुरी ग्रंथि है, उसके विनाश के लिए देवता बार-बार जन्म लेते हैं। श्रीमद्भागवत में श्लोक आया है कि *'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य शिक्षणं'* —भगवान का अवतार हमको शिक्षा देने के लिए होता है कि हम कैसा जीवन जिएँ। हमारा जीवन कैसे जिया जाना चाहिए, हमारे भीतर की आसुरी ग्रंथि को उच्छिन्न करने के लिए प्रभु अवतार लेते हैं।

धर्मसंस्थापनार्थाय-- धर्म की सबसे अच्छी परिभाषा मानी जाती है कि *यतोऽभ्युदय निःश्रेयसां सिद्धिः स धर्मः* — जिसके द्वारा इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस, परम कल्याण की प्राप्ति होती है, तो इस अभ्युदय निःश्रेयस धर्म की स्थापना के लिए भी और भागवत धर्म की स्थापना के लिए भी, भक्ति धर्म की स्थापना के लिए भी भगवान अवतार लेते हैं। भगवान के लीला अवतार काल में भगवान के भक्त जिस प्रकार जीवन-यापन करते हैं, भगवान जिस प्रकार उनको शिक्षा देते हैं, उस धर्म की स्थापना के लिए भी, वे अवतार ग्रहण करते हैं। स्थूल हेतु भी हैं और उन स्थूल हेतुओं के भीतर छिपे हुए सूक्ष्म हेतु भी हैं; और उन सूक्ष्म हेतुओं का निर्वाह किसी प्रतिनिधि के द्वारा नहीं हो सकता। प्रतिनिधि आकर यह काम नहीं कर सकता, इसलिए स्वयं परमात्मा को अवतार लेना पड़ता है, धर्म की स्थापना हेतु—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। (४/९)

अब उसका फल बता रहे हैं। पहली बात समझिए कि भगवान् का जन्म और कर्म दिव्य है। दिव्य मतलब अलौकिक है, अप्राकृत है। दिव्य मतलब हमारा-तुम्हारा जन्म, कर्म जैसा होता है, वैसा नहीं है। कर्मफल भोगने के लिए पराधीन होकर प्रभु नहीं आते। अजन्मा का जन्म लेना —यह दिव्यता है। अकर्त्ता का कर्म करना —यह दिव्यता है। भगवान् ने गीता में कहा है —*विद्धि मां अकर्त्तारं* —अकर्त्ता होते हुए भी मैं कर्त्ता हूँ। कर्त्ता होते हुए जो अकर्त्ता है या अकर्त्ता होते हुए भी जो कर्ता है—यही उसकी दिव्यता है। अजन्मा होते हुए भी जन्म लेता है —जिस प्रक्रिया से अभी बताया वैसे और सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता।

सारी सृष्टि का कर्त्ता होते हुए भी मुझे अकर्त्ता समझो। कर्तृत्व तो वासना से

होता है। कर्तृत्व तो कुछ पाने के लिए होता है। भगवान को क्या पाना शेष है? भगवान को सब कुछ प्राप्त है। और फिर कर्म भी भगवान करते हैं ताकि हम-तुम करें। तो उस जन्म और कर्म की दिव्यता को जो तत्त्वतः जानता है कि ये जो जन्म न लेते हुए भी जन्म लेते हुए दिखायी दे रहे हैं, कर्म न करते हुए भी कर्म करते हुए दिखाई दे रहे हैं —यह इनकी लीला है, यह इनका नाटक है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

भगवान् का एक नाम है रंगनाथ। तो वास्तव में रंगनाथ कौन है? यह सारी सृष्टि एक रंगभूमि है। सारी सृष्टि के निर्देशक, रंगनाथ प्रभु हैं। बाबा ने कहा है—

उमा दारु जोसित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं। (४/१०/७)

उसका राम रंगनाथ है। रंगनाथ है, निर्देशक है। हमको तुमको कठपुतली की तरह नचा रहा है। इस सारी सृष्टि, रंगभूमि में हमको-तुमको अभिनय सिखाने के लिए खुद भी आता है। निर्देशक सिखाता है। तो वह लीलानाथ हमको-तुमको कर्म करने की पद्धति सिखाता है। *जन्म कर्म च मेव दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः* —जो यह समझ जाता है कि ये राम, कृष्ण सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते, जन्म लेते हुए भी जन्म नहीं लेते, बदलते दिखते हुए भी बदलते नहीं, इस तत्त्व को जो जान लेता है, शरीर छोड़ने पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*। और जब तक शरीर है? *'त्यक्त्वा देहं'* का मतलब है— यह देह मेरी नहीं है, इस देह से जो अपने को भिन्न मान लेता है, उसने इस देह को छोड़ दिया। *'त्यक्त्वा देहं अभिमानम्'* देह का अभिमान छोड़ देने पर इसी शरीर से ही वह मुझको प्राप्त करेगा। मरने के बाद ही प्राप्त किया तो क्या फायदा? देहाभिमान का त्याग करने पर वह पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता। *'मामेति'* —वह मुझको ही प्राप्त करता है, वह मुझसे अभिन्न हो जाता है। वह परमात्मा बन जाता है। परमात्मा मनुष्य बना, क्योंकि वह चाहता है कि मनुष्य परमात्मा बने। *'मामेति'* —मुझको प्राप्त करता है। कैसे?

वीतरागभयक्रोधा— हमारी जो प्राप्ति की इच्छा है, वह है राग, आसक्ति। उस आसक्ति की इच्छा को जो खंडित करता है, उसको जो नहीं पाने देता उस पर होता है क्रोध और इच्छा न पाने देने वाला अगर शक्तिशाली है तो उससे होता है भय। तीनों बातें हमको मनुष्य बनाती हैं। मनुष्य का लक्षण यही है कि हम रागग्रस्त हैं, भयग्रस्त हैं, हम क्रोधग्रस्त होते हैं। राग-द्वेष-भय से जो ऊपर उठ गया। *'मन्मया'* —मुझसे जो एक हो गया। *'मामुपाश्रिताः'* —जिसने मेरा आश्रय ग्रहण कर लिया। *'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'* —वे तपस्या करने वाले पवित्र मेरे भाव को प्राप्त हो गए। *'मद्भावमागताः'* —अरविन्द ने कहा यही वास्तविक संकेत है अवतार का। जीव

मद्भावमागता हो जाएँ, मेरे भाव में समाहित हो जाएँ, मेरे भाव को प्राप्त कर लें—जीवात्मा ही अपने को परमात्मा के रूप में उपलब्ध कर ले, अवतार का यह हेतु है। अवतार का वास्तविक हेतु यही है कि हम-आप भगवान की लीला को तत्त्वतः समझकर अपने राग, क्रोध, द्वेष, भय से मुक्त हो जाएँ। *'द्वितीयाद् भयोभवति'* भय दूसरे से होता है, अपने से नहीं होता। अपने से भी भय तब होता है जब हम अपने को दूसरे की तरह समझकर कुछ करते हैं। जब हम अपने में ही सबको और सबमें अपने को ही देखेंगे—जैसा कि ईशावास्य-उपनिषद् में कहा गया है कि मोह, शोक, भय इन सबसे मुक्त होकर अद्वैत की भूमिका पर मनुष्य जा सकता है, अगर वह भगवान की इस लीला को तत्त्वतः समझ ले। अब जो जिस भूमिका पर है। सब एक ही भूमिका पर नहीं है। इसलिए भगवान का अवतार केवल ज्ञानियों के लिए नहीं, सबके लिए है। जो उनके समान नहीं हो सकते, वे उनका आश्रय ग्रहण करते हैं। भक्ति स्थापित नहीं हो सकती अगर भगवान का, उपास्य का कोई स्वरूप न हो। जब तक इष्टदेव की स्फुरणा न हो, तब तक भगवद्-धर्म कैसे आएगा? तो, भगवान का लीलावतार भगवान के उपास्य स्वरूप को प्रदान करता है। हम-आप जिनकी उपासना करके, जिनके नाम-रूप का हम इन्द्रियों से साक्षात्कार करते हैं, उपास्य स्वरूप प्राप्त न होने पर हमारा शरीर-धर्म व्यर्थ हो जायेगा। अपना उपास्य स्वरूप प्रदान करने के लिए, भागवतधर्म की स्थापना के लिए, हम पर अशेष करुणा करके हमारी रक्षा करने के लिए, हमारा मनोबल बढ़ाने के लिए, अपनी हीनता ग्रंथि का नाश करने के लिए, हमको सताने वाले दुष्टों का नाश करने के लिए भगवान का अवतार होता है। ●

प्रवचन-११[*]

कर्म-अकर्म विवेचन

भगवान की कृपा का हम और आप समान रूप से अनुभव कर रहे हैं। जिन गहन विषयों का मर्म मैं नहीं जानता, लेकिन गुरु की कृपा से गुरु के द्वारा बताए हुए उनके अर्थों का अनुशीलन करके उनका भी विवेचन इस विश्वास के साथ कर रहा हूँ कि कभी भगवत्कृपा से वे अर्थ मेरे जीवन में संक्रमित होंगे। भगवान ने हमको अपनाया है— इसकी क्या कसौटी है ? विनयपत्रिका में तुलसी बाबा ने कहा है—

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाय विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै।।

कवितावली में तुलसीबाबा ने एक और कसौटी बतायी है—

पाँच की प्रतीति न भरोसो मोंहि आपनोई,
तुम अपनायो हौं तबै ही परि जानिहौं।
गढ़ि-गुढ़ि, छोलि-छालि, कुंद की सी भाई बातें
जैसी मुख कहौं तैसी जीय जब आनिहौं।।

रामजी ने हमको अपनाया है—इसकी कसौटी यह है कि जो हम कह रहे हैं—वह हमारे जीवन में उतर रहा है। *'जब मन फिरि परिहै'* — अभी जो मन बहिर्मुख है, विषयों की ओर जाता है, अभी जो मन अहंकारपूर्वक, कर्तृत्वपूर्वक, कामनापूर्वक बहुत कुछ प्राप्त करना चाहता है, उन सब से विमुख होकर जब भगवान को ही प्राप्त करना चाहे, जब भगवदाश्रित हो जाए, जब भगवान की कृपा का अनुभव करते हुए जिये, जो कहे वही करे तब मानना चाहिएं कि भगवान ने हमें अपना बना लिया है। कहते हैं हम सब कितनी अच्छी-अच्छी बातें, बड़ी-बड़ी बातें। बातों को चिकना बना कर कहते हैं। पत्थर को जैसे गढ़ा जाता है, काठ को जैसे छीला जाता है वैसे ही हमलोग बातोंको चिकना बनाते हैं— *गढ़ि-गुढ़ि, छोलि-छालि, कुंद की सी भाई बातें, जैसी मुख कहौं, तैसी जीय जब आनिहौं।*

---

* चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १० से २३

गढ़-गुढ़ कर, छील-छालकर, खराद पर चढ़ाकर, चिकना बनाकर जैसी बड़ी-बड़ी बातें—ज्ञान की, विद्वत्ता की, पांडित्य की, शास्त्र की— कहता हूँ वैसी ही बातें जब मेरे मन में आ जायेंगी *'जैसी मुख कहौं, तैसी जीय जब आनिहौं'* — तब मानूँगा कि तुमने मुझे अपनाया है। भगवान जब अपनाते हैं तो भक्त को अपना स्वरूप ही दे देते हैं। पिछले प्रवचन में यह बताया गया कि भगवान अवतार लेते हैं। भगवान के अवतार लेने के कुछ कारण भी बताए गए। उसी क्रम में उन्होंने यह बताया कि जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जान लेता है, शरीर त्यागने के बाद उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह मुझे प्राप्त कर लेता है, मुझमें ही समा जाता है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। (४/९)

जो मेरे जन्म और कर्म के दिव्य रहस्य को, मर्म को समझ लेता है अर्थात् यह जान जाता है कि भगवान अवतार लेते हैं मनुष्य को भगवान बनाने के लिए, शरीर त्यागने के बाद वह मुझसे अभिन्न हो जाता है। भगवान अवतार लेते हैं कि हम भगवान् के उपदेशों को अपने जीवन में, अपने आचरण में उतार सकें, ताकि मृत्यु के बाद हम भगवद्-स्वरूप हो जाएँ। भगवान के अवतार के बहुत से कारण हैं। लेकिन उनका जो सबसे सूक्ष्म, मर्मपूर्ण, रहस्यपूर्ण कारण है वह यही है।

भगवान के जन्म को तत्त्वतः जान लेने का मतलब है कि जो निर्गुण निराकार सत्ता है, वह कैसे सगुण-साकार होती है, क्यों होती है इस रहस्य को जान लेना। यानी अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति। भगवान के जन्म के दिव्य रहस्य को जिसने जान लिया उसने अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त कर लिया। निर्गुण निराकार परमात्मा जो सर्वव्यापी है, जो सब कुछ बना है, वह कैसे सगुण साकार रूप में अवतरित होता है इसको जान लेना अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त करना है। भगवान के दिव्य कर्म के रहस्य को जान लेने का मतलब कर्मयोग को उपलब्ध कर लेना। भगवान ने अपने लिए कहा है कि मैं सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता हूँ। अगर मैं ही कुछ न करूँ तो मेरा अनुकरण करता हुआ संसार कुछ नहीं करेगा तो संसार नष्ट हो जाएगा। इसलिए मैं अहर्निश कर्म कर रहा हूँ; और अहर्निश कर्म करते हुए भी कुछ नहीं कर रहा हूँ। भगवान के जन्म के रहस्य को समझना अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त करना है। भगवान के दिव्य कर्म के रहस्य को समझ लेना स्वयं कर्मयोग के मर्म को समझ लेना है और इन दोनों का योगफल क्या होगा? अगर कोई अध्यात्म ज्ञान को समझ लेगा और अगर कोई निष्काम कर्मयोग के मर्म को अपने जीवन में उतार लेगा तो वह क्या होगा? वह भगवान हो जाएगा।

दसवें श्लोक में ज्ञान की दृष्टि से, ग्यारहवें श्लोक में भक्ति की दृष्टि से; और बारहवें श्लोक में आंशिक रूप से कर्म की दृष्टि से भगवान यह बता रहे हैं कि जो मेरे जन्म-कर्म के रहस्य को जानता है— वह क्या करता है? बारहवें में आंशिक रूप से बताया क्योंकि विस्तार से कर्म के रहस्य का विवेचन ही कर्म-अकर्म का विवेचन है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।। (४/१०)

इस श्लोक में भगवान् बता रहे हैं कि जिसने मेरे जन्म के मर्म को समझा, उसने अध्यात्म ज्ञान को समझा। उसने इस बात को समझा कि भगवत् सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवत् सत्ता के अतिरिक्त अगर और कुछ नहीं है तो एक ही परम सत्ता सब कुछ बनी हुई है, जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

अगर एक ही सत्ता सारी सृष्टि में अपने को प्रतिफलित कर रही है, प्रकाशित कर रही है, तो इसके मर्म को जान लेने का अर्थ हुआ कि यह समझ लिया कि उसी सत्ता के अलावा किसी दूसरे की सत्ता ही नहीं है। आसक्ति किसके प्रति होती है? दूसरे के प्रति। भय किससे होता है? दूसरे से होता है। क्रोध किस पर होता है? दूसरे पर होता है। *'वीतरागभयक्रोधा'*— ऐसा जान लेने वाला आसक्ति से, भय से, क्रोध से निर्मुक्त हो जाता है। राग करना और विराग करना— इन दोनों को जान कर कर्तृत्वपूर्वक किया जाता है। किसी के प्रति आसक्ति से हमने प्रेम किया —इसमें कर्तृत्व है। किसी के प्रति हम विरक्त हुए, जान कर हुए— इसमें भी कर्तृत्व है। तो विराग और राग दोनों कर्तृत्व-युक्त हैं। वीतराग का मतलब? जो राग और विराग दोनों से ऊपर उठ गया—जिसके न राग में कर्तृत्व है न जिसके विराग में कर्तृत्व है—वह वीतराग है। वह कई बार राग करता हुआ सा दिखाई पड़ेगा, कई बार विराग करता हुआ सा दिखाई पड़ेगा, लेकिन वह न राग कर रहा है, न विराग कर रहा है। वह उनसे परे है। वह वीतराग है। वह भय नहीं करता। किससे भय करेगा? वह क्रोध नहीं करता। किस पर क्रोध करेगा? *'वीतरागभयक्रोधा मन्मया'*— ऐसे तमाम लोग – बहुवचन है- जो भी इस रहस्य को समझ लें, वे राग, भय और क्रोध से ऊपर उठ जाने पर क्या अपनी सीमित शारीरिक सत्ता में रहेंगे? वे क्या अपने को साढ़े तीन हाथ का शरीर मानते रहेंगे? उनका अस्तित्व क्या नाम-रूपमय रहेगा? *मन्मया*— वे तो मुझमें रहेंगे। मुझसे तब वे एकरूप हो जायेंगे। *'मामुपाश्रिताः'*— वे तो मेरे ऊपर आश्रित हो जाएँगे। वे

किसी पार्टी के ऊपर आश्रित नहीं, वे किसी बैंक-बैलेंस पर आश्रित नहीं, वे किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। वे तो भगवान से ओत-प्रोत हो गये। वे उन्हीं पर आश्रित हैं। *'बहवो ज्ञानतपसा पूता'*— ऐसे बहुत से लोग, एक-दो नहीं, असंख्य लोग हो सकते हैं। *बहवो* क्यों कहा? *बहवो* कहा— हमको-आपको सहारा देने के लिए। यह नहीं है कि यह एकदम विरल बात है। कोई एक ही ऐसा अनुभव कर चुका है। नहीं-नहीं, बहुत से लोग आगे कर चुके हैं, अब भी कर रहे हैं। अर्जुन तुम भी कर सकते हो। हमलोग जो अपने को दुर्बल मानते हैं, हमलोग जो अपने को असमर्थ मानते हैं, बहवो कहकर प्रभु ने हमलोगों को सहारा दिया है कि जो काम बहुत से लोग कर चुके हैं, उसे क्या तुम नहीं कर सकते ? तुम भी कर सकते हो। ज्ञान से पवित्र हो जाने पर ज्ञान ही तपस्या है। *'ज्ञानमयं तपः'*— भगवान का ज्ञान तप है। ज्ञान के बाद किसी दूसरे तप का प्रयोजन ही नहीं होता। ज्ञान हो गया तो फिर गंगा-स्नान करने का नियम लेने की आवश्यकता नहीं। तीर्थ जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान अपने आप में पूर्ण तप है। *'तस्य ज्ञानमयं तपः'* —भगवान ज्ञानस्वरूप ही हैं। यही उनका तप है तो उसी ज्ञान तप से पवित्र होकर बहुत से लोग मेरे भाव को, मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। *'मद्भावमागताः'* —भगवान अवतार क्यों लेते हैं? केवल स्थूल रूप से धर्म की स्थापना के लिए, केवल स्थूल रूप में अधर्म का उच्छेद करने के लिए, केवल संतों की रक्षा करने के लिए? केवल इतने के लिए नहीं। उसका फल क्या है? उसकी फलश्रुति क्या है? भगवान के अवतार के मर्म को जिसने समझ लिया, वह भगवत्स्वरूप हो जाता है। मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को समझकर प्राणी भगवन्मय हो जाए, भगवत्स्वरूप हो जाए — यह भगवान के अतवार का अन्तर्निहित कारण है। यह उसका सूक्ष्म हेतु है। यह तो ज्ञान के माध्यम से जाना जाता है। अगर ज्ञान प्राप्त न हो, तो भी कोई बात नहीं। गीता के अत्यन्त उदार श्लोकों में अगला श्लोक है और यह श्लोक भारतीय संस्कृति की विशिष्टता को चिह्नित करता है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। (४/११)

अच्छा ! क्या भगवान के पास जाने का केवल एक रास्ता ज्ञान ही है? भगवान के दिव्य जन्म-कर्म के रहस्य को समझ लेने वाला ही भगवन्मय होगा? बोले— नहीं। सब लोग ऐसा नहीं कर सकते। तो कितने उदार हो गए प्रभु । उन्होंने कहा—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

बहुत से लोग समझते हैं कि हिंदू बहुदेवोपासक हैं। उन बुद्धिमान लोगों को यह नहीं मालूम कि भगवान को अद्वैत के रूप में देखने वाले हिंदू मानते हैं कि वे असंख्य नाम-रूपों में अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। तत्त्वतः एक, स्वरूपतः एक फिर भी अद्वैत। एक भी नहीं। एक भी संख्या में बँधता है। गुरुजी कहते थे कि एक का आधा होता है, एक का चौथाई भी होता है, एक-एक जोड़ कर दो हो जाता है। इसलिए एक भी नहीं, अद्वैत। अद्वैत का न आधा होता है, न अद्वैत का चौथाई होता है। अद्वैत दो भी नहीं होता। अद्वैत का आधा भी अद्वैत। अद्वैत का चौथाई भी अद्वैत। अद्वैत जोड़ अद्वैत भी अद्वैत। इसलिए एक नहीं अद्वैत। जो अद्वैत तत्त्व है वह यह जानता है कि हमारी-आपकी रुचियाँ भिन्न हैं। हमारी-आपकी प्रवृत्तियाँ भिन्न हैं। असंख्य पूर्व जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप हमारी आपकी भूमिकाएँ अलग-अलग हैं। वह यह जानता है। हम सब जो यहाँ बैठे हुए हैं क्या सब एक ही भूमिका पर हैं? हम सब जो यहाँ बैठे हुए हैं क्या सब की रुचि एक ही है? प्रवृत्ति एक ही है? नहीं है। तो अलग-अलग भूमिकाओं वाले के लिए भगवान कुछ व्यवस्था नहीं करेंगे? खाली ज्ञानी की भूमिका वाले को कहेंगे कि तुम मेरे आत्म-स्वरूप हो जाओ और बाकी भूमिका वाले? वे कहाँ जाएँ? भगवान कहते हैं चिन्ता मत करो, मैं जानता हूँ कि लोग अलग-अलग भूमिकाओं पर रहते हुए, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार मुझको भजते हैं। अद्‌भुत बात है। सारी सृष्टि में आपको कहीं यह बात नहीं मिलेगी जो बात इस पंक्ति में, इस श्लोक में कही गयी है। भगवान कह रहे हैं कि जो, जिस तरह से मुझको भजता है, मैं उसी तरह से उसको भजता हूँ। समझिये इस बातको भगवान भक्तों को भजते हैं। सारी दुनिया के और दूसरे धर्मों में लोग भगवान को भजते हैं। गीता भगवती कह रही है कि तुम जिस रूप में उनकी शरण में जाओगे (प्रपद्यन्ते-प्रपत्तिः शरणागतिः) जिस रूप में उन्हें स्वीकार कर तुम उनकी शरण में जाओगे, उसी रूप में वे तुमको भजेंगे। भजेंगे माने— उसी रूप में तुमको दर्शन देंगे। उसी रूप में तुमको स्वीकार करेंगे। क्या भगवान से एक ही संबंध हो सकता है? क्या भगवान इतने दरिद्र हैं कि उनका एक ही रूप है? भगवान से कोई समृद्ध है? भगवान से तो कोई समृद्ध नहीं है। हम आप जब रोज प्रार्थना करते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

तो उनको माता-पिता, बन्धु, सखा, विद्या, धन, अपना सर्वस्व सभी तो कहते हैं। जो भी संबंध चाहो, उनसे जोड़ लो।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः, स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।

मेरे तो सर्वस्व हैं रामचन्द्र जी। माँ भी हैं, पिता भी हैं, बन्धु भी हैं, भाई भी हैं, सखा भी हैं, पुत्र भी हैं। कौन सा संबंध उनसे तुम जोड़ना चाहते हो, इसका निश्चय करो। मैंने अपनी इन्हीं दोनों आँखों से सुदर्शन सिंह 'चक्रजी' को पूजा करते देखा है। चक्रजी पूजा कर रहे थे। मैं वहाँ बैठा हुआ था। पूजा समाप्त हुई, उन्होंने भगवान को आशीर्वाद दिया। चक्र जी मेरे ऊपर बहुत कृपालु थे। मैं उनका मुँह लगा हुआ था। मैंने कहा— 'चक्रजी! आपने भगवान को आशीर्वाद दिया ?' वे बोले— 'हाँ ! वह मेरा छोटा भाई है।' 'अरे! कन्हैया आपका छोटा भाई है?' वे बोले– 'हाँ! मेरा एक छोटा भाई था। भरी जवानी में उसका शरीर शान्त हो गया। मैं बहुत दुःखी हुआ तो कन्हैया मुझसे बोला—क्या वही तेरा छोटा भाई था? मैं तेरा छोटा भाई नहीं हूँ?' मैंने कहा– 'जा कन्हैया! आज से तू मेरा छोटा भाई है। तो छोटे भाई को तो आशीर्वाद ही दिया जा सकता है। अतः मैं पूजा करने के बाद उसे आशीर्वाद देता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो भी तुम्हारा अभाव है, उस अभाव की कोटि में भगवान को ले आओ। देखो! भक्ति का लक्षण सीखो। किस चीज का अभाव है तुम्हें? ठीक बता सकते हो, शायद नहीं। अगर एक करोड़ रुपया लेकर बाजार जाओगे तो बहुत सी आलतू-फालतू चीजें खरीदोगे। अगर तुमको कहा जाए कि एक ही चीज खरीदो तो तुम सोचोगे कि किसके बिना काम चल सकता है? जिसके बिना काम चल सकता है उनको तुम बाद दे दोगे और फिर कोई ऐसी चीज होगी जिसके बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता। जिसके बिना काम नहीं चल सकता, वही तुम्हारा वास्तविक अभाव है। उस अभाव की परिधि में भगवान को प्रतिष्ठित कर दो। तब भगवान विभाव बन जाते हैं। विभाव साहित्यिक शब्द है। भाव के आलंबन को विभाव कहते हैं। इसका प्रसिद्ध सूत्र है न, *विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः।*

विभाव माने भाव का आलंबन। तो भगवान तुम्हारे उस अभाव को पूर्ण करने के लिए विभाव बन जाते हैं; और तब तुम्हें अपने भाव का ज्ञान होगा। एक बात समझो! भक्ति स्वभाव के अनुसार होती है। भक्ति पंचायती नहीं है। चलो भाइयो! हमलोग प्रस्ताव पास करें आज से भक्ति करेंगे। ऐसे भक्ति नहीं होती। भक्ति यानी भगवान से मेरा व्यक्तिगत संबंध। भगवान से मेरा संबंध मेरे अपने भाव के अनुरूप है। मेरा वास्तविक भाव क्या है इसका निर्णय मेरे अभाव के निर्णय से होगा। अगर लगता

है कि मैं अनाथ जैसा हूँ तो, मुझको पिता की आवश्यकता है, माता की आवश्यकता है। अगर मैं अज्ञानी हूँ तो मुझको गुरु की आवश्यकता है। प्रभु मेरे लिए माता-पिता, गुरु-सखा, पुत्र-पुत्री, प्रियतम बनेंगे। मेरा अपना जो अभाव है उस अभाव की पूर्त्ति के लिए वे आलंबन के रूप में आएँगे। मेरा अपना भाव क्या है? इस बात का निर्णय मेरे अभाव के निर्णय द्वारा होता है। अपने उस भाव के अनुसार अगर तुम भगवान् को भजोगे तो भगवान तुम्हें उसी रूप में भजेंगे। तुम भगवान की शरण में अपने भाव के अनुरूप जाओ। देखा-देखी या पाखंड के रूप में मत जाओ। सब लोग कहते हैं कि मधुर रस की भक्ति अच्छी है तो हम भी मधुर रस की भक्ति करेंगे। नहीं ऐसा हो नहीं सकता। अगर भगवान को हम माता-पिता, या स्वामी के रूप में भजेंगे तो हम दास्य भाव की भक्ति करेंगे। अपने भाव के अनुसार जो संबंध तुम भगवान से जोड़ोगे उसी संबंध के अनुसार वे तुमको दर्शन देंगे। उसी भाव को वे दृढ़ करेंगे, पुष्ट करेंगे। सारे भाव उनके हैं। कौन-सा भाव है जो उनका नहीं है? तुलसी बाबा ने लिखा है कि—

बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।

राक्षस बेचारे किसी सद्भाव से प्रभु के पास नहीं आए, वैरी-भाव से आए। वैरी-भाव को भी भगवान स्वीकार कर लेंगे। भगवान ने अद्भुत बात कही है।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

किसी भी रास्ते पर चलो तो। खाली घर में बैठे-बैठे बक-बक, बक-बक मत करो। अरे भक्ति के मार्ग पर चलो। जिस भी रास्ते पर तुम चलोगे वह भगवान का रास्ता है। कोई भी रास्ता ऐसा नहीं है जो पूरी निष्ठा के साथ चलने पर भगवान का न हो जाए। हमारी संस्कृति, एकमात्र संस्कृति जो *'अपिवादी'* संस्कृति है, जो *'एववादी'* संस्कृति नहीं है वह यही मानती है। एववादी संस्कृति अर्थात् ही-वादी संस्कृति। यही रास्ता है एकमात्र। जो मेरे आचार्यजी ने बता दिया, जो मेरी पुस्तक में लिखा है, वही एकमात्र रास्ता है। उस रास्ते को जो नहीं मानेगा, उसका गला काट दूँगा। उसके ग्रंथ जला दूँगा, उसके मन्दिर तोड़ दूँगा। *'शान्तं पापम्'*— यह एववादी संस्कृति भारतीय संस्कृति नहीं है। भारतीय संस्कृति अपि-वादी, भी-वादी संस्कृति है। यह भी भगवान का रास्ता है, वह भी भगवान का रास्ता है। मेरे लिए मेरा रास्ता, तुम्हारे लिए तुम्हारा रास्ता। यह जो उदारता हमारे तुम्हारे जीवन में हमारे पूर्वजों की कृपा से आयी हुई है, इस उदारता की रक्षा होनी चाहिए। सारी दुनिया में कोई ऐसा दूसरा धर्म नहीं है। न ईसाई, न यहूदी, न इस्लाम, न मार्क्सवाद। (अगर उसको धर्म के रूप में देखा जाए)। सब एव वादी हैं। यही एकमात्र रास्ता है। और इसलिए ये चारों जिनका मैंने नाम लिया

—जो उनकी बात नहीं मानते, उनको नष्ट-भ्रष्ट कर देना पुण्य समझते हैं। हमलोग ऐसा नहीं मानते। कभी नहीं मानेंगे। क्योंकि भगवान ने गीता में कहा है—जो जिस रास्ते से जाना चाहे, जाने दो। जिस रास्ते से भी वह चलेगा, हो सकता है उसका रास्ता ऊबड़-खाबड़ हो, हो सकता है लम्बा हो, हो सकता है टेढ़ा-मेढ़ा हो लेकिन बेचारा चले कहाँ से? हम-तुम कहाँ से चलेंगे? जहाँ खड़े हैं, वहीं से न चलेंगे? हम खड़े हैं कलकत्ते में तो हम काशी से चल सकते हैं? सच्ची बताओ? अगर हम कलकत्ते में खड़े हैं तो हम कलकत्ते से ही चलने के लिए बाध्य हैं। जो काशी में खड़ा है, वह काशी से चलेगा। जो मथुरा में खड़ा है, वह मथुरा से चलेगा, जो मक्का-शरीफ में खड़ा है, वह मक्का शरीफ से चलेगा, जो रोम में खड़ा है वह रोम से चलेगा। इसमें क्या आता-जाता है। यह गीता की वाणी है। गीता के परम उदार श्लोकों में यह श्लोक है। एक तरफ वैयक्तिक भाव के अनुरूप भगवान से अपने संबंध का निर्धारण, मेरा अभाव भगवान विभाव बन कर पूर्ण करेंगे। उसी रूप में मैं उनसे जुड़ूँ। दूसरी तरफ सब रास्तों के प्रति उदारता, सहिष्णुता यह मानना कि सब रास्तों पर चलते हुए व्यक्ति भगवान की ओर जा रहे हैं। यही बात *'महिम्न-स्तोत्र'* में कही गयी है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

नदी उत्तरवाहिनी हो, दक्षिणवाहिनी हो, पूर्ववाहिनी हो या पश्चिमवाहिनी हो, जाती कहाँ है? समुद्र में जाती है। हमलोगों ने समुद्रों के नाम अलग-अलग रख दिए हैं। समुद्र तो एक ही है। समुद्र क्या कटा-छँटा है? हमने उसका नाम रख दिया हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर, अटलांटिक महासागर। सब एक सागर हैं। सब जुड़े हुए हैं। सब मिलकर एक ही हैं। जिस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम से बहने वाली नदी समुद्र में जाती है, भगवान कहते हैं कि अपनी भूमिका पर खड़ा होकर व्यक्ति जब अपने भाव के अनुरूप जब मेरी ओर चलता है तब मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

श्रद्धा का कभी उपहास नहीं करना चाहिए। जो श्रद्धा का उपहास करते हैं, वे अनर्थ करते हैं। महिलाएँ अपने हाथ से होई बनाती हैं, उनकी पूजा करती हैं, उनसे फल की याचना करती हैं। बहुत से लोग हँसी उड़ाते हैं। क्यों हँसी उड़ाते हो भाई ? भाव-साधना में प्रतीक गौण हैं, भाव ही प्रमुख है। जो भी तुम्हारा प्रतीक है, वह प्रतीक ही है। जो भी नाम, जो भी रूप लो, वह प्रतीक ही है। उस प्रतीक के पीछे जो परम सत्ता है, उसी से जुड़ना चाह रहे हो तुम। भाव-साधना में प्रतीक गौण है, भाव मुख्य है,

श्रद्धा मुख्य है। श्रद्धा के साथ अगर कोई चल रहा है तो उसको गुरु मिलेगा जो उसे ऊँची भूमिका पर ले जाएगा। उससे ऊँची, उससे ऊँची अनेक भूमिकाएँ हैं। लेकिन जो जिस भूमिका पर है, उसी भूमिका से वह चल सकता है। वह किसी दूसरी भूमिका से नहीं चल सकता। इसलिए जो भी रास्ता है, वह मुझ तक आता है। यह भक्ति का भाव है। पहले मैंने ज्ञान बताया, अब भक्ति भाव बताया। बहुत से लोग कर्म मार्गी भी हैं। भगवान ने उनके लिए कर्म का विस्तृत निरूपण किया है—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।। (४/१२)

सारे मनुष्य निष्काम कर्मी तो हैं नहीं। ज्यादातर मनुष्य सकाम-भाव से उपासना करते हैं। कामना से कितने लोग बचे हैं, मुझे मालूम नहीं। यह तो है कि सकाम भाव से उपासना करने वालों की संख्या बहुत अधिक है। उनके बारे में कुछ नहीं कहना चाहिए? उनके बारे में भी गीता में बहुत कुछ कहा गया है। सकाम से कैसे ऊँची भूमिका पर जाया जाए— इसके बाद के श्लोकों में यह भी बताया गया है। दुनिया के हमारे जैसे लोग क्या चाहते हैं? जल्दी सिद्धि मिल जाए। सिद्धि के रूप में क्या चाहते हैं? सिद्धि के रूप में चाहते हैं खूब रुपया-पैसा मिल जाए, अच्छी नौकरी मिल जाए, अच्छा पति मिल जाए, अच्छी पत्नी मिल जाए, बेटा हो जाए। अब वे सिद्धियों की ये जो लौकिक कामनाएँ हैं, इन लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए सब भगवान के पास जाते हैं। धन चाहिए? लक्ष्मी की उपासना करो। विद्या चाहिए? सरस्वती की उपासना करो। शक्ति चाहिए? दुर्गा जी की उपासना करो। कार्य निर्विघ्नतापूर्वक हो जाए? गणेश जी का उपासना करो। ये जो देवी-देवताओं की उपासनाएँ हैं, ये सकाम भाव से तत्काल यानी कि यथाशीघ्र कर्मजा सिद्धि प्राप्त करने की भावना से की जाती हैं। भगवान कहते हैं— चलो ऐसा भी कर लो। अगर तुम निष्काम नहीं हो सकते तो ऐसा ही सही—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।

इह माने इस लोक में। यह लोक कर्मलोक है। इस बात को ध्यान में रखो। और सारे लोक भोग-लोक हैं। पृथ्वी ही कर्म लोक है। सारी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। मनुष्य-योनि ही कर्म-योनि है। तो हम कर्म-योनि में पैदा हुए, कर्म-लोक में पैदा हुए अब कुछ लोग अगर सकाम भाव से तत्काल सिद्धि प्राप्त करने के लिए देवी-देवताओं की उपासना करते हैं तो क्या बुरा करते हैं? भूत-प्रेत राक्षस की उपासना मत करो, इतना ही काफी है। अब देवी-देवता चाहते क्या हैं? वे चाहते हैं मेरा उपासक मुक्त न हो जाए? देवी-देवताओं का स्वार्थ यह है कि अगर यह मुक्त हो जाएगा, तो मेरी पूजा कौन

करेगा? इसलिए ये लोग मुक्त न हों, अतः इनकी कामना की पूर्ति कर दो। उनको कर्मजा सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देवी-देवता उनको अनुगृहीत कर देते हैं। यह जो कर्मजा सिद्धि है—यह परम सिद्धि नहीं है। यह कर्म का आंशिक और कहा जाए तो कर्म का अपव्यवहार है। यह कर्म का समग्र सद्व्यवहार नहीं है। कर्म का समग्र सद्-व्यवहार कैसा होना चाहिए? भगवान ने कहा— किसका उदाहरण दूँ भाई? फिर वे अपना उदाहरण देते हैं। भगवान ने पहले एक बार अपना उदाहरण दिया था, बताया था कि मैं कर्म करता हूँ? इसलिए कर्म करता हूँ कि दुनिया का कोई भी आदमी निकम्मा न रह जाए। गीता के मर्म को समझो! गीता कैसे हमको ऊपर उठाती है? निकम्मा रहना बुरा, निकम्मा रहने से कर्म करना अच्छा। इसीलिए विवेकानन्द ने कहा— फुटबाल खेलना अच्छा। कर्म तो करो। कर्म करने लगो तो निषिद्ध कर्म करना बुरा, शास्त्र-विहित कर्म करना अच्छा। शास्त्र-विहित कर्म करो तो केवल अपने स्वार्थ के लिए कर्म करना बुरा, यज्ञार्थ कर्म, लोकहित के लिए कर्म करना अच्छा। अहंकारपूर्वक लोकहित के लिए कर्म करने से अहंता का त्याग कर कर्म करना अच्छा है। कैसे कर्म को अकर्म बना दिया जाए? उस भूमिका पर जाने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है, प्रभु ने बहुत विस्तार से इसकी चर्चा की है। उनकी बात हमारी समझ में आये, इसके लिए उन्होंने अपना उदाहरण दिया है। उदाहरण क्यों दिया जाता है? उदाहरण जो दिया जाता है, वह दृष्टान्त मुख्य नहीं है। उसके पीछे जो द्राष्टान्त है, वह मुख्य है। उदाहरण दिया गया जिससे कि सिद्धांत समझ में आ जाए। लेकिन उदाहरण भी संकेत है, वह अपने आप में पूरा नहीं है। जैसे चंद्रमा उस पेड़ की शाखा के दो अंगुल ऊपर है। तो पेड़ को देखो तो चंद्रमा दो अंगुल ऊपर दिखता है? लेकिन चंद्रमा क्या दो अंगुल ऊपर है? भगवान ने कहा— किसका उदाहरण दूँ? ऐसा उदाहरण देना चाहिए जो सबकी समझ में आए। ऐसा उदाहरण देना चाहिए, जिस पर श्रद्धा हो। उन्होंने अपना ही उदाहरण दिया। कर्म कैसे किया जाए? इसकी शिक्षा देने के लिए प्रभु फिर अपना उदाहरण देते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। (४/१३)

मैंने चातुर्वर्ण्य— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की। किस आधार पर की? यह बहुत ही दुर्भाग्य की बात है कि आज वर्ण व्यवस्था केवल जन्मना है अर्थात् जन्म के आधार पर है। भगवान ने इसमें जन्मना नहीं कहा। *'गुणकर्मविभागशः'* यह सत्त्व, रज, तम-गुणों के आधार पर है अर्थात् किसमें कितनी सात्त्विकता है,

कितनी राजसिकता है, कितनी तामसिकता है? इस आधार पर यह विभाग है। अगर सत्त्व गुण प्रधान है, रज गुण गौण सा है, तमो गुण नगण्य सा है तो ब्राह्मणत्व है। अगर सत्त्व गुण गौण है, रजो गुण प्रधान है, तमोगुण कम है तो क्षत्रियत्व है। अगर रजो गुण प्रधान है तमोगुण गौण है सत्त्व गुण नगण्य सा है तो वैश्यत्व है और अगर तमोगुण प्रधान है, रजोगुण गौण है और सत्त्व गुण नगण्य सा है तो शूद्रत्व है। किसी भी कुल में कोई जन्म लेकर शूद्र हो सकता है। *'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारादद्विज उच्यते'*— जिसने सत्त्व गुण अर्जित किया है (गुणकर्मविभागशः) और उसमें यदि शमादि—शान्ति पूर्ण कर्म हैं, अध्ययन - अध्यापन है, यजन - याजन है तो ब्राह्मणत्व है। ऐश्वर्य है, शौर्य है, तो क्षत्रियत्व है। व्यापार है, कृषि है तो वैश्यत्व है। और सेवापरायणता है तो शूद्रत्व है। तो गुण और कर्म के आधार पर मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की। यह तो उदाहरण है। लेकिन इस दृष्टान्त के पीछे द्राष्टान्त क्या है?

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।

मैंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की। मैंने इस जगत् की, ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हुए भी तुम मुझको अकर्ता समझो, अव्यय समझो। हमारे पास सौ रुपया है। हमने फूल माला के लिए फूल का पौधा लगाया-दस रुपया खर्च किया, माली को दिया पन्द्रह रुपया। इस तरह से सौ रुपये से बीस-पच्चीस रुपया व्यय हो गया। हम लोग जो भी काम करते हैं, उससे हमारी शक्ति व्यय हो जाती है, कम हो जाती है। उसका अभाव होता है। भगवान दो बात कहते हैं। मैं अकर्ता भी हूँ और अव्यय भी हूँ। कोई टोटा नहीं पड़ता मुझमें, मैं सारी सृष्टि की रचना करने के बावजूद, सारी सृष्टि की संरक्षा और संहार करने के बावजूद अकर्ता हूँ। कर्ता होते हुए भी अकर्ता हूँ। और यह सारा रचने के बाद भी मेरा कोई भण्डार घटा नहीं, कुछ व्यय नहीं हुआ। अकर्ता भी हूँ, अव्यय भी हूँ। कैसे हो प्रभु ऐसे जी? यह कैसा चमत्कार है? यही समझाने के लिए बात कह रहे हैं। देखिए। अकर्ता, अव्यय होते हुए भी कैसे कर्म किया जाता है, यह अगर हम समझ जाएँगे तो हमारे-आपके कर्म भी अकर्म हो जाएँगे। इसके बाद का जो श्लोक है उसमें भगवान के कर्म का रहस्य संकेतित है। भगवान ने कहा— *'जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।'* अपने जन्म का रहस्य वे बता चुके हैं, अब कर्म का बता रहे हैं। कैसे कर्म करते हो तुम प्रभु?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। (४/१४)

अद्‌भुत श्लोक है। कैसे कर्म करते हैं प्रभु? वे कहते हैं, *'न मां कर्माणि*

लिम्पन्ति' —कर्म मुझको लिप्त नहीं होते। ईशावास्योपनिषद् में भी डंके की चोट पर कहा है— *'न कर्म लिप्यते नरे।'*

मनुष्य से कर्म लिप्त नहीं होता। फिर क्या लिप्त होता है? भगवान् सारी सृष्टि रचते हैं, फिर भी अकर्ता कैसे हैं? क्योंकि कर्म लिप्त नहीं होता। प्रभु को क्यों कर्म लिप्त नहीं होते? इसमें दो बातें हैं। एक तो यह कि वे अपने को अकर्ता मानते हैं। यह सूक्ष्म बात है—यह कही नहीं गई है।

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।

भगवान सब कुछ करते हुए कर्तृत्व-बुद्धि से ऊपर उठे हुए हैं। कर्म क्यों लिप्त होते हैं? दो बातें हैं। वैसे गुरुजी ने चार बातें कही हैं लेकिन दो बहुत बड़ी बातें हैं। एक कि हम कर्तृत्व बुद्धि से कर्म करते हैं: मैंने किया, मैं कर्ता हूँ। जिसने किया, वही भोगेगा। ऐसा कभी नहीं होगा कि ऊधो करेगा और माधो भोगेगा—ऐसा हो ही नहीं सकता। तो कर्तृत्व-बुद्धि से करने से कर्म लिप्त होता है—एक। और फल की लालसा से कर्म करने से कर्म लिप्त होता है—दो। दो बड़े कारण हैं जिसको कर्तृत्वासक्ति और फलासक्ति कहते हैं। मैं कर्ता हूँ—यह अहंकार और मैं जिस कामना से प्रेरित होकर फल पाने के लिए कर्म कर रहा हूँ—यह फलेच्छा—ये दो चीजें कर्म से हमको बाँधती हैं। इनके कारण ही कर्म हमको बाँध लेता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभा-शुभम्। शुभ या अशुभ किये हुए कर्म का फल अवश्य भोगना होगा। यह फल क्यों भोगना पड़ता है? क्योंकि निन्यानवे दशमलव नौ आवर्त दशमलव लोग सकाम होकर *काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः* —कर्तृत्व-बोध से काम करते हैं और फल की प्राप्ति के लिए काम करते हैं। तो जो कर्तृत्व-बोध से, फल की लालसा से काम करेंगे, कर्म उनको बाँधेगा। *'अवश्यमेव भोक्तव्यं'* —उनको अच्छे-बुरे कामों का फल भोगना ही पड़ेगा। भगवान चमत्कार जैसी बात कर रहे हैं। इस पर ध्यान दीजिए आप।

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' —मैं अकर्ता हूँ, अव्यय हूँ। *'न मे कर्मफले स्पृहा'* —मुझे कर्मफल की कोई लालसा नहीं है। इसलिए सारी सृष्टि को रच करके भी मैं अकर्ता, अव्यय हूँ। अट्ठारह अक्षौहिणी सेना का संहार कराके भी वे अलिप्त हैं, किसी के प्रति आसक्त नहीं हैं। बनाई हुई सृष्टि की प्रकृति की जो नियमावली है, उस नियमावली के अनुसार फल प्राप्त हो रहा है। वे अकर्ता, अव्यय, निर्लेप हैं; और इसके बाद भगवान ने क्या कह दिया—इस पर ध्यान दीजिये—

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।

जो ऐसा जान जाएगा, उसको भी कर्म नहीं बाँध सकेंगे। यह कैसे हो सकता है? राम कैसे काम करता है इसको जान लेने से श्याम कैसे काम से नहीं बँधेगा ? इसके दो उत्तर हैं। एक उत्तर यह कि राम से काम करना सीख लेगा और वह वैसा काम करेगा इसलिए नहीं बँधेगा। यह अधूरा उत्तर है। पूरा उत्तर यह है कि जो राम है, वही श्याम है। केवल वह अपने को राम मान नहीं रहा है। भगवान के जन्म और कर्म के रहस्य का ज्ञान होने का अर्थ क्या हुआ? कि यह जो शरीर मुझको प्राप्त हुआ, इस शरीर में, *'जड़-चेतनहि ग्रंथि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई'* —इस शरीर में जड़ और चेतन की गाँठ पड़ गई है। यह गाँठ झूठी है। लेकिन यह झूठी गाँठ भी इतनी दृढ़ है कि छुटाते-छुटाते ही छूटती है। इस माला से हवा की गाँठ बँध सकती है। नहीं बँध सकती किन्तु इस माला से दूसरी माला की गाँठ हम बाँध सकते हैं। सम सत्ता की स्थिति में, जब स्थिति की सत्ता समान होती है तब उसमें बंधन होता है। एक स्थिति है जड़, एक स्थिति है चेतन। चेतन और जड़ का बंधन कैसे होगा? हमारा जो आत्म-स्वरूप है वह है चैतन्य, चेतन। हमारा जो शरीर है, वह है जड़। यह शरीर, ये इन्द्रियाँ —पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ —भीतर के चारों औजार-अन्तःकरण जिसको कहते हैं —मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार —ये सब जड़ हैं। इस जड़ के साथ हमने आत्म स्वरूप अपने चैतन्य को एक करके अपने को विष्णुकांत मान लिया। यह जो मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार है —यह जड़ है, लेकिन फिर भी यह काम कर रहा है; क्योंकि चेतन का आभास इसमें आ गया है। मैंने कई बार उदाहरण दिया है कि छोटे बच्चे शैतानी से माँ को सताने के लिए धूप में शीशा रख देते हैं और उस शीशे से जो सूरज की किरणें प्रतिफलित होती हैं, उन्हें माँ की आँखों पर डालते हैं। अब अँधेरे कमरे में या माँ की आँखों पर सूरज की जो किरणें गईं, वह प्रतिभास हैं, वे सूरज की सीधी किरणें नहीं है। केवल अपनी वृत्ति के कारण शीशा उसको प्रतिफलित कर सकता है। इसी तरह मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार जड़ होते हुए भी आत्मा की सन्निधि के कारण चेतनवत् काम कर रहे हैं। मैंने दूसरा उदाहरण दिया था कि लोहे के गोले को आग में डाल देने पर उसमें जो दाहकता और प्रकाशकता आएगी, वह लोहे का गुण नहीं है, वह अग्नि का गुण है; और आग जो गोल हो जाएगी वह आग का गुण नहीं है, वह लोहे का गुण है। आग का गुण लोहे में और लोहे का गुण आग में और वह गोला लाल लाल दहकता हुआ हमको एक लगता है। चैतन्य आत्मा को हम इसी शरीर से आबद्ध मान कर जब इस शरीर से एक कर देते हैं, तब हम अपने को नाम और रूप में बाँध लेते हैं। नाम और रूप में बँध कर हम कर्म करते हैं, तब अहंकार के कारण

अपने को कर्त्ता मान लेते हैं। नाम और रूप में बँध से जाने के कारण हम जड़ वस्तुओं को पाने की लालसा करते हैं, इस प्रकार कर्तृत्व एवं फलाशा के कारण कर्म से हमारा आत्म-स्वरूप बँधता है। वास्तव में तो जो परमात्मा है, वही आत्मा है। इस बात को जानते ही *'कर्मभिर्न स बध्यते'* जानने वाला कर्मों के द्वारा बँधता नहीं है। एक तो निष्काम भाव से, अकर्ता भाव से काम करेगा तो कौन काम कर रहा है? आत्मा काम नहीं कर रही। तो कौन काम कर रहा है? यह जड़ का संघात जो आत्मा की सन्निधि में चेतन हो गया है, वह काम कर रहा है। प्रकृति काम कर रही है पुरुष की सन्निधि में।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (३/२७)

प्रकृति काम कर रही है —सत्व, रज, तम। प्रकृति के विषय हैं, प्रकृति की इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ प्रकृति के कारण हैं। इन्द्रियाँ विषयों में बरत रही हैं। गुण गुण में बरत रहे हैं। प्रकृति काम कर रही है; और हम विमूढ़ होकर अपने को कर्त्ता मान लेते हैं, बँध जाते हैं। तो यह बोध होते ही कि जड़ और चेतन की गाँठ गलत, झूठी है हम आत्म-स्वरूप हैं, हम जड़ नहीं हैं —ऐसा जान लेने वाला कर्मों के द्वारा फिर बाँधा नहीं जाता। यह बात कि हम आत्म-स्वरूप हैं, पुरुष निष्क्रिय है, निर्गुण है, निर्विकार है, अकर्ता है, अव्यय है, प्रकृति परिवर्तनशील है, क्रियाशील है। उसी में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। इस बात को जानते ही हम अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाएँगे और हम न तो अहंकार के वश में काम करेंगे और न फलेच्छा की लालसा से काम करेंगे।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।। (४/१५)

प्रभु ने अर्जुन को बिलकुल दो टूक बात कही कि तू काम कर। अर्जुन ने प्रभु से कहा था, *'यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'* अर्जुन ने कहा कि मैं कुछ नहीं जानता कि मुझे क्या करना चाहिए ? होंगे हजार रास्ते। होंगे हजार कर्म करने के तरीके मैं कहाँ-कहाँ काम करने जाऊँ? मैं कहाँ-कहाँ रास्ता ढूँढने जाऊँ? तुम मुझे बताओ, तुम मेरे गुरु हो। मैंने तुम्हारी शरण ली है, जो मेरे लिए श्रेयस्कर है, उसको तुम निश्चित करके मुझे बताओ।

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' —मैं तुम्हारा शरणागत शिष्य हूँ। मेरा शासन करो। *शाधि*— शासन करो। उपदेश मात्र नहीं। मैं अगर गलत दिशा में जाऊँ तो मेरा कान पकड़ कर मुझे तुम सही दिशा में ले जाओ। इसीलिए भगवान यह निश्चयपूर्वक बोल रहे हैं— *कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।* ऐसा जान कर पहले भी जिस

तरह से मुमुक्षु राजा श्री जनक आदि ने काम किया, इक्ष्वाकु ने किया, मनु ने किया, विवस्वान ने किया, वैसे ही तुम भी काम करो। मेरा निर्देश है कि तुम्हारे लिए कर्म-त्याग विधेय नहीं। तुम कर्म करो। अब जब कहा कि कर्म करो तो यह सवाल भी उठते हैं कि कर्म क्या है? कर्म की महिमा क्या है? कर्म के भेद क्या हैं? यह सब बता रहे हैं प्रभु, अगले श्लोकों में—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। (४/१६-१७)

भगवान कह रहे हैं कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है— इसका निर्णय करने में बड़े-बड़े कवि, क्रान्तदर्शी विद्वान भी विमोहित हो जाते हैं, मूढ़ हो जाते हैं, गलतियाँ करते हैं। इसलिए मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि कर्म क्या है? *'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि'* —यह गुरु की कृपा बोल रही है। गुरु के रूप में कृष्ण बोल रहे हैं कि तुम फिर भटक जाओगे, बहक जाओगे। इसलिए मैं तुमको बताता हूँ कि कर्म क्या है? *'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'* —जिसे जान लेने के बाद अशुभ से तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। यह जो बार-बार जन्म ग्रहण करना, बार-बार मरना—यह जन्म-मृत्यु यह अशुभ है। जन्म-मृत्यु के अशुभ चक्र से तुमको मुक्ति प्राप्त होगी —मैं वह रास्ता तुमको बता रहा हूँ। कितना बड़ा अनुग्रह है, कैसी कृपा है? फिर बोलते हैं कि केवल कर्म को समझना काफी नहीं है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

कर्म क्या है— इसको समझो। विकर्म क्या है? इसको समझो। अकर्म क्या है—इसको समझो। कर्म की गति बहुत गहन है, जटिल है, कठिन है। मुश्किल से समझ में आती है। ध्यान से सुनो। मन लगाकर सुनो। समझने की चेष्टा करो। यह सब इसका अभिप्राय है। इसमें विकर्म के ऊपर बहुत मतभेद है कि विकर्म का अर्थ क्या है? मतभेद इसलिए है कि 'वि' उपसर्ग के कई अर्थ होते हैं। 'वि' का एक अर्थ होता है— विरूप। जैसे कृति-विकृति माने गलत ढंग से किया गया काम —विरूप कृति। 'वि' का एक अर्थ होता है विशेष। जैसे विशुद्ध। इसका अर्थ हुआ विशेष शुद्ध। यह नहीं कि वह अशुद्ध है। विरूप शुद्ध नहीं। विज्ञान—विशेष ज्ञान। 'वि' का मतलब हुआ— विशिष्ट। जैसे विमल कहा। तो इसका मतलब हुआ विहीन, मलविहीन। विशेष मल

नहीं। तो 'वि' उपसर्ग के एकाधिक अर्थ होने के कारण विकर्म का मतलब क्या हुआ? जिन्होंने 'वि' का अर्थ विरूप लिया उन्होंने विकर्म का अर्थ लिया विरूप कर्म, विकृति की तरह। उनकी एक व्याख्या है और जिन्होंने विशेष का अर्थ लिया उन्होंने बताया विकर्म माने विशेष कर्म। उनकी दूसरी व्याख्या है। शंकराचार्य विकृति के अर्थ में, विरूप कर्म के अर्थ में विकर्म को लेते हैं। रामानुजाचार्य विशेष कर्म के अर्थ में विकर्म को लेते हैं। रामानुजाचार्य का वह अर्थ लेकर विनोबा भावे ने उसमें एक विशेषता उत्पन्न की है। और लोग शंकराचार्य का अनुगमन करते हैं। उन्होंने बताया कि शास्त्र-समर्थित क्रियाएँ कर्म हैं। शास्त्र-वर्जित क्रियाएँ विकर्म हैं। चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण—आदि-आदि विकर्म हैं। जो शास्त्रोपदिष्ट कर्म हैं वे अपने साथ सकामता को समेटे हुए हैं। शास्त्र में जिन कर्मों का उपदेश दिया गया है, वे सकाम कर्म हैं और इसलिए वे अकर्म नहीं हैं। इसलिए तीसरी बात अकर्म को जानो। एक बात और समझिए! अकर्म शब्द मूलतः ज्ञानमार्गियों का शब्द है। नैष्कर्म्य की सिद्धि एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसलिए वे कर्म का स्वरूपतः त्याग करना चाहते हैं, कहते हैं कि हम कर्म बिलकुल नहीं करेंगे।

कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें— स्वरूप को पहचान लेने के बाद क्या कर्म हो सकता है? आत्मज्ञान के बाद कर्म नहीं होना चाहिए, नहीं हो सकता — ऐसा कुछ लोग कहते हैं। गीता कहती है कि कर्म तो करना ही है तुमको। *'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं'* — तुमको कर्म करना है। और गीता में कर्म शब्द मूलतः स्वधर्म के लिए प्रयुक्त है। जो हमारा सहज प्राप्त धर्म है, वह भी सकाम हो सकता है। इसलिए शंकराचार्य जी कहते हैं कि सकाम भाव से किए गए शास्त्र-समर्थित कर्म तुमको बाँधेंगे। विकर्म यानी विकृतियाँ तुमको अधोगति में ले जाएँगी। शास्त्र-विहित कर्म तुमको स्वर्ग दे सकते हैं। मीमांसाकार जो लोग बड़े कर्मनिष्ठ हैं —वे यज्ञ करना चाहते हैं। यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। वे उसी को चरम फल मानते हैं। गीता उसको चरम फल नहीं मानती। अतः शंकराचार्य कहते हैं कि शास्त्र-विहित कर्म करने से तुमको फल की प्राप्ति तो होगी लेकिन तुम बँधे रहोगे। विकर्म करने से तुम्हारा पतन होगा, तुम अधोलोक में जाओगे। लेकिन अकर्म करने से ही तुम मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। यह अकर्म क्या है?

'अकर्मणश्च बोद्धव्यं' — अकर्म को पहचानो। साधारण तौर पर लोग अकर्म किसको कहते हैं? हम कुछ नहीं कर रहे हैं— तो हम अकर्म कर रहे हैं। चुपचाप बैठे हुए हैं। चुपचाप बैठना भी कर्म है। गीता समस्त क्रियाओं को कर्म मानती है। चुपचाप

बैठना तो तामसिक कर्म है। यह तो आलस्य है, अज्ञान है। चुपचाप बैठे रहोगे तो तुम तमोगुणी हो जाओगे।

प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।

तामस कर्म प्रमाद है, आलस है, निद्रा है। तो चुपचाप बैठे हो तो तमोगुणी हो। बन्धन में भी बँधोगे और नीचे जाओगे। तमोगुणी कर्म त्याग बाँधता है। वह अकर्म नहीं हुआ। रजोगुणी कर्म त्याग भी बाँधता है। रजोगुणी कर्म त्याग यह है कि कोई काम कठिन है, तो उसे छोड़ दो। गंगोत्री तक तो चले गए बस से। गोमुख जाना बड़ा कठिन है, छोड़ दो। तो काम की कठिनता के कारण अगर कोई कर्म त्याग किया और उसे अकर्म हुआ तो वह भी बाँधेगा। कर्म त्याग, अकर्म मुक्ति देता है अगर तो तमोगुणी, रजोगुणी कर्म त्याग बाँधेगा अतः वह अकर्म नहीं है। सत्त्वगुणी कर्म अगर तुम करोगे और उसमें अहंकार और फलाशा है तो वह भी बाँधेगा। गीता अद्‌भुत बात कह रही है अगले श्लोक में—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। (४/१८)

यह रहस्य का सूत्र है। भगवान कह रहे हैं— *कर्मणि*— कर्म में, *अकर्म यः पश्येत्*— जो काम करते हुए भी उसमें अकर्म देख रहा है। *अकर्मणि च कर्म यः* — और जो अकर्म में, निठल्लेपन में कर्म देख रहा है, वह प्राणियों में बुद्धिमान है, वह योगयुक्त है। उसने सारे कर्म कर लिए। *कृत्स्नकर्मकृत्*— भगवान् जिस तरह से कर्म करते हैं, भगवान् के कर्म के रहस्य को जाननेवाला वैसे ही कर्म करता है। यह दिव्य कर्मी की परिभाषा है। यह विराटकर्मी का सूत्र है। अकर्म हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने को नहीं कहते। जो अकर्तृत्व—कर्ता की भावना को छोड़कर, फल की भावना को छोड़ कर जो निरन्तर कर्म-प्रवाह में जुटा हुआ है, उसके वे सारे कर्म अकर्म हैं। *'कर्मणि-अकर्म'*— आगे के पूरे पाँच श्लोकों में इस बात को समझाया गया है। केवल अकर्म को समझाया है प्रभु ने, न कर्म को समझाया, न विकर्म को। भगवान ने सोचा— इतने बुद्धिमान तो होंगे ही गीता पढ़ने वाले। कर्म तो वह है जो शास्त्र-विहित हो या जो भी हम करें वह कर्म है। वैसे एक बात है। व्याकरण में भी हर क्रिया को कर्म नहीं कहते। फल जिस पर पड़ता है उसको कर्म कहते हैं। मैं रोटी खाता हूँ। खाना क्रिया का कर्म रोटी है क्योंकि वह बेचारी निश्चिह्न हो जाती है। लेकिन मैं जाता हूँ। इसमें कर्म नहीं है। लेकिन कर्तृत्व है। कौन जाता है? मैं जाता हूँ। तो क्रिया में एक जगह फल पड़ता है और एक जगह कर्तृत्व होता है। यही दो बातें हैं। अकर्मक क्रिया

में कर्तृत्व है, और सकर्मक क्रिया में क्रिया का फल किसी पर पड़ रहा है। हम अकर्म कैसे करेंगे? जब कर्तृत्व भी नहीं रहेगा और उसका फल भी नहीं होगा। उग्र क्रिया करने से बड़ा कर्म होता है— यह बात सच नहीं है।

विद्यालय में लड़के हल्ला-गुल्ला कर रहे हैं। चपरासी आकर कहता है— चुप रहो, चुप रहो। फिर भी कुछ-कुछ हल्ला-गुल्ला होता रहता है। चपरासी के उग्र कर्म का प्रभाव कम है। अध्यापक आकर कहेगा— चुप रहो तो लड़के चुप हो जाते हैं। और प्रधान-अध्यापक सिर्फ वहाँ से गुजरता है तो लड़के चुप हो जाते हैं। क्रिया उत्तरोत्तर सूक्ष्म हो रही है और कर्म उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। चपरासी की उग्र क्रिया अत्यन्त अल्प कर्म करती है। प्रधानाध्यापक की सूक्ष्म क्रिया अत्यधिक कर्म कर रही है। भगवान की अकर्म की स्थिति में सारी सृष्टि बनी है। क्रिया उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हुए शून्य हो सकती है और कर्म अनन्त हो जा सकता है। अगर कर्म ठीक से किया गया हो। अगर कर्म वस्तुतः अकर्म हो।

अनन्त, अजस्र, सतत कर्म प्रवाह में भी जो अकर्म को देखता है, पहचानता है और जो अकर्म में कर्म को देख रहा है वास्तव में वही बुद्धिमान है। कोई चुपचाप बैठा हुआ कर रहा है उपवास। उपवास का मतलब भूखा रहना नहीं होता। उप माने निकट, वास माने बैठना। उपवास का मतलब होता है भगवान के निकट बैठना। जब उपवास कर रहे हो तो भगवान का चिन्तन कर रहे हो कि नहीं। भगवान का चिन्तन करते हुए उपवास-उपवास होता है। भूखे रहते हुए तुम भोजन-चिन्तन कर रहे हो। नारायण ! वह उपवास नहीं है। वह अनाहार तो है। हाय रे एकादशी ! सब लोग खा रहे हैं और हम भूखे बैठे हैं। अच्छा। कल हम भी खाएँगे। यह जो भोजन-चिन्तन चल रहा है, यह उपवास को उपवास नहीं रहने देता। इसी को विनोबा भावे ने विकर्म कहा है। रामानुजाचार्य ने कहा है कि विकर्म वे कर्म हैं जो शास्त्र-विहित हैं। कर्म—क्रिया मात्र और विकर्म— जो नित्य कर्म, काम्य कर्म, नैमित्तिक कर्म हैं, वे हुए विकर्म। विनोबा भावे ने विकर्म का विशेष कर्म अर्थ तो लिया लेकिन विकर्म में मानसिक शुद्धता का योगदान बताया। उन्हीं का कहना है कि उपवास में जब तुम भगवान का चिन्तन कर रहे हो तो न खाने वाली क्रिया —अनाहार में जब तुम्हारा मन भगवान् की ओर लग गया, विकर्म कर्म से जुड़ा तो अकर्म हो गया। कर्म + विकर्म = अकर्म। यह विनोबा भावे का सूत्र है। शंकर का हमलोग रुद्राभिषेक करते हैं। ऊपर लोटा होता है। उसमें छेद होता है, बराबर उससे धाराभिषेक होता है। उस धाराभिषेक में तुम्हारी मानसिक धारा का योग है कि नहीं जब कर्म में निष्कामता, अहंकारशून्यता और चित्त शुद्धि के विकर्म का योग

होता है तो अकर्म होता है ऐसा विनोबा भावे कहते हैं। शंकराचार्य और दूसरे अद्वैतवादी कहते हैं कि जब हम अकर्तृत्व का और कामना राहित्य का अनुभव करते हुए, कर्म करते हैं तो वह कर्म अकर्म हो जाता है। जो ऐसा करता है उसने सारे काम कर लिए। *'कृत्स्नकर्मकृत'*— सारे काम कैसे कर लिए? मोटे तौर पर किसी को कुछ पाना होता है, तो कुछ करना होता है। अगर तुमको कुछ पाना है तो तुमको करना होगा। बिना कुछ किए तुम कुछ पा नहीं सकते। अगर तुमको कुछ भी नहीं पाना है, तो समझो तुमने सब कुछ पा लिया है। काम करने के जो फल प्राप्त हो सकते थे वे सब उसको प्राप्त हो गए। इसलिए उसने सारे काम कर लिए। *'कृत्स्नकर्मकृत'* — जो कर्म को अहंकार रहित होकर, फलाशा रहित होकर, चेतन को शुद्ध, चेतन रखते हुए उससे अलिप्त रहकर प्रकृति काम कर रही है, मैं काम नहीं कर रहा हूँ, मेरे माध्यम से भागवती शक्ति काम कर रही है, भगवत् की जो कर्तृ-शक्ति है, वह मुझमें क्रियान्वित हो रही है, मैं केवल उसके हाथ का उपकरण हूँ। वह मुझसे काम करा रही है, काम वह कर रही है, मैं नहीं कर रहा हूँ। यदि मैं इसका यथार्थ अनुभव कर रहा हूँ तो मैं सब काम करते हुए भी कुछ नहीं कर रहा हूँ; यही कर्म में अकर्म है। और केवल अहंकार में काम छोड़ देना, गैरिक वस्त्र धारण कर लेना, जंगल में चले जाना और काम-वासना का चिन्तन करते रहना— यह उस अकर्म में कर्म है। *'अष्टावक्र-गीता'* में कहा है कि—

निवृत्तिमपि मूढ़स्य प्रवृत्तिरुपजायते।

जो मूढ़ है उसकी निवृत्ति भी प्रवृत्ति बन जाती है। आप लोग देखिए— नारायण! मैं कान पकड़ता हूँ मैं किसी संन्यासी का अपमान करना नहीं चाहता; लेकिन आप हरिद्वार जाइए, सब लोग आश्रम बना रहे हैं। हमारे गुरुजी कहते थे कि वे ईंट गिनते रहते हैं। गैरिक वस्त्र धारण करके जंगल में जाने से कोई निवृत्ति-परायण नहीं होता। अगर वह अतृप्त है, धनाश्रित है तो वह गैरिक वस्त्र धारण करके जंगल में भी प्रवृत्ति में ही फँसेगा। जो धीर है, बुद्धिमान है, वह संसार में रहते हुए भी प्रवृत्ति में निवृत्ति ही जगाए। अब इसको पाँच श्लोकों में समझाया है। भगवान् को लगा कि यह बात समझ में आनी चाहिए, बहुत कठिन बात है। कौन अकर्म कर सकता है? अब इसके लक्षण बताते हैं— किसका कर्म अकर्म हो जाता है? हर ऐरे-गैरे नत्थू खैरे का? नहीं। बता रहे हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (४/१९)

उसी के कर्म अकर्म हो जाते हैं जिसके सारे समारम्भ, जिसके सारे कार्य किसी

कामना के संकल्प से वर्जित हों। वे साधारण लोग अपनी कामना की पूर्ति का संकल्प करते हैं। काम संकल्प का बेटा है—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।

'संकल्प', सम्यक् कल्पना को कहते हैं। कोई साड़ी देखी— आह! यह तो बहुत अच्छी है। मेरी ननद के पास है — मैं ऐसी साड़ी नहीं पहनूँगी तो छोटी हो जाऊँगी। उस साड़ी में सम्यक्ता की कल्पना हुई कि वह अच्छी साड़ी है तब लगा कि वह मेरे पास भी होनी चाहिए। उसको पहनूँगी तो मैं बहुत ही सुन्दरी दिखूँगी। यह मकान ऐसा बनना चाहिए कि सब लोग देखते ही रह जाएँ। संकल्प का बेटा है काम। किसी भी स्थिति में, वस्तु में, भोग में सम्यक्ता की कल्पना होते ही कामना आएगी। जो संकल्प छोड़ेगा वह काम से ऊपर उठेगा। *'कामसंकल्पवर्जिताः'* —भगवान को छोड़कर कहीं दूसरी जगह सम्यक्ता है? भगवान् को छोड़ कर कहीं सम्यक्ता नहीं है। अन्यत्र सम्यक्ता की कल्पना छोड़ने से ही काम छूटेगा।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

ज्ञान की आग से कर्म जल गए। मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि हमने अपने को अकर्ता मान लिया। कर्मफल की स्पृहा से अपने को मुक्त कर लिया। जब हमने अपने को अकर्त्ता और कर्म फल की स्पृहा से मुक्त अनुभव किया, तब ज्ञान की आग से कर्म जल गए। जब मैंने इसका अनुभव किया कि मैं अकर्त्ता हूँ, जब मैंने अनुभव किया कि मैंने अन्यत्र सम्यक्ता की कल्पना छोड़ दी है; इसलिए कोई कामना मेरे मन में नहीं है— तब मेरा कर्म अकर्म हो जाएगा। तब मेरे ज्ञान के अनुभव से कर्म जल जाएगा।

विद्वान् उसी को पण्डित कहते हैं जिसमें ब्रह्मज्ञान होता है। अपने को ब्रह्मस्वरूप समझ लेने की पात्रता होती है। अपने को चैतन्य-स्वरूप समझकर अपने को निर्गुण निराकार निष्क्रिय मानकर जगत् के व्यवहार में केवल प्रकृति की क्रीड़ा हो रही है, प्रकृति खेल कर रही है और मैं उसका साक्षी मात्र हूँ —यह अनुभव करने से ज्ञान की अग्नि से कर्म जल जाते हैं। भगवान को लगा कि यह कठिन बात अब भी अर्जुन की समझ में नहीं आयी, अतः फिर समझा रहे हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।। (४/२०)

गीता में सिर्फ अकर्म की परिभाषा है। न कर्म की परिभाषा है, न विकर्म की।

जिसे भी तुम कर्म मानो, मान लो, जिसे तुम विकर्म मानो, मान लो। चाहे उसका अर्थ विरूप कर्म लो तो, उससे बचो। चाहे उसको विशेष कर्म मान लो तो उसको चित्तशुद्धिपूर्वक करो। लेकिन असली सवाल है कर्म कैसे करो? कर्म में अकर्म कैसे होता है? क्या गुण होने चाहिएँ? *त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गं*— कर्म के फल का त्याग कर, *असंग*— अपने को अनासक्त करके, *नित्यतृप्तो*— यही है असली बात। कुछ पाना है तो कुछ करना होगा। तुम्हें यदि कुछ पाना है तो तुम अभी अतृप्त हो, अतृप्ति के कारण कुछ पाना चाहते हो जिससे तृप्ति आए। आइसक्रीम खाएँगे तो तृप्ति होगी। लँगड़ा आम खाएँगे तो तृप्ति होगी। कंगाल हैं हम सब। तृप्ति खोज रहे हैं और जितनी ही तृप्ति की खोज करते हैं उतनी ही अतृप्ति बढ़ती है।

और-और की ध्वनि है केवल, तृप्ति प्रलय-पर्यन्त नहीं।

इन वस्तुओं में तृप्ति नहीं है। *नित्यतृप्तः* —जो आत्म-तृप्त है, वही तृप्त हो सकता है। जब तक दूसरे से तृप्ति पाने की कंगली वृत्ति बनी रहेगी, तब तक मनुष्य अतृप्त रहेगा। आत्म-स्वरूप में जब तृप्ति होती है, जब कोई आत्मरत आत्मक्रीड़ होता है— तब नित्यतृप्त होता है। *निराश्रयः* — तब किसी मकान का, किसी पार्टी का, किसी धन का, किसी बैंक-बैलेंस का आश्रय नहीं लेता। उसका एकमात्र आश्रय होता है परमात्मा। *'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि'* —ऐसा व्यक्ति अभिप्रवृत्त होकर भी, बहुत ज्यादा काम करके भी प्रवृत्त— माने जो काम में जुटा हुआ है, अभिप्रवृत्त माने जो विशेषरूप से काम में जुटा हुआ है। दुनिया के सारे कर्म करता हुआ भी *'नैव किञ्चितकरोति सः'* —वह कुछ नहीं करता है। अब इसमें एक बात और है। 'अपि' क्यों लगाया है? *'कर्मणि अभिप्रवृत्तःअपि'* —सब काम करता हुआ भी कुछ नहीं करता है; और अगर कुछ न करे तब तो कुछ करता ही नहीं है। अपि का मतलब क्या है? अभिप्रवृत्त होने पर भी कुछ नहीं करता है। अगर वह कर्मयोगी है तो उस ज्ञान को, प्रभु के जन्म लेने का जो दिव्य अध्यात्म ज्ञान है, उसे प्राप्त कर कि मैं वही आत्म-स्वरूप हूँ —इसको जान लेने के बाद जो कर्मयोगी है, वह अभिप्रवृत्त होगा, वह असंख्य कर्म करेगा; और जो ज्ञानी है वह कुछ नहीं करेगा। लेकिन चाहे वह अभिप्रवृत्त हो तो भी कुछ नहीं करता। क्यों नहीं करता? क्योंकि वह कर्त्ता ही नहीं है, वह अपने में कर्तृत्व का अहंकार नहीं रखता क्योंकि उसको कोई कामना नहीं, फलासक्ति नहीं, वह अपने में नित्यतृप्त है। फिर प्रभु बता रहे हैं कि उसके और भी गुण हैं उन्हें भी समझो—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।। (४/२१)

निराशी— उसे किसी भी चीज की आशा नहीं है। आशा बहुत तकलीफ देने वाली है। आशा पूर्ण न हो तो महा दुख होता है। एक बहुत अच्छा श्लोक है भर्तृहरि का जिसमें नदी के रूपक से आशा की भयंकरता चित्रित की गयी है—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्त सुदुस्तराविगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगताः विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

इसका अर्थ समझिये— आशा नामक नदी है। उसमें मनोरथों का जल भरा है। तृष्णा की तरंगों से वह आकुल है। *रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।* उसमें आसक्ति के मगर हैं। उस पर वितर्क के पक्षी उड़ते रहते हैं। यह भी चाहिए, वह भी चाहिए। यह भी ले लें, वह भी ले लें। धीरज के किनारे के वृक्ष को वह नष्ट कर देती है। *मोहावर्त्तसुदुस्तराविगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी* अज्ञान का आवर्त है। आपलोगों में से कोई बरसात की गंगा में नहाया है? उसमें जब भँवरी पड़ती है, तो उसको कहते हैं आवर्त। बड़े-बड़े तैराक भी जब भँवर में पड़ जाते हैं तो डूब जाते हैं। मोह का भँवर पड़ रहा है। उसे पार करना बहुत कठिन है, वह बहुत गहरी है, उसके किनारे, चिन्ता के कगार बड़े ऊँचे हैं। पार पहुँच जाओ तो भी पार नहीं हो सकते, किनारे के ऊपर चढ़ नहीं सकते। *तस्या पारगताः विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः* विशुद्ध मन वाले बड़े-बड़े योगीश्वर ही उसको पार कर पाते हैं, आशा का पूर्णतः त्याग कर पाते हैं। आशाओं से मुक्त होते ही वे आनन्दमय हो जाते हैं।

आशाओं की क्षुद्र सीमाओं का अतिक्रमण कर, निराशी होकर जो आत्मस्वरूप में तृप्ति प्राप्त करते हैं, वे योगीश्वर होते हैं। *'निराशीर्यतचित्तात्मा'* —यह तब संभव होगा जब तुमने अपने चित्त पर विजय प्राप्त की हो। *आत्मैवह्यात्मनो बन्धुः आत्मैवरिपुरात्मनः।* अपना मन ही अपना सब से बड़ा मित्र है, अपना मन ही अपना सबसे बड़ा शत्रु है, उसीका मन उसका मित्र है, जिसने उसको जीता है। जो अपने मन के अधीन है उसका मन उसका शत्रु है। *'मन जो कहेगा, मानेंगे, दुनिया में हमारा मन ही तो है'*— तो गड्ढे में पड़ो। मानो, जाओ। विषयासक्त मन तो बुरी ही बात करेगा, वह तो विषयों की ओर ही जाएगा। *'यतचित्तात्मा'* —जिसने अपने मन को, अपनी बुद्धि को नियंत्रित कर लिया है। *त्यक्तसर्व परिग्रहः* —जिसने सारे परिग्रह छोड़ दिए हैं।

हमारे गुरुजी कहते थे कि लोभ के दो बेटे होते हैं। एक बेटा स्तेय। स्तेय माने चोरी। चोरी का मतलब है बेईमानी से, जो हमारा हक नहीं है, उसको प्राप्त करना यह

लोभ का निकृष्ट रूप है। एक लोभ का विशिष्ट रूप है। ईमानदारी की कमाई। एक साड़ी से काम चलता है तो भी एक दर्जन साड़ी होनी चाहिए। एक जोड़े जूते से काम चलता है तो भी छह जोड़े जूते होने चाहिए। यह जो परिग्रह है— यह भी बन्धन है। *त्यक्त सर्वपरिग्रहः* —सारा परिग्रह त्यागकर केवल शरीर की यात्रा जिससे निभ जाए उतना ही संग्रह करेंगे। कबीरदास का एक मार्मिक दोहा याद आ गया—

उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर।
अधिकहि संग्रह ना करे, ताका नाम फकीर।।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्। केवल शारीरिक काम करते रहने से। शारीरिक काम का मतलब है कि उसमें आसक्ति नहीं है। शारीरिक काम का मतलब यह नहीं है कि हमारा मन कहीं है, बुद्धि कहीं है और हम शरीर से काम कर रहे हैं। हम बहुत ही योग्यता से काम कर रहे हैं। बहुत की कुशलता से काम कर रहे हैं। *'योगः कर्मसु कौशलं'* लेकिन हम जानते हैं कि यह क्रिया शारीरिक है। शरीर कर रहा है। हम आत्मा से इसमें जुड़े हुए नहीं हैं। *'शारीरं केवलं कर्म'* का मतलब है कि हम आत्म-स्वरूप काम नहीं कर रहे हैं। केवल हमारी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, हमारा मन काम कर रहा है, हमारी बुद्धि काम कर रही है। पर हम अपने वास्तविक स्वरूप से उससे अलग हैं। *'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'*— ऐसी भावना से जो काम करता है उसे कोई किल्बिष, कोई पाप, कोई फल लगता नहीं है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। (४/२२)

यदृच्छा के ऊपर विचार करना बहुत ही आनन्द की बात है। यदृच्छा माने बिना प्रयास के, बिना कामना किए जो स्वतः प्राप्त हो। भक्त लोग कहते हैं भगवदिच्छा से जो प्राप्त हो। ज्ञानी लोग कहते हैं पूर्वजन्म के कर्मों के फल से जो प्राप्त हो। लेकिन जिसके लिए हमने प्रयास नहीं किया, कामना नहीं की। अपने आप जो आ गया, उससे हम संतुष्ट हैं। *द्वन्द्वातीतो*— अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरण, यश-अपयश इनके द्वन्द्व से जो ऊपर उठ गया है। द्वन्द्व माने जोड़ा-जोड़ा इन द्वन्द्वों से जो ऊपर उठ गया है वही है द्वन्द्वातीत। उसे सुख दुख आदि सब समान लगता है। *विमत्सरः* —जो किसी से ईर्ष्या नहीं करता। *'समः सिद्धावसिद्धौ च'* —सिद्ध हो, काम सफल हो चाहे असफल हो, भगवान की क्या इच्छा है, हमको नहीं मालूम? भगवान की शक्ति हमारे माध्यम से काम कर रही है। भगवान हमको सफल बनाकर अपनी इच्छा पूर्ण करना चाहते हैं कि भगवान हमको असफल बनाकर अपनी इच्छा पूर्ण करना चाहते हैं —भगवान जाने।

भगवान का दिया हुआ काम हम कर रहे हैं। उसमें सिद्धि हुई तो भगवान की कृपा। उसमें असिद्धि हुई तो भगवान की कृपा। कारयिता तो प्रभु हैं, मैं प्रेरित कर्त्ता के रूप में काम कर रहा हूँ। यह सिद्धि-असिद्धि रामजी की इच्छा से हुई। वे ही इसके फल-भोक्ता हैं, मैं नहीं। तुलसी की गीतावली का एक अद्‌भुत पद याद आ रहा है। लक्ष्मण जी को शक्ति लगी, तब संजीवनी का पानकर वे चैतन्य हुए। लोगों ने पूछा शक्ति लगने से आपको बहुत दर्द हुआ? लक्ष्मण जी ने उत्तर दिया—

घाउ हृदय मेरे पीर रघुबीरै।
पाइ संजीवन जागि कहत यौं प्रेम पुलकि बिसराइ सरीरै।

लक्ष्मण जी ने कहा— दर्द ? मुझको कुछ नहीं हुआ। घाव तो मेरे हृदय में लगा था, लेकिन दर्द तो राम जी को हुआ। प्रेम से पुलकित होकर, शरीर को विस्मृत करके उन्होंने आगे कहा— हीरे का तो धर्म है कि उसमें कांति है, मूल्य है। लेकिन हीरा रहा तो उसका लाभ राजा को, खो गया तो हानि राजा को। यह बात जीवन में उतरनी चाहिए। जो सिद्धि, असिद्धि दोनों में राम हो— ऐसा व्यक्ति जो कर्म करता है, वह अकर्म होता है। *'कृत्वापि न निबध्यते'* कर्म की विशेषता है बाँधना। अकर्म उसको कहते हैं, जो कर्म बाँधने की शक्ति से रहित हो। अकर्म देखने में तो कर्म है, क्रियाएँ तो हैं, लेकिन कर्म का जो कर्मत्व है, बंधन की क्षमता। उस बंधन की क्षमता जिस कर्म में न हो, वह अकर्म है। बंधन की क्षमता से हमारे कर्म रहित तब होंगे जब हममें अकर्तृत्व होगा, हममें असंगता होगी, अनासक्ति होगी, फल की इच्छा का जब हम त्याग कर देंगे, तब हम सिद्धि में, असिद्धि में, जय और पराजय में सम हो जाएँगे। इतने कथन को भी यथेष्ट नहीं मानते प्रभु। पाँच श्लोकों में एक ही बात समझाई है क्योंकि वे चाहते हैं कि अर्जुन उसे अच्छी तरह समझ ले, सीख ले, आत्मसात् कर ले। फिर दोहरा रहे हैं। पुनरावृत्ति साहित्य में दोष हो सकती है, लेकिन जब हम राम-राम-राम का जप करते हैं, उसमें पुनरावृत्ति दोष है? वहाँ पुनरावृत्ति गुण है। गुरु जब बार-बार समझाता है तो वह दोष है? जब तक उसको संतोष नहीं होगा कि उनका शिष्य समझ गया, तब तक वह दोहराता जाएगा, यही गुरु का धर्म है *'तदपि कही गुरु बारहिं बारा'* अतः प्रभु फिर समझा रहे हैं—

गतसंगस्य— एक ही बात है। संग माने आसक्ति। संग माने चिपक जाना। अनासक्ति का सबसे अच्छा उदाहरण क्या है? हमारे गुरु जी कहते थे कि दर्पण। दर्पण का लक्षण क्या है? जो उसके सामने है उसको ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बित करे। और जब उसके सामने से वह हट जाय तो प्रतिबिम्ब भी मिट जाये। यही असंगता है। संग

माने चिपकना। असंग माने जो चिपकता नहीं है, अनासक्त। जिस प्रकार से अच्छा दर्पण बिम्ब को ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बित करता है और बिम्ब के हट जाने पर प्रतिबिम्बरहित हो जाता है, उसी तरह से अच्छा कर्त्ता कर्म आ जाए तो उसे अच्छी तरह से करता है और कर्म समाप्त हो जाए तो उसका कोई चिह्न, उसका कोई प्रभाव, कुछ नहीं रहता। *गतसंगस्य*— आसक्ति को जिसने छोड़ दिया है। कर्म के बंधन से जो ऊपर उठ गया है। कैसे उठेगा ? यही मुख्य बात है। *'ज्ञानावस्थितचेतसः'* —जिसका चेतन, चित्त, ज्ञान में अवस्थित है। शरीर में अवस्थित नहीं है, हाड़ मांस में अवस्थित नहीं है। जिसका चेतन ज्ञान में अवस्थित है। हमारे गुरु जी कहते थे कि ज्ञान को तो परमात्मा ने भी नहीं बनाया। वे बोलते थे अगर परमात्मा ने ज्ञान बनाया तो ज्ञान बनाने के पहले परमात्मा ज्ञानी था कि अज्ञानी था। अगर ज्ञानी था तो ज्ञान था तब न ज्ञानी था। और अगर अज्ञानी था तो ज्ञान बनाएगा कैसे ? इसलिए ज्ञान का निर्माता परमात्मा भी नहीं है। हमलोग परमात्मा को ज्ञानी नहीं कहते। हमलोग परमात्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं। ज्ञान ही परमात्मा है। हमलोग परमात्मा को आनन्द-स्वरूप कहते हैं। जो आनंदित होगा, वह फिर दुःखी भी होगा। जो रूप धारण करेगा, वह मरेगा भी। हम परमात्मा को सत-स्वरूप कहते हैं। चित्स्वरूप कहते हैं। सच्चिदानन्द-स्वरूप कहते हैं। सत् आश्रित ही परमात्मा है। चित्— चित् माने ज्ञान, ज्ञान ही परमात्मा है, आनन्द ही परमात्मा है। *ज्ञानावस्थितचेतसः* —जिसका चैतन्य परमात्मा में बैठकर काम करता है, जो ज्ञानावस्थित है, जो नामरूपावस्थित नहीं है, जो अपने को साढ़े-तीन हाथ का शरीर नहीं मानता, वह जब काम करता है तो वह कर्म अकर्म हो जाता है। यह अद्‌भुत श्लोक है और यह कर्म-योग का सबसे बड़ा श्लोक है। कर्मयोग की इतनी महिमा कहीं नहीं कही गई है। और सारे आचार्यों से गीता यहाँ अलग हो गयी है। भगवान कहते हैं— *यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।*

यज्ञ के लिए किया गया कर्म पूर्णतः विलीन हो जाता है। यज्ञ की बहुत सी परिभाषाएँ हैं, उन्हें अगले प्रवचन के लिए छोड़ रहा हूँ। तो यज्ञ के लिए किया गया कर्म मोटे तौर पर आज के लिए लोक हित के लिए किया गया कर्म है। यज्ञाय माने विष्णवे ! विष्णु के लिए किया गया कर्म, यज्ञ के लिए किया गया कर्म *समग्रं प्रविलीयते* —सारा का सारा विलीन हो जाता है। कुछ नहीं रहता। यज्ञ के लिए कर्म करो, वह क्रियमाण कर्म तो विलीन हो ही गया, संचित भी जल गया। पुरानी परिपाटी थी कि प्रारब्ध रहता है। प्रारब्ध रहता है, इसलिए ज्ञानियों को भी बीमारी होती है। रामकृष्ण परमहंस देव को कैंसर हुआ। मेरे गुरुजी को भी हुआ। तो प्रारब्ध-भोग ज्ञानियों को भी

करना होता है। इसका उदाहरण देते हैं। कभी आपलोगों ने चाक देखा है? पंखे का स्विच कभी बन्द किया है? स्विच बन्द कर देने के बाद पंखा तुरन्त बन्द होता है या थोड़ी देर चलता रहता है? स्विच बन्द कर देने के बाद भी पंखा चलता है यह प्रारब्ध कर्म है। स्विच बन्द कर दिया तो भी पंखा तुरन्त बन्द नहीं होता। जो वेग उसमें भरा हुआ है, वह वेग उसको थोड़ी देर तक घुमाता रहता है। तो संचित कर्म का वह हिस्सा, जिसने हमको फल देना आरंभ किया है, वही प्रारब्ध है। उसने हमको शरीर दिया, परिवेश दिया, स्वभाव दिया, कर्म दिया, इसलिए ज्ञान हो जाने के बाद भी प्रारब्ध कर्म थोड़ी देर तक फल देता रहता है। भगवान कहते हैं— *समग्रं प्रविलीयते* —प्रारब्ध भी दुर्बल होकर जीता है। प्रारब्ध से भी ज्ञानी डरता नहीं है। प्रारब्ध भी क्षीण बल होकर जीता है, जैसे रस्सी जली होने पर भी उसकी ऐंठन रहती है। तो जली हुई रस्सी की ऐंठन की तरह क्षीण बल होकर प्रारब्ध भी वह भोगता है जो कर्म को अकर्म बना देता है। पाँच श्लोकों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रभु ने बताया है। अतः इसे एक बार दुहरायें। पहली बात अकर्तृत्व होना चाहिए, कर्तृत्व का अहंकार नहीं होना चाहिए। दूसरी बात फलासक्ति नहीं होनी चाहिए। तीसरी बात अपने में तृप्त, नित्यतृप्त होना चाहिए, निराशी होना चाहिए। सारे परिग्रहों को छोड़ देना चाहिए। क्रिया शरीर से हो रही है, हम उससे अलग हैं और ज्ञान में अवस्थित होकर कर्म करना चाहिए। विराट् कर्मी, दिव्य कर्मी, भगवान की तरह कर्म करने वाला सब कुछ करते हुए कुछ न करने वाला ऐसे ही कर्म को अकर्म बना देता है। *अभिप्रवृतोऽपि*— आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें-बायें कर्म और भीतर शान्ति। यह संभव है। भगवान ने असंगत बात नहीं कही है। हमारे आपके लिए कठिन है; लेकिन ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने सारे कर्म करते हुए भी कुछ नहीं किया है; और नहीं करते हुए सारे कर्म किए हैं। भगवान का जब हम लोग ध्यान करते हैं—*शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं।* योगनिद्रा में मग्न रह कर प्रभु सारी सृष्टि की रचना करते हैं, सारी सृष्टि का पालन करते हैं, सारी सृष्टि का संहार करते हैं। सब कुछ करते हैं; और कुछ नहीं करते। कर्म में अकर्म संभव है और भ्रांत अकर्म में निठल्लेपन में, निकम्मेपन में, अहंकारपूर्वक कर्मत्याग में, उस अकर्म में, कर्म है —वह बाँधेगा। उस अहंकारपूर्वक कर्मत्याग से बचो। ज्ञान में अवस्थित होकर, अकर्तृत्व भाव रखकर अनासक्त होकर, फल की इच्छा से रहित होकर, सम बुद्धि से हम आप कर्म करें— भगवान की यही इच्छा है। रामजी की कृपा से यह महान् तत्त्व हमारे-आपके जीवन में उतर आये। ●

प्रवचन-१२*

सूक्ष्म यज्ञ विवेचन

'सूक्ष्म यज्ञ विवेचन' —यह कथन अपने में इस भाव को समेटे हुए है कि स्थूल यज्ञ भी होता है। स्थूल यज्ञ की तुलना में यहाँ सूक्ष्म यज्ञ का विवेचन है। स्थूल यज्ञ के द्वारा क्या अभिप्रेत है, क्या अभीष्ट है? आप शायद इस बात को जानते हैं कि वैदिक कर्मकांड में मनुष्य के जीवन को अधिक सार्थक, अधिक धर्ममय बनाने के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से बनता है। यज् धातु का तीन अर्थों में प्रयोग होता है। एक पूजन के अर्थ में, दूसरा संगतिकरण के अर्थ में, इकट्ठे करने के अर्थ में; और तीसरा दान, समर्पण करने के अर्थ में। देवताओं का यजन जब हम सामूहिक रूप से त्याग के द्वारा, समर्पण के द्वारा करते हैं, तो वह यज्ञ कहलाता है। समस्त वैदिक कर्मकांड में यज्ञों को बहुत महत्त्व दिया गया है। यह अनुभव किया गया है कि यज्ञ केवल एक क्रिया-विशेष बन कर न रह जाए, यज्ञ की भावना हमारे जीवन में उतर आए। जिसको हम गलती से, अहंकार के वशीभूत होकर अपना मानते हैं, उस सामग्री पर से अपना स्वत्व हटाकर, परम शक्तियों के लिए, लोक-कल्याण के लिए उसे अर्पित करने की क्रिया का नाम है यज्ञ। इसलिए यह क्रिया केवल यज्ञशाला में ही हो—यह उचित नहीं है। यह हमारे पूरे जीवन क्रम में चलनी चाहिए और इसलिए हमारा पूरा जीवन यज्ञमय होना चाहिए। यह हमारी वैदिक दृष्टि रही है। यह बात मैंने कई बार सुनाई है, आज फिर सुनाता हूँ।

आपलोग याद कीजिए कि हमारे जो सोलह प्रमुख संस्कार हैं उनमें अंतिम संस्कार का नाम क्या है? अंतिम संस्कार जब हम शरीर को श्मशान ले जाते हैं, चिता पर उसको रखते हैं, तो उसको कहते हैं अन्त्येष्टि-संस्कार। इष्टि माने यज्ञ। इष्टि यज् धातु से बना है। इष्टि और इष्ट दोनों यज्ञ के अर्थ में हैं। इष्ट शब्द दो धातुओं से बनता है। एक इष् इच्छति और एक यज् यजति। अंत्येष्टि-संस्कार में इष्टि शब्द भी यज् धातु से बनता है। तो अंत्येष्टि माने अंतिम यज्ञ। हिन्दू मृत्यु के बाद अपने शरीर का अंतिम

* चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या २४ से ३३

यज्ञ करता है, जब वह उसको चिता की अग्नि को अर्पित कर देता है। तो क्या हम मरने तक की प्रतीक्षा करें कि मरेंगे तभी यज्ञ करेंगे? अभिप्राय अंत्येष्टि का यह है कि हम जीवन भर यज्ञ करें। जो जीवन भर यज्ञ करता है, उसी की अन्त्येष्टि होती है। जीवन के अंत में तो यज्ञ वही कर सकता है, जो जीवन भर यज्ञ करता रहा हो। जीवन भर जो यज्ञ होते हैं, वे क्या इसी प्रकार के होते हैं? यज्ञशाला में होते हैं? वे क्या मंत्र पढ़कर, अग्नि प्रज्वलित करके उसमें आहुति देने से होते हैं? *इदं अग्नये, इदं न मम, इदं अग्नये स्वाहा* —यह हमारा नहीं है, यह अग्नि देवता का है, इस पर से हम अपना ममत्व हटाकर अग्नि देवता को इसे समर्पित कर रहे हैं। यह मंत्र-पाठ करते हुए प्रज्वलित लेलिहान यज्ञ शिखा में हवि का, आहुतियों का अर्पण यज्ञशाला में होता है। लेकिन जीवन भर जो यज्ञ चलते हैं, वे तो ऐसे नहीं होते। जीवन भर जो यज्ञ चलते हैं, वे सूक्ष्म यज्ञ होते हैं। वे कौन से यज्ञ हैं? वे कैसे होते हैं? उनकी क्या विशेषता है? इसी का निरूपण चतुर्थ अध्याय में है।

सूक्ष्म यज्ञ हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया को यज्ञमय बना देने की योजना है। हमारा चलना, उठना, बैठना, खाना-पीना, सोना, भोगना, हमारा प्रत्येक आचरण, यज्ञ हो जाए, इस दृष्टि को रख कर जो योजना की गई है, वह योजना चतुर्थ अध्याय में यहाँ संकेतित है। यद्यपि यज्ञों की समस्त नाम-शृंखला यहाँ नहीं है। अब इसमें एक विचित्र बात है। यज्ञों की भी कोटियाँ हैं। कुछ चरम यज्ञ हैं, सर्वोच्च यज्ञ हैं; और कुछ साधनमय यज्ञ हैं, जिनसे हम उस सर्वोच्च यज्ञ की दिशा में अग्रसर होते हैं। जैसे साधन भक्ति को भी भक्ति कहते हैं; और परा-भक्ति को भक्ति कहते हैं। साधन भक्ति ही जैसे परा-भक्ति में रूपान्तरित हो जाती है, वैसे ही ये साधन भूत यज्ञ प्रक्रियाएँ हमको स्वतः चरम, सर्वोच्च ज्ञान-यज्ञ की ओर ले जाने में समर्थ होती हैं इसका भी आभास यहाँ है। यज्ञ के तीन विभाजन हम अनायास करते हैं। एक जो उसका आध्यात्मिक अर्थ है, दूसरा जो उसका आधिदैविक अर्थ है, तीसरा जो उसका आधिभौतिक अर्थ है। आध्यात्मिक अर्थ में यज्ञ कारण का अपने कार्य में लय हो जाना है। आप ध्यान दें। आध्यात्मिक अर्थ में समस्त कारण का, अपने मूलभूत कार्य में लय हो जाना यज्ञ है। मैं इसका अभी उदाहरण देकर विवरण समझाऊँगा। यह जो कुछ दिखाई पड़ रहा है— यह सब कार्य है। किसी कारण का कार्य है। यह जो दृश्यमान जगत रूपी कार्य है—यह जब अपने मूलभूत कारण में विलीन हो जाता है, तब सर्वोच्च यज्ञ, ज्ञान यज्ञ होता है। आप देखिए—यज्ञ में क्या होता है? यज्ञ में जो आहुति दी जाती है, वह आहुति जब अग्नि से एकाकार हो जाती है, तब यज्ञ सार्थक होता है। घृत या तिल या

जौ— जब हम *'इदं अग्नये स्वाहा'* कह कर अग्नि में डालते हैं; और वह सारी-की-सारी हवनीय सामग्री, हवन के लिए की गई सामग्री जब प्रज्वलित ज्वाला में रूपान्तरित हो जाती है, अपना स्वरूप छोड़कर अग्निमय हो जाती है तो यज्ञ की सार्थकता होती है। वैसे ही प्रत्येक दृश्यमान कार्य जब अपने मूलभूत कारण में लय हो जाए तो वह चरम यज्ञ होता है। मैं इसको अभी इसी क्रम में और विस्तार से समझाऊँगा। यह सर्वोच्च यज्ञ है। यही ज्ञान यज्ञ है। यही ब्रह्म यज्ञ है। सम्पूर्ण कार्य रूप जगत् को उसके मूलभूत कारण में लय कर देना। जब उस मूलभूत कारण की उपलब्धि हो और किसी की उपलब्धि नहीं और किसी का दर्शन नहीं, जब उस मूलभूत कारण से हम एकरूप हो जाएँ तो हमारा सर्वोच्च ज्ञान-यज्ञ, आध्यात्मिक यज्ञ संपन्न होता है। जब हम आधिदैविक यज्ञ करते हैं तो आधिदैविक यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। कुछ काम्य यज्ञ होते हैं, यानी यज्ञ कर्त्ता अपनी किसी कामना-विशेष की पूर्ति के लिए, किसी देवता-विशेष की कृपा प्राप्त करना चाहता है और उस देवता को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ का आयोजन होता है। आपने अश्वमेध यज्ञ का नाम सुना होगा। आपने पुत्रेष्टि यज्ञ का भी नाम सुना होगा। अनेक प्रकार के यज्ञ जो कि यज्ञकर्त्ता की कामना की पूर्त्ति के लिए देवता-विशेष की कृपा का आह्वान करने के लिए हैं, ये आधिदैविक यज्ञ है; और एक आधिभौतिक यज्ञ है। इसी जगत् में जब हम सामूहिक रूप से व्यापक लोक-हित का काम करते हैं, तो आधिभौतिक यज्ञ करते हैं। याद रखें कि यज् धातु देवताओं के पूजन के लिए, संगतिकरण यानी संगठन एकत्रीकरण के लिए और समर्पण के लिए प्रयुक्त होती है। देवता केवल स्वर्ग में नहीं रहते। गीता में दैवी सम्पदा का निरूपण किया गया है। सोलहवें अध्याय में आपने पढ़ा होगा—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। (१६/१-३)

ये जो छब्बीस गुण बताए गए हैं— अभय से आरम्भ करके विनय तक, ये दैवी-सम्पदा हैं। ये दैवी गुण हैं। ये दैवी गुण जिनमें हैं, वे देवता हैं। ये गुणवान देवता इसी धरती के वासी है, किसी स्वर्ग के नहीं। ये जो संसार के सज्जन पुरुष हैं, उनको एकत्र कर इस संसार के मंगल के लिए, इस संसार के कल्याण के लिए, परोपकार के

लिए निःस्वार्थ भाव से जो भी सेवा की जाती है वह यज्ञ है। यह यज्ञ का आधिभौतिक रूप है। इसीलिए भूदान यज्ञ, इसीलिए नेत्रदान यज्ञ, इसीलिए पुस्तकालय बनाना, विद्यालय बनाना यज्ञ है। तो ये यज्ञ की तीन कोटियाँ हैं। आध्यात्मिक — जिसमें सम्पूर्ण कार्य को कारण में लय कर दिया जाता है। आधिदैविक जिसमें केवल व्यक्तिगत कामना-पूर्त्ति के लिए यज्ञ किया जाता है, वह अपेक्षाकृत निम्न कोटि का होता है। जब लोकमंगल के लिए किया जाए, वर्षा के लिए किया जाए, विश्व-शान्ति के लिए किया जाए, लोक-कल्याण के लिए किया जाए तो वह यज्ञ अपेक्षाकृत उच्च कोटि का यज्ञ है। और इसी संसार, इसी जगत् में जब हम सज्जनों के मंगल के लिए, लोक कल्याण के लिए सामूहिक रूप से कोई बड़ी सेवा का आयोजन करते हैं तो वह भी यज्ञ है। इन तीन प्रकार के यज्ञों में यह बताया गया है कि जो सबसे बड़ा यज्ञ है वह ब्रह्म यज्ञ या ज्ञान यज्ञ है। उस यज्ञ तक ले जाने के लिए जो साधन हैं वे सारे साधन भी यज्ञ है। अतः तप यज्ञ है, स्वाध्याय यज्ञ है, दान यज्ञ है, प्राणायाम यज्ञ है, इन्द्रिय-संयम यज्ञ है, योग-साधना यज्ञ है। वे तमाम मंगलमय कार्य, वे तमाम श्रेयस्कर कार्य जिनसे हम अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं वे सब यज्ञ हैं; और इस यज्ञ में एक बड़ी सूक्ष्म बात की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। गीता में कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (३/१०)

आप ध्यान दीजिए! जब मनुष्य का बच्चा पैदा होता है कितना परावलम्बी होता है। वह छोटा सा शिशु, उसको हाथ में लेकर प्यार करने की इच्छा होती है। वह शिशु जीवन की प्रत्येक क्रिया में, हँसने में, रोने में— वह माँ पर अवलम्बित है। यह परावलम्बी शिशु धीरे-धीरे बड़ा होता है और तब उसे अनुभव होता है कि यह परावलम्बन अच्छा तत्त्व नहीं है। *परावलम्बन* — यह तो दुःख का घर है। हमारे यहाँ कहा गया है— *सर्वं परवशं दुखं, सर्वं आत्मवशं सुखम्।*

जो भी परावलम्बन है, परवशता है— वही दुःख है; और जो कुछ आत्मवश है, वही सुख है। तो बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, परावलम्बी से क्रमशः स्वावलम्बी होता है; और उसको लगता है कि स्वावलम्बन जीवन का एक बड़ा मूल्य है। स्वावलम्बन जीवन का एक बड़ा लक्ष्य है और स्वावलम्बी मनुष्य ही सुखी होगा। गीता कहती है कि नहीं, परावलम्बन से स्वावलम्बन श्रेष्ठ है; और स्वावलम्बन से परस्परावलम्बन श्रेष्ठ है। आप ध्यान दीजिए कि हम जैसे-जैसे बड़े हुए और परावलम्बी

जो— जब हम *'इदं अग्नये स्वाहा'* कह कर अग्नि में डालते हैं; और वह सारी-की-सारी हवनीय सामग्री, हवन के लिए की गई सामग्री जब प्रज्वलित ज्वाला में रूपान्तरित हो जाती है, अपना स्वरूप छोड़कर अग्निमय हो जाती है तो यज्ञ की सार्थकता होती है। वैसे ही प्रत्येक दृश्यमान कार्य जब अपने मूलभूत कारण में लय हो जाए तो वह चरम यज्ञ होता है। मैं इसको अभी इसी क्रम में और विस्तार से समझाऊँगा। यह सर्वोच्च यज्ञ है। यही ज्ञान यज्ञ है। यही ब्रह्म यज्ञ है। सम्पूर्ण कार्य रूप जगत् को उसके मूलभूत कारण में लय कर देना। जब उस मूलभूत कारण की उपलब्धि हो और किसी की उपलब्धि नहीं और किसी का दर्शन नहीं, जब उस मूलभूत कारण से हम एकरूप हो जाएँ तो हमारा सर्वोच्च ज्ञान-यज्ञ, आध्यात्मिक यज्ञ संपन्न होता है। जब हम आधिदैविक यज्ञ करते हैं तो आधिदैविक यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। कुछ काम्य यज्ञ होते हैं, यानी यज्ञ कर्त्ता अपनी किसी कामना-विशेष की पूर्ति के लिए, किसी देवता-विशेष की कृपा प्राप्त करना चाहता है और उस देवता को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ का आयोजन होता है। आपने अश्वमेध यज्ञ का नाम सुना होगा। आपने पुत्रेष्टि यज्ञ का भी नाम सुना होगा। अनेक प्रकार के यज्ञ जो कि यज्ञकर्त्ता की कामना की पूर्त्ति के लिए देवता-विशेष की कृपा का आह्वान करने के लिए हैं, ये आधिदैविक यज्ञ है; और एक आधिभौतिक यज्ञ है। इसी जगत् में जब हम सामूहिक रूप से व्यापक लोक-हित का काम करते हैं, तो आधिभौतिक यज्ञ करते हैं। याद रखें कि यज् धातु देवताओं के पूजन के लिए, संगतिकरण यानी संगठन एकत्रीकरण के लिए और समर्पण के लिए प्रयुक्त होती है। देवता केवल स्वर्ग में नहीं रहते। गीता में दैवी सम्पदा का निरूपण किया गया है। सोलहवें अध्याय में आपने पढ़ा होगा—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। (१६/१-३)

ये जो छब्बीस गुण बताए गए हैं— अभय से आरम्भ करके विनय तक, ये दैवी-सम्पदा हैं। ये दैवी गुण हैं। ये दैवी गुण जिनमें हैं, वे देवता हैं। ये गुणवान देवता इसी धरती के वासी है, किसी स्वर्ग के नहीं। ये जो संसार के सज्जन पुरुष हैं, उनको एकत्र कर इस संसार के मंगल के लिए, इस संसार के कल्याण के लिए, परोपकार के

लिए निःस्वार्थ भाव से जो भी सेवा की जाती है वह यज्ञ है। यह यज्ञ का आधिभौतिक रूप है। इसीलिए भूदान यज्ञ, इसीलिए नेत्रदान यज्ञ, इसीलिए पुस्तकालय बनाना, विद्यालय बनाना यज्ञ है। तो ये यज्ञ की तीन कोटियाँ हैं। आध्यात्मिक — जिसमें सम्पूर्ण कार्य को कारण में लय कर दिया जाता है। आधिदैविक जिसमें केवल व्यक्तिगत कामना-पूर्त्ति के लिए यज्ञ किया जाता है, वह अपेक्षाकृत निम्न कोटि का होता है। जब लोकमंगल के लिए किया जाए, वर्षा के लिए किया जाए, विश्व-शान्ति के लिए किया जाए, लोक-कल्याण के लिए किया जाए तो वह यज्ञ अपेक्षाकृत उच्च कोटि का यज्ञ है। और इसी संसार, इसी जगत् में जब हम सज्जनों के मंगल के लिए, लोक कल्याण के लिए सामूहिक रूप से कोई बड़ी सेवा का आयोजन करते हैं तो वह भी यज्ञ है। इन तीन प्रकार के यज्ञों में यह बताया गया है कि जो सबसे बड़ा यज्ञ है वह ब्रह्म यज्ञ या ज्ञान यज्ञ है। उस यज्ञ तक ले जाने के लिए जो साधन हैं वे सारे साधन भी यज्ञ है। अतः तप यज्ञ है, स्वाध्याय यज्ञ है, दान यज्ञ है, प्राणायाम यज्ञ है, इन्द्रिय-संयम यज्ञ है, योग-साधना यज्ञ है। वे तमाम मंगलमय कार्य, वे तमाम श्रेयस्कर कार्य जिनसे हम अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं वे सब यज्ञ हैं; और इस यज्ञ में एक बड़ी सूक्ष्म बात की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। गीता में कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (३/१०)

आप ध्यान दीजिए! जब मनुष्य का बच्चा पैदा होता है कितना परावलम्बी होता है। वह छोटा सा शिशु, उसको हाथ में लेकर प्यार करने की इच्छा होती है। वह शिशु जीवन की प्रत्येक क्रिया में, हँसने में, रोने में— वह माँ पर अवलम्बित है। यह परावलम्बी शिशु धीरे-धीरे बड़ा होता है और तब उसे अनुभव होता है कि यह परावलम्बन अच्छा तत्त्व नहीं है। *परावलम्बन* — यह तो दुःख का घर है। हमारे यहाँ कहा गया है— *सर्वं परवशं दुखं, सर्वं आत्मवशं सुखम्।*

जो भी परावलम्बन है, परवशता है— वही दुःख है; और जो कुछ आत्मवश है, वही सुख है। तो बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, परावलम्बी से क्रमशः स्वावलम्बी होता है; और उसको लगता है कि स्वावलम्बन जीवन का एक बड़ा मूल्य है। स्वावलम्बन जीवन का एक बड़ा लक्ष्य है और स्वावलम्बी मनुष्य ही सुखी होगा। गीता कहती है कि नहीं, परावलम्बन से स्वावलम्बन श्रेष्ठ है; और स्वावलम्बन से परस्परावलम्बन श्रेष्ठ है। आप ध्यान दीजिए कि हम जैसे-जैसे बड़े हुए और परावलम्बी

से स्वावलम्बी हुए, वैसे-वैसे क्या हम केवल अपने लिए जिएँ? क्या हमारी क्षमता, हमारी शक्ति केवल अपने लिए हो? स्वावलम्बी होने का क्या अर्थ होता है? और अगर हम स्वावलम्बी हैं भी तो स्वावलम्बिता हमको कहाँ तक ले जाएगी? केवल अपने बलबूते पर हम कितना काम कर पायेंगे? क्या यह उचित नहीं है कि बहुत से अच्छे व्यक्ति, श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी स्वावलम्बिता को आंशिक रूप से सीमित कर, एक दूसरे के सहयोग से परस्परावलम्बी होकर बड़े लक्ष्य को उपलब्ध करें? जीवन का कोई भी बड़ा काम केवल स्वावलम्बन से नहीं होता। देखिए यहाँ अभी जो गीता-प्रवचन यज्ञ चल रहा है। भगवान ने कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। (१८/७०)

भगवान ने अठारहवें अध्याय में कहा है कि हमारा जो पारस्परिक संवाद है, इसका जो अध्ययन करेगा, इसका जो प्रवचन करेगा तो यह मैं मानूंगा कि उसने ज्ञान-यज्ञ के द्वारा मेरी पूजा की है। यह ज्ञान-यज्ञ क्या वक्ता केवल स्वावलम्बिता के द्वारा कर सकता है? यह ज्ञान-यज्ञ कितने परस्परावलम्बन के द्वारा संभव होता है— आप इस बात पर ध्यान दीजिए। निश्चय ही परावलम्बन से स्वावलम्बन बड़ा तत्त्व है लेकिन स्वावलम्बन से भी बड़ा तत्त्व है— श्रेष्ठ व्यक्तियों का मंगलमय कार्य के लिए परस्परावलम्बन। गीता मानती है कि देवताओं का हम और देवता हमारा मंगल करें। *परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।* इस तरह परस्पर एक दूसरे का भला, एक दूसरे का मंगल करते हुए हम परम श्रेय की ओर जाते हैं। यज्ञ चूँकि सामूहिक कार्य है; यद्यपि यज्ञ के कुछ ऐसे प्रकरण भी हैं, जो कि वैयक्तिक होते हैं जैसे प्राणायाम यज्ञ। जैसे भगवान ने कहा— *यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि*— भगवान न अपने को यज्ञों में जप यज्ञ कहा। जप यज्ञ तो सामूहिक काम नहीं है। जप यज्ञ तो बिलकुल वैयक्तिक क्रिया है। लेकिन सामान्य तौर पर यज्ञ एक सामूहिक क्रिया है; और इस सामूहिक क्रिया में स्वावलम्बन से भी बड़ा मूल्य परस्परावलम्बन का है। यह परस्परावलम्बन हम अपने देश में भूल गए हैं। जिसको हम कहते हैं कि हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम असंगठित हैं। दस हजार आदमी की सभा में दस आदमी आते हैं; और सभा तोड़ देते हैं। दस हजार अकेले हैं। क्योंकि सब स्वावलम्बी हैं, सब अकेले हैं। अगर वे परस्परावलम्बी हों। अगर सारा देश बड़े काम के लिए, बड़े उद्देश्य के लिए परस्परावलम्बी हो, अपना-अपना जो कुछ श्रेष्ठ है, अपना-अपना जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है; हम सब के हित के लिए समर्पित करें तो क्या हमारा देश ऐसा दुर्बल रहेगा? हम

सब के लिए, सब हमारे लिए, यह परस्परावलम्बन मनुष्य को, समाज को, देश को कहाँ ले जाएगा कितनी ऊँचाई पर पहुँचा देगा!

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

गीता हमको सिखाती है कि अपने समस्त गुणों का सदुपयोग केवल अपने लिए नहीं, केवल अपने व्यक्तिगत सुखों के लिए नहीं करना चाहिए। इतने स्वार्थी मत बनो। केवल अपने परिवार के लिए काम नहीं करो, इतने संकीर्ण मत बनो। अपने सद्गुणों का सम्पूर्ण समर्पण समस्त समाज के लिए कर दो। परस्पर एक दूसरे का मंगल करते हुए परस्परावलम्बन के द्वारा हम बड़ा काम कर सकते हैं। यज्ञ हमको यही शिक्षा देता है। मैं आपको यह बता रहा था कि यज्ञ के जो विविध स्तर हैं उन विविध स्तरों में हम परस्परावलम्बी होकर आधिभौतिक स्तर पर, फिर देवताओं के साथ परस्परावलम्बी होकर आधिदैविक स्तर पर, मंगल का विधान कर सकते हैं। आध्यात्मिक स्तर पर तो कोई दूसरा है ही नहीं। सम्पूर्ण दृश्य, सम्पूर्ण कार्य जब एक ही कारण में लय हो गया तो उसके सिवा और कौन है? तो इसमें सब कुछ एक ही पर अवलम्बित है। यह जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि की ओर ले जाने की प्रक्रिया है, यह हमारे संपूर्ण जीवन को यज्ञमय बनाने की प्रक्रिया है। यज्ञ को केवल यज्ञशाला तक सीमित नहीं रखना चाहिए। यज्ञशाला तक सीमित रहने वाला यज्ञ स्थूल यज्ञ है। जब हमारे जीवन की साँस-साँस लोकमंगल के लिए समर्पित होती है, जब हमारी साँस-साँस में त्याग आविर्भूत होता है, तब हमारा जीवन यज्ञ बनता है, तब हमारा जीवन चरितार्थ होता है।

इस यज्ञ प्रक्रिया का आरम्भ ही परम से है। गीता की एक बड़ी विशेषता यह है कि परम से, चरम से आरंभ हो करके वह व्यवहार के स्तर पर उस चरम को उतारना सिखाती है। कहाँ जाना है? अगर हम अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो लक्ष्य को सामने रख कर कार्य की सिद्धि होनी चाहिए। लक्ष्य क्या है? लक्ष्य अगर अस्पष्ट है तो उसीके अनुरूप कार्य की योजना भी अस्पष्ट होगी। जब लक्ष्य स्पष्ट होता है तो उस स्पष्ट लक्ष्य के अनुरूप सारे जीवन की कार्य-योजना स्पष्ट होती है। तुम क्या करना चाहते हो? कहाँ जाना चाहते हो? तुम बनारस जाना चाहते हो कि पुरी जाना चाहते हो? बनारस जाना अगर चाहते हो तो तुम्हारा कार्य एक तरह से होगा, तुम्हारी एक दिशा होगी; पुरी जाना, अगर तुम्हारा लक्ष्य है, तो दूसरी दिशा में जाना होगा। अपना लक्ष्य पहले स्थिर होना चाहिए। लक्ष्य के अनुरूप सारे जीवन का आचरण होना चाहिए। अन्तिम स्थिति को सामने रखकर उस अंतिम स्थिति के अनुरूप सारी योजना बनानी चाहिए। हमारे सारे जीवन की गड़बड़ी क्या है? हमारे

सामने जो कुछ आ जाता है हम उसीमें पड़ जाते हैं। गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास। अरे ! जाना कहाँ है? तुम्हारा लक्ष्य क्या है? आपको एक कहानी सुनाऊँ।

महाराष्ट्र के बहुत बड़े संत थे एकनाथ जी महाराज। एकनाथ जी महाराज से एक व्यापारी ने पूछा—महाराज! आप इतना पवित्र जीवन कैसे व्यतीत करते हैं? बराबर सदाचार, बराबर उदारता, क्षमा, कृपा इसका क्या रहस्य है? बोले—भैया। मेरे बारे में तो जाने दो। तुम्हारे बारे में एक बात मुझको मालूम पड़ी। उसने पूछा— क्या महाराज? वे बोले आज के सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। एकनाथ जी तो चले गए। अब एकनाथ जी जैसे महान् पुरुष ने कह दिया कि आज से सातवें दिन मृत्यु हो जाएगी। अब बनिया बेचारा घर चला गया। खाट पर पड़ गया। सातवें दिन मृत्यु हो जाएगी। क्या करें? क्या न करें? जो कुछ कर सकता था, किया। सात दिन बीत गए। सातवें दिन एकनाथ जी महाराज आए। बोले—क्या हालचाल है? उसने कहा— महाराज! आज तो मैं चला। बोले—ठीक है! तुम जाओगे आज। लेकिन यह बताओ कि सात दिनों में तुमने कितने पाप किए? वह बोले महाराज! पाप कैसे करता जब मालूम पड़ गया कि सातवें दिन मुझे मरना है। इसलिए जो कुछ अच्छा कर सकता था, कर दिया। अपने घर का विभाजन कर दिया। जो दान कर सकता था, पुण्य कर दिया। बोले— तुमने मुझसे पूछा था न! कि मेरे जीवन में पाप क्यों नहीं है? वही उत्तर है। मुझको अपनी मृत्यु सामने दिखाई पड़ती है। लक्ष्य, अंतिम परिणति सामने रख कर, जब कार्य की योजना होगी तो कार्य ठीक होगा। हमलोगों को अपनी मृत्यु नहीं दिखाई पड़ती।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यम मंदिरम्।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम्।।

यह यक्ष-प्रश्न का उत्तर है। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा इस संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? वे बोले— प्रतिदन लोगों को मरते देखते हैं, लेकिन सोचते हैं कि और लोग मर रहे हैं, पर मैं तो अजर-अमर होकर आया हूँ। मैं मरने वाला नहीं हूँ। मैं मरने की बात नहीं बता रहा। मैं तो एक उदाहरण दे रहा हूँ। मृत्यु है लेकिन हमारी दृष्टि में मृत्यु भी चरम नहीं है। मृत्यु भी एक पड़ाव है। *वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।* चरम लक्ष्य क्या है? चरम लक्ष्य अगर परमात्मा की प्राप्ति है, परमात्मा का साक्षात्कार है तो उस लक्ष्य के अनुरूप जीवन की रचना होनी चाहिए। इस बात को व्यावहारिक स्तर पर भी ले लो। तुम अपने व्यावहारिक स्तर का कोई काम करना चाहते हो? क्या करना चाहते हो? अच्छा समझ लो तुम मकान बनाना

चाहते हो। जो लोग मकान बनाना चाहते हैं, कैसे बनाते हैं? मकान बनाने का काम शुरू करने के पहले पूरा नक्शा बनाते हैं। नक्शे में बिलकुल बात साफ होनी चाहिए। कितने तल्ले का मकान होगा? कहाँ रसोई बनेगी? कहाँ बैठक घर होगा? पूरा नक्शा बन जाने के बाद तब काम शुरू होता है। हम जो भी काम करना चाहें, व्यावहारिक या पारमार्थिक, गीता हमको बताती है कि उसका चरम जो है, उसको सामने रखो। और उस चरम की सिद्धि के अनुरूप सारे जीवन की योजना करो। चरम अगर आँख के सामने है तो उस चरम से विचलित होकर दूसरा काम नहीं करोगे। चरम क्या है? चरम है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (४/२४)

यह ज्ञान यज्ञ का, ब्रह्म यज्ञ का सर्वोत्कृष्ट रूप सबसे पहले। क्यों सबसे पहले? क्योंकि यही लक्ष्य है। लक्ष्य को सामने रख कर पूरे जीवन की योजना लक्ष्यानुरूप होनी चाहिए। लक्ष्य कुछ है और जीवन की योजना लक्ष्य के प्रतिकूल है, लक्ष्य के विरुद्ध है, लक्ष्य के विमुख है, तो जीवन सार्थक होगा? लक्ष्य तक पहुँचोगे ? बहुत काम कर रहे हैं। एकदम सौ मील की स्पीड से गाड़ी चला रहे हैं। बनारस जाना है। ढाका की तरफ गाड़ी चलाए जा रहे हैं। आप पाँच सौ मील की स्पीड से चलाएँ बनारस पहुँचेंगे? यही लक्ष्य, दिशा सामने निर्धारित करके काम होना चाहिए। चरमोच्च लक्ष्य क्या है?

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (४/२४)

सम्पूर्ण कार्य को कारण में लय कर दिया। देखो! यज्ञ में अनेक प्रकार के सहायक उपकरण होते हैं। अर्पण शब्द का शंकराचार्य जी ने अर्थ किया है— *अर्प्यते अनेन*— जिसके द्वारा अर्पित किया जाए और इसलिए उन्होंने उसका अर्थ लिया स्रुवा। लोकमान्य तिलक ने कहा कि यह तो जरा कठिन अर्थ है। अर्पण माने अर्पण करने की क्रिया। जो भी अर्थ लो। मूल बात क्या है? अर्पण चाहे वह स्रुवा हो, चाहे वह अर्पण क्रिया हो—ब्रह्म है। *ब्रह्मार्पणं। ब्रह्म हविः* —जिसकी आहुति दी जाएगी, वह हविष्यान्न ब्रह्म है। *ब्रह्माग्नौ* — जिस अग्नि में आहुति दी जाएगी, वह ब्रह्म है। *ब्रह्मणा हुतम्*— जो यह आहुति दे रहा है, वह होता ब्रह्म है। *'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' 'ब्रह्मकर्मसमाधिना'* यह मूल शब्द है। जिसका कर्म ब्रह्म दृष्टि से समाहित हो गया है, जिसके कर्म में ब्रह्म की समाधि लग गई है वह ब्रह्मकर्म समाधि वाला व्यक्ति है।

जिसको अपने प्रत्येक कर्म में ब्रह्म का अनुभव होता है, प्रत्येक क्रिया में ब्रह्म का अनुभव होता है, प्रत्येक उपकरण में ब्रह्म का अनुभव होता है, प्रत्येक दृश्य में ब्रह्म का अनुभव होता है, वह जब अपने प्रत्येक कार्य को; प्रत्येक क्रिया को, प्रत्येक दृश्य को उसके मूल कारण में लय कर देता है तो वह सब ब्रह्म ही हो जाता है। जिसका कर्म ब्रह्म-दृष्टि से समाहित हो गया है, उसको ब्रह्म की ही प्राप्ति होगी। अद्वैत की चरम सिद्धि है। इसमें पदार्थ की प्रधानता से बात कही गई है। इसी बात को गीता में अहं तत्त्व की प्रधानता से भी कहा गया है। नवम अध्याय में कहा है प्रभु ने—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। (९/१६)

भगवान श्रीकृष्ण कह रहे हैं और सब कुछ को 'मैं' करके कह रहे हैं। मैं ही श्रोत यज्ञ या क्रतु हूँ। मैं ही स्मार्त यज्ञ हूँ। वह जो स्वधा है वह भी मैं हूँ। वह जो सारी औषधियाँ, हवि— वह भी मैं हूँ। मन्त्र मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, आज्य मैं हूँ। जो कुछ हुत हुआ, आहुति दी गई, सब कुछ मैं हूँ। आप दोनों दृष्टियों से एक ही तत्त्व पर पहुँचते हैं। यह ब्रह्म है— मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ। आत्म-दृष्टि से सारी सृष्टि को या ब्रह्म दृष्टि से सारी सृष्टि को देखना एक ही करके सबमें अपने को और अपने में सबको देखना— यही मुख्य बात है। सारी सृष्टि ब्रह्ममय है। *ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।* दृश्यमान जगत् में अनेकताएं हैं। यह दृश्यमान अनेकता अपने मूलभूत कारण में विलीन हो गई। यही ब्रह्म-यज्ञ है। यह अद्वैत की दृष्टि है। यह अद्वैत इस्लामी एकेश्वरवाद से बहुत भिन्न है; यहूदी एकेश्वरवाद से बहुत भिन्न है; ईसाई एकेश्वरवाद से बहुत भिन्न है। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद का मौलिक अंतर समझिए। एकेश्वरवाद में एक बड़ा ईश्वर है चाहे उसका नाम जेहोवा हो, चाहे उसका नाम गॉड हो, चाहे उनका नाम अल्लाह हो। वह सबसे बड़ा है। उसके सिवाय किसी दूसरे की पूजा करोगे तो नाराज होगा। लेकिन उसके अलावा फरिश्ते हैं, उसके अलावा बन्दे हैं, उसके अलावा अठारह हजार योनियाँ हैं। सबसे बड़ा पाप यह कि तुम उस अल्लाताला से शिरकत करते हो। अल्लामा इकबाल स्वामी रामतीर्थ से बहुत प्रभावित थे। स्वामी रामतीर्थ और इकबाल एक ही कॉलेज में पढ़े थे; और रामतीर्थ पर बहुत अच्छी कविता इकबाल ने लिखी। अपने उस दौर में इकबाल ने श्रीराम के विषय में भी बहुत अच्छी कविता लिखी, गायत्री पर भी लिखी थी। उस समय उन्होंने दो अद्‌भुत शेर लिखे—

आह किसकी जुस्तजू आवारा रखती है तुझे
राह तू, रहरौ भी तू, रहबर भी तू, मंजिल भी तू।

वाए नादानी कि तू मोहताज साकी हो गया
मय भी तू, मीना भी तू, साकी भी तू, महफिल भी तू।

आह किसकी खोज तुझे परेशान रखती है। किसको खोज रहा है? तू ही तो रास्ता है, राही भी तू है, रास्ता दिखाने वाला भी तू है, लक्ष्य भी तू ही है। वाह रे नादानी कि तू साकी का मोहताज हो गया? याद रख, तू ही शराब है, तू ही सुराही है, तू ही साकी है और महफिल भी तू ही है। सब कुछ तू है। यह जो दृश्यमान अलग-अलग, नाना रूप दिखाई पड़ते हैं ये सारे कार्य जो अपने मूलभूत कारण में लीन हो जाते हैं, तब ब्रह्म यज्ञ होता है, तब ज्ञान यज्ञ होता है। यह सबसे बड़ा यज्ञ जो चरम लक्ष्य है, वह यही है। अब इस चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो अनेक प्रकार के यज्ञ हैं, उन यज्ञों का इसके बाद वर्णन किया जाता है—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। (४/२५)

दूसरे योगी— परम साधक, मुमुक्षु, कर्म-योगी- जो भी आप मान लें—दूसरे योगी दैव यज्ञ करते हैं। दैव यज्ञ के द्वारा उपासना करते हैं। दैव-यज्ञ— मैंने आपको बताया कि किसी इष्टदेव के लिए की गई उपासना, पूजा जिसमें हम भक्ति के द्वारा समर्पित होते हैं। चाहे वह यज्ञशाला में की जाए चाहे वह मंदिर में की जाए। दैव यज्ञ माने देवता के लिए की गई उपासना, देवता के लिए किया गया समर्पण भाव— यह दैव यज्ञ है।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति। अर्थात् कुछ अन्य लोग ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ की आहुति प्रदान करते हैं। अब एक बात पर ध्यान दीजिए। यज्ञ से यज्ञ करना यह पुरुष सूक्त का भाव इसमें है। गीता सम्पूर्ण वेदों का सार है। अतः स्वाभाविक रूप से उसमें पुरुष सूक्त के यज्ञ का भाव आ गया है। पुरुष सूक्त में कहा गया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।

अर्थात् प्रजापति के प्राणरूप देवताओं ने अपने मानस संकल्प रूप यज्ञ के द्वारा यज्ञस्वरूप पुरुषोत्तम का यजन किया। वही धर्म है सर्वश्रेष्ठ एवं सनातन। वे धर्मात्मा भगवान् के माहात्म्य वैभव आदि से सम्पन्न होकर परमानन्दलोक में समा गये। वहीं प्राचीन उपासक देवता विराजमान रहते हैं। इससे यह संकेतित होता है कि आत्मसमर्पण ही मानस यज्ञ है। ज्ञानस्वरूप नारायण का यजन ही प्रथम धर्म है। यह समर्पण ही

परमधर्म है और इस धर्मानुष्ठान से अपने अधिकारानुसार उपासक परात्पर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। परमात्मानुभूति ही परमपद है। इसी भाव के अनुरूप गीता कहती है— *ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।* अन्य योगियों द्वारा ब्रह्म रूपी अग्नि में अपने साध्य रूपी यज्ञ का साधन रूपी यज्ञ द्वारा हवन किया जाता है। साधना का निरन्तर परिष्कार करते-करते साधना और साध्य का एकीकरण हो जाता है। यज्ञ के द्वारा यज्ञ करना, यज्ञ के ही द्वारा यज्ञ की पूर्त्ति करना, यज्ञ का यज्ञ में हवन कर देना है। *'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति'*— यज्ञ के द्वारा यज्ञ का ही हवन, अपनी साधना को उस परम साध्य रूपी यज्ञ से एकीकृत कर देना— यह भी ब्रह्माग्नि का एक दूसरा बड़ा यज्ञ है। इसका सीधा अर्थ हुआ कि सबके कारण हैं परमात्मा, उसी में साधन, साध्य सबका हवन करना है अर्थात् सबकुछ परमात्मा के लिए करना ही यज्ञ है।

तीसरा यज्ञ—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। (४/२६)

संयमाग्नि के दो प्रकार के अर्थ किए गए। एक संयम का अर्थ हुआ नियंत्रण। सम्यक् रूप से नियंत्रण, संयम। कहते हैं न मनुष्य को संयमी होना चाहिए, संयत होना चाहिए। तो अपने कान आदि समस्त ज्ञानेन्द्रियों को संयम की आग में जिसने हवन कर दिया यानी कान से बुरी बात नहीं सुनी, आँख से बुरा दृश्य नहीं देखा, नाक से बुरी गंध नहीं ली, त्वचा से बुरा स्पर्श नहीं किया, आहार शब्द के अर्थ में शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने अंतर किया है। रामानुजाचार्य कहते हैं आहार शब्द का मतलब है भोजन। भोजन शुद्ध होना चाहिए, सात्त्विक होना चाहिए। शाकाहारी होना चाहिए, पवित्र होना चाहिए, मर्यादित होना चाहिए। शंकराचार्य कहते हैं आहार शब्द का अर्थ सिर्फ इतना नहीं है। आहार शब्द का मतलब है—*आसमन्तात्हयते*— बाहर से जो कुछ भी आप भीतर ले आते हैं —वह आहार है। दृश्य देखना आँखों का आहार है। शब्द सुनना कान का आहार है। गंध सूँघना नाक का आहार है। भोजन रसना का आहार है। स्पर्श त्वचा का आहार है। आहार शुद्धौ —का मतलब हुआ कि बाहर से जो कुछ भी आप भीतर लाएँ, शुद्ध लाएँ, पवित्र लाएँ। तो एक संयम का मतलब हुआ— सारी इन्द्रियों को संयम की अग्नि में पवित्र करना। नियंत्रित करना, धर्म के अनुकूल करना —संयम का एक सामान्य अर्थ यह है। अधिकांश लोगों ने यह अर्थ लिया है। कुछ लोगों ने विशेष अर्थ लिया है। विशेष अर्थ क्या है? अष्टांग-योग में यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि ये आठ नियम हैं। उसमें धारणा-ध्यान और समाधि

को *'त्रयं एकत्र संयमः'* धारणा-ध्यान और समाधि का जब एकत्रीकरण होता है— तब संयम होता है। पाँच जो स्तर हैं ये बाह्य हैं और योग का जो अंतरंग है— वह धारणा से शुरू होता है। मन को एक देश-विशेष में निबद्ध कर देना— यह धारणा है। मन चित्त रूपी हृदय-कमल को ही देखता रहेगा — यह धारणा है। मन को एक कमरे के बाहर नहीं जाने देना यह धारणा है। मन को एक देश-विशेष में स्थिर कर देना, यह धारणा है। एक देश-विशेष में एक वस्तु-विशेष की ओर उन्मुख करना—यह ध्यान है। लेकिन उस ध्यान में बीच-बीच में विक्षेप होता है। बीच-बीच में दूसरी वृत्तियों का आगमन हो जाता है। जब विजातीय प्रत्ययों का सर्वथा परिहार हो जाए एवं सजातीय प्रत्यय भी अविराम रूप से चलता रहे तब समाधि होती है। प्रत्यय माने जो कुछ हमको सोचना, अनुभव करना है। तो जिसका हम ध्यान कर रहे हैं, उससे अलग जो कुछ भी है वह विजातीय प्रत्यय है। उसका सर्वथा निषेध करके जो सजातीय प्रत्यय है, उसका अविच्छिन्न प्रवाह होना चाहिए। जैसे समझ लो— हम श्रीराम के चरणों का ध्यान कर रहे हैं। तो श्रीराम के चरणों का ही ध्यान करें। श्रीराम के चरणों को छोड़ कर और कोई दूसरी वृत्ति अपने नेत्रों में, अपने मन में नहीं आने दें। जब वह ध्यान स्थिर हो जाए, तब समाधि होती है। आप साकार का ध्यान करें, निराकार का ध्यान करें अनेक प्रकार की समाधियाँ हैं। सबीज है निर्बीज है, आदि-आदि लेकिन धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एकत्र संयम होता है। तो शंकराचार्य ने और उनके अनुयायियों ने कहा कि संयम का मतलब यहाँ धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्रीकरण है। वे कहते हैं कि समस्त ज्ञानेन्द्रियों का जब हम समाधि की स्थिति में केन्द्रीकरण करते हैं, तो वह एक विशेष यज्ञ है। उससे समस्त विजातीय प्रत्ययों का, दूसरी कल्पनाओं का निषेध हो जाता है। तो एक यह है। इससे मन बहुत शुद्ध हो जाएगा।

चौथा एक अलग प्रकार का यज्ञ है— *शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।* यह हम गृहस्थ लोगों के लिए है। गृहस्थ आदमी जिएगा तो उसको खाना भी है। उसको परिवार के लिए पैसा भी कमाना है। उसको कपड़ा भी पहनना ही है। तो कहते हैं— *'शब्दादीन्विषयानन्य'*— शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध-सारी सृष्टि को पाँच विषयों में बाँट दिया। कोई छठा विषय नहीं है, सारी सृष्टि में कुछ शब्द हैं, कुछ दृश्य हैं— इन पाँचों के अलावा कोई छठा विषय नहीं। तो ये पाँचों विषय इन्द्रियों की अग्नि में समर्पित। मतलब क्या हुआ? कि हमारी पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों विषयों का धर्म के अनुकूल सेवन करें। हम विषयों का तो सेवन करेंगे। हम दृश्य तो देखेंगे लेकिन हम पवित्र दृश्य देखेंगे। हम अपवित्र दृश्य नहीं देखेंगे। हम लोगों की बात तो सुनेंगे, सत्संग की बात सुनेंगे। हम

खाएँगे, हम पवित्र भोजन करेंगे। हम स्पर्श करेंगे— सज्जनों का संस्पर्श करेंगे। ये जो पाँचों विषयों को इन्द्रियों की आग में समर्पित करना, संयम में समर्पित करना यानी विषय-भोग को धर्म के अनुरूप करना। भगवान् ने कहा है— *धर्माविरुद्धेषु भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।* धर्म से अविरुद्ध काम मैं हूँ। भगवान ने काम का सर्वथा निषेध नहीं किया है गीता में। गृहस्थ व्यक्ति क्या करेगा? उसकी तो अनेक कामनाएँ हैं। हमारी कामनाएँ धर्म-विरोधी न हों। धर्म से अविरोधी कामनाएँ हम अपने जीवन में लाएँ और धर्म से अविरोधी उन कामनाओं का सेवन करें— यह भी यज्ञ है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। (४/२७)

अपने प्रत्येक कर्म को अपनी समस्त इन्द्रियों के कर्मों को, अपने समस्त प्राणों के कर्मों को जो ज्ञान के द्वारा दीप्त आत्मसंयम रूपी योगाग्नि में होम कर देता है, वह भी एक विशिष्ट यज्ञ करता है। अज्ञानमय आग में नहीं, सुनी-सुनाई, कही-कहाई बात की आग में नहीं, ज्ञान के द्वारा अनुभूत, ज्ञान के द्वारा प्रकाशित आत्मसंयम रूपी योग की अग्नि में जो अपनी इन्द्रियों के कर्मों को, अपने प्राण के कर्मों को, अपनी बुद्धि के कर्मों को, अपने मन के कर्मों को, अपने शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक, बौद्धिक, प्राणिक, चैतनिक—समस्त कर्मों को आहुति के रूप में अर्पित कर देना भी यज्ञ करना है। आत्म-संयम माने अपने पूरे शरीर का संयम, इन्द्रिय का, मन का, बुद्धि का, प्राण का, सबका संयम करते हुए जो कर्मों का समर्पण करता है वह और भी विशिष्ट यज्ञ है। उस यज्ञ का भी बड़ा सम्मान है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अन्ध आवेगों से, काम, क्रोध, लोभ आदि से प्रेरित होकर कर्म न करें। ज्ञान के आलोक से निर्धारित सत्कर्मों को भी संयमपूर्वक करें। हमारा ऐसा आचरण यज्ञ ही होगा।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। (४/२८)

द्रव्य यज्ञ— अपने परिश्रम से कमाये हुए पैसे का कैसा विनियोग करें? जो अपने पैसे से धर्मशाला बनाता है, विद्यालय बनाता है, पुस्तकालय बनाता है, अस्पताल बनाता है— वह द्रव्य यज्ञ करता है। पैसे का सदुपयोग होना चाहिए। द्रव्य का एक यज्ञ वह भी है जिसमें हम समिधा, घृत, हवि आदि एकत्र कर यज्ञाग्नि में उनकी आहुति दें। वह भी द्रव्य यज्ञ है लेकिन उससे भी बड़ा यज्ञ है अपने धन को सत्कार्यों के लिए व्यय करना, सत्पात्रों को देना, ऐसा शंकराचार्य जी ने बताया, दूसरे बड़े आचार्यों ने बताया। यज्ञ के लिए कहा गया है कि शुक्ल द्रव्य से यज्ञ करना चाहिए अर्थात् ईमानदारी की

कमाई से जो पैसा मिला उससे यज्ञ करना चाहिए। काले धन से नहीं करना चाहिए। तो हमने जो पैसा कमाया है, उस पैसे का उपयोग यदि समाज सेवा के लिए किया, तो वह द्रव्य यज्ञ हुआ। *तपोयज्ञाः* —किसी भी बड़े काम को सिद्ध करने के लिए किया गया परिश्रम तप है। कोई बड़ा काम बिना तपस्या के नहीं होता। श्रीरामचरितमानस में तुलसी बाबा ने सुन्दर गौर विप्रवर से स्वप्न में पार्वती माता को उपदेश दिलाते हुए कहलाया है—

तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा।
तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जग त्राता।।
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरहि महि भारा।।
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जिय जानी।।

सारी सृष्टि का आधार तप है। भगवान ने सृष्टि रची तो उसके लिए उपनिषदों में आया— *स तपोऽतप्यत्।* भगवान ने तप किया। तप करने के बाद उसने सृष्टि रची। और सृष्टि रचने के बाद स्रष्टा सृष्टि में समा गया। इस सृष्टि में स्रष्टा समाया हुआ है। हर सृष्टि में स्रष्टा समाया हुआ है। कोई एक पुस्तक लिखता है, कविता रचता है, उस कविता में स्रष्टा है या नहीं? कोई चित्र बनाता है, उसमें चित्रकार है कि नहीं? सृष्टि में स्रष्टा समाया हुआ है। बड़ी सृष्टि कैसे होती है? बड़ी सृष्टि तप से होती है। *तपोयज्ञा* — कोई भी बड़ा काम तप है। अपने छोटे-से बच्चे को पालना कम तप है? उसको एक आदमी बनाना छोटा तप है? कितना मन को मारना पड़ता है। कोई भी बड़ा काम बिना तप के नहीं होता। तप यज्ञ है। *'योगयज्ञास्तथापरे'* —ध्यान योग के बारे में आगे भी कहा ध्यान योग के बारे में बाद में भी कहेंगे। तो इसलिए लोकमान्य तिलक कहते हैं, यहाँ योग का मतलब है कर्मयोग। अनासक्त भाव से जो कर्म किया जाता है वह योग होता है। वही यज्ञ होता है। इसी प्रकरण में आगे कहा गया है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।। (४/३२)

सारे यज्ञ कर्मज हैं। कर्म के द्वारा किए जाते हैं। अतः यज्ञ कर्म हैं; लेकिन सारे कर्म यज्ञ नहीं? कौन से कर्म यज्ञ होते हैं? जो धर्म से अविरुद्ध हों, जो दूसरे के लिए समर्पित हों, जो निष्काम हों —वे कर्म यज्ञ होते हैं। जो कर्म धर्म के विरुद्ध हों, जो स्वार्थपरक हों —वे कर्म यज्ञ नहीं होते। इसलिए लोकमान्य तिलक मानते हैं कि यहाँ के लिए ही कहा गया है *'योगयज्ञास्तथापरे'*। कुछ लोग कहते हैं कि यह कथन अष्टांग-योग के लिए है। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि इसको कर्मयोग के लिए

मानना चाहिए, क्योंकि उस योग की बात ऊपर और नीचे दोनों जगह कही गई है। ऊपर संयम शब्द का जिन्होंने अर्थ लिया धारणा-ध्यान-समाधि, उन्होंने वहाँ अष्टांग योग का ही अभिप्राय ग्रहण किया है। नीचे प्राणायाम प्रत्याहार का प्रसंग आया है। *'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च'* — स्वाध्याय यज्ञ है। हमलोग स्वाध्याय करते हैं तो क्या करते हैं? जिह्वा की स्रुवा से भीतर जो विश्वान्तर्यामी परमात्मा हैं, उसमें अध्येतव्य महत् ग्रन्थ की आहुति देते हैं। हर किताब का पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। आजकल कैसी कैसी किताबें निकल रही हैं। दूषित किताबों का पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। स्वाध्याय है बड़ी किताबों का, महान् पुस्तकों का अध्ययन, जो हमारे जीवन को पवित्र बनाती हैं। स्वाध्याय कैसे करना चाहिए? जो पढ़ा, वह भूल गए? क्या स्वाध्याय किया भाई? जब हमने अपनी जिह्वा की स्रुवा से अध्येतव्य ग्रन्थ को आत्मसात् कर लिया। उस बड़े ग्रंथ को हमने अपने जीवन में उतार लिया। गीता का स्वाध्याय करने का मतलब क्या हुआ? गीता का स्वाध्याय करने का मतलब हुआ कि गीता का मर्मार्थ हमारे जीवन में उतर आया। स्वाध्याय का एक अर्थ होता है, अपना अध्ययन। स्व का अध्ययन स्वाध्याय है। अध्याय माने अध्ययन— *'अध्ययनं अध्यायः'*। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण— किसी भी महान् ग्रन्थ का अध्ययन करना, खाली अपने धर्मग्रन्थ का नहीं, दूसरे धर्म की महान् किताबों का भी अध्ययन करना, दूसरे विषयों की बड़ी पुस्तकों का भी अध्ययन करना, स्वाध्याय है। महान् ग्रन्थों का अध्ययन करना। मैं क्या यह शरीर हूँ? मैं कौन हूँ? शरीर कि इन्द्रिय, कि मन, कि बुद्धि, कि चित्त, कि उसके भीतर कुछ और? 'मैं कौन हूँ? रमण महर्षि इसी को चरम जिज्ञासा कहते हैं। जिन्होंने भी रमण महर्षि का उपदेश पढ़ा है, वे इस बात को जानते हैं, वे कहते थे कि मैं कौन हूँ— इसी का विचार करते रहिए— यह स्वाध्याय है। मैं कौन हूँ? क्यों आया हूँ? किसलिए आया हूँ, इसका अनुशीलन करना स्वाध्याय है। अपना अध्ययन किए बिना हम सारी दुनिया की बात सोचते रहते हैं।

छाने हमने अमित लोक, पर अपना मर्म न जाना।

मैं कौन हूँ, इसको जानो। अपने को जानो। *आत्मानं विद्धि:* —अपने को जानो। यह स्वाध्याय यज्ञ है। ज्ञान-यज्ञ है। ज्ञान-यज्ञ का सबसे बड़ा रूप अभी मैंने बताया ऊपर, ब्रह्मार्पण। नीचे फिर बताऊँगा। लेकिन मोटे तौर पर गीता का ज्ञान-यज्ञ चल रहा है। लेकिन जब किसी बड़े सत्य की सामूहिक चर्चा, किसी बड़े ज्ञान का सामूहिक विवेचन श्रद्धा के साथ, निष्ठा के साथ किया जाता है ऐसा विवेचन, स्वार्थ के लिए नहीं किया जाता है, तो वह ज्ञान-यज्ञ होता है। एक बढ़िया दोहा है—

मुक्ति न होत वक्तान की, धनहित कथत पुरान।
जाड़ न जात बजाज को कोटिक बेचत थान।।

कोई बजाज है, कंबल बेचता है। ले जाओ कंबल, ले जाओ कंबल। कंबल बेचने से सर्दी दूर होगी? कंबल तो ओढ़ने से सर्दी दूर होगी। जो कथावाचक पैसा कमाने के लिए कथा सुनाते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती। इसीलिए कहते हैं कि कथा श्रोत्रिय से सुननी चाहिए, कथा ज्ञानी से सुननी चाहिए। शुकदेव से सुननी चाहिए। शुकदेव सुनाते हैं जब श्रीमदभागवत् की कथा तो परीक्षित को आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। ज्ञान-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ तब बनता है जब ज्ञान-यज्ञ का होता स्वयं ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञान देने के लिए, ज्ञान में निष्ठा उद्‌बुद्ध करने के लिए उस यज्ञ का संचालन करता है। पैसा कमाने के लिए नहीं। *स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।* बड़े-बड़े यति, बड़े-बड़े संयमी पुरुष जिन्होंने यम किया है, वे यति हैं। संयम से संयत, यम से यति। यति वह है जिसका अपने ऊपर पूरा नियंत्रण है। तो वे बड़े-बड़े यति बड़ा तीक्ष्ण व्रत धारण करते हैं, चाहे वे द्रव्य यज्ञ करें, तपो-यज्ञ करें या और दूसरे प्रकार के यज्ञ करें। बहुतों ने व्रत को भी यज्ञ कहा है। लोग चान्द्रायण व्रत करते हैं। जीवन-यापन का कोई बड़ा स्वरूप स्वीकार कर लेना— वह भी व्रत है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। (४/२९)

प्राणायाम के चार भेद हैं। एक है पूरक, अन्तः कुम्भक, रेचक, बाह्य कुंभक। इसमें प्राणायाम की प्रक्रिया बताई गई है। उन्तीसवाँ श्लोक प्राणायाम रूपी यज्ञ का निरूपण करता है। हमारे देश में प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। कहा गया है कि जैसे धातुओं को तपाने से धातुओं का मल जल जाता है वैसे ही प्राणायाम करने से इन्द्रियों का मल निकल जाता है। प्राणायाम करने से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं। प्राणायाम परायण व्यक्ति अपने मन पर नियंत्रण करता है। बराबर याद रहे कि नियंत्रण मन पर करना है। *'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'* चित्त की वृत्ति को निरुद्ध करना— यह योग का सबसे बड़ा लक्ष्य है। चित्त सबसे अधिक चंचल है। *'चंचलं हि मनः कृष्णः'* —इस सूक्ष्मतम मन को नियंत्रित करने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्मतम की ओर जाने की प्रक्रिया है। सबसे स्थूल है शरीर। इसलिए हमलोग पहले करते हैं योगासन। उनसे शरीर पर नियंत्रण होता है। शरीर से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ। अभी आपको इन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण करने के इतने उपाय बताये गये। प्राणायाम भी इन्द्रियाँ को नियंत्रित करने का एक बड़ा उपाय है। इसके द्वारा हमलोग श्वास-प्रश्वास को नियंत्रित करते हैं। श्वास-प्रश्वास का नियंत्रण करना अगर

हम सीख लेंगे तो हम अपनी इन्द्रियों के दोष को दूर कर सकते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।। (६/७१)

अर्थात् जिस प्रकार तपायी हुई धातुओं को यंत्रों के द्वारा फूकने पर उनके दोष जल जाते हैं उसी प्रकार प्राणों का.... श्वास प्रश्वास का निग्रह करने पर इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं। इन्द्रियों के दोष जल जाएँगे अगर तुम प्राणों का निग्रह कर सके, अगर तुम प्राणायाम कर सके। आयाम माने नियंत्रण, प्राणायाम माने प्राणों का नियंत्रण। इसमें कहा गया है *'अपाने जुह्वति प्राणं'* —अपान जो नीचे की श्वास है, ऊपर से नीचे ले जाना। तो बाहर से साँस लेकर हम जब नीचे ले जाते हैं तो हम प्राण को अपान में हवन करते हैं। इसको कहते हैं पूरक। बाहर की साँस खींच कर जब हम भीतर ले गए, तो हमने साँस भरी। यह पूरक है। हमने प्राण का हवन अपान में किया। *'प्राणेऽपानं तथापरे'* —अपान को, भीतर की साँस को जब हम बाहर ले जाते हैं, तो इसको कहते हैं रेचक। हमने अपान का हवन प्राण में किया। *'प्राणापानगती सद्धवा'* —हमने प्राण और अपान—दोनों की गति को रोक दिया। यह हुआ कुंभक। कुंभक दो प्रकार का होता है— एक होता है अंतः कुंभक, एक होता है बाह्य कुंभक। जब हमलोग प्राणायाम परायण होते हैं, अर्थात् नियमित रूप से प्राणायाम करते हैं, तो पूरक से शुरू करते हैं। पूरक से शुरू करके बाहर से साँस भीतर ले जाते हैं और भीतर ले जा करके हम दोनों नासापुटों को तब बन्द कर देते हैं। इसको कहते हैं कुंभक। हमने प्राण और अपान दोनों की गति को भीतर रोक लिया। साँस भीतर है — इसको कहते हैं अंतःकुंभक। फिर हमने भीतर की साँस को बाहर निकाल दिया— इसको कहते हैं, रेचक। और हमने प्राण और अपान दोनों की गति को बाहर रोक दिया; इसको कहते हैं बाह्य कुंभक। पूरक, अंतःकुंभक, रेचक और बाह्य कुंभक। इसमें एक अनुपात है। एक-चार-दो-दो का अनुपात है। एक मात्रा में साँस लेनी चाहिए, चार मात्रा में साँस रोकनी चाहिए, दो मात्रा में साँस छोड़नी चाहिए, दो मात्रा में साँस बाहर रोकनी चाहिए। जैसे समझ लीजिये कि *ॐ नमः शिवाय* —यह अगर हमने एक इकाई मानी और दो बार *ॐ नमः शिवाय* करके हमने साँस भीतर ली तो आठ बार *ॐ नमः शिवाय* करके हमको साँस रोकनी चाहिए। चार बार *ॐ नमः शिवाय* करते हुए हमको साँस छोड़नी चाहिए। और चार बार *ॐ नमः शिवाय* करते हुए हमको साँस बाहर रोकनी चाहिए। फिर इसको बढ़ाना चाहिए। तीन बार मंत्र जपिये पूरक के समय तो तीन-बारह-छह-छह

का क्रम होगा। चार बार मंत्र जपिये। चार-सोलह-आठ-आठ। पाँच बार तो पाँच-बीस-दस-दस। जितना बढ़ा सकें बढ़ायें। ऋषियों ने दीर्घ प्राणायाम करके दीर्घायु प्राप्त की है। प्राणायाम की बहुत महिमा है और गीता में बड़े यज्ञों में प्राणायाम को एक यज्ञ कहा है। अपनी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया का नियंत्रण करना —यह एक बहुत बड़ा यज्ञ है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा।। (४/३०)

नियताहाराः —आहार कम करना चाहिए, नियमित मात्रा में करना चाहिए। आहार करने के चार नियम हैं— *हितभुक्* —हितकर भोजन करना, *मितभुक्*— हितकर भोजन भी परिमित करना चाहिए, ज्यादा नहीं करना चाहिए। *ऋत् भुक्*--ईमानदारी का खाना चाहिए। *स्मित भुक्*--मुस्कुराते हुए प्रसन्न होकर खाना चाहिए। खाते समय चीखना चिल्लाना नहीं चाहिए। खाते समय दोष नहीं निकालना चाहिए कि इसमें नमक बढ़ गया, यही तुमको बनाना आता है? ऐसा नहीं बोलना चाहिए। हँसकर, मुस्कुरा कर प्रेम से खाइये। जो सामने आया है, उसे भगवान का प्रसाद समझकर खाइये। नियताहाराः —कम भोजन करना भी यज्ञ है। *अपरे नियताहाराः* —भगवान ने गीता में बार-बार कहा है

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (६/१७)

योग उसका दुःख दूर करता है जो युक्त आहार-विहार करता है। अयुक्त नहीं। *'प्राणान्प्राणेषु जुह्वति'* —अपने प्राणों की क्रिया को अपने ही प्राणों में अर्पित कर दीजिए। निष्काम भाव से अपनी सारी प्रक्रियाओं को, अपनी सारी चेष्टाओं को अपने मूल में हवन कर दीजिए। यह भी यज्ञ है। *सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।* निष्काम हो जाइये। प्राण का, श्वास-प्रश्वास का क्रिया-प्रक्रिया का कोई फल अपनी ओर मत खींचिये। यज्ञ करने का क्या मतलब होता है? यज्ञ करने का मतलब होता है कि फल उसको मिल रहा है, जिसके लिए यज्ञ किया जा रहा है। अपनी ओर उसका फल खींचना— यह काम्य यज्ञ है। काम्य यज्ञ को गीता महत्त्व नहीं देती। काम्य कर्म को भी महत्त्व नहीं देती। गीता जैसे निष्काम कर्म को महत्त्व देती है वैसे ही निष्काम यज्ञ को महत्त्व देती है। *सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।* जितने प्रकार के यज्ञ-कर्त्ता बताए गए —ये सब यज्ञ के रहस्य को जानते हैं। यज्ञविदो माने? यज्ञवेत्ता। यज्ञवेत्ता माने यज्ञ के रहस्य को जानने वाला। कोई क्रिया-विशेष यज्ञ नहीं है। प्रत्येक क्रिया यज्ञ हो सकती है। मेरे गुरुजी कहते थे कि भक्ति क्रिया-निरपेक्ष है। गीता में

बताया गया कौन सा कर्म करो। आश्चर्य है कि पूरी गीता में भक्ति करने का कोई विधान नहीं बताया गया है। कैसा तिलक लगाओ? कैसा कपड़ा पहनो? किस देवता की उपासना करो? कैसी मूर्त्ति होनी चाहिए? क्यों नहीं बताया गया? क्योंकि उन्होंने कहा कि भक्ति तो क्रिया-निरपेक्ष है। कैसे भक्ति करो?

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

गीता कहती है कि जो प्रभु प्राणियों को प्रदान करते हैं, जो सर्वव्यापी हैं अपने कर्म से उसकी उपासना करो। कर्म को ही अर्चना बना लो। *'स्वकर्मणा तमभ्यर्च'* — कोई क्रिया-विशेष भक्ति नहीं है। जो क्रिया भगवान के लिए की जाएगी, वह क्रिया भक्ति है। कोई क्रिया-विशेष यज्ञ नहीं है। जो क्रिया— चाहे वह स्वाध्याय हो, चाहे वह प्राणायाम हो, चाहे वह तपस्या हो, चाहे वह पुस्तकालय चलाना हो, चाहे वह पाठशाला चलाना हो— अगर लोकमंगल के लिए समर्पित है, अगर निष्काम भाव से अनुष्ठित है तो वही क्रिया यज्ञ है। *'यज्ञविदो'* —यज्ञ के रहस्य के ज्ञाता कैसे कोई कर्म यज्ञ हो जाता है —इसको जानते हैं और उस यज्ञ के द्वारा सारे कल्मषों को नष्ट कर देते हैं। *'यज्ञक्षपितकल्मषाः'* कर्म अपने में इसलिए बुरा माना गया कि वह हमको बाँधता है। काम्य कर्म का फल भोगना पड़ेगा।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतम्कर्म शुभाशुभम्

बुरा काम या अच्छा काम करने का फल भोगना पड़ेगा। फिर जन्म लेना पड़ेगा। कर्म हमको बाँधे नहीं, यह विधा आनी चाहिए कि हम कर्म को अकर्म कैसे कर दें? हम अपने कर्म को यज्ञ कैसे कर दें? क्योंकि भगवान ने गीता में तृतीय अध्याय में कहा— *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* संसार के लिए किया गया कर्म बंधन में डालता है। यज्ञ के लिए किया गया कर्म बंधन से मुक्त करता है। कर्म को यज्ञ बना दोगे तो कर्म का जो पाप है वह नष्ट हो जाएगा। यज्ञक्षपितकल्मषाः —यज्ञ करके, समस्त यज्ञ कर्मों का जो पाप है, वह नष्ट हो जाएगा। अब बताते हैं कि कैसा भोजन करना चाहिए?

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। (४/३१)

यज्ञ से बचा हुआ जो भोजन है— वह अमृत है। अपने घर में खाते तो सब लोग हैं पर गीता कहती है कि केवल अपने लिए बनाओ, और स्वयं खाओ —यह पाप है। अपने साथ औरों को भी शामिल करना चाहिए, तभी भोजन सार्थक होता है।

केवलाद्यो भवति केवलाघः —अपना भोजन केवल स्वयं खाने वाला पापी होता है। परम्परा के अनुसार हमलोगों के यहाँ पाँच महायज्ञ होने चाहिए। पहले ब्रह्मयज्ञ हो फिर पितृयज्ञ हो फिर देवयज्ञ हो, फिर अतिथियज्ञ हो, फिर भूतयज्ञ हो— सबके लिए थोड़ा-थोड़ा निकालो। तो, स्मार्त यज्ञ तो पंच महायज्ञ रोज करने चाहिए। अध्ययन - अध्यापन से भगवान की उपासना करनी चाहिए। यह ब्रह्मयज्ञ है। माता-पिता की सेवा करनी चाहिए, पितरों का तर्पण करना चाहिए। यह पितृयज्ञ है। स्वाध्याय करना चाहिए —यह भी ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत आता है। अतिथियों की सेवा करना— नृयज्ञ है। समस्त पशु-पक्षी-प्राणियों की सेवा करना—यह भूत यज्ञ है। ये पाँचों यज्ञ सबके लिए हैं, अतः ये तो हैं सामान्य यज्ञ। किन्तु कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से हर एक का यज्ञ अलग-अलग है। उदाहरण के लिए राजा का विशेष यज्ञ क्या है?

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा,
न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा,
पंचैव यज्ञाः कथिताः नृपाणाम्।। (अत्रि संहिता)

राजा के लिए विशेषरूप से करने योग्य पाँच यज्ञ हैं। राजा को ये पाँच यज्ञ करने ही चाहिए। पहला यज्ञ है उसके लिए *'दुष्टस्य दण्डः'* —राजा दुष्ट को दण्ड देता है, तो यज्ञ करता है। आज हमारे समाज में यह यज्ञ नहीं हो रहा है। अधिकांश दुष्ट दण्डित नहीं हो रहे हैं। इसलिए भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। अपराध बढ़ रहे हैं। *'सुजनस्य पूजाः'* —सज्जन व्यक्ति की पूजा —यह भी यज्ञ है। *'न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः*— न्याय से राजकोष की वृद्धि करना। *अपक्षपातोऽर्थिषुः* — जो अर्थी है, व्यवहार जीवी हैं, जिसने तुम्हारे सामने आकर मुकदमा किया है कि उसने गलत किया है, उसने अन्याय किया है— उसमें निष्पक्ष होकर निर्णय करना यह भी यज्ञ है। *राष्ट्र रक्षा* — यज्ञ है। *पंचैव यज्ञाः कथिताः नृपाणाम्*—राजाओं के लिए आवश्यक करणीय ये पाँच यज्ञ हैं। यज्ञ क्या केवल यज्ञशाला में होता है? गीता ने, हमारी सनातनी दृष्टि से यज्ञ को प्रत्येक क्रिया से जोड़ दिया है। जो जिसका कर्त्तव्य है, वह कर्त्तव्य, अगर लोक मंगल के लिए समर्पित होकर किया जा रहा है तो वह यज्ञ है। ऐसा यज्ञ करने के बाद जो भोजन बचता है, वह अमृत है। उस अमृत भोजन को करने वाला सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है। और जो यज्ञ नहीं करता— न उसका यह लोक है, न परलोक है। जो अयज्ञी है, जो यज्ञ नहीं करता, वह तो मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं है। यज्ञ नहीं करता माने? जो केवल अपने स्वार्थ के लिए काम करता है। जिसका जीवन स्वार्थ-

केन्द्रित है, जिसका जीवन धन-केन्द्रित है, जिसका जीवन परिवार-केन्द्रित है— वह पापी है। हमारा आपका जीवन यज्ञ-केन्द्रित होना चाहिए। जीवन यज्ञमय होना चाहिए। जो यज्ञ नहीं करता उसके लिए न यह लोक है न परलोक।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। (४/३२)

ऐसे बहुत से यज्ञ वेदों में कहे गए हैं। *वितता ब्रह्मणो मुखे* का अर्थ है, वेद के मुख द्वार से। वेद की वाणी से विस्तारपूर्वक कहे गये हैं। यहाँ ब्रह्म शब्द का प्रयोग वेद के अर्थ में किया गया है। याद रखें कि यह जो सूक्ष्म यज्ञ का विवेचन है यह उपनिषदों में ही शुरू हो गया था। गीता समस्त उपनिषदों का सार है। कर्मकांड के जो स्थूल यज्ञ थे उनको ज्ञान-कांड में, सूक्ष्म यज्ञ में रूपांतरित कर दिया गया। इसलिए कहा गया कि वेदों में बहुत प्रकार के यज्ञ कहे गए हैं। ये तमाम यज्ञ कर्म से सिद्ध होते हैं।

कर्मजान्विद्धि तान् सर्वान् —कर्म ही यज्ञ के मूल में हैं। कर्म को ही यज्ञ बनाना है। कर्म को यज्ञ बनाना है —इस रहस्य को जानने वाला ही मुक्त होता है *एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे* —कर्म के बंधन से मुक्त कौन होगा? जो कर्म को यज्ञ बना देगा। जो कर्म को अकर्म बना देगा। सारे यज्ञ कर्म से उत्पन्न हैं। उन कर्मों को यज्ञ बना दो। *एवं ज्ञात्वा* —इस प्रकार जान कर के ही तुम कर्म के फल से मुक्त हो सकते हो। केवल कर्म करोगे स्वार्थ के लिए तो तुम कर्म के फल से मुक्त नहीं होओगे, तब तुम कर्म के फल से बँधोगे। जब तुम कर्म का रूपान्तरण यज्ञ में कर दोगे तो उस कर्मज यज्ञ को, कर्म को यज्ञ का रूप देने के बाद तुम कर्म के फल के बंधन से मुक्त होओगे —यह समझ कर ही तुम कर्म का यज्ञ-रूपान्तरण करो। यज्ञ-कर्म से सिद्ध होते हैं— इसको जानना चाहिए। अब इसमें यज्ञों का तारतम्य बताते हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। (४/३३)

हे अर्जुन! दूसरे यानी शत्रुओं को ताप देने में जो समर्थ है, शत्रुओं को परास्त करने में जो समर्थ है वह अर्जुन! तुम इस बात को समझो कि स्थूल यज्ञों की तुलना में जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म यज्ञ हैं, वे श्रेष्ठ हैं। द्रव्यमय यज्ञ— यह स्थूल यज्ञ है। चाहे समिधा, घृत, हविष्य आदि के द्वारा यज्ञ-शाला में किया गया यज्ञ हो वह भी द्रव्यमय यज्ञ है, चाहे तुमने जो पैसा कमाया उसका तुमने सदुपयोग जनसेवा में किया, वह भी द्रव्यमय यज्ञ है। इन स्थूल द्रव्यमय यज्ञों की तुलना में जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म यज्ञ हैं वे श्रेष्ठ हैं जैसे तप यज्ञ, प्राणायाम यज्ञ, योग-यज्ञ आदि। लेकिन सबसे ऊँचा यज्ञ है ज्ञान-यज्ञ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। सबसे बड़ा यज्ञ ज्ञान-यज्ञ है; क्योंकि सारे कर्मों की समाप्ति ज्ञान में हो जाती है। देखो! सर्व और अखिलं दो बार क्यों आया? इस प्रश्न के कई उत्तर दिये गये हैं। एक विद्वान् ने कहा है, सर्व का अर्थ है क्रियमाण कर्म और अखिल का अर्थ है संचित कर्म। ये दोनों प्रकार के कर्म ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं। एक दूसरे विद्वान् ने बताया कि सर्व का अर्थ है श्रौत कर्म और अखिल का मतलब है स्मार्त कर्म। इसी तरह कुछ और अर्थ भी किये गये हैं। इस शब्दयुग्म के प्रयोग का मूलभाव यह है निरपवाद रूप से समस्त कर्म। *सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।* अर्थात् सृष्टि के ये सारे कर्म, अपने सम्पूर्ण रूपों के साथ ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। क्या मतलब है इसका? क्रियाओं के द्वारा जो कुछ सिद्ध है वे सब कार्य हैं। क्रिया का फल जिस पर पड़े वह कार्य होता है। मैंने एक बार आपको समझाया था कि क्रिया और कर्म में थोड़ा सा अन्तर है। क्रिया तो है हलचल, कुछ करना। कर्म वह है जो क्रिया के फलस्वरूप हो जैसे भक्तगण मन्दिर बना रहे हैं। बनाना क्रिया है, क्या बना रहे हैं। (बनाने के परिणाम स्वरूप क्या बन रहा है।) मन्दिर। अतः यह भी कर्म है।

मैंने आपको सुनाया था कि एक विद्यालय में विद्यार्थी खूब हल्ला-गुल्ला कर रहे हैं। एक चपरासी आकर खूब जोर से बोलता है चुप रहो। उसकी क्रिया उग्र है। विद्यार्थियों का चुप होना रूपी कर्म कम है। कुछ लड़के चुप होते हैं, कुछ नहीं। अध्यापक आकर बोलता है तो लड़के चुप हो जाते हैं। प्रधानाध्यापक सिर्फ गुजर जाए वहाँ से, तो लड़के चुप हो जाते हैं। क्रिया उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है कर्म उत्तरोत्तर बढ़ता है। उस दिन संयोग से मेरी दोहिती यहाँ उपस्थित थी। घर जाकर उसने कहा—बाबूजी आपने ठीक कहा, हमारे स्कूल में ऐसा ही होता है। पर आपको कैसे मालूम पड़ गया? तो सारे कर्मों की परिसमाप्ति पूर्ण रूप से ज्ञान में हो जाती है। यह कौन सा ज्ञान है जिसमें सारे कर्मों की समाप्ति हो जाती है? जिसके बाद कोई कर्म करना शेष नहीं रह जाता? ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक वृत्ति ज्ञान होता है। इस वृत्ति ज्ञान में तीन चीजें अलग-अलग रहती हैं। एक ज्ञेय, उस ज्ञेय की जानकारी प्राप्त करने की प्रक्रिया है ज्ञान; और एक ज्ञाता। ज्ञाता—ज्ञेय-ज्ञानकी त्रिपुटी होती है। यह माइक्रोफोन है। इसके बारे में मैं जानना चाहता हूँ। मैं नाम रूपधारी विष्णुकान्त शास्त्री, ज्ञाता बनना चाहता है माइक्रोफोन के ज्ञान का। तो ज्ञेय हो गया माइक्रोफोन, ज्ञाता हो गया एक व्यक्ति और इसके बारे में जो शास्त्र है, वह हो गया ज्ञान जिसके द्वारा मैं इसके बारे में जानकारी प्राप्त करता हूँ। यह ज्ञान, कर्म की परिसमाप्ति करने वाला नहीं होता। वह ज्ञान यज्ञ

कौन है जिसके द्वारा कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है, जिसके बाद कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता, जिसके बाद कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। वह कौन सा ज्ञान है?

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

भगवान ने श्रीमद्भागवत् में बताया है कि तत्त्ववेत्ता उसे तत्त्व कहते हैं जो अद्वय ज्ञान है। जिसमें द्वैत नहीं रहता। जिसमें ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का लय हो जाता है। वह ज्ञान यज्ञ सबसे बड़ा है, जिस ज्ञान की प्राप्ति के बाद प्राप्त करने लायक कुछ शेष नहीं रह जाता, करने लायक कुछ बाकी नहीं रह जाता। क्या करते हैं हम ? क्यों करते हैं हम? जिसको कुछ पाना बाकी रह गया है, वह कुछ करता है। आप अगर कुछ पाना चाहते हैं तो आपको कुछ करना होगा। बिना किए आप कुछ पा नहीं सकते। जब परम ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का लय हो जाता है, जिसमें अद्वैत ज्ञान का अनुभव होता है। साक्षात, अपरोक्ष, मैं ही ब्रह्म हूँ— मैं ही सबमें हूँ, सब मुझमें है, मेरे सिवाय और कुछ नहीं है तो क्या पाना बाकी रह गया? क्या करना बाकी रह गया? अतः उस ज्ञान में समस्त कर्मों की परिसमाप्ति हो जाती है। ●

*प्रवचन-१३**

ज्ञान की प्राप्ति : प्रक्रिया और माध्यम

पिछले प्रवचन के अन्त में विचार्य विषय था—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

समस्त कर्मों का पूर्णतः समापन ज्ञान में होता है। उस ज्ञान की विशेषताओं का निरूपण और उस ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया ये दोनों बातें आज के प्रवचन का मुख्य विषय हैं। जिस ज्ञान की इतनी महिमा है कि हमारे समस्त कर्मों की परिसमाप्ति उसमें हो जाती है उसे ठीक से जानने की चेष्टा करनी ही चाहिए। द्रव्यमय यज्ञ वह है जिस में यज्ञशाला में अग्नि को प्रज्ज्वलित कर उसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। ये जो स्थूल द्रव्य के द्वारा यज्ञ करने की विधा है— इसको गीता में स्वीकार तो किया गया है लेकिन इसको बहुत ऊँची भूमिका नहीं दी गयी। द्रव्यमय यज्ञ की तुलना में ब्रह्म यज्ञ, ज्ञान यज्ञ उत्कृष्ट है। यह पहले भी बताया गया—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (४/२४)

जिसके कर्म की समाधि ब्रह्म में हो गयी, वह ब्रह्म ही को प्राप्त करेगा। उसके लिए अर्पण करने की प्रक्रिया या अर्पण करने का साधन भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, आहुति भी ब्रह्म है, वह स्वयं ब्रह्म है। जो सर्वत्र ब्रह्म का अनुभव कर रहा है, वह ब्रह्म ही है— यह ज्ञान-यज्ञ की चरम फलश्रुति है। इस चरम फलश्रुति के संबंध में यह बताया गया कि वहाँ आकर सारा-का-सारा कर्म परिसमाप्त हो जाता है, सम्यक् रूप से अपने लक्ष्य की उपलब्धि कर लेता है। आपलोग समाप्त शब्द पर ध्यान दीजिए। समाप्त और प्राप्त में कोई मौलिक अंतर नहीं है। आप्त के पहले सम् उपसर्ग लगा तो समाप्त हुआ और आप्त के पहले प्र उपसर्ग लगा तो प्राप्त हुआ। आप्त माने प्राप्त होना। *'प्रकृष्ट आप्ति'* प्राप्ति। सम्यक् आप्ति माने समाप्ति। यानी समाप्ति हम तभी मानते हैं जिस लक्ष्य की पूर्ति के उद्देश्य से कर्म किया गया था। जब वह लक्ष्य सम्पन्न

* चतुर्थ अध्याय (ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या ३४ से ४२

हुआ तो वह कार्य समाप्त हुआ। यानी समाप्ति में भी प्राप्ति का संकेत है। जब तक हमको कर्म करने के बाद उसके फल की सम्यक् प्राप्ति नहीं होती तब तक कार्य सम्पन्न नहीं हुआ, तब तक कार्य समाप्त नहीं हुआ। समाप्ति शब्द में भी फल-प्राप्ति का संकेत निहित है। तो — *सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।*

हम कर्म निरर्थक तो नहीं करते। कर्म करने का कोई उद्देश्य होता है। *'प्रयोजनं बिना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते'* —बिना प्रयोजन के कोई मूर्ख भी कार्य नहीं करता, आप सब तो बुद्धिमान आदमी हैं। हम बुद्धिमान लोगों की दृष्टि के अनुसार यह मान कर चलते हैं कि कर्म करने का हेतु कोई-न-कोई प्रयोजन सिद्ध करना है। यह बात समझ में आनी चाहिए कि निष्काम कर्म करने का अर्थ निष्प्रयोजन कर्म करना नहीं है। हमारे गुरुजी बार-बार यह उदाहरण देते थे कि लाठी लेकर कोई सज्जन तालाब का पानी पीट रहे थे। उनसे पूछा, क्या कर रहे हो? वे बोले —निष्काम कर्म कर रहा हूँ। वास्तव में मूर्खता है यह। लाठी लेकर तालाब का पानी पीटना निष्काम कर्म नहीं है, मूर्खता है। निष्काम कर्म का भी कोई प्रयोजन होता है। वह व्यक्तिगत प्रयोजन नहीं होगा। वह स्वार्थपरक प्रयोजन नहीं होगा, वह परहित-परक प्रयोजन होगा, वह भगवदर्थ प्रयोजन होगा लेकिन निष्प्रयोजन नहीं है। निष्कामता और निष्प्रयोजनता— ये दोनों एक नहीं है। निष्काम का मतलब होता है कि हमको उससे कोई कामना सिद्ध करने का आग्रह नहीं है। हमारी व्यक्तिगत लालसा, हमारी व्यक्तिगत कामना, हमारा कोई व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध हो जाए— यह उद्देश्य निष्काम कर्म का नहीं है। उससे कोई महत्तर प्रयोजन सिद्ध होना चाहिए। भगवदर्थ, लोक-संग्रहार्थ, लोक-कल्याणार्थ हम जो काम कर रहे हैं, वह सप्रयोजन होते हुए भी निष्काम है। तो ऐसा निष्काम कर्म भी समाप्त तब होता है जब वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। तो ऊँचे-से-ऊँचा लक्ष्य क्या हो सकता है, कर्म करने का ? ऊँचे-से-ऊँचा लक्ष्य है — ज्ञान प्राप्त करना। कैसा ज्ञान प्राप्त करना? कौन-सा ज्ञान प्राप्त करना और कैसे कर्म से वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है? इस पर बहुत मतभेद है। जो शुद्ध ज्ञानमार्गी हैं विशेषकर शंकराचार्य और उनके अनुयायी, वे यह नहीं मानते कि कर्म से ज्ञान की प्राप्ति होती है। उनके मतानुसार कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में ज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है। गुरु की कृपा से, गुरु के आशीर्वाद से गुरु जब महावाक्य का श्रवण कराता है तो उस महावाक्य के श्रवण मात्र से अन्तःकरण अगर शुद्ध है तो उसके परम अर्थ का अनुभव होता है। एक बात और अभी इसी प्रक्रिया में बताएँगे ज्ञान की महिमा का निरूपण करते हुए कि ये जो सारा-का-सारा ज्ञान है इसकी चरम-

सीमा क्या है? ज्ञान की जब प्राप्ति होती है, तब क्या होता है? ज्ञान प्राप्त हो गया— मतलब क्या हो गया? प्रभु इसको समझायेंगे। लेकिन इसको समझाने के पहले वे समझाना चाहते हैं कि ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाए? तत्। तत् माने उस आत्मज्ञान को—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। (४/३४)

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान? —बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता। और गुरु कैसा होना चाहिए? गुरु केवल शास्त्रज्ञानी नहीं होना चाहिए। शास्त्र के शब्दों का अनुशीलन मात्र जिसने किया है— वह तत्त्वदर्शी नहीं हो सकता। उसको केवल स्थूल अर्थ में ज्ञानी कह सकते हैं। भगवान की कृपा से मुझको ईशावास्य-उपनिषद् के अठारहों मंत्र कंठस्थ हैं। भगवान की कृपा से, आपलोगों के आग्रह से मैंने ईशावास्य उपनिषद् का अर्थ समझाने की धृष्टता भी की है*, लेकिन मैं तत्त्वदर्शी नहीं हूँ। ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए कि मुझको तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है। मैंने तत्त्व का अनुभव नहीं किया है। मेरी जानकारी तो शाब्दिक है—

'संतों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी। समझूँ उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानी।।'

मैं तो अज्ञानी हूँ। मेरी सारी-की-सारी बोलने की प्रक्रिया संतों की जूठन पर निर्भर करती है। संतों की जिन वाणियों का अनुशीलन करने का सौभाग्य मुझको प्राप्त हुआ, उस अनुशीलन के आधार पर रटी-रटाई बात मैं आपको सुना रहा हूँ, तोते की तरह। उसका अनुभव, उसकी अवगति मुझको नहीं हुई है। भगवान कहते हैं कि वास्तविक ज्ञान केवल अक्षर ज्ञानी होने से नहीं होता। उसके लिए तत्त्वदर्शी होना चाहिए। इसमें एक बात पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

बहुवचन का प्रयोग है। बहुवचन का अर्थ यह नहीं है कि तुमको एक तत्त्वदर्शी के बाद दूसरे, फिर तीसरे, फिर चौथे के पास जाना चाहिए। नहीं-नहीं। 'गौरवार्थे बहुवचनम्' जब हम किसी को गौरव देते हैं, सम्मान देते हैं तो एक व्यक्ति के लिए भी बहुवचन का प्रयोग करते हैं। जब अपने से कोई बड़ा आता है तो कहते हैं— आप पधारें, आप आएँ, आप विराजें। बहुवचन क्रिया का प्रयोग कर रहे हैं एक व्यक्ति के लिए। इसी तरह यह जो *ज्ञानिनः, तत्त्वदर्शिन—उपदेक्ष्यन्ति*— बहुवचन है— यह

* गीता पर प्रवचन करने से पूर्व आदरणीय शास्त्रीजी ने ईशावास्योपनिषद् पर प्रवचन किए थे जो पुस्तक रूप में छप चुके हैं— *संपादक।*

गौरवार्थे है। एक ही तत्त्वदर्शी का उपदेश ज्ञान प्रदान करने में समर्थ है। बहुवचन का प्रयोग कर केवल उस तत्त्वदर्शी को गौरव दिया गया है, सम्मान दिया गया है। तत्त्व किसको कहते हैं? तत्त्व को समझाते हुए श्रीमद्भागवत् में कहा गया है— *वदन्ति तत् तत्त्विदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।*

यज् ज्ञानमद्वयम्— जो अद्वय ज्ञान होता है, तत्त्ववेत्ता उसको तत्त्व कहते हैं— *वदन्ति तत्त्वविदस्तत्त्व।* देखिए! यहाँ आत्मज्ञान और लौकिक ज्ञान के मौलिक अंतर की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। लौकिक ज्ञान क्या होता है? लौकिक ज्ञान किसी विषय-वस्तु का ज्ञान होता है। किसी पुस्तक का आपने अध्ययन किया, किसी विषय को जानने के लिए, तो आप ज्ञाता हैं। अध्ययन की प्रक्रिया— जिसमें ग्रहण और धारण दोनों समाहित है— यह ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है; और जिस विषय को आपने समझा, वह ज्ञेय है। तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिपुटी है। तीन चीजें हैं। तीनों चीजें अलग-अलग हैं। एक व्यक्ति ज्ञाता है। एक ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है जिसको ज्ञान कहा जा रहा है। एक जिस विषय का ज्ञान प्राप्त किया जाना है, वह ज्ञेय है। यह जो आत्मज्ञान है, तत्त्वज्ञान है— यह अद्वय है। इसमें दो की ही भूमिका नहीं, तीन कहाँ से आएगा? आत्मज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का लय हो जाता है। आत्मज्ञान हो जाने के बाद, कोई ज्ञाता के रूप में अपनी पृथक् सत्ता रखे, ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को अलग से स्वीकार करे और कोई मुझसे भिन्न ज्ञेय है— इसको स्वीकार करे तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है। अपने से भिन्न जो ज्ञेय होगा, वह तो परोक्ष होगा और जो परोक्ष है, यदि उसका ज्ञान हुआ तो उसका ज्ञान नष्ट भी होगा। तत्त्वज्ञान में ऐसा नहीं होता, वह अद्वय ज्ञान है, अपरोक्ष ज्ञान है; उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों मिलकर एक हो जाते हैं। दो की सत्ता ही नहीं रहती। जो अद्वय ज्ञान है, वही तत्त्व है। और तत्त्वदर्शी कौन है? जिसने उस तत्त्व का साक्षात्कार किया है। इस बात पर फिर ध्यान दीजिए। हमारे यहाँ जो प्रक्रिया है, वह दर्शन की प्रक्रिया है। फिलॉसफी अलग चीज है, दर्शन अलग चीज है। फिलॉसफी का मतलब होता है, ज्ञान के प्रति प्रेम; या ज्ञान को जानने की इच्छा, आग्रह। यह केवल ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय नहीं है, प्रत्यक्ष दर्शन। दर्शन की भूमिका में उसकी साक्षात् अवगति होनी चाहिए, उसका अनुभव होना चाहिए। साक्षात् अपरोक्ष दर्शन होना चाहिए। मैंने इस बात को बार-बार समझाया है। एक बार और समझा दूँ। एक होता है परोक्ष, जो अपने से परे है, आँख के परे है। जो हमारे सामने दिखायी नहीं पड़ रहा। स्वर्ग को, नरक को—सब परोक्ष कहते हैं। ज्ञान के जो साधन हैं, यानी करण हैं उनके जो परे हैं वह परोक्ष है। अक्ष माने आँख। अक्ष माने

समस्त इन्द्रियाँ। तो इन्द्रियों के द्वारा जिनका ज्ञान नहीं हो सकता है, जो उन इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं, उनको कहते हैं परोक्ष। प्रत्यक्ष मतलब जो इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है। अब एक स्थिति है जो न तो परोक्ष है स्वर्ग-नरक की तरह और न चित्र की तरह, पुस्तक की तरह प्रत्यक्ष है। यह अपरोक्ष है। अपरोक्ष माने? जो परोक्ष भी नहीं है, प्रत्यक्ष भी नहीं है, अपने भीतर है; लेकिन जिसका अनुभव होता है। यह अपरोक्ष भी बदलता रहता है। आप देखिए, आनन्द-उल्लास-उत्साह-काम-क्रोध-लोभ—ये सब अपरोक्ष वृत्तियाँ हैं। अपने भीतर होती हैं। हम इनका अनुभव करते हैं। ये साक्षी भास्य हैं। ये आभास-भास्य नहीं है। हमारे मन में काम आया कि हमारे मन में आनन्द आया — इसका अनुभव हमीं करेंगे। बाहर के किसी पंच से इसका निर्णय नहीं हो सकता। लेकिन ये वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। परिवर्त्तनशील होने के कारण ये वृत्तियाँ अपरोक्ष ही बदलती रहती हैं। वह वस्तु जो कभी नहीं बदले, वह वस्तु जो साक्षात् अपरोक्ष है, सब समय अपने भीतर वर्तमान है और जिसका अनुभव हो जाने के बाद कभी उसका विलोप नहीं होता, वह साक्षात् अपरोक्ष तत्त्व है। प्रत्यक्ष-परोक्ष-अपरोक्ष और साक्षात् अपरोक्ष। यह जो साक्षात् अपरोक्ष तत्त्व है, यही ब्रह्म है, इसी को परमात्मा कहते हैं। इसे ज्ञानी लोग ब्रह्म कहते हैं, योगी लोग परमात्मा कहते हैं एवं भक्त लोग भगवान कहते हैं।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति, परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। (श्रीमद्भागवत १/२।११)

जो अद्वय ज्ञान है, उसी को तत्त्ववेत्ता तत्त्व कहते हैं। *ब्रह्मेति*—ज्ञानियों की भाषा में वह है— ब्रह्म। *परमात्मेति*-—योगियों की भाषा में वह है परमात्मा; और भक्तों की भाषा में है भगवान। अब यह जो तत्त्वज्ञान का, आत्मज्ञान का अपरोक्ष अनुभव होता है, वह कैसा होता है? किस तरह से हो सकता है— इसको समझाने की यह प्रक्रिया है। आप देखेंगे कि इस ज्ञान को प्राप्त करने की दो प्रक्रियाएँ हैं। पहली प्रक्रिया अपेक्षाकृत बहिरंग है। पहली प्रक्रिया बुद्धि के ऊपर आश्रित है। *तद्विद्धि*— उसको जानो। *प्रणिपातेन*— निपात के आगे प्र उपसर्ग लगा तो प्रणिपात हुआ। निपात माने नितराम् पतन। नितराम् पतन का माने हुआ बहुत ही विनम्रता से, झुककर, गिर कर। ज्ञान किसको प्राप्त होगा? ज्ञान अहंकारी को प्राप्त नहीं होगा। आप अगर किसी से ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो उससे विनम्र हुए बिना आप उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? स्पष्ट है कि नहीं कर सकते। अगर आप गुरु से तमककर कहें, *हम तुम ते कछु घाटि*— हम क्या तुम से कुछ कम हैं? ना बाबा! तुम हम से बड़े हो। तुम अपना

बड़प्पन लेकर सुखी रहो। लेकिन अगर तुम हमारा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो और तुम हमको आँख दिखा कर कहोगे तो हम कहेंगे बाबा—रहने दो। खत्म हो गया। मान में ज्ञान नहीं होता। *'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं'*— ज्ञान वहाँ होता है जहाँ बिलकुल मान नहीं होता। मान में क्या होता है? म अ न — मान जहाँ होगा वहाँ ज्ञान नहीं होगा। इसको उलट दो तो होता है न अ म । मेरे गुरुजी ऐसा समझाते थे। मान को उलट दो तो क्या होगा? न अ म माने नाम, नमन। नमन माने झुकना। प्रकृष्ट नाम ही प्रणाम है। तो मान का उलटा है नाम, जो मान या अहंकार से उलटा है। *नमन—प्रणिपात*— उस प्रणिपात के द्वारा तुम ज्ञान की प्राप्ति करो। अहंकारपूर्वक औद्धत्यपूर्वक गुरु से गए पूछने, तो गए काम से। परिप्रश्नेन— अनेक प्रकार के प्रश्न करो। लेकिन कैसे करो प्रश्न? प्रश्न कैसे होता है? प्रश्न दो प्रकार से होता है। एक गुरु प्रश्न करता है, शिष्यों से उनकी जानकारी की सीमा जानने के लिए और एक जिज्ञासु प्रश्न करता है— अपने मन की शंकाओं का निवारण करने के लिए। नई जानकारी प्राप्त करने के लिए। तो तुम विनम्रता से प्रश्न पूछने के अधिकारी हो। औद्धत्य से, अहंकार से प्रश्न पूछने के अधिकारी नहीं हो। गुरु की परीक्षा लेने जाओ और उससे प्रश्न करो— उससे ज्ञान नहीं होगा। परिप्रश्नेन— तुमको एक दो नहीं —हजार-हजार प्रश्न करने की छूट है लेकिन कैसे? परिप्रश्न के आरंभ में होना चाहिए प्रणिपात और उसके बाद में होनी चाहिए सेवा। परिप्रश्न को संपुटित किया गया है। पहले विनम्रता के द्वारा प्रकृष्ट रूप से नमन के द्वारा, अत्यन्त विनम्र भाव से, जिज्ञासा करने की मानसिकता के द्वारा और फिर सेवा के द्वारा गुरु का ज्ञान तुम प्राप्त करोगे। गुरु अगर तुम पर कृपालु होगा, तब न ज्ञान देगा? गुरु तुम पर रीझेगा, तब न ज्ञान देगा? गुरु को तुम कैसे रिझाओगे भाई? गुरु को तुम रुपया देकर रिझाओगे? आज कल का रिवाज यही है। रुपया-पैसा देकर चाहे और विधाएँ खरीदीं जातीं हों, आत्म-ज्ञान नहीं खरीदा जा सकता। पैसा देकर ट्यूशन करवाया जाता है, जानकारी प्राप्त की जा सकती है, सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं, आत्म-ज्ञान नहीं। आत्म-ज्ञान अलग चीज है, जानकारी अलग चीज है। दूसरे विषयों की जानकारी भले तुम रुपए से खरीद लो; जो तत्त्वदर्शी है, उसके लिए तुम्हारा पैसा दो कौड़ी का है। उसके लिए पैसे की कीमत नहीं है।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

कौन तुमको तत्त्व का उपदेश दे सकता है? धन तुमको कौन दे सकता है? जो धनी होगा। विद्या कौन दे सकता है? जो विद्वान होगा। तत्त्व कौन बता सकता है? जो तत्त्वदर्शी होगा और तत्त्वदर्शी के बारे में आगे बताएँगे कि तत्त्वदर्शी का लक्षण क्या है?

तत्त्व का लक्षण क्या है? वह तो अद्वय होगा — उसके लिए इस संसार में कोई गौरव नहीं, तो पैसे का उसके लिए क्या गौरव होगा? तुम पैसे से तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। परिप्रश्नेन — विनम्रता से, सेवा के द्वारा, गुरु को अनुकूल बनाकर, गुरु की कृपा का उद्रेक करके ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। कृपा का भी उद्रेक होना चाहिए। गुरु तुमको पहचानेगा। तुम्हारे प्रश्न से पहचानेगा। हर व्यक्ति प्रश्न भी नहीं कर सकता। मैंने अपने इन्हीं दोनों कानों से, अपने गुरु स्वामी अखंडानन्द जी से किसी को पूछते सुना था कि गुरु जी तेल का दाम क्यों बढ़ गया बताइए। मैं गुरु जी की सेवा में था, तब एक सज्जन ने यह प्रश्न पूछा। गुरुजी ने कहा— भाई! मैं क्या कहूँ? तत्त्वज्ञानी से सम्यक् प्रश्न कौन कर सकता है? जिसको उस विषय की थोड़ी जानकारी हो। जिसको उस विषय में रुचि हो। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक कहानी सुनाया करते थे। एक बार सूर्यग्रहण लगा। कलकत्ते के पास एक गाँव था। समझ लीजिए— उस ग्राम का नाम मध्यमग्राम था। तो मध्यमग्राम के एक वैद्य कलकत्ते आए, गंगा स्नान करने के लिए। वे हरीसन रोड से जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक बड़े साइन बोर्ड पर लिखा है, मध्यमग्राम के प्रसिद्ध वैद्य के आगे उनका नाम और उसके बाद उनके शिष्य एकनाम का औषधालय। देखते रहे, सोचते रहे कि यह कैसा मेरा शिष्य है, कौन है? मैं तो इसको पहचान नहीं पा रहा हूँ। नाम-गाँव तो ठीक है। उनको शंका हुई। ऊपर गए। देखा कि एक आदमी रेशमी कपड़े पहने बैठा हुआ है। उसके पास भीड़ लगी हुई थी। वे देखते रहे, पहचान न पाए। अचानक उस आदमी की उन पर निगाह पड़ी। दौड़कर आकर उसने उनके चरण पकड़ लिए, लाकर उनको गद्दी पर बैठाया। लोगों से कहा साक्षात् धन्वन्तरि आ गए। अब तुमलोगों को क्या कहना है इनको बताओ। सबने नाड़ी-वाड़ी दिखाई। एक दिन में उनको इतनी प्रणामी मिली, जितनी महीने भर में नहीं मिलती थी। जब सब रोगी चले गये, तब वैद्यजी ने कहा कि वत्स! तुम्हारी गुरु-भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। लेकिन मैं तो तुमको पहचान ही नहीं पा रहा हूँ। कब तुम मेरे शिष्य हुए? वह बोला— गुरुजी आप कैसे पहचानेंगे? मैं केवल तीन दिन आपके पास रहा। बोले —पुत्र! तुम तीन दिनों में पूरा वैद्यक-शास्त्र समझ गए? तुम्हारे मन में औषधि देते हुए कोई शंका नहीं होती? वह बोला— हाँ गुरुजी, होती है। जो तीन दिन आपने पढ़ाया था उसी में शंका होती है। और बातों में शंका का क्या काम? कोई भी बीमारी हो, कोई भी दवा दे देता हूँ। जो होना है, हो जाता है—

यस्य कस्य तरोर्मूलं केनापि पथ्येन सह।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति।।

किसी भी जड़ी बूटी को किसी भी पथ्य के साथ किसी को भी दे दो जो होना है, हो जाएगा। शंका कहाँ होती है? प्रश्न कहाँ जागते हैं? जो जाना ही नहीं है, वहाँ प्रश्न नहीं जागते। जिस विषय को तुमने थोड़ा बहुत जाना है; और उस जानने के आधार पर, अधिक जानने के लिए जहाँ तुमको जो बात समझ में नहीं आ रही है, उसके बारे में अगर तुम जिज्ञासा करोगे तो वह सच्ची जिज्ञासा होगी। यदि झूठी जिज्ञासा करोगे, यदि दूसरे की जिज्ञासा किसी दूसरे के मुँह से सुनकर करोगे, तो वह संगत जिज्ञासा नहीं होगी। तुम बोलोगे तो तुम्हारी बात बताएगी कि तुम्हारा सवाल सच्चा है या झूठा है। तुमको एक नहीं अनेक प्रश्न करने का अधिकार है, लेकिन वे प्रश्न तुम्हारे अपने मन से निकलने चाहिए। उन प्रश्नों में तुम्हारी जिज्ञासा होनी चाहिए। ज्ञान की जिस भूमिका पर तुम हो, उस भूमिका पर खड़े होकर तुमको जगत जैसा दिखता है, उससे जो बात समझ में नहीं आ रही है, जहाँ तुमको असुविधा का अनुभव हो रहा है, वहाँ प्रश्न करो। प्रश्न करने का अधिकार भी सबको प्राप्त नहीं होता। *परिप्रश्नेन*— मैं कौन हूँ? मैं बंधन में क्यों हूँ? बंधन क्यों होता है? बंधन से मुक्ति कैसे होगी? कौन-सी साधना करूँ? मैं किस भूमिका पर खड़ा हूँ? —यह भी गुरु बताता है। जब तक तुम्हारी जिज्ञासाएँ शान्त नहीं होतीं—तब तक तुम प्रश्न कर सकते हो। *परि* इसीलिए उपसर्ग है। *परितः* — माने समग्रतः, चारों तरफ से। बहुत से बुद्धिमान लोग कहते हैं कि हमारी संस्कृति श्रद्धाप्रधान है। उसमें बुद्धि की भूमिका गौण है। यह ठीक नहीं है। जिस संस्कृति का सब से बड़ा मंत्र गायत्री है, वह निश्चय ही बुद्धि को बहुत ऊँचा स्थान देती है। गीता में तो बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर प्रभु ने अपने से समचित्त हो जाने के लिए अर्जुन को प्रेरित किया है : *बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।*

यहाँ भी प्रभु ने प्रश्न करने की पूरी छूट दी है। लेकिन यह भी जोड़ दिया है कि तुममें प्रश्न पूछने की बुद्धि होनी चाहिए, कुबुद्धि नहीं। तर्क होना चाहिए, कुतर्क नहीं। तुमको विनम्रता से अपनी भूमिका पर खड़े होकर, तुम्हारी साधना के मार्ग में जो अवरोध हैं, जो अड़चनें, बाधाएँ हैं— उनको कैसे दूर करें— इस संबंध में प्रश्न पूछने का पूरा अधिकार है। लेकिन प्रणिपातपूर्वक और सेवा के द्वारा उसको संपुटित करके प्रश्न पूछने चाहिए। इसीलिए बीच में परिप्रश्न है आगे-पीछे *'प्रणिपात'* और *'सेवा'*।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

गुरु ऐसा होना चाहिए जो ज्ञानी और तत्त्वदर्शी दोनों हो। इसमें एक बात और पेंच लगाई है। बहुत से लोग संत हैं, उनकी महिमा हमलोग स्वीकार करते हैं। लेकिन उनको औपनिषदिक ज्ञान नहीं है, शास्त्र ज्ञान नहीं है। तो ज्ञानिनः के द्वारा शास्त्र-ज्ञान

सम्पन्न होने की ओर और तत्त्वदर्शिनः के द्वारा— उस शास्त्र का जो मथितार्थ है, उस शास्त्र का जो फल है, उसका साक्षात्कार, उनका अनुभव कर चुकने की ओर संकेत है। अतः *'ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः'* —इन दो शब्दों का प्रयोग अकारण नहीं है। वेद, उपनिषद् आदि सब शास्त्रों का अध्ययन, अनुशीलन भी होना चाहिए; और उन शास्त्रों का जो फल है, उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव भी होना चाहिए। इन दोनों उपलब्धियों से सम्पन्न गुरु को ही ज्ञान का उपदेश देने का अधिकार है। हर व्यक्ति उपदेश देने का अधिकारी नहीं है। और हर व्यक्ति के उपदेश देने से तुम्हारा अज्ञान दूर नहीं होगा। रामकृष्ण परमहंस देव कहते थे कि जिसको चपरास मिली है, उसी का हुक्म लोग सुनेंगे। जो अनधिकारी व्यक्ति है उसके व्याख्यान देने से क्या होता है? व्याख्यान क्या लोग कम देते हैं आजकल? पर वास्तविक ज्ञान तब होता है जब गुरु ज्ञानी और तत्त्वदर्शी दोनों हो। अब आगे के तीन श्लोकों में ज्ञान की महिमा बता रहे हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। (४/३५)

अर्जुन तुमको मोह हो गया है। यही है तुम्हारे युद्ध पराङ्मुख होने का कारण। अन्त में अर्जुन इस सत्य को स्वीकार करेगा और कहेगा— *नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।*

मोह का मतलब होता है बुद्धि का उलट जाना। मुह वैचित्ये। बुद्धि जब उलट जाती है, तब गलत सही लगने लगता है और सही गलत लगने लगता है। यह तुमको मोह हो गया है। तुमने जो कहा कि युद्ध कैसे करें, जो हमारे पूज्य हैं, हमारे गुरुजन हैं, उनका हम वध कैसे करें? युद्ध में हमारे नाते-रिश्तेदारों का वध होगा। हम किनके लिए राज्य चाहते हैं? जिनके लिए राज्य चाहते हैं, उनकी हत्या करके राज्य प्राप्त करने से अच्छा है भीख माँग कर खा लें। यह सारा तत्त्वज्ञान जो तुम बघार रहे हो— यह तत्त्वज्ञान नहीं, यह मोह है। यह तुम इसलिए बोल रहे हो कि तुम्हारे अपने नाते-रिश्तेदार युद्ध में तुम्हारे सामने खड़े हैं। और उनके प्रति जो तुम्हारी आसक्ति है, वह आसक्ति तुम्हें युद्ध करने से रोक रही है। अगर तुम्हारे नाते-रिश्तेदार सामने न होते, दूसरा कोई शत्रु होता तो भी क्या तुम तत्त्व ज्ञान बघारते कि युद्ध के क्या लाभ हैं, क्या नहीं? तुम युद्ध करते रहे हो। पर इसके पहले तो कभी तुमने युद्ध की निन्दा नहीं की, युद्ध को अधर्म नहीं बताया, महापाप नहीं कहा। अभी जो तुम युद्ध की सीमाएँ बता रहे हो, युद्ध का अनौचित्य बता रहे हो— यह मोह के कारण है। तुमने इस शरीर को अपना आपा मान लिया है। इस शरीर के संबंधियों को अपना माना है। अहंता और

ममता के कारण तुम्हारी दृष्टि उलट गई है। शरीर और शरीर के संबंधियों के सुख-दुःख को लेकर कर्त्तव्य-कर्म के प्रति तुम्हारे मन में मोह उत्पन्न हो गया है। यह दृष्टि गलत है। यह दृष्टि ठीक नहीं है। यह मोह है। तुम शरीर नहीं हो। तुम आत्म-स्वरूप हो। कर्त्तव्य-कर्म का निर्धारण करते समय अहंता और ममता के आवरण को छिन्न करना पड़ता है। तुम्हारा भाई हो या बेटा, चाचा हो या गुरु — वह अगर अन्याय के रास्ते पर जा रहा है, अधर्म के रास्ते पर जा रहा है तो उसको भी दण्ड देना धर्म है, कर्त्तव्य है। तुम जो इस समय युद्ध न करने की युक्तियाँ दे रहे हो— ये समस्त युक्तियाँ तुम्हारे मोह के कारण उत्पन्न हुई हैं। जब तुम्हें ज्ञान होगा *यज्ज्ञात्वा*— जिसको अच्छी तरह समझ लेने पर *'न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'* —हे पाण्डव! हे अर्जुन! तुम पुनः इस प्रकार के मोह को प्राप्त नहीं होओगे। अब इसके बाद देखिए। ज्ञान क्या करता है? किस तरह से शरीर के प्रति, किस तरह से शरीर के संबंधियों के प्रति मोह को, आसक्ति को नष्ट करता है? एक पंक्ति— यह एक पंक्ति सम्पूर्ण दूसरे अध्याय का सार है। यह एक पंक्ति ईशावास्योपनिषद का सार है। इसमें कहा है— *येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।*

जब ज्ञान प्राप्त होगा तो क्या होगा? येन— जिस ज्ञान के द्वारा, अशेषेण भूतानि— समस्त भूतों को, सम्पूर्णतः संसार में जितने भूत हैं, केवल प्राणी नहीं, पंचमहाभूत से रचित जो कुछ भी है, जड़ भी चेतन भी, समस्त भूतों को *अशेषेण*— पूर्णतः, *द्रक्ष्यस्यात्मनि*— तुम अपने में ही समस्त भूतों को देखोगे ज्ञान का यह लक्षण है। पहले तुम समस्त मूर्ति को अपने में देखोगे और उसके बाद 'अथो मयि' अपने सहित समस्त भूतों को मुझमें देखोगे। अब आपको मैं याद दिलाऊँ— ईशावास्योपनिषद् के मंत्रों की—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

ईशावास्य उपनिषद् के ये दो महामंत्र हैं। बराबर याद रखो! एक रूप होता है। एक स्वरूप होता है। रूप बाहरी होता है, स्वरूप भीतरी होता है। रूप बदलता है। स्वरूप अपरिवर्तनीय है। हम बच्चे से किशोर हुए। किशोर से तरुण हुए। तरुण से प्रौढ़ हुए। मैं तो वृद्ध हो गया। कल मेरा राम-नाम-सत्य हो जाएगा। शरीर खत्म हो जाएगा। रूप बदल रहा है; लेकिन भीतर जो आत्म-तत्त्व है, स्वरूप है— वह

अविकृत है, अपरिवर्तनीय है। वह जो आत्मा है, उस आत्मा में सारा संसार समाया हुआ है। सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखना जगत् से उसके नाम-रूप को बाद देकर, अपना तादात्म्य स्थापित कर लेना है। तुमने मिट्टी के तमाम तरह के पात्रों को देखा होगा। संकीर्ण दृष्टि वाले किसी को परई समझेंगे, किसी को सकोरा समझेंगे, किसी को थाली समझेंगे। वस्तु-दृष्टि वाला उन सब को मिट्टी समझेगा। सोने के गहनों को कोई अँगूठी नाम देगा, कोई चूड़ी, कोई कंगन, कोई बाजूबन्द, हार, करधनी, पाजेब। नाम रूप सबके अलग-अलग हैं। तत्त्वदर्शी उन सब को सोना समझेगा। यह हुआ नाम और रूप को अलग करके तत्त्व को एक देखना। वैसे ही सारी सृष्टि में यह जो नाम रूप की पृथकता है, इन नाम रूपों को बाद दे देने के बाद चैतन्य तत्त्व जो सबमें है, वही मुझमें है, इसका अनुभव करना ही ज्ञान है। यह जो कहा गया *'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति'* — यह नाम रूप की दृष्टि से नहीं, नाम रूप को बाद देकर तत्त्व की दृष्टि से कहा गया कि जो तत्त्व बाहर असंख्य नाम रूपों में प्रतिभासित हो रहा है, वही तत्त्व मुझमें है। अब देखिए!

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि

जिस ज्ञान के द्वारा तू अपने में ही समस्त प्राणियों को देख लेगा। यह क्या हुआ? यह त्वं पदार्थ का बोध हुआ। यह त्वं पदार्थ जो है तू— वह जो तू है, सच्चा तू है, उसमें सारी सृष्टि सारा जगत समाया हुआ है। और फिर सारे जगत् के साथ अपनी आत्मा को मुझमें देखेगा। *अथो मयि*— अथो माने इसके बाद। समस्त भूतों के साथ अपने को अशेष रूप में मुझमें देखेगा। यह तत् पदार्थ का बोध है। *तत्त्वमसि*–उपनिषद् में कहा है तत्-त्वम्-असि। वह जो तत् पदार्थ है और तू जो है — दोनों अभिन्न हैं। दोनों में अभेद है। सारी सृष्टि के साथ समस्त प्राणियों को, समस्त भूतों को, अपने में देखना— यह त्वं पदार्थ का बोध हुआ। और उस त्वं पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को अर्थात् सृष्टि के समस्त भूतों में निहित आत्म तत्त्व को इसके बाद *मयि*, मुझमें, पर-ब्रह्म में तू देख लेगा।

ब्रह्म, जीव और जगत् के अभेद को जब तू समझ जाएगा तब तुझे वास्तविक ज्ञान होगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। (४/३६)

कितना बड़ा आश्वासन है। मैं इस बात को कई बार बता चुका हूँ कि ये जो स्मृतियों में छोटे-छोटे पापों के बड़े-बड़े दण्ड बताए गए हैं, ये तब तक तो लाभदायक

हैं, जब तक हमसे पाप नहीं हुए। उन बड़े-बड़े दण्डों की स्मृति हमको पाप करने से रोकेगी। लेकिन पाप कर लेने के बाद? इतना दण्ड भोगना होगा? ऐसा सोचकर विचलित हो जायेंगे हम। हमारा विश्वास भंग हो जायेगा। तो हम नष्ट हो जाएँगे। यह अच्छा तरीका नहीं है, पाप से रोकने का। क्या पापी का भविष्य नहीं है? पाप हो गया। गलती हो गई। किससे नहीं होती? पाप हो गया तो हम पाप को स्वीकार करें। पाप को स्वीकार करके प्रभु को निवेदित करें, छिपाएँ नहीं। प्रभु से कह दें और प्रभु से सच्चे दिल से कह देने और क्षमा माँगने के बाद तुम पाप से अपने को मुक्त अनुभव करोगे। पापी का अगर भविष्य नहीं है, तो सारा अध्यात्मशास्त्र व्यर्थ है। सारी भक्ति, सारा ज्ञान व्यर्थ है। हम सब पापी हैं। हम सब पापियों को कितना बड़ा आश्वासन है कि जिसको ज्ञान प्राप्त हो जाएगा *पापकृत्तमः* —कितना पाप किया है तुमने? कितना बड़ा पाप कर सकते हो? बड़े-से-बड़ा जो सबसे बड़ा पापी है वह भी ज्ञान की नाव पर सवार होकर संपूर्ण पाप के समुद्र से पार हो सकता है। यह आश्वासन है और यह आश्वासन अध्यात्म का बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह ज्ञान में भी है और भक्ति में भी है। कोई भी महात्मा ऐसा नहीं है जिसका अतीत नहीं। अतीत में कुछ न कुछ गलती तो सब से हुई ही है। कोई भी पापी ऐसा नहीं होना चाहिए जिसका भविष्य न हो। इसलिए पापियों से भी पापियों का भविष्य है। पाप हो गया। इससे डरो मत। लेकिन पाप को पुण्य मत बताओ। बेईमानी मत करो। पाप को भगवान से छिपाओ मत। भगवान् के सामने अपना पाप स्वीकार करो। भगवान् के सामने स्वीकार करने के बाद भगवान् से क्षमा की याचना करो। भगवान् से पाप की निवृत्ति की प्रार्थना करो। अच्छा! आप एक बात समझिए। इसमें कहा गया— *अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।* सबसे बड़ा जो पापी है, उसकी भी अगर मुक्ति हो सकती है तो जो उतना बड़ा पापी नहीं है? जो साधना-पथ पर चल रहा है, जिससे थोड़े से पाप भी हुए हैं। जिसमें थोड़ी सी अच्छाइयाँ भी हैं, उसको भी आश्वासन इसमें है कि नहीं? अगर सबसे बड़े पापी को भी मुक्ति मिल सकती है, तो हमलोग भी मुक्ति पा सकते हैं।

एक बात पर और ध्यान दीजिए! पापी अनायास ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा। उसके लिए कोई-न-कोई कारण होगा। किसी महान् पुरुष का सत्संग उसे प्राप्त हो या कोई घटना घट जाने के बाद उसको भीतरी चोट लगे और उसको लगे कि अब तक जो उसने किया, वह गलत है। तब उसकी चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया शुरू होगी। बिना चित्त-शुद्धि के ज्ञान नहीं होता। लेकिन इसमें दो बातें बताई गयी हैं। एक तो पापी को आश्वस्त किया गया है कि बड़े-से-बड़ा पाप भी ज्ञान से बड़ा नहीं है। बड़े-से-बड़ा

पाप भी ज्ञान के बाद तुमको डरा नहीं सकता, तुमको अपवित्र नहीं कर सकता। तुम ज्ञान की नौका पर चढ़कर पार होओगे। दूसरी बात ज्ञानी को बताई गई है कि अगर कोई पापी-से-पापी व्यक्ति भी तुम्हारे पास जिज्ञासा लेकर आए, तो वह पापी है इसलिए उसको ठुकराओ मत। यह श्लोक एक ही साथ पापी के लिए और ज्ञानी के लिए भी प्रयोज्य है। कोई कारण है तभी तुम्हारे पास जिज्ञासा लेकर आया है। तुम उसकी जिज्ञासा का अपमान मत करो, उसकी अवहेलना मत करो। कहीं अगर उसको सच्ची चोट लगी होगी तो उसके कल्याण का द्वार उन्मुक्त हो जायेगा।

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

प्रभु ने आश्वासन दिया है कि मेरे सन्मुख होते ही करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह तुलसीदास जी ने कहा है कि थोड़े से समय के लिए भी सच्चे साधु के सत्संग के कारण करोड़ों अपराध.... पाप कट जाते हैं, दूर हो जाते हैं।

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी कै पुनि आधि।
तुलसी संगति साधु की, कटै कोटि अपराध।।

किसी महान् पुरुष की सत्संगति के कारण कोई बड़ी घटना अपने साथ घट जाने के बाद ही सच्चे लोग अपने वास्तविक कल्याण की ओर उन्मुख होते हैं। नारद ने वाल्मीकि से कहा कि जाओ अपने परिवार वालों से पूछ कर आओ कि मैं लोगों को मार-मार कर तुम लोगों का पालन-पोषण करता हूँ, इस पाप के हिस्सेदार तुम बनोगे? वाल्मीकि ने कहा, इसी बीच तुम भाग जाओगे, इसलिए ऐसा कह रहे हो। नारद बोले—तुम मुझे बाँध दो। उनको बाँधकर वाल्मीकि गए परिवार वालों से पूछने। पत्नी ने, पुत्र ने कहा— हमारा पालन-पोषण करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। हम तुम्हारे पाप में क्यों हिस्सा बँटाने जाएँ। इस एक धक्के से वाल्मीकि की आँख खुल गईं। कोई बड़ी घटना अपने जीवन में घटे, कोई विशिष्ट अनुभव हो, किसी महान् पुरुष का सत्संग मिले, तो पापी से पापी व्यक्ति के मन में भी रूपान्तर घट सकता है। ऐसा जब रूपान्तर हो रहा हो और आप कोई जिज्ञासा लेकर ज्ञानी के पास जाएँ और ज्ञानी उसकी अवहेलना करे तो बात बिगड़ सकती है। अतः यह श्लोक ज्ञानियों को भी बताता है सावधान करते हुए कि नहीं! उसका भी भविष्य है। इसलिए उसको भी उपदेश दो। ज्ञानी को यह जाँचने का तो अधिकार है कि उसकी जिज्ञासा सच्ची है कि नहीं। वह बनावटी जिज्ञासा लेकर धोखा देने के लिए तो नहीं आया है। लेकिन अगर तुमको अनुभव हो कि हाँ! पापी व्यक्ति है तो क्या हुआ? उसकी जिज्ञासा सच्ची है। वह जानना चाहता है। पापों से मुक्त होना चाहता है, तो ज्ञानी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह

उसको उपदेश दे। यह ज्ञान की महिमा का निरूपण है। पापियों के लिए आश्वासन है और पाप से मुक्ति पाने की प्रक्रिया की ओर संकेत है।

कहे कबीर जान दे बही
जब से चेते, तब से सही।

हमने अतीत में बहुत से पाप किए हैं। इसको कब तक घोटोगे भाई! हो गए, सो हो गए। यह नहीं कि हम उसको स्वीकार नहीं कर रहे। हाँ गलती हो गई, उसका दण्ड भोगेंगे। प्रभु से निवेदित कर दिया। अब तो हम अच्छे रास्ते पर चल सकते हैं। यह जो *'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः'* —यह चरम सीमा के पापी की बात इसलिए कही गई कि जो चरम सीमा के पापी नहीं हैं वे और अधिक आश्वस्त हो जाएँ। *सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।* वृजिन माने पाप। कौन सा पाप? वह धर्म या अधर्म रूपी पाप जो हमको बार-बार संसार में जन्म-मरण के चक्र में ले आता है। मुक्तिकामी के लिए, मुमुक्षु के लिए, पुण्य भी बंधन है। पुण्य करोगे तो स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग का फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ेगा। इसलिए पाप-पुण्य दोनों से ऊपर उठकर मुक्ति प्राप्त हो जाए, यह बुद्धि रखकर जो ज्ञान का सहारा लेगा, उसे वह ज्ञान उसके समस्त कर्मों से, पाप पुण्य के उन सम्पूर्ण फलों से जिनसे कि उसको जन्म-मरण के चक्र में बार-बार आना-जाना पड़ रहा है, उसको छुटकारा दिला देगा। यह सब ज्ञान की महिमा का निरूपण है। इसके बाद ज्ञान की महिमा का और निरूपण करते हैं प्रभु।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। (४/३७)

जैसे ईंधन को प्रज्ज्वलित अग्नि भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञान की अग्नि कर्म को भस्म कर देती है। इसका मतलब क्या? कर्म कोई लकड़ी है क्या कि जैसे लकड़ी आग में जल जाएगी वैसे ही कर्म जल गया? न ज्ञान वैसी आग है, न कर्म वैसी लकड़ी है। फिर बात क्या है? कर्म बाँधता क्यों है? कर्म में जो फल भोगने की आसक्ति है, मैं कर्त्ता हूँ— इस अहंकार बुद्धि से, फल की लालसा से, जो कर्म किया जाता है, उससे कर्म में बीजत्व आता है। नहीं तो कर्म में बीजत्व नहीं है। *'न कर्म लिप्यते नरे'* —डंके की चोट पर ईशावास्योपनिषद् ने कहा है कि कर्म लिप्त नहीं होता। तो क्या चीज लिप्त होती है? गीता में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (३/२७)

सारी क्रियाएँ जो हैं— यह तो प्रकृति कर रही है। गुण, गुण में बरत रहे हैं।

पहले गुण का माने है इन्द्रियाँ। दूसरे गुण का माने है विषय। हमारी इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर आकृष्ट हो रही हैं। यह जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध—ये जो पाँच विषय हैं, ये विषय भी गुण हैं प्रकृति के; और हमारी आँख-कान-नाक-त्वचा और रसना—ये जो इन्द्रियाँ हैं ये भी प्रकृति के गुण हैं। तो हमारी इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं; यानी प्रकृति के गुण —गुण में बरत रहे हैं। यानी सारी क्रिया प्रकृति कर रही है। प्रकृति की क्रिया कर्म कब बनती है? याद रहे क्रिया का फल जो है वह कर्म है। जब प्रकृति की क्रिया के साथ तुम्हारे अहंकार का, प्रकृति की क्रिया के साथ तुम्हारी फलाशा का योग होता है तो वह क्रिया कर्म हो जाती है। इस सारी सृष्टि में क्रिया कौन कर रही है? क्रिया कर रही है प्रकृति। और अहंकार से विमूढ़ होकर हम अपने को कर्त्ता मान रहे हैं। जहाँ हमने अपने को कर्त्ता माना, वहाँ हम बँधे। जहाँ हमने कर्म-फल की लालसा की, वहाँ हम बँधे। अहंकार अर्थात् कर्तृत्व का बोध, और फल की आशा व्यक्ति को बाँधती है कर्म से। यही बीजत्व है कर्म का।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

क्या मतलब इसका? कर्म के बीज के कारण कर्म का फल भोगना पड़ता है। कर्तृत्वपूर्वक किए गए, फलाशा के साथ किए गए कर्म का *'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'* —तुमने इस प्रकार जो शुभ या अशुभ कर्म किए हैं उनका अवश्यमेव फल भोगना पड़ेगा। यह जो क्रिया में बीजत्व आता है, जिससे वह कर्म बन जाती है, उस कर्म के बीजत्व को जला देता है ज्ञान। आप बीज बोते हैं, तो उसका फल आता है। मेरे एक मित्र धर्मचन्द जी सरावगी— वे एक बार मुझपर प्रसन्न हुए। बोले— 'पण्डितजी! आप हमारे यहाँ भोजन करने आइए।' भोजन करने गए। बोले— 'पण्डितजी आपको अमृतान्न का भोजन करवाऊँगा।' अमृतान्न कैसे हुआ? अमृत कहाँ से लाएँगे? बोले— देखिए! आज तक जो आप भोजन करते रहे वह मृतान्न था, मरे हुए अन्न का भोजन करते रहे हैं। अन्न को जलाते हैं, उसको आग पर चढ़ाते हैं, उसको सेंकते हैं। नारायण! नारायण! उसको मार डालते हैं। तो अमृतान्न का भोजन उन्होंने कैसे कराया? अंकुरित चना, अंकुरित जौ, अंकुरित गेहूँ, और हरी सब्जी खिलाकर। कुछ भी मरा हुआ नहीं यह। सब जीवित है। अमृत जो मरा हुआ नहीं है। तो उन्होंने मुझको अमृतान्न का भोजन कराया यानी अंकुरित चना खिलाया, अंकुरित जौ, गेहूँ और फल का भोजन कराया। यह मैं आपको इसलिए बता रहा हूँ कि चने को भिगोइए तो उसका अंकुर निकलता है। और चने को भून दीजिए और भुने हुए चने को भिगोइए तो अंकुर निकलेगा? चने या गेहूँ को जमीन में गाड़िए तो अंकुर निकलेगा। भुने हुए चने को, भुने

हुए गेहूँ को गाड़िए तो नहीं निकलेगा। क्या हुआ? भूनने से बीजत्व नष्ट हो गया। बात समझ में आ रही है? ऐसे ही ज्ञान की आग से कर्म भस्म हो गए का मतलब क्या हुआ? कर्म का बीजत्व नष्ट हो गया। जैसे तुमको ज्ञान प्राप्त हुआ वैसे ही तुमको यह ज्ञान हो गया कि तुम कर्त्ता नहीं हो। पहला ज्ञान प्राप्त क्या हुआ? कि तुम कर्त्ता, करने वाले नहीं हो। दूसरा कि तुमको कुछ पाना ही नहीं है। पाता कौन है? पाना कौन चाहता है? जो अपूर्ण होता है। तुम तो सब कुछ प्राप्त कर चुके हो। ज्ञान प्राप्त करने के बाद कुछ प्राप्त करना शेष ही नहीं है। अद्वय हो गए, अद्वैत हो गए तो तुमसे भिन्न ही कुछ नहीं है। तुम क्या पाओगे, क्यों पाओगे, किससे पाओगे? तो यह जो कर्म का बीजत्व है, वह ज्ञान की आग से भस्म हो गया। यानी फिर हम क्रियाएँ तो सब करते हैं, लेकिन हमारा प्रत्येक कर्म अकर्म बन जाता है। कर्म अकर्म हो गया का क्या मतलब? कि कर्म का जो स्वरूप लक्षण है कि कर्म बाँधता है— उस कर्म की बंधनात्मक क्षमता नष्ट हो गई तो वह कर्म, कर्म नहीं रहा, अकर्म हो गया। ज्ञानी जो ज्ञान प्राप्त करने के बाद कर्म करता है वह कर्म नहीं है, वह अकर्म है। जब उसमें कहा— *ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते।* कर्म को तीन प्रकार से बाँटा गया है। जो हम अभी काम कर रहे हैं इसको कहते हैं *क्रियमाण;* और इस क्रियमाण कर्म का अगर हमको इस जीवन में फल मिला तो ठीक है और जो इस जन्म में फल नहीं मिला? (फल तो मिलेगा। बिना फल दिए तो कर्म नष्ट नहीं होगा)। तो जिस क्रियमाण कर्म का हमको इस जीवन में फल नहीं मिला, वह नष्ट नहीं हुआ। वह जमा हो गया। जमा कर्म को कहते हैं संचित। असंख्य पूर्वजन्मों के जिन कर्मों का फल हमने नहीं भोगा है, वे असंख्य पूर्वजन्मों के कर्म जो अभी तक अपना फल नहीं दे सके हैं, उनका सामूहिक नाम है संचित। और उस संचित कर्म का छोटा सा हिस्सा जो इस जीवन में फल देने लगा है, उसको कहते हैं प्रारब्ध। आरब्ध माने शुरू हुआ। प्र माने प्रकृष्ट। प्रकृष्ट रूप से जिसने अपना फल देना शुरू किया, वह हमारा कभी का क्रियमाण कर्म ही था। वह क्रियमाण कर्म आज जब हमको फल दे रहा है, तो उससे हमको मानव-शरीर मिला और उससे हमको तीन चीजें मिलीं। जाति, आयु और भोग। हमारा जन्म कहाँ हुआ, किस कुल में हुआ? यह हमारे हाथ में नहीं। हम मरेंगे कब? यह हमारे हाथ में नहीं; और सामूहिक रूप से हमको सुख-दुःख कितना होगा? यह भोग हमारे हाथ में नहीं। तो तीन हो कर्म हुए — -संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। अब इसमें आचार्यों में फिर मतभेद है। कुछ आचार्य कहते हैं कि संचित और क्रियमाण तो खत्म हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं। जो सारे संचित कर्म थे, जिन्होंने अपना फल नहीं दिया —उनका बीजत्व दग्ध हो गया।

इसलिए वे फल नहीं दे सकते; और जो क्रियमाण कर्म हैं, अभी जो हम काम कर रहे हैं इसमें हमारे मन में कर्तृत्व भी नहीं है और फलाशा भी नहीं है। इसलिए इन कर्मों का बीजत्व नष्ट हो गया। तो संचित और क्रियमाण तो दग्ध हो गए। यानी संचित और क्रियमाण की बीजत्व की फल देने की क्षमता नष्ट हो गई। प्रारब्ध ने तो फल देना शुरू कर दिया है, तो प्रारब्ध का दिया हुआ फल तो हमको भोगना पड़ेगा। इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति को, रामकृष्ण परमहंस देव को भी कैंसर हुआ। तुलसीदास को बलतोड़ हुआ। मेरे गुरुजी को भी कैंसर हुआ। तो यानी यह जो शरीर प्राप्त हो गया है; और इस शरीर की प्राप्ति के बाद जिस कर्म के फल से यह शरीर मिला, उस कर्म की प्रक्रिया शेष नहीं होती। इसका उदाहरण दो प्रकार से समझाता हूँ। पंखा चल रहा है। आप स्विच बन्द कर दीजिए। स्विच बन्द करते ही पंखा बन्द होता है? तुरन्त बन्द होता है? नहीं होता। क्यों नहीं होता? जितनी शक्ति उसमें भर गई है, उतनी शक्ति से वह घूमेगा। यह जितनी शक्ति उसमें आ गई है—यही प्रारब्ध है। इस शरीर को प्राप्त करने के साथ इस शरीर के साथ जो शक्ति हमको मिल गई, इस जीवन के कर्म करने की—वह प्रारब्ध है। जैसे पंखे का स्विच बन्द कर देने के बाद पंखा थोड़ी देर घूम कर तब बन्द होता है वैसे ही संचित और क्रियमाण कर्मों का बीजत्व नष्ट हो जाने के बाद भी प्रारब्ध का जो थोड़ा-सा फल बाकी रहता है, वह हमको भोगना पड़ता है। लेकिन वह प्रारब्ध का फल केवल प्रतीक मात्र ही रहता है, भोग नहीं। इसको समझाते हैं कि जैसे कभी आप लोगों ने रस्सी को जला कर देखा है। रस्सी को जलाइए तो जली हुई रस्सी भी रस्सी की तरह ऐंठन वाली है। ठीक वैसे ही। उसको अगर छुइए तो राख हो जाएगी अगर न छुइए तो रस्सी की ऐंठन बरकरार है। रस्सी जल गई पर ऐंठन नहीं गई—यह मुहावरा है कि नहीं? जली हुई रस्सी की तरह प्रारब्ध कर्म है। रस्सी तो है, पर जली हुई उसी तरह प्रारब्ध कर्म की भी प्रतीति हो रही है कि ज्ञानी खा रहा है, पी रहा है, उठ रहा है, व्याख्यान दे रहा है; लेकिन ये सारे कर्म (रस्सी को छुओ तो जैसे राख का ढेर रस्सी नहीं वैसे ही) कर्म करते हुए भी कर्म नहीं। क्रियमाण तो कर्म नहीं और जो प्रारब्ध के द्वारा प्रतीति है उसको देख रहा है, भोग नहीं रहा। कुछ लोग ऐसा समझाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नहीं। प्रारब्ध भी मिट जा सकता है। प्रारब्ध क्यों नहीं मिट सकता?

भाविउ मेट सकै त्रिपुरारी— हाँ! रामजी के गुण का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी ने कहा— *मेटत कठिन कुअंक भाल के*— ललाट पर ब्रह्मा जी ने जो प्रारब्ध लिख दिया है— रामजी के गुणों का गान क्या उसे मिटा नहीं सकता? तो रामजी के गुण क्या छोटे हो गए? ज्ञान क्या इतना छोटा है कि प्रारब्ध को नहीं मिटा सकता? प्रारब्ध को भी

मिटा दे सकता है, लेकिन प्रारब्ध के अनुकूल जो क्रियाएँ होती रहेंगी, वे होती रहेंगी। ज्ञानी उससे प्रभावित नहीं है— अलिप्त है। अब ये तो सूक्ष्म बातें हैं। विद्वानों की बात विद्वानों के लिए छोड़ दीजिए लेकिन मूल बात समझ लीजिए— कि ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद कर्म का बीजत्व नष्ट हो जाता है। कर्म फिर न तो हमको कर्त्ता के रूप में और न फल प्राप्ति की आशा करने वाले के रूप में बाँध सकता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। (४/३८)

अद्भुत श्लोक है। इसमें दो बातें हैं। पहली बात तो यह है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है। ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। ज्ञान के समान पवित्र और कोई कुछ क्यों नहीं है? क्यों और सारे साधन मुक्ति नहीं दे सकते? भक्ति के द्वारा भी और कर्म के द्वारा भी ज्ञान प्राप्त होता है और फिर मुक्ति होती है — ऐसा कुछ लोग कहते हैं। मेरे गुरुजी ने इसमें एक और बात कही। *सदृश*—माने समान। लेकिन उन्होंने कहा कि दृश माने आँख भी होता है। *दृश* माने द्रष्टा — दृष्टि-आँख। सदृश माने आँख वाला। ज्ञान जो है यह तो आँख वाला साधन है। और सारे साधन बिना ज्ञान के अन्धे हैं। तो कहने का मतलब यह कि कर्म या भक्ति या योग चित्त की शुद्ध अंतःकरण की शुद्धि करते हैं और ज्ञान में उनकी परिसमाप्ति होती है। इसलिए ज्ञान के समान कोई पवित्र नहीं है। पवित्र शब्द का भी एक अर्थ है। *'पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रं'* —वज्र से जो रक्षा करे। अज्ञान के वज्र से ज्ञान रक्षा करता है। अशुद्धि से, अपवित्रता से पवित्रता, रक्षा करती है। कहने का मतलब हुआ कि ज्ञान जो है— यह हमको हमारे पापों से मुक्ति देता है। सारे पापों को ज्ञान की नौका पर सवार होकर लाँघ गए हम। तो सारे पापों को दूर कर देने की क्षमता जिस ज्ञान में है— वह सबसे पवित्र है। वह दृष्टिवान है, वह देखता हुआ है, वह समझता हुआ है। उसके समान पवित्र करना, पापों से मुक्त करना किसी दूसरे के लिए संभव नहीं है। क्यों संभव नहीं है? क्योंकि और जो साधन हैं उनसे पाप की जड़ नहीं उखड़ती। आपने कर्म या भक्ति के द्वारा सामयिक रूप से कोई पाप, जो आपको परेशान कर रहा था उस पर विजय प्राप्त कर ली, लेकिन उसकी जड़ अगर बनी हुई है तो आपका पापोदय कब हो जाएगा —इसकी कोई गारंटी नहीं है। इसलिए वे उतने पवित्र नहीं हैं। ज्ञान तो जड़ समेत सारे पापों को नष्ट करता है। सारे पाप अज्ञान से होते हैं। अज्ञान यानी अपने से अलग दूसरे की सत्ता की स्वीकृति। अज्ञान यानी अपने से अलग संसार की स्वतः स्वीकृति। अज्ञान अर्थात् संसार से या दूसरों से सुख पाने की लालसा। जब तक आपके मन में दूसरों से, इस संसार से सुख

पाने की लालसा रहेगी, तब तक पाप की संभावना रहेगी। सुख की कामना पाप में बाँधती है। कामना ही सबसे बड़ा पाप है। काम से बढ़कर और कोई पाप नहीं है। तो हमको दूसरों से सुख पाने की कामना क्यों होती है? क्योंकि हम उसको अपने से भिन्न और सच्चा मानते हैं। और जो उससे मिलेगा उसमें भी रमणीयत्व का, सत्यत्व का आरोपण करते हैं। अपने से भिन्न कुछ और है, दूसरा है, वह सच्चा है, उससे हमको सुख मिलेगा— यह तो दुःख की जड़ है भाई! किसी से बराबर सुख मिल सकता है? जो आपका सबसे प्यारा है, वह बराबर आपके साथ रह सकता है? कोई भी आपके साथ बराबर नहीं रह सकता। जब वह चला जाएगा छोड़ कर, तब आपको दुःख होगा कि नहीं? होगा। जो चीज आपको प्रिय है—जब नष्ट हो जाएगी तो? दुःख का घर है दूसरों से सुख पाने की कामना। दूसरों से मिलने वाले सारे सुख तात्कालिक हैं, अल्पकालिक हैं। और फिर तुमको जितना सुख मिला उससे दूसरे को ज्यादा सुख मिल रहा है। तो दुःख होता है कि नहीं? जो हमने चाहा वह मिला नहीं। जितना मिला उससे दूसरों को ज्यादा मिल गया— हरे राम! दुःख का घर है। यह जो संसार का सुख है, यह बाद में दुःख ही दे कर जाता है। इसलिए *'सर्वं दुःखं विवेकिनः'* —विवेकी व्यक्ति के लिए संसार के सारे सुख भी दुःख हैं, क्योंकि उन सुखों का रूपान्तरण दुःख में ही होगा। ज्ञान के बाद कभी दुःख नहीं होता। ज्ञान के बाद कोई दूसरा है ही नहीं। किससे तुमको सुख लेना है? अपने आपे से ही सुख लो। तुम तो आनन्दस्वरूप हो भाई!

नदिया बिच मौन पियासी रे, सुनत मोहिं आवै हाँसी रे।

नदिया बिच मीन पियासी ? तुम आनन्दस्वरूप हो और आनन्दस्वरूप को दूसरे से सुख मिलेगा? वह जो आनन्द के अभाव का अनुभव कर रहा है, वह तो अज्ञान के कारण कर रहा है। इसलिए ज्ञान होने पर जब अज्ञान का लोप होगा तो जो प्रतीयमान सुख है, उसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसलिए पाप ही नहीं होगा। पाप को अज्ञान के कारण ही हम भोगते हैं। अज्ञान की, पाप की, जड़ उखाड़कर ज्ञान फेंक देता है। इसलिए ज्ञान के समान पवित्र कोई नहीं है।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।

यह ज्ञान करण सापेक्ष नहीं है यह बता रहे हैं। तत् —वह ज्ञान, स्वयं अपने आप। *योगसंसिद्धः* —जो व्यक्ति योग से संसिद्ध हो गया। योग मतलब कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग— जो भी आप कीजिए। योग के द्वारा, समत्व रूप बुद्धि योग के द्वारा, भक्ति योग के द्वारा, ज्ञानयोग के द्वारा जो सिद्ध हो गया है, उसकी आत्मा में, अपने आपे में वह ज्ञान स्वयं यथासमय प्रकट हो जाता है। वह ज्ञान अपने भीतर

से प्रकट होता है। वह ज्ञान बाहर से नहीं मिलता। जो लौकिक ज्ञान है, वह हमको बाहर से मिलता है। गुरु भी हमको जो ज्ञान देते हैं, क्या ज्ञान देते हैं, कौन सा ज्ञान देते हैं? जो कुछ करने से नहीं मिलता जो सहज प्राप्त होता है, वह भीतर है, इसलिए मिलता है। उसका साक्षात्कार करते ही तुम वह हो गए।

तत्पश्यत्, तदभवत्, तदासीत्।

सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।।

जो जानने मात्र से कुछ हो जाता है, वह वही था कि नहीं था? जानने मात्र से अगर हम ब्रह्म हो गए तो हम जानने के पहले भी ब्रह्म ही थे। एक बढ़िया दोहा है—

ज्यों अविकृत कौन्तेय में राधा-पुत्र प्रतीति।

चिदानन्दघन ब्रह्म में जीव-भाव तेहि रीति।

कर्ण कौन्तेय था, कुन्ती का पुत्र था। सारी सृष्टि उसे राधा का पुत्र कहती थी। तो अपने को वह राधेय कहता था। राधेय कर्ण को कौन्तेय हो जाने के लिए क्या करना पड़ा? जानना पड़ा। जानने मात्र से वह राधेय से कौन्तेय हो गया। जैसे जानने मात्र से राधेय कौन्तेय हो गया क्योंकि वह कौन्तेय था। इसी तरह जीवात्मा जब जानने मात्र से परमात्मा हो गया तो वह परमात्मा ही था। जैसे— सरोवर में काई है। काई के पीछे जल है। काई के फटते ही जल दिखेगा। जल के ऊपर एक आवरण था। हमारे ज्ञान-स्वरूप पर यह जो अज्ञान का आवरण था, जैसे ही वह अज्ञान का आवरण छिन्न हुआ, हमको अपना ज्ञान प्राप्त हो गया। मैंने यह बात कई बार बताई है कि परमात्मा ने भी ज्ञान नहीं बनाया। हमारे गुरु जी कहते थे कि परमात्मा ने अगर ज्ञान बनाया होता तो ज्ञान बनाने के पहले परमात्मा ज्ञानी था कि अज्ञानी था? अगर ज्ञान बनाने के पहले परमात्मा ज्ञानी था तो ज्ञान था, तब न ज्ञानी था। और अगर परमात्मा अज्ञानी था तो ज्ञान बना ही नहीं सकता। इसलिए हमलोग परमात्मा को ज्ञानी नहीं कहते। हमलोग परमात्मा को ज्ञान-स्वरूप कहते हैं। बराबर याद रखो। सच्चिदानन्द स्वरूप। हम सत् स्वरूप हैं चित्त मनोज्ञान स्वरूप हैं, हम आनन्द स्वरूप हैं। हम अपने स्वरूप को भूल गए हैं। इसलिए हम दुःखी हैं। हम अपने स्वरूप को भूल गए हैं इसलिए हम अज्ञानी हैं, इसलिए दुखी हैं। हम अपनी सत्ता को भूल रहे हैं, इसलिए हम समझते हैं कि मर जाएँगे। हम कभी नहीं मरेंगे। हमारे गुरुजी कहते थे कि आज तक किसी को क्या मरने का अनुभव हुआ है? मरना अनुभव के क्षेत्र के बाहर की बात है। सबलोग कहते हैं कि बिना अनुभव के नहीं मानेंगे। बिना अनुभव के तुमने मरना कैसे मान लिया? किसको मृत्यु का अनुभव हुआ है? अगर तुमको मृत्यु का अनुभव हुआ तो तुम

जीवित हो तब न अनुभव हुआ? आज तक कभी किसी को मृत्यु का अनुभव नहीं हुआ। कभी किसी को मृत्यु का अनुभव नहीं हो सकता। किसी को जन्म का अनुभव भी नहीं हुआ। हमलोग शरीर को जनमते देखते हैं। शरीर को मरते देखते हैं। उस शरीर के जन्म से हम आत्मा का जन्म, उस शरीर की मृत्यु से हम आत्मा की मृत्यु मान लेते हैं। न हमारा जन्म हुआ है, न हमारी मृत्यु हो सकती है। हम अजन्मा हैं, हम अजर हैं, हम अमर हैं, हम सत् स्वरूप हैं। हमारी सत्ता का कभी लोप नहीं हो सकता। सच्चिदानन्द अद्वय तत्त्व के रूप में जिसे ज्ञान की प्राप्ति है वह तो सत्-स्वरूप है, वह बराबर बना रहेगा, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, वह बराबर ज्ञान-स्वरूप है, उसमें दुःख का स्पर्श नहीं हो सकता, अज्ञान का स्पर्श नहीं हो सकता, वह आनन्द-स्वरूप है। केवल हमारे वास्तविक स्वरूप पर आवरण-पर-आवरण है। हमारे अपने स्वरूप के ऊपर जो अज्ञान का, जो दुःख का, जो मृत्यु के भय का आवरण है, इस आवरण को हमने छिन्न किया नहीं कि हमने अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार किया। कैसी अद्‌भुत पंक्ति है— *तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।*

जो योग संसिद्ध पुरुष हैं, योग की सम्यक् सिद्धि जिनको हो गई है, जिन्होंने अपने तमाम आवरणों को छिन्न कर दिया है, आवरणों को छिन्न कर देने के बाद वह स्वयं अपने सत्-स्वरूप को, अपने चित स्वरूप को, अपने आनन्द-स्वरूप को अनुभव करेगा यथाकाल-यथासमय। एक बात पर और ध्यान दीजिए। हमारा अंतःकरण जड़ है। जड़ से चैतन्य का बोध नहीं हो सकता। इसलिए बुद्धि से भी चैतन्य का बोध नहीं हो सकता। बुद्धि की सीमा है। जिसको हम ज्ञान कहते हैं, वह बुद्धि से परे है कुछ। बुद्धि की एक सीमा है— इसको चिन्मयानन्द जी महाराज बहुत अच्छा समझाते थे। वे कहते थे तुमने पोल जम्प देखा है। उसमें खिलाड़ी एक बाँस लेकर आता है। बाँस खड़ा करता है। बाँस के सहारे ऊपर उठता है। जो अवरोध है—उसके पार चला जाता है। पार जाते समय बाँस को छोड़ देता है। यह बुद्धि उसी बाँस के समान है। इस बाँस के द्वारा हम एक सीमा तक ऊपर पहुँचते हैं, ऊँचाई तक और उसके बाद जब उस सत्य में प्रवेश करते हैं तो बुद्धि के बाँस को इस पार छोड़ देते हैं। परम सत्य बुद्धि से बड़ी वस्तु है, छोटी वस्तु नहीं है। करण-सापेक्ष नहीं है। हमारा मन बुद्धि, चित्त, अहंकार— ये अंतःकरण हैं। करण माने औजार। ब्रह्म जड़ के द्वारा प्राप्त नहीं होता। इसलिए वह करण निरपेक्ष है। इसलिए योग की संसिद्धि हो जाने पर वह परम तत्त्व अपने आप स्वयं में प्रादुर्भूत होता है। उसका अनुभव होता है, उसका साक्षात्कार होता है। भक्ति की दृष्टि से आप साधना करने जाइए और सब कुछ भगवान पर छोड़

दीजिए। यथासमय आपको अनुभव होगा। ज्ञान की दृष्टि से आप बराबर भावना करते चले जाइए और जिस दिन त्वं और तत् का अभेद होगा, अज्ञान का आवरण छिन्न होगा, उस दिन अनुभव हो जाएगा। उचित काल में वह ज्ञान अपने ही भीतर प्राप्त होगा। कबीर ने कहा है— *काहे को बन खोजन जाई।*

यह जो अपने भीतर तत्त्व है, उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए वह जो अज्ञान का आवरण है वही जब छिन्न होगा, तब वह तत्त्व स्वतः प्राप्त होगा। इसके बाद फिर उन्होंने ज्ञान की प्रक्रिया बताई। क्यों बताई? उनको लगा कि पहली बार जो प्रक्रिया बताई, वह अधूरी बताई। जो सिर विनम्रता से झुक रहा है, उसमें श्रद्धा होनी चाहिए। लेकिन अगर श्रद्धा नहीं है, कपट है, तो आप प्रणिपात के अभिनय से ज्ञान प्राप्त कर लें, बहुत मुश्किल है। इसलिए उन्होंने कहा कि ये सारी बातें प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा ये सभी बहिरंग साधन हैं, अंतरंग साधन श्रद्धा है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। (४/३९)

श्रद्धा का मतलब क्या होता है? श्रत्-धा-सत् को धारण करने वाली वृत्ति। श्रत् क्या है। सत् इति नाम— सत् को छिपाने के लिए उसमें रेफ लगा दिया। श्रद्धा माने अनुभव पर आधारित वह स्थिति जिसमें हम सत्य का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, अनुभव करते हैं। लोग अन्ध-श्रद्धा की बात करते हैं। हमारी श्रद्धा तो त्रिनयनी है।

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।

भवानी त्रिनयना है। दो नेत्र तो चर्म-चक्षु हैं और जो तीसरा नेत्र है, वह है ज्ञान-चक्षु, अनुभव चक्षु। श्रद्धा तो त्रिनयना है। अन्ध-श्रद्धा क्या है? अन्ध-श्रद्धा वह है, जब तुम बेईमानी से कुछ लाभ उठाना चाहते हो। जब तुम पाँच सौ रुपए को पाँच हजार बनाना चाहते हो और तुम किसी बाबा के पास जाते हो तो तुम पाँच सौ रुपया खोते हो। तुम जब बेईमानी का लाभ उठाना चाहते हो, यह अन्ध-श्रद्धा है। श्रद्धा उसको नहीं कहेंगे। जो सत् होता है वही श्रुत् होता है। उसको जो धारण करे, जो अनुभव करे। बिना अनुभव के श्रद्धा नहीं होती। श्रद्धा महत्त्व के बोध के कारण होती है। किसके प्रति श्रद्धा होगी? जिसके महत्त्व का बोध होगा। महत्त्व का बोध तुमको क्यों हो रहा है? अपने स्वार्थ के कारण? प्रतापभानु ने क्या किया? अनर्थ कर दिया। कितना अच्छा राजा था? बाहर तो कहता रहा *'करइ जे धरम करम मन बानी, वासुदेव अर्पित नृप ग्यानी।'*

कहता था निष्काम हूँ और भीतर कामना का समुद्र भरा हुआ था। उसने कपट मुनि से याचना की कि मैं अजर-अमर हो जाऊँ। मुझको समर में कोई जीत न सके। इतनी कामना भीतर में भरकर तुम निष्काम बनने का ढोंग रचते हो! ढोंगी व्यक्ति जब किसी कपट मुनि के सामने अपनी कामना व्यक्त करता है, तब वह अन्ध-श्रद्धा होती है। अपने को धोखा नहीं दोगे तो धोखा नहीं खाओगे। जो सत्य के ऊपर स्थिर रहेगा वह धोखा नहीं खाएगा। श्रद्धा सबसे बड़ा सत्य है।

श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसावेदयामसि।।

वैदिक ऋषि हाथ ऊपर करके कहता है कि अग्नि चाहे ज्ञान की हो, योग की हो, यज्ञ की हो, श्रद्धा से प्रज्ज्वलित होती है। हवि श्रद्धा से अर्पित की जाती है। मैं अपने वचन से यह प्रमाणित करता हूँ कि श्रद्धा समस्त सम्पत्तियों में सर्वोपरि है। समस्त साधनों में मूर्धन्य, सर्वोपरि श्रद्धा है। उस श्रद्धा के साथ जो युक्त है, गुरु के वचन में जिसको विश्वास है, शास्त्र के वचन में जिसको विश्वास है, ब्रह्म के अस्तित्व में जिसको विश्वास है, उसके हृदय में श्रद्धा है। जो परीक्षा देकर खड़ी होती है, परीक्षा पर जो अडिग रहती है। बार बार तुलसीदास ने कहा है— *लीन्हीं प्रेम-परिच्छा मोरी।*

भगवान ने बार-बार परीक्षा ली है। जो श्रद्धा परीक्षा में खरी उतरती है, उस श्रद्धा से युक्त व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है। *श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं*— ऐसा श्रद्धालु आलसी हो सकता है इसीलिए कहा— *तत्परः* —आलसी नहीं जागरूक रहो। ऐसा जागरूक श्रद्धालु भी विषयों की ओर झुक सकता है। कहा— *संयतेन्द्रियः।* एक ही वाक्य बार-बार उद्धृत किया जाता है— *श्रद्धावान् लभते ज्ञानं।* यह अपूर्ण बात है। तीन बातें कही गयी हैं। ज्ञान उसको प्राप्त होता है जो श्रद्धावान् है और जो इन्द्रिय संयमी तब तक चैन नहीं लेता जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। *'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्--निबोधत'* उठो, जागो, महापुरुषों को प्राप्त करके परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करो। ●

प्रवचन-१४*

कर्मयोग की विशेषता

पंचम अध्याय का आरंभ चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किए गए विवेचन के फलस्वरूप ही होता है। चतुर्थ अध्याय में प्रभु ने एक बार कहा— *सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।* अर्थात् ये सारे-के-सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं। फिर यह भी कहा— *ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।* (४/१९)

ज्ञानियों की दृष्टि में पण्डित वह है जिसने ज्ञान की अग्नि से अपने सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर दिया। इन दोनों वाक्यों से यह प्रतीत होता है कि ज्ञान ही चरम सत्य है। परम ज्ञान चरम सत्य है। ज्ञान की स्थिति चरम है, तो मनुष्य को ज्ञान में ही लगना चाहिए। फिर यह क्यों कहा भगवान ने— *छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।* (४/४२) ज्ञान की तलवार से तुम अपने अज्ञान प्रसूत संशय को नष्ट कर दो; किन्तु संशय को दूर कर युद्ध करने के लिए उठो, खड़े हो जाओ। योगारूढ़ होकर युद्ध करने के लिए उठ कर खड़े हो जाओ— प्रभु ने चतुर्थ अध्याय के अन्त में यह आदेश दिया है। इस आदेश के पहले उन्होंने बार-बार इस प्रकार ज्ञान की प्रशंसा की है, जिससे लगता है कि कर्म का त्याग कर ज्ञान को ग्रहण करना ही अभीष्ट है। अतः अर्जुन को लगा कि फिर मुझे कर्म क्यों करना चाहिए? अगर ज्ञान बड़ा है और मेरा भला ज्ञान में है, तो प्रभु को मुझे ज्ञान में लगाना चाहिए, युद्ध जैसे घोर कर्म में वे मुझे क्यों लगाना चाहते हैं? अतः उन्होंने सीधा प्रश्न किया 'हे कृष्ण कभी तुम संन्यास का निरूपण ऐसे करते हो कि लगता है संन्यास बड़ा है। फिर तुम कर्म का निरूपण ऐसे करते हो कि लगता है कि कर्म बड़ा है? तो भाई! ठीक-ठीक बताओ कि इन दोनों में श्रेयस्कर कौन है?'

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। (५/१)

सुनिश्चयपूर्वक, बिलकुल निःसंशय मेरे लिए यह निश्चित कर दो कि मेरे लिए

* पंचम अध्याय (कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १ से १२

क्या श्रेयस्कर है? इसमें 'मे' शब्द जो आया है, उसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन यह प्रश्न अपने लिए पूछ रहा है। इसका सहारा लेकर ज्ञानमार्गियों ने कहा कि यह उत्तर जिनका स्वभाव कर्म करने की प्रवृत्ति से प्रेरित है, उनके लिए है। लेकिन ऐसा है कि नहीं—इस बात पर थोड़ा विस्तार से विचार किया जाएगा। *शंससि* शब्द का अर्थ किसी-किसी ने प्रशंसा करना किया है, तो किसी-किसी ने निरूपण करना किया है। इसके दोनों अर्थ होते हैं। शास्त्र शासनात्मक भी होता है शंसनात्मक भी होता है। शास्त्र आज्ञा भी देता है, तो शासन करता है; और जब किसी विषय का निरूपण करता है तो उसे शंसन करना कहता है। और उसी में 'प्र' उपसर्ग लगता है तो प्रशंसा हो जाती है। तो अर्जुन के इस प्रश्न में यह बात निहित है कि कभी आप संन्यास का निरूपण बहुत ही आकर्षक शब्दों में, बहुत ही प्रशंसायुक्त शब्दों में करते हैं और कभी कर्म का करते हैं। तो इन दोनों में श्रेयस्कर कौन है, यह निश्चयपूर्वक मुझे बताइए। भगवान पहले कह चुके हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। (४/३४)

अपने मन की शंका अगर गुरु से भी छिपाओगे तो कल्याण नहीं होगा। गुरु से अपने मन की शंका निश्छल भाव से कह देनी चाहिए कि मेरे मन में इस प्रकार की शंका आ गई है, मेरे मन में इस प्रकार का भाव आ गया है; और मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ कि मेरे लिए क्या उचित है? आप ही निर्णय करके मुझे बताइए। अर्जुन की यह सरलता है। अर्जुन शब्द की व्युत्पत्ति ऋजुता से भी है— यह ऋजुता इस प्रश्न में निहित है। सरल होकर, निश्छल भाव से वह अपने गुरु, अपने सखा मित्र, अपने इष्ट देव से प्रश्न पूछ रहा है कि मुझे बताओ कि मेरे लिए क्या उत्तम है, उत्कृष्ट है? भगवान् जो उत्तर देते हैं, वह स्पष्ट तो है, किन्तु उसमें भी थोड़ा पेंच है। उस पेंच की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। प्रभु उत्तर देते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। (५/२)

पहली पंक्ति में भगवान् ने डंके की चोट पर यह बात कही कि संन्यास भी और कर्मयोग भी; उभौ—दोनों, निःश्रेयसकरौ— नितरां श्रेयस, नितरां कल्याण करने में समर्थ हैं— संन्यास भी और योग भी। संन्यास का अर्थ होता है— सम्यक् न्यास। न्यास का अर्थ होता है अर्पण। न्यास का अर्थ होता है त्याग। तो संन्यास का अर्थ हुआ कर्म का सम्यक् न्यास। कर्म का अच्छी तरह से, विवेकपूर्व त्याग। और कर्मयोग का

अर्थ हुआ कि फलाशा और कर्तृत्व का अहंकार छोड़कर, जो हमारा सहज प्राप्त स्व धर्म है, उसको करते जाना। तो एक में कर्म करते रहने पर और एक में कर्म त्याग पर बल है। और ये दोनों परम निःश्रेयस के मार्ग हैं। यहाँ आप देखिए कि ज्ञान मार्गी लोग बार-बार यह आग्रह करते हैं कि कर्मयोग ज्ञान का पूर्वांग है, ज्ञान का साधन है। गीता में भी भगवान ने आगे चल कर कहा है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये (५/११) — योगी आसक्ति को छोड़कर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। तो इस बात को ज्ञानी लोग पकड़ते हैं और कहते हैं कि जब तक आत्म-शुद्धि नहीं होगी तब तक ज्ञान नहीं होगा; और अगर आत्मशुद्धि के लिए कर्म है, तो आत्मशुद्धि के बाद ज्ञान है। अतः कर्मयोग ज्ञान का पूर्वांग है। कर्मयोग ज्ञान का सहायक है, उसका सहयोगी है। यह बात ठीक नहीं लगती, क्योंकि इसमें बिलकुल साफ कह दिया है कि— *'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।'* संन्यास में और कर्मयोग में फल की दृष्टि से तुल्यबलता है। फल की दृष्टि से दोनों समान रूप से बली हैं, तुल्यबल हैं, दोनों का बल बराबर है। शंकराचार्य और लोकमान्य तिलक दो अलग भूमिकाओं पर हैं, परस्पर विरोधी जैसी लगने वाली भूमिकाओं पर। लेकिन अपने अपने पक्ष को दोनों सँभालते भी हैं। लोकमान्य तिलक का कहना है कि कर्मयोग भी ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। चाहे कर्मसंन्यास हो चाहे कर्मयोग हो— ज्ञान दोनों में समान है। जो कर्मयोगी हैं वे यह नहीं कहते कि कर्मयोगी का ज्ञान कर्मसंन्यासी से अलग है। जो अद्वैत की चरम स्थिति है, वह कर्मयोगी को भी स्वीकार है और कर्मसंन्यासी को भी। इसलिए आत्मशुद्धि से ज्ञान प्राप्त होता है, केवल कर्मसंन्यास के लिए नहीं, कर्मयोग के लिए भी और इसलिए वे यह नहीं मानते कि कर्मयोग, ज्ञानयोग का पूर्वांग है। उनकी स्थापना यह है कि ज्ञान दोनों का अर्थात् कर्मयोगियों और ज्ञानयोगियों का अलग-अलग नहीं है। ज्ञान दोनों का एक ही है। वह ज्ञान कर्मयोग के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है, किसी दूसरे माध्यम से भी प्राप्त हो सकता होगा ज्ञानी को; लेकिन कर्मयोगी ज्ञान प्राप्त करने के बाद कर्मत्याग करे ही यह जो ज्ञानमार्गियों का आग्रह है —यह उनको स्वीकार नहीं है। उनका आग्रह दूसरा है कि ज्ञानियों को भी, कर्म-संन्यास के अनुरागियों को भी; ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर लोक-संग्रह के लिए कर्म करते रहना चाहिए। अब शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश यह भी नहीं है कि ज्ञानी कर्म न करे; यह भी नहीं है कि वह कर्म करे ही। ज्ञानी कर्म करे—ऐसी बाध्यता भी नहीं है। ज्ञानी कर्म न करे—ऐसा स्पष्ट निर्देश भी नहीं है। कुछ उपनिषदों में यह कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने के बाद केवल देह का निर्वाह करने के लिए जो प्राकृत

कर्म हैं, उतना ही कर्म यथेष्ट है। देह के निर्वाह के लिए किया गया प्राकृत कर्म तो मनुष्य को बहुत सीमित कर देगा। यहाँ पर अवश्य कर्मयोगी कहता है कि ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने उस ज्ञान को लोकसंग्रह के लिए, लोककल्याण के लिए, लोकमंगल के लिए काम में लाना चाहिए। भगवान का निर्णय क्या है? भगवान ने पहली बात तो दोनों की समान कर दी कि फल की दृष्टि से निःश्रेयस, मोक्ष-कर्मसंन्यासी को भी प्राप्त होगा, कर्मयोगी को भी प्राप्त होगा। *'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।'* उन दोनों में निश्चय ही कर्मसंन्यास से कर्मयोग की योग्यता अधिक है। कर्मसंन्यास की तुलना में कर्मयोग विशिष्ट है। विशेषतायुक्त है। अब जब विशेषतायुक्त कहा तो जो ज्ञानमार्गी हैं, वे कहते हैं कि कर्मसंन्यास सिद्ध के लिए कल्याणकर है। साधक के लिए कर्मयोग में विशेषता है। और देखिए इसमें वे अपना बचाव कैसे करते हैं। वे कहते हैं कि कर्मसंन्यास सिद्ध का लक्षण है। वे दोनों का अन्तर बताते हुए कहते हैं कि कुछ न करते हुए, सब कुछ करना —यह संन्यास का लक्षण है; और कुछ करते हुए सब कुछ न करना—यह योग का लक्षण है। योग में मनुष्य सब कर रहा है, लेकिन सबकुछ करते हुए चूँकि उसकी दृष्टि यह है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, कर्तृत्व का अहंकार नहीं है और फल का लोभ नहीं है इसलिए उसका कर्म उसके लिए अकर्म हो गया। मैंने अभी पिछले प्रवचनों में कहा न कि कर्म का मूल लक्षण है बाँधना। कर्म अपने फल से बाँधता है। कर्म अकर्म कब हो जाता है? जब कर्म का वह मूल लक्षण सिद्ध नहीं होता। *'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'* —शुभ या अशुभ जो भी तुम कर्म करोगे उसका फल तुमको भोगना पड़ेगा। कर्म फल भोग की बाध्यता —यह कर्म का लक्षण है। कर्म-फल अवश्यमेव भोगना पड़ेगा —यह जिस युक्ति से खंडित हो जाए --वह कर्म योग है। यानी कर्म करते हुए भी कर्म का फल लिप्त न हो। कर्म का फल लिप्त कब होता है? जब तुम समझते हो कि तुम कर्त्ता हो। कर्म का फल लिप्त तब होता है जब तुम कर्म का फल पाने की आशा रखते हो। फल की लालसा से किया गया कर्तृत्वपूर्ण कर्म बाँधता है। फल की आशा से रहित निष्कामकर्म कर्तृत्व की बुद्धि से रहित कर्म बाँध नहीं सकता। किसको बाँधेगा? जो कर्त्ता है वही भोक्ता है— यह अखंडनीय नियम है। जो करेगा, वह भोगेगा। अगर हमने कर्तृत्व की बुद्धि का त्याग कर दिया तो उसका फल हमें नहीं मिलेगा। कर्तृत्व की बुद्धि का त्याग कई स्तरों पर होता है। ज्ञानी की दृष्टि है कि मैं कुछ नहीं करता—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (३/२७)

सारा कर्म तो प्रकृति करती है। मैं कुछ नहीं करता। गुण गुण में बरत रहे हैं —यह ज्ञान की दृष्टि है। निष्कामता, फल-रहित भाव, अकर्ता की भूमिका— यह कर्मयोगी की भूमिका है; और प्रेरित कर्ता की भूमिका— यह भक्ति की भूमिका है।

यत् कृतं यत् करिष्यामि तत् सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव रघुनन्दन।।

जो कुछ किया, जो कुछ करूँगा— न मैंने किया न मैं करूँगा। तुमने किया, तुमने कराया। तुमने ही किया— इसलिए प्रभु फल तुम भोगो। लेकिन इसमें बेईमानी नहीं चलेगी। मुँह से तो कहा कि तुमने कराया लेकिन जब यश मिला तो फूल कर कुप्पा और जब अपयश मिला तो सूख कर छुहारा हो गये —यह नहीं चलेगा। अगर तुम्हारे आचरण से यह प्रमाणित होता है कि तुम फल भोक्ता हो, तो तुम कर्ता भी हो। भगवान ने कराया भगवान करायेंगे तो भगवान फल भोगेंगे। तो सुख-दुःख दोनों भगवान को ही होना चाहिए—अगर हो तो। इसमें बेईमानी नहीं चलेगी। मैं बता यह रहा था कि कर्तृत्व से अलग होना ज्ञान के द्वारा भी, निष्काम कर्मयोग के द्वारा भी, भक्तियोग के द्वारा भी संभव है।

सवाल यह है कि ज्ञान प्राप्त करने के बाद कर्म करते रहना कि न करना—यह ज्ञानी या कर्मयोगी के ऊपर छोड़ दिया जाए कि इसमें किसी की तरतमता बताई जाए। अगर दोनों बराबर है तो मेरी मौज कि मैं चाहूँ तो युद्ध न करूँ। दोनों अगर बराबर है तो फिर मैं युद्ध क्यों करूँ? मैं चुनूँगा। भगवान दोनों को फल की दृष्टि से बराबर बताते हुए भी अर्जुन को कह रहे हैं कि तुमको युद्ध ही करना है; और इसलिए वे कह रहे हैं कि कर्म-संन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है। यह जो विशेषता बताई गई है कहीं इसमें *'तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'* —इसमें 'मे' अन्तर्निहित है। मुझे बताओ, मेरे लिए बताओ। मेरे लिए क्या उचित है? सब के लिए जो उचित होगा— होगा। लेकिन मेरे लिए क्या उचित है? तुम मेरे गुरु हो। मैं तुमसे पूछ रहा हूँ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यतेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (२/७)

मैं तुम्हारा शरणागत शिष्य हूँ। मुझको बताओ, मुझे क्या करना है? सारे संसार के लिए सिद्धांत का निरूपण करना अलग बात है; और शिष्य के लिए एक परिस्थिति विशेष में आज्ञा देना दूसरी बात है। इसमें सिद्धांत निरूपण भी है और शिष्य विशेष के लिए स्थिति विशेष में स्पष्ट आदेश भी है। अर्जुन को कोई विकल्प नहीं देना चाहते प्रभु। यद्यपि बाद में कहेंगे *'यथेच्छसि तथा कुरु'* — वह उसकी परीक्षा लेने के

लिए कहेंगे। *'यथेच्छसि तथा कुरु'* — जैसी इच्छा है, वैसा कर। मैंने सब बता दिया है। यह भी उसकी परीक्षा है कि जो उसको बताया गया, वह उसकी समझ में आया कि नहीं? *'यथेच्छसि तथा कुरु'* भी एक परीक्षा है। इसलिए इस पंक्ति में एक सामान्य सिद्धांत के साथ-साथ अर्जुन की विशेषता को भी ध्यान में रखकर बात कही गई है। अगर अर्जुन की विशेषता को ध्यान में रख कर बात कही गई है तो ज्ञानमार्गियों के लिए कुछ अवकाश मिलता है। ज्ञानमार्गी कहते हैं कि यह बात अर्जुन के लिए कही गयी है। अच्छा! उसमें ज्ञानमार्गी यह बात मान लेते हैं कि तुमने संन्यास लेने में निष्कामता बरती कि नहीं? आजकल तो बहुत से लोग संन्यास इसलिए लेते हैं कि इससे मठ की महन्ती मिलेगी। अगर आप मुझको अपना शिष्य बना कर उत्तराधिकारी भी बनाने वाले हैं, आपके बाद महंत मैं बनने वाला हूँ, तो मैं संन्यास ले लूँगा। यह संन्यास, संन्यास नहीं है। इस संन्यास में धोखा है। संन्यास तो शुद्ध होना चाहिए। निश्छल होना चाहिए। संन्यास लेने में कोई शर्त थोड़े ही होती है? लेकिन एक बात मेरे गुरु जी कहते थे कि कर्म संन्यास सिद्ध का लक्षण है। साधक की भूमिका में कर्मयोग सहायक है। संन्यास अन्तिम स्थिति है। उस अंतिम स्थिति तक पहुँचे बिना बिलकुल कर्मों का त्याग —यह संभव ही नहीं है। उचित भी नहीं है। और इसलिए यह साधक की दृष्टि से भगवान् कह रहे हैं कि *'कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते'* —कर्म संन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है —यह ज्ञानमार्गी लोग, ज्ञान के पक्षपाती लोग, अर्जुन का सहारा लेकर यह बात प्रतिपादित करना चाहते हैं कि साधक की दृष्टि से यह बात कही गई है और उस स्तर पर कर्मसंन्यास से कर्मयोग की विशेषता भगवान बता रहे हैं। अच्छा एक बात और। संन्यासी का क्या मतलब है? भगवा वस्त्र धारण करने वाला? चतुर्थ आश्रमी? ऐसा नहीं मानते भगवान! भगवान शब्दों का अर्थ विस्तार करने में बड़े दक्ष हैं। संन्यास का भी अर्थ-विस्तार कर रहे हैं। बोले— संन्यास धर्मशास्त्रों में कहा होगा— *आश्रमात् आश्रमं गच्छेत*—लेकिन वास्तव में जगत्-व्यवहार में संन्यास क्या है?

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। (५/३)

भगवान् की दृष्टि में संन्यासी भगवाधारी ही नहीं है, चतुर्थ आश्रमी ही नहीं है। तुमने सफेद वस्त्र धारण कर रखे हैं तो क्या हुआ? होगे तुम गृहस्थ तो क्या हुआ? गृहस्थ होते हुए भी, श्वेत वस्त्रधारी होते हुए भी, अगर तुम संन्यासी की आधारभूत शर्तों को पूरा करते हो तो तुम संन्यासी हो। *ज्ञेयः स नित्य संन्यासी।* एक अनित्य संन्यासी होगा। नित्य संन्यासी से तो यह ध्वनि निकलती है कि एक नित्य संन्यासी है,

बराबर संन्यासी और एक जो थोड़े समय के लिए संन्यासी हुआ। भगवा भले ही उसने पहन लिया हो महन्ती के लोभ में, वह संन्यासी नहीं है। वास्तव में संन्यासी वह है *'यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति'* द्वेष्टि में तो द्वेष शब्द बिलकुल साफ है और कांक्षति में राग शब्द छिपा हुआ है। कांक्षति माने किसी की इच्छा हो। किसको प्राप्त करने की इच्छा होती है? जिसके प्रति राग होता है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। (२/६२)

कामना होती है तब न उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है? कामना खंडित होगी तो क्रोध होगा। तो किसी चीज के प्रति राग होता है, आसक्ति होती है तो उसके प्रति आकांक्षा होती है। यहाँ भगवान कह रहे हैं— *ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।* जो राग-द्वेष से मुक्त है, जिसके मन में द्वेष भी नहीं है किसी के प्रति और आसक्ति भी नहीं है किसी के प्रति। यह बहुत कठिन बात है। एक और विषेशता उसमें होनी चाहिए *'निर्द्वन्द्वो हि'*। द्वन्द्व माने जोड़ा-जोड़ा। सुख-दुःख, रात-दिन, पति-पत्नी, दो-दो जिसमें होते हैं, वह द्वन्द्व होता है। *निर्द्वन्द्व*— बिलकुल अकेला। उसके सिवाय कुछ होगा ही नहीं, तो दुकेला कैसे होगा? इस बात पर ध्यान दीजिए! राग-द्वेष से मुक्त कौन हो सकता है? वही हो सकता है जो निर्द्वन्द्व हो। आपको ईशावास्योपनिषद् की याद होगी। ब्रह्मज्ञानी की महिमा बताते हुए क्या कहा है?

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

राग और द्वेष से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व कौन होगा? जो अपने में सबको और सब में अपने को देखेगा, जिसे अनुभव हो चुका होगा कि एक ही आत्मा ने विविध रूप धारण कर रखे हैं, वह न किसी से घृणा करेगा न किसी के लिए उसे मोह होगा, न शोक। अर्थात् जो सच्चा ज्ञानी होगा। ब्रह्मज्ञानी के सिवा कोई राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकता। कोई निर्द्वन्द्व नहीं हो सकता। इसीलिए लोकमान्य तिलक कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान के बिना कर्मयोग भी संभव नहीं। लोकमान्य तिलक की स्थापना यह है कि चाहे कर्मसंन्यास करो, चाहे कर्मयोग करो, ब्रह्मज्ञान तो होना ही चाहिए। वे ज्ञानियों की यह बात नहीं मानते कि ज्ञान बिना कर्मत्याग के नहीं होता वे कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान तो साँझी संपत्ति है। देखो जनक कर्मयोगी हैं। लेकिन याज्ञवल्क्य उनके गुरु हैं, ज्ञानी हैं। लेकिन

शुकदेव को जनक ज्ञान देते हैं। ज्ञानी गुरु है कर्मयोगी का और कर्मयोगी गुरु है ज्ञानी का। और योग का पहला उपदेश किसको किया भगवान् ने? सूर्य को। सूर्य सबसे बड़ा कर्मयोगी है। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है—

चरन् वै मधुविन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।। चरैवेति चरैवेति।

अद्भुत श्लोक है। जो निरन्तर काम करता रहता है वही मधु-आनन्द-सुख की प्राप्ति करता है। निश्चयपूर्वक वही *चरन्वै मधुविन्दति।* शास्त्र को आलस्य अभीष्ट नहीं है। निकम्मा होने का आदेश शास्त्र कभी नहीं दे सकता। *'सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं'*—श्रेमाणं शब्द अद्भुत है। श्रम-युक्त शोभा। सूर्य की श्रमयुक्त शोभा को देखो! जो चलने में कभी आलस्य नहीं करता। निरन्तर कर्मयोग। सूर्य उदित होता है। हम आप जाग जाते हैं; और काम करने में जुट जाते हैं। भगवान् भुवनभास्कर का उदय, सारी सृष्टि को कर्मतत्पर कर देता है। कितना बड़ा कर्मयोगी है सूर्य कि खुद ही काम नहीं करता, सबको काम करने की प्रेरणा भी देता है। तो राग-द्वेष से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व होकर सतत काम करने की प्रेरणा ब्रह्मज्ञान के बिना हो ही नहीं सकती। ब्रह्मज्ञानी की ही प्रशंसा में वे दोनों मंत्र मैंने सुनाए, जो ईशावास्य के हैं। ब्रह्मज्ञानी ही राग-द्वेष से मुक्त होता है। *एकत्वं अनुपश्यतः* —निर्द्वन्द्व होने के कारण न किसी से राग करेगा न द्वेष करेगा। वह नाम रूप ही नहीं देखेगा, उसका अधिष्ठान देखेगा। मिट्टी का सकोरा, मिट्टी की सुराही, मिट्टी का घड़ा। वह मिट्टी ही देखेगा और इसलिए सब मिट्टी। नाम रूप अलग होंगे लेकिन सब में एक ही तत्त्व है। इसलिए किसी से क्या राग-द्वेष? ब्रह्मज्ञान के बिना राग-द्वेष से, कर्म बन्धन से छुटकारा नहीं। जिसको यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया, वह कर्मयोगी हो, ज्ञानयोगी हो, सुखपूर्वक कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

बहुत से लोगों के मन में यह बात बैठ गयी है कि सांख्य अर्थात् ज्ञान अलग है, और योग अर्थात् कर्मयोग अलग। सामने वाले के मन में यह बैठ गया है कि कर्मत्याग अलग है और कर्मयोग अलग है। भगवान बार-बार बता रहे हैं कि भाई! तुम जो इनको अलग-अलग कह रहे हो किस दृष्टि से अलग कर रहे हो। अगर फल की दृष्टि से अलग कर रहे हो तो यह बात ठीक नहीं है। फल तो दोनों का समान है। कर्मसंन्यासयुक्त ब्रह्मज्ञान तुमको जहाँ ले जाएगा, कर्मयोगयुक्त ब्रह्मज्ञान भी तुमको वहीं ले जाएगा। ब्रह्मज्ञान तो दोनों में होना ही चाहिए। अतः उनका कहना है—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। (५/४-५)

सांख्य और योग को सर्वथा विरोधी या भिन्न बताने वाले लोग नासमझ हैं, समझदार नहीं; क्योंकि फल तो दोनों का एक ही है। इस दृष्टि से सोचने पर वास्तविक द्रष्टा, सम्यक् ज्ञाता, बुद्धिमान तो वही है, जो यह समझ ले कि दोनों का समान लक्ष्य है, दोनों को समान फल मिलता है— इसका अनुभव करले और उन दोनों को समान स्वीकार करले। तो क्या दोनों में कोई अन्तर नहीं है? अन्तर है। अन्तर साधना के स्तर पर है। साधना की भूमिका पर अन्तर है, साध्य की भूमिका पर अंतर नहीं है। साध्य की दृष्टि से दोनों एक हैं। साधना की दृष्टि से दोनों अलग हैं; और इसी साधना की दृष्टि से भगवान् बार-बार कहते हैं कि कर्मसंन्यास की साधना कठिन है, कर्मयोग की साधना अपेक्षाकृत सरल है। यही बात द्वादश अध्याय में कही गई है। वहाँ भी भगवान् यही कहेंगे कि जो निराकार की उपासना करता है, जो अव्यक्त की उपासना करता है, उसको भी वही फल मिलता है, जो व्यक्त की उपासना करने पर मिलता है; लेकिन अव्यक्त की उपासना शरीरधारियों के लिए बहुत-कठिन है। आँख बन्द करके निराकार की कल्पना करो तो जो तुम्हारा दोस्त है वह तुम्हारी आँख के सामने आ जाएगा। करके देख लो। आँख बंद करो और सोचो कि हम कुछ नहीं करेंगे केवल निराकार का ध्यान करेंगे। निराकार का ध्यान करोगे तो तुमको याद आएगा कि अरे! कल उसने गाली दी थी। निराकार का ध्यान करोगे तो तुमको याद आएगा कि तुमने उससे उधार लिया था, अभी तक चुकाया नहीं है। वह तुमको गाली दे रहा होगा। निराकार का ध्यान करोगे तो याद आएगा कि वह तुमसे उधार ले गया था। तुमने अभी तक वसूल नहीं किया है। अव्यक्त की उपासना बहुत कठिन है, पर असंभव नहीं है। हम चूँकि नाम रूप से बँधे हैं तो हमारा इष्टदेव भी जब नाम रूप से बंधकर हमारे सामने आता है तो हमारे लिए उसका ध्यान करना सहज होता है। जब हम अपने को नाम रूप से ऊपर ले जायेंगे, जब हम अपने को आत्मा मान लेंगे तो हम अव्यक्त की उपासना आसानी से कर सकेंगे। कितने लोगों ने अपने को नाम रूप से ऊपर करके आत्मा मान लिया है? मुझे नहीं मालूम। जिन्होंने मान लिया है, वे आनन्दपूर्वक अव्यक्त की उपासना करें। तो जैसा उत्तर वहाँ देंगे वैसा ही उत्तर यहाँ दे रहे हैं कि साध्य की दृष्टि से तो दोनों समान हैं। लेकिन साधन की दृष्टि से दोनों में अन्तर है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। (५/६)

प्रभु ने कहा, हे बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन! हाथ क्या करते हैं? काम करते हैं। तो बड़ी भुजाओं को क्या करना चाहिए? बड़ा काम करना चाहिए। विशेषण और संबोधन— ये साभिप्राय होते हैं। आप जिससे जो प्राप्त करना चाहते हैं उसको वैसा ही विशेषण दे करके पुकारिए। भगवान् क्या करवाना चाहते हैं? वे यह नहीं कहते हैं कि हे महाबाहो। हे बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन! बिना कर्मयोग की सहायता के संन्यास हो ही नहीं सकता। यह कहा कि *दुःखम् आप्तुम्* —बड़े दुःख से होगा, बड़ी कठिनाई से होगा, बड़ी मुश्किल से होगा और उसमें स्खलन संभव है।

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।

तुलसी बाबा ने कहा कि ज्ञान का मार्ग तो तलवार की धार पर चलने के समान है, जिससे गिरने में देर नहीं लगती। यहाँ प्रभु यही बात बता रहे हैं कि बिना कर्मयोग की सहायता के कर्म का संपूर्ण त्याग बहुत ही कष्टमय है, बहुत मुश्किल है। इसलिए साधना के स्तर पर कर्मयोग अधिक सुरक्षित भी है, अधिक सरल भी है। और यह कर्मयोग की विशेषता भी है। कर्मसंन्यास और कर्मयोग फल की दृष्टि से तो दोनों समान हैं; लेकिन साधना के स्तर पर सुरक्षा और सरलता दोनों दृष्टियों से कर्मयोग कर्मसंन्यास से सरल है; क्योंकि सब कुछ त्याग देना, कुछ न करते हुए सब कुछ करना— यह बहुत कठिन है। कुछ न करते हुए सब कुछ किया जा सकता है, इसके लिए विनोबाजी का दिया हुआ उदाहरण मैं दे सकता हूँ। मैंने दिया भी होगा कि विद्यालय में विद्यार्थी हल्ला-गुल्ला कर रहे हैं। चपरासी ने आकर जोर से कहा— चुप रहो। कुछ चुप हुए, कुछ नहीं। अध्यापक आया। उसने कहा—चुप रहो। लड़के जल्दी चुप हो गए। प्रधानाध्यापक उधर से गुजरा, लड़के अपने आप चुप हो गए। देखो! क्रिया उत्तरोत्तर सूक्ष्म हुई है, कर्म उत्तरोत्तर बढ़ा है। इसी परम्परा को और आगे बढ़ाओ तो क्रिया सूक्ष्म होते-होते शून्य हो सकती है; और कर्म बढ़ते-बढ़ते अनन्त हो सकता है। इसीलिए भगवान सोए हुए हैं योग निद्रा में और सारी सृष्टि का पालन कर रहे हैं, निर्वाह कर रहे हैं। कुछ न करते हुए सब कुछ कर रहे हैं। युक्ति से यह बात सिद्ध की जा सकती है; लेकिन व्यवहार में यह बात कि कुछ न करते हुए आप सब कुछ करते हैं, बहुत ही कठिन बात है। प्रधानाध्यापक की योग्यता तो पहले प्राप्त करें तब न विद्यार्थी चुप होंगे। योग्यता चपरासी की और अपेक्षा प्रधानाध्यापक की— यह कैसे होगा? अब प्रधानाध्यापक की योग्यता प्राप्त करते-करते भी तो आप कर्म ही कर रहे हैं। हमलोग, साधारण लोग युक्ति तर्क से यह स्वीकार कर लेते हैं कि हाँ कुछ न करते हुए सब कुछ करना सम्भव हो सकता है। लेकिन वह कुछ न करना और सब कुछ कर लेना—यह

व्यवहार में कैसे होगा—यह बात बहुत मुश्किल से समझ में आती है, पल्ले नहीं पड़ती है। लेकिन यह बात पल्ले में पड़ती है कि हम अपने धर्म के अनुकूल प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म को अगर बिना अहंकार के, बिना फल की लालसा के करेंगे तो काम का जो बाँधने वाला पक्ष है, उसके विष के दाँत टूट जाएँगे। फिर साँप डँसता रहे, विष नहीं व्यापेगा। तो काम बाँधता जिस विष के दाँत से है, उस विष के दाँत को तोड़ कर काम करते रहना, कर्मयोग करना —यह बात साधना के स्तर पर समझ में आने लायक है, समझ में आती है। इसलिए सरल है। और कुछ भी न करते हुए सब कुछ करना —-तर्क से मान लेने पर भी बात रह ही जाती है कि कुछ न करते हुए सब कुछ करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए क्या करना पड़ा होगा— भाई! फिर भी उसमें कर्मयोग की सहायता के बिना वह तो बहुत कठिन बात होगी। इसलिए प्रभु बताते हैं कि कर्मयोग कर्मसंन्यास की तुलना में साधना के स्तर पर सुरक्षित भी है और सरल भी है। क्योंकि इसमें पतन की संभावना कम है। कुछ न करते हुए सब कुछ करने के दावे में पतन की आशंका ज्यादा है। और इसलिए यह बताया गया कि *'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति'* यह दूसरी बात भी ज्ञानमार्गियों को कम प्रीतिकर लगती है। ज्ञानमार्गी कहते हैं कि बिना ज्ञान के ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। पर भगवान यहाँ क्या कह रहे हैं?

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।

जो योग अर्थात् कर्मयोगयुक्त मुनि है, वह बिना विलम्ब के ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। योगयुक्त मुनि— इसमें ज्ञानमार्गी 'मुनि' शब्द को रेखांकित करते हैं कि उसमें तो ज्ञान है तब न वह मुनि है। योगयुक्त ज्ञानी यह इसका अभिप्राय है। प्राप्त तो ब्रह्म को ज्ञानी ही करते हैं। यदि वह योगयुक्त भी है तो योग उसका पूर्वांग है। योग ज्ञान का सहायक है— ज्ञानमार्गी यही मानते हैं। लेकिन यह बात गीता को अभीष्ट है— ऐसा मुझको नहीं लगता। मुनि शब्द का अर्थ होता है मननशील। जो मनन करे वह मुनि है। और मननशीलता यह कर्मयोगी का लक्षण क्यों नहीं होना चाहिए? मननशील योगी तो बराबर इस बात का मनन करता रहता है कि किसी भी प्रकार हमारे मन में कर्तृत्व का अहंकार न आ जाए। किसी भी प्रकार हमारे मन में फल की लालसा न जागे—ऐसा मननशील कर्मयोगी अनायास, शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। तो ब्रह्म को प्राप्त कर लेने में कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों समर्थ हैं। एक में स्थित रहने पर दूसरे का फल प्राप्त होता है —इस बात को भगवान ने ऊपर कहा है, यहाँ इस बात को और स्पष्ट रूप में दोहरा रहे हैं। कह रहे हैं कि योगयुक्त मुनि ब्रह्म को अवश्य शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। इसके बाद का श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। (५/७)

ज्ञानयोगी और कर्मयोगी के लिए ब्रह्मज्ञान तो साँझा है, यह जो लोकमान्य तिलक महाराज कहते हैं— वह इस श्लोक से फिर स्पष्ट होता है। *योगयुक्तो*— माने कर्मयोग से युक्त कर्मयोगी के चार लक्षण बताए जा चुके हैं। अर्थात् जिसमें न कर्तृत्वासक्ति है न अकर्तृत्वासक्ति है, न कर्मासक्ति न अकर्मासक्ति है, वह है योगयुक्त विशुद्धात्मा— उसका अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए, पवित्र होना चाहिए। अन्तःकरण की अपवित्रता कामना से होती है। अन्तःकरण की अपवित्रता राग-द्वेष से होती है। तो अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये शुद्ध होने चाहिए और *विजितात्मा जितेन्द्रियः* — अर्थात् जिसने अपने शरीर और अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।

आत्मा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। आत्मा शब्द का प्रयोग केवल आत्मा-परमात्मा के अर्थों में ही नहीं होता। आत्मा शब्द का प्रयोग कभी शरीर के अर्थ में होता है, कभी मन के अर्थ में होता है, कभी बुद्धि के अर्थ में होता है। तो यहाँ यदि विशुद्धात्मा का अर्थ शुद्ध अन्तःकरण ले लिया तो विजितात्मा का अर्थ होगा पूरे शरीर को नियंत्रित करने वाला। एक आसन पर आप घण्टों बैठ सकते हैं। मैंने अपने गुरु जी के गुरु ब्रह्मानन्द जी सरस्वती महाराज को देखा है। वे पद्मासन पर छह-छह घण्टे बैठे रहते थे। शरीर पर उनका कितना अधिकार था? जब मैंने उनको देखा तो सीधा मेरुदण्ड करके बैठे हुए। पद्मासन लगाए हुए ही देखा। मैंने सुना है कि स्वामी करपात्री जी महाराज शीर्षासन में सप्तशती का पाठ करते थे। शरीर पर कितना नियंत्रण हो सकता है, शीर्षासन में सप्तशती का पाठ? मैंने सुना है। भरोसेमंद व्यक्तियों से सुना है। मैंने देखा तो नहीं है। लेकिन ब्रह्मानन्द जी सरस्वती महाराज को तो घण्टों पद्मासन पर बैठे मैंने देखा है। उनका शरीर बिना उनकी इच्छा के टस-से-मस नहीं हो सकता था। इन्द्रियाँ टस-से-मस नहीं हो सकतीं। वैसे इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर जाती हैं पर प्रत्याहार सिद्ध हो जाएगा तो योगी घसीट कर इन्द्रियों को अपने में ले आएँगे। जितेन्द्रिय की परिभाषा क्या है? जितेन्द्रिय की परिभाषा है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

विषयों को देखकर, छू कर, खा कर, सूँघ कर, सुन कर, जिसको न प्रसन्नता हो

न ग्लानि हो— वह जितेन्द्रिय है। इन्द्रियाँ अपने विषयों से जो सूचनाएँ दे रही हैं मन उनको ग्रहण तो कर रहा है, किन्तु उन पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं कर रहा, इसका नाम है जितेन्द्रियता। आँखों ने सौन्दर्य की सूचना दी या कुरूपता की सूचना दी। सौन्दर्य की सूचना दी तो वह भी मन में अंकित हो गयी। कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। कुरूपता की सूचना दी तो वह भी मन में अंकित हो गयी। कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सुस्वादु भोजन और कटु भोजन, अपमान के शब्द और सम्मान के शब्द, कोमल स्पर्श, कठोर स्पर्श, सुगन्ध–दुर्गन्ध, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय केवल अपने मन में अंकित हों; उनके प्रति न अनुकूलता का बोध हो, न प्रतिकूलता का —तब व्यक्ति जितेन्द्रिय होता है। कितना कठिन काम है? हमलोग खाली जबानी जमा-खर्च कर देते हैं कि जितेन्द्रिय हो गये। जितेन्द्रिय का मतलब है ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के प्रति स्वतः कोई अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं होना। इन्द्रिय को जब चाहे तब विषयों से खींच ले आने की क्षमता हो, तब व्यक्ति जितेन्द्रिय होता है। जितना भी लोभनीय दृश्य सामने क्यों न हो, आकर्षक दृश्य क्यों न हो निश्चय किया कि आँख उधर नहीं देखेगी। अगर सचमुच नहीं देखे, तब व्यक्ति जितेन्द्रिय है। *योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः* —यह तो साधना से हो गया। ज्ञान की बात अब आती है। *'सर्वभूतात्मभूतात्मा'* वही है जिसने इस बात को सिद्ध कर लिया है कि सब प्राणियों की जो आत्मा है वही मेरी आत्मा है। अब्रह्मस्तंवपर्यन्त जो कुछ भी है उसमें जो चैतन्य है, वही मुझमें है। सब प्राणियों की आत्मा मेरी आत्मा से अभिन्न है। यह बिना ज्ञान के होगा? *सर्वभूतात्मभूतात्मा*— तिलक महाराज जी कहते हैं कि कर्मयोग में भी ब्रह्म-ज्ञान की शर्त समान रूप से लागू है, तो ठीक कहते हैं। हमलोग जब गीता पढ़ते हैं तो सोचते हैं कि कर्मयोगी हो जाएँ तो आत्मज्ञान हो जाएगा। सुनने में तो अच्छा ही लगता है। किन्तु यह बात कितनी कठिन है, इसका भी बोध होना चाहिए। समाज का जब कोई अच्छा कर्मठ व्यक्ति दिवंगत होता है तो लोग उसको कर्मयोगी कह देते हैं। शिष्टाचारवश किसी अच्छे व्यक्ति के मरने के बाद श्रद्धा ज्ञापित कर रहे हों तो कोई बात नहीं। लेकिन बाबा अपने लिए तो नहीं कहो। अर्थ का अनर्थ तो मत करो। कर्मयोगी का मतलब होता है योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, सर्वभूतात्मभूतात्मा जितेन्द्रिय होना— इतने गुण हैं तब कुर्वन्नपि न लिप्यते। तब तुम जो काम करोगे, उस काम से लिप्त नहीं होगे। क्योंकि काम तो तुमने किया ही नहीं। कर्म को तुमने अकर्म बना दिया। तुममें कर्तृत्व नहीं है। तुममें फलासक्ति नहीं है, तुममें कर्मासक्ति नहीं है। जो सहज प्राप्त कर्म है, उसको तुमने सहज भाव से अकर्त्ता की हैसियत से कर दिया, अतः वह तुमको बाँध नहीं पाया, तुम से लिप्त नहीं हुआ।

यह श्लोक बार-बार मनन करने योग्य है। हमलोगों को जिस लक्ष्य पर, जिस ऊँचाई पर पहुँचना है, यह श्लोक उस ऊँचाई का निर्देश करने वाला है। कर्मयोगी की जो विशेषता बताई, वही विशेषता तत्त्ववेता की, ज्ञानी की बता रहे हैं। कर्मयोगी की बात में अभी बताया कि जो विजितात्मा जितेन्द्रिय है, वह किसी के प्रति आकृष्ट नहीं होता। अब इसके बाद देखिए—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (५/८-९)

युक्त माने योगी। *तत्त्ववित्* माने तत्त्ववेत्ता ज्ञानी। तत्त्ववेत्ता ज्ञानी योगी यह मानता ही नहीं कि मैं क्षुद्र अहं के रूप में, इस नाम रूप से सीमित अहं के रूप में, कुछ कर रहा हूँ। *'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'* अब इसमें जो क्रियाएँ बताई गई हैं, पाँचो ज्ञानेन्द्रियों की पाँचो कर्मेन्द्रियों की; और जो सहज क्रिया होती है वे सब गिनाई गई हैं। देखिए—

पश्यन्–आँखों से देखते हुए श्रृण्वन्–सुनते हुए कानों से, स्पृशन्–छूते हुए त्वचा से, जिघ्रन्–सूँघते हुए नाक से, अश्नन–खाते हुए रसना से, गच्छन्–जाते हुए पाँव से, स्वपन्–यह प्राकृतिक क्रिया है सोते हुए, श्वसन्–साँस लेते हुए, प्रलपन्–बोलते हुए वाणी से, विसृजन्–मल मूत्र का त्याग करते हुए, गृह्णन्–हाथ से कुछ पकड़ते हुए। ज्ञानी इस प्रकार सहज क्रियाओं के साथ-साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों के व्यापार करते हुए भी मानता है कि मैं कुछ नहीं करता, इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं। सोते-सोते साँस लेने का कर्तृत्व तुमको होता है? नहीं होता। साँस लेने का कर्तृत्व नहीं है। धर्मशास्त्र कहता है कि सोए-सोए तुम करवट लो और कोई जीव दब कर मर जाए तो उसका पाप तुमको नहीं लगेगा। क्यों नहीं लगेगा? तुम्हारे शरीर से दब कर मर गया, पाप क्यों नहीं लगेगा? क्योंकि उस क्रिया में कर्तृत्व नहीं है। क्योंकि तुमने उसको मारना नहीं चाहा था। तुम्हारी इच्छा तुम्हारी कर्तृत्व-शक्ति से बिना, सोते समय कोई जीव दब कर मर गया। उसका पाप तुमको नहीं लगेगा, क्योंकि वह एक सहज प्राकृत क्रिया हो गई। नाखून बढ़ता है—इसमें क्या तुम्हारा कर्तृत्व है? मेरे काले बाल श्वेत हो गए—इसमें मेरा क्या कर्तृत्व है। कोई कर्तृत्व नहीं है। काले बाल प्रकृति के धर्म से श्वेत हो गए। दाँत टूटने लगेंगे, झुर्रियाँ पड़ने लगेंगी —इसमें कर्तृत्व है? तो ये जो सहज क्रियाएँ हैं, जैसे इनमें कर्तृत्व नहीं है, इसका पाप-फल हमको नहीं लगता;

वैसे ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों के समस्त कार्य व्यापारों का फलाफल भी तुमको नहीं लगेगा; अगर तुम तत्त्ववेत्ता हो।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

तत्त्ववेत्ता यही समझता है कि इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषयों में बरत रही हैं। देखो! जब कहते हैं न कि गुण-गुण में बरत रहे हैं, तो उसमें भी यही बात है। इन्द्रियाँ मूल प्रकृति के राजस तत्त्व की सृष्टि हैं। विषय उसके तामस तत्त्व की सृष्टि हैं। तो विषय भी गुण हैं, इन्द्रियाँ भी गुण हैं। मन सात्विक तत्त्व की विकृति है। मन इन्द्रियों के साथ विषयों में जा रहा है— तो प्रकृति के ही गुण प्रकृति के गुणों में जा रहे हैं। इसमें जो मेरा चैतन्य आत्म-तत्त्व है वह निर्लिप्त है। चैतन्य आत्म-तत्त्व लिप्त कब होता है? मैंने आपलोगों को बताया था कि काला कलूटा ठंडा लोहे का गोला आग में डाला तो लाल-लाल हो गया। उसमें दाहिका शक्ति आ गई, प्रकाश आ गया। यह दाहिका और प्रकाशनी शक्ति लोहे की नहीं, अग्नि की है। गोला गोल है तो अग्नि गोल-गोल मालूम पड़ी, लोहे का गुण अग्नि में आ गया। ऐसे ही हमारी आत्मा की संनिधि में, अन्तःकरण चैतन्य हो जाता है। जड़ अन्तःकरण-मन बुद्धि, चित्त, अहंकार, आत्मा की संनिधि में जो क्रिया कर रहा है, वह आत्मा की प्रेरणा से कर रहा है— ऐसा अहंकार नहीं होना चाहिए। अगर तुममें कर्तृत्व का अहंकार नहीं है, तो तुम कर्मों से बँधोगे नहीं। विषय में इन्द्रियाँ बरत रही हैं, माने प्रकृति के गुण प्रकृति के गुणों में बरत रहे हैं। मैं अकर्त्ता का अकर्त्ता हूँ। यह बात जब वस्तुतः व्यवहार में आएगी, तब 'मैंने कोई काम नहीं किया', यह कहना सच होगा। जब तक यह बात नहीं आएगी, जब तक कर्तृत्व का बोध होगा तब तक कर्म का फल मिलेगा, तब तक कर्म बाँधेगा। कर्म कब तुमको नहीं बाँधेगा? जब तुम कर्तृत्व से रहित हो जाओगे। *नैव किञ्चित्करोमि*— मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। यह बात वह कर्मयोगी मानता है, जो तत्त्ववेत्ता है। वह मानता है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं। इसलिए मैं कर्त्ता नहीं हूँ। मैं अलिप्त हूँ और तब उसको कर्म का फल नहीं मिलता। एक बात पर और ध्यान दो। यह अहंकार कि मैं कर्त्ता हूँ, इसको कैसे मिटाया जाए? इसे अलग-अलग ढंग से मिटाते हैं। यहाँ ज्ञानी लोगों की बात बता रहे हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। (५।१०)

देखो! बड़ी जगह में कोई जाता है तो छोटे आदमी का अपना अस्तित्व खो जाता है। गाँव से कोई शहर में आता है तो बावला हो जाता है। हमलोग छोटे-छोटे

तालाब में बड़ी मछली के समान हैं, बड़े तालाब में जाएँ तो किसी गिनती में ही नहीं आएँगे। सबसे बड़ा तो ब्रह्म है। अपनी लघुता को विलीन कर देने का रास्ता प्रभु बता रहे हैं। *'ब्रह्मणि आधाय कर्माणि'* —जैसे ही हमने सारे कर्मों को ब्रह्म में रख दिया, ब्रह्म को अर्पित कर दिया, ब्रह्म ही कर रहा है यह मान लिया, या करा रहा है— यह मान लिया. तो कर्तृत्व छूट गया, *ब्रह्मणि*—ब्रह्म में कर्म को रख देना यह पहली बात है। दूसरी बात है *संगंत्यक्त्वा* संग को, आसक्ति को छोड़ कर। अर्थात् फल की आसक्ति, कर्तृत्व की आसक्ति को छोड़कर, जो काम मिला है, उस काम को कर्तृत्व के अहंकार के बिना, फल की लालसा के बिना, पूर्ण करने के अहंकार के बिना, हम किये चले जा रहे हैं। यह हुआ *संगं त्यक्त्वा*—आसक्ति छोड़कर काम करना। सब प्रकार की आसक्तियाँ त्याग कर जो काम करता है *—लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा*— जैसे पानी में रह करके भी कमल का पत्ता भीगता नहीं, वैसे ही वह व्यक्ति सब काम करता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता। जिसके मन में यह बात आ जाती है कि जो काम हो रहा है वह इस सीमित नाम-रूप के अहंकार के द्वारा नहीं हो रहा, वह उस काम से लिप्त नहीं होता। सीमित नाम रूप के छोटे अहंकार के द्वारा प्रेरित हो करके अपना नाम बढ़ाने के लिए भोग भोगने के लिए, पैसा कमाने के लिए, दल बढ़ाने के लिए जो काम करेंगे, वह तो बँधेगा। सीमित नाम-रूप के अहंकार से ऊपर उठ कर, ब्रह्म के उस विराट् में अपने को समर्पित कर देने पर, क्षुद्र अहंकार उस विराट में विलय हो जाता है। जो लोग अपने नाम रूप के प्रति बड़े सजग हैं, वे कहते हैं— नहीं-नहीं इनको विलीन नहीं होने देंगे—

जैहे बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहे बूँद बिबस बिचारी की।

अरे! क्या है? बूँद समुद्र में मिली तो समुद्र हो गई। फिर उसकी बूँदता कहाँ रह जाएगी?

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

अपने से बड़े में अपने अस्तित्व को हम विलीन करते हैं। छोटी-छोटी बातों से हम सीख सकते हैं। परिवार में पहले अपने अहं का क्रम विस्तार करते हैं, फिर समाज में, फिर देश में, फिर विश्व में फिर ब्रह्माण्ड में, फिर ब्रह्म में। ब्रह्म तो बहुत दूर है भाई! अभी तो हम केवल अपने ही नाम-रूप तक सीमित हैं। अपनी चीजें अपने भाई से भी हम नहीं बाँटना चाहते। अपनी पत्नी से भी नहीं बाँटना चाहते। जैसे जैसे

तथाकथित व्यक्तित्व का अहंकार फूलता है, वैसे-वैसे राग-द्वेष और बढ़ता चला जाता है। भगवान् कहते हैं कि उलट दो इसको। जो सबसे बड़ा है, उसमें अपने को डुबो दो। उससे एक हो जाओ। छोटे में अपने को क्यों बाँध कर रखा हुआ है? बड़े-से बड़े के साथ एक हो जाओ, तब तुम कर्मफल से अलिप्त रहोगे।

इसके बाद दोनों श्लोकों में यह बात बताई गई है कि काम कैसे करना चाहिए।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। (५/११)

काम कितने प्रकार के होते हैं? प्रधानतः तीन प्रकार के काम होते हैं— कायिक, वाचिक और मानसिक। कुछ काम शरीर से होते हैं, कुछ वाणी से। मैं जो बोल रहा हूँ यह वाचिक कर्म है। जब विचार करते हैं हम-आप, जब हम भावना के स्तर पर जीते हैं, तो मानसिक कर्म करते हैं। प्रभु कहते हैं कि तुम इन तमाम प्रकार के कामों को इन्द्रियों से ही करो, इनमें लिप्त मत होओ। कायिक काम शरीर से, मानसिक काम मन से, और बौद्धिक काम बुद्धि से करो, *केवलैरिन्द्रियैरपि*—केवल इन्द्रियों के द्वारा करो। कुछ लोगों ने केवल शब्द को सब से लगाया है। केवल शरीर से, केवल मन से, केवल बुद्धि से, केवल इन्द्रियों के द्वारा काम करो। उसमें अपने अहं को युक्त मत करो, *'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये'*— अपनी चित्तशुद्धि के लिए योगी काम करते हैं। पहले कहा था *'योगयुक्तो विशुद्धात्मा'*, तो आत्मा या अन्तःकरण विशुद्ध कैसे होगा?

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध है ही, वह तो सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वय तत्त्व है। यह शुद्धि किसकी होती है? शुद्धि तो अन्तःकरण की होती है। मन बुद्धि चित्त अहंकार की शुद्धि होती है। तो *संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये*— यानी अंतःकरण की शुद्धि के लिए सब प्रकार की आसक्तियाँ छोड़नी पड़ती हैं। विवेकानन्द ने जिन महापुरुषों को बहुत सम्मान दिया है, उनमें एक रामकृष्ण परमहंस तो थे ही। एक थे पवहारी बाबा। पवहारी बाबा गाजीपुर में रहते थे। उनके आश्रम में विवेकानन्द तो कुछ दिनों तक रहे थे। विवेकानन्द उनसे एकदिन बोले— बाबा! आपका लोटा बड़ा चमकता रहता है। वे बोले बेटा! मैं रोज लोटे को माँजता हूँ। एकदिन भी नहीं माजूँगा, तो गन्दा हो जायेगा। हमलोग अपने शरीर को तो रोज साबुन लगा-लगा कर धोते हैं। तेल-फुलेल लगाते हैं; और मन को ? शरीर को साबुन लगाना जितना जरूरी है, उससे कितना ज्यादा जरूरी है मन को शुद्ध करना।

और मन को शुद्ध करने के स्थान पर हम दिन प्रतिदिन अशुद्ध बनाते जाते हैं। मेरे गुरुजी ने एक बार मुझ से पूछा— शास्त्री ! तुम अपने आँगन में पड़ोसी का गन्दा नाला आने दोगे? मैंने कहा— नहीं आने देंगे गुरुजी। वे बोले— पड़ोसी का गन्दा नाला अगर आए तो क्या करोगे? मैंने कहा— हम रोकेंगे उसको। उस पर मुकदमा करेंगे कि तुम्हारा गन्दा नाला हमारे आँगन में कैसे आ सकता है; नहीं आना चाहिए। तब गुरुजी ने पूछा, और पड़ोसी की गन्दगी तुम्हारे मन में आए तो आने दोगे? इस बात पर विचार कीजिए। पड़ोसी की गंदगी हम अपने मन में ले आते हैं। किसने कैसा बुरा व्यवहार किया? इसकी स्वाद ले-लेकर चर्चा करते हैं। आज के आदमी के जीवन में कैसा बड़ा टॉनिक है परनिन्दा— *'निन्दा सबद रसाल'* —आज से नहीं प्राचीन काल से है। सूरदास की पंक्ति है कि बड़ा रस आता है दूसरे की निन्दा करने में। दूसरे की निन्दा करना क्या है? दूसरे का गन्दा नाला अपने मन में ले आना। दूसरे का गन्दा नाला आँगन में जो लोग नहीं आने देते, वे दूसरे का गन्दा नाला मन में ले आते हैं। दावा करते हैं कि हम शुद्ध हैं। कैसे शुद्ध हो भाई? आसक्ति को छोड़ कर, जब काम किया जाएगा तब अन्तःकरण की शुद्धि होगी। अन्तःकरण की शुद्धि हो गयी, तब हमको किसी से राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। पर-चर्चा न कर्त्तव्या। दोष देखोगे तो दोष बढ़ेगा। गुण देखोगे तो गुण बढ़ेगा। तुलसी ने कहा है—

जड़-चेतन गुन-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।

दोष देखते हो? और उसका रस ले लेकर वर्णन करते हो? मन में समझते हो कि वह छोटा है, तुम बड़े हो? तुम अपना मन गन्दा कर रहे हो। अगर अन्तःकरण की शुद्धि का आग्रह है तो, दूसरे के दुर्गुणों का गन्दा नाला हमारे मन में न आए। कैसी मूर्खता की बात है कि हम अपना मन गन्दा करते रहते हैं, पर-चर्चा कर करके। किसी में गुण हैं, तो भगवान की कृपा से वे गुण हममें आएँ। महत्त्व की ओर जाने से महत्त्व आता है। बड़े का संपर्क पाने से बड़प्पन आता है। छोटे का संपर्क तो तुमको छोटा ही बनाएगा। चाहे शारीरिक, चाहे मानसिक, चाहे वाचिक, चाहे बौद्धिक, किसी भी प्रकार का काम केवल शरीर, केवल मन, केवल बुद्धि के द्वारा, आसक्ति छोड़ कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए करना चाहिए। अन्तःकरण शुद्ध हुआ कि नहीं इसकी कसौटी भी कर्म है। अगर कर्म करते समय तुमको हीनता का बोध हो, मुझको अध्यक्ष नहीं बनाया, मुझको पहली पंक्ति में नहीं बिठाया, तो तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। कर्म करने में अगर शान्ति नहीं है, स्निग्धता नहीं है, प्रियता नहीं है, तो तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं

है। तुम अहं भावना से ग्रस्त होकर केवल लोकैषणा से या पुत्रैषणा, वित्तैषणा से प्रेरित होकर काम कर रहे हो। तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ कि नहीं, इसकी कसौटी भी कर्म है। इसलिए कर्म जरूर करो, आत्मशुद्धि के लिए करो।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। (५/१२)

नैष्ठिकीम्— नितराम स्थिति। निष्ठा किसको कहते हैं? वह स्थिति जिससे व्यक्ति टस-से-मस न हो। कहते हैं बड़ा निष्ठावान् व्यक्ति है। जो अपने स्वीकृत सिद्धांत को दुःख में भी नहीं छोड़ता, उसे ही समाज निष्ठावान् मानता है। महाभारत का सार माना जाता है 'भारत सावित्री' को। उसका श्लोक है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

अर्थात् काम की वासना से, लोभ से, भय से, यहाँ तक कि प्राण बचाने के लिए भी, धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। जो इस प्रकार धर्म का पालन करता है वही धर्मनिष्ठ है। बुद्धिनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ कौन होता है? भगवन्निष्ठ कौन होता है? जो सुख दुख में अपनी निष्ठा से यानी नितराम् स्थिति से विचलित नहीं होता। निष्ठा बड़ा शब्द है। इसका हलका प्रयोग नहीं होना चाहिए। तो जो अपनी निष्ठा से विचलित नहीं होता, जो कर्मफल त्याग कर, कर्मयोगपूर्वक काम करता है, वह अविचलित शान्ति प्राप्त करता है। शान्ति से बड़ी चीज और क्या है? शान्ति ही तो ब्रह्म है, भगवान् है। हम शान्ति-कामना करें, जिससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो, पवित्र हो। हम अपने को आत्म-स्वरूप अनुभव कर सकें। यह परम शान्ति-निष्ठा हममें तब आएगी जब हम कर्मफल का लोभ त्याग कर, योगयुक्त होकर अविचलित भाव से कर्म करेंगे। और यदि हम योगयुक्त नहीं हो सके, तो हम अयुक्त होंगे और *अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।*

जो अयुक्त है, जो कर्मयोगी नहीं है, वह जो काम करता है, किसी कामना से प्रेरित होकर करता है। *'कामकारेण'* का अर्थ ठीक से समझना चाहिए। *कार* का अर्थ है करण। काम के करण को कहेंगे कामकार। उसमें तृतीया विभक्ति लगने से बनेगा कामकारेण, जिसका अर्थ होगा काम की प्रेरणा से। अब जो कर्मयोगहीन व्यक्ति कामना की प्रेरणा से कर्म करेगा, उसकी तो यही मानसिकता होगी कि जो काम कर रहा हूँ, उसका फल मुझको मिलना ही चाहिए। तो कामना से प्रेरित होकर फल की लालसा से जो व्यक्ति काम करेगा, वह बाँधा जाएगा। फल की लालसा से प्रेरित होकर जो लोग

काम करते हैं, उनकी कई कोटियाँ हैं। इस बात को समझना चाहिए। सब धान बाईस पसेरी नहीं है। जो कामनाग्रस्त होकर भी काम करते हैं, वे कैसा काम करते हैं? निषिद्ध कि विहित? अगर वे निषिद्ध कर्म करते हैं तो पामर हैं, पापी हैं, नीच हैं। और अगर विहित कर्म करते हैं तो विषयी हैं; और उस विषय की प्राप्ति के लिए भी वे किस प्रकार का काम करते हैं? उसमें भी धीरे-धीरे उन्नति होती है। केवल अपने लिए करते हैं कि लोगों को साथ लेकर चलते हैं। उसमें कहीं लोकमंगल की भावना भी है कि केवल अपने स्वार्थ की प्रेरणा है? केवल पैसा कमाने के लिए काम करने से ऊँची बात है, भोग भोगने के लिए काम करना। केवल भोग भोगने के लिए काम करने से ऊँची बात है, सम्मान प्राप्त करने के लिए काम करना। केवल सम्मान प्राप्त करने के लिए काम करने से ऊँची बात है, लोगों का भला करने के लिए काम करना। उसमें अहंकार है कि मैंने लोगों का भला किया है? उसमें काम का फल है कि मुझको लोग नेता माने, मुझको बड़ा मानें। लेकिन निषिद्ध कर्म से लेकर विहित कर्म की ऊँचाई तक, कर्म के अनेकानेक स्तर हैं। यज्ञ कर्म है। यज्ञ करने वाला भी अगर फलासक्त होकर कर्म करेगा तो बँधेगा ही। उसको स्वर्ग-नरक मिलेगा ही। विहित कर्म करने वाले विषयी हुए। उसमें भी कुछ लोग अच्छे हो सकते हैं। उनकी भी कोटियाँ हैं। लेकिन ये तमाम कर्म चाहे निषिद्ध हों चाहे विहित, कर्त्ता को बाँधेंगे ही, अगर वह फलासक्त होकर, कर्तृत्वयुक्त होकर काम कर रहा हो। ऐसे लोग भी कर्मयोगी नहीं है। बहुत काम करने वाले लोग कर्मयोगी नहीं होते, वे कर्मठ हो सकते हैं। कर्मठ और कर्मयोगी का मौलिक अंतर समझिए। कर्मठ वह है जो अपने कर्तृत्व बोध से फल पाने के लिए बहुत से काम करता है। उसको फल मिलेगा। अच्छा फल मिलेगा, स्वर्ग भी मिल जाएगा। लेकिन स्वर्ग सुख भोगने के बाद फिर उसे धरती पर आना पड़ेगा। निष्काम कर्मयोग वह है जिसमें बहुत काम कर रहे हैं—ऐसी बात नहीं है, लेकिन जो काम कर रहे हैं—वह स्वधर्म समझ कर, प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म कर रहे हैं और उसके फल की लालसा नहीं है, उसके कर्तृत्व का अहंकार नहीं है। ये दो मुख्य अन्तर हैं। जो फलाशा रहित, कर्तृत्व रहित कर्म करने वाले कर्मयोगी हैं वे निष्ठावान हैं, वे परम शान्ति प्राप्त करते हैं। जो विषयी हैं या पामर हैं, जो कर्तृत्व के अहंकार के साथ फल की आशा से काम करते हैं, वे अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य हैं। उनकी मुक्ति नहीं होती। उनके जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है। जो कर्म करते रह कर भी कर्मबन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें विवेकपूर्वक कर्मयोग का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, वास्तविक कर्मयोगी बनना चाहिए। ●

कर्तृत्व का अहंकार : एक भ्रान्ति

हमलोग साधारणतः अपने को कर्त्ता मानते हैं। हमलोग कहते हैं कि मैंने यह काम किया। मैं यह काम कर रहा हूँ। मैं यह काम करूँगा। यह जो कर्तृत्व का बोध है —मैं कर रहा हूँ, मैं करने वाला हूँ—यह व्यावहारिक स्तर पर तो ठीक है किन्तु पारमार्थिक सत्य नहीं है। यह अज्ञान के कारण उत्पन्न है। वास्तव में मैं कौन हूँ? थोड़ा-सा इस पर विचार कीजिए और फिर कौन कर्त्ता है, कौन करा रहा है? इस पर विचार कीजिए। देखिए! बारहवें श्लोक में कहा गया है कि *युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।*

जो कर्मयोग से युक्त है, योग से युक्त है, वह कर्मफल का त्याग कर नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है। कर्म फल किसको प्राप्त होता है? कर्मफल उसको प्राप्त होता है, जो कर्त्ता है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है। ऐसा तो नहीं हो सकता कि करे राम और भोगे श्याम। अगर कर्मफल का कोई त्याग कर रहा है— कर सकता है तो—तो किसका त्याग कर रहा है? कर्मफल का त्याग तभी हो सकता है जब कर्तृत्व का त्याग होगा। जब तक हमलोग अपने को कर्त्ता मानते रहेंगे, तब तक कर्मफल का त्याग नहीं होगा; क्योंकि साधारण नियम है कि जो करने वाला है वही भोगने वाला है। कर्मफल त्यागने का अर्थ हुआ कि वह अपने कर्तृत्व का भी त्याग कर रहा है। जब तक वह अपने को अकर्त्ता अनुभव नहीं करता, तब तक वह कर्मफल का भी त्याग नहीं कर सकता। अब इस बात को आप समझिए कि ये जो सारी बातें कही जा रही हैं— इनके द्वारा परमार्थ को अपने जीवन में उतारने की शिक्षा दी जा रही है। जो वास्तविक सच्चाई है, उस सच्चाई को उपलब्ध करें; और उस सच्चाई के अनुरूप अपने जीवन को ढालें। वास्तविक सच्चाई क्या है? हमलोग अपने को 'मैं' कहते हैं, यह 'मैं' कौन है? और कैसा 'मैं' है? जब हम कहते हैं कि मैं लम्बा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ— तो यहाँ यह 'मैं' क्या बता रहा है? यहाँ 'मैं' शरीर को बता रहा है। शरीर लम्बा है, शरीर दुबला

* पंचम अध्याय (कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या १३ से २०

है, शरीर मोटा है। इसलिए यहाँ में शब्द का अर्थ है शरीर। जब हम कहते हैं कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं उत्साही हूँ—तो यहाँ मैं किसको बता रहा है? यहाँ मैं शरीर को नहीं बता रहा है। यहाँ मैं मन का निर्णय कर रहा है। मन से हम सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। और यहाँ 'मैं' मन का वाचक हो गया। जब हमलोग कहते हैं कि मैं बुद्धिमान हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, तो यहाँ मैं किसका वाचक है? यहाँ 'मैं' मन का भी वाचक नहीं है। यहाँ मैं बुद्धि का वाचक है। और ये सारी बातें—शरीर, मन और बुद्धि—ये तीनों बातें छोटे अहं का प्रकाश हैं। छोटा अहंकार। जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, वह यह नहीं है। जब हम कहते हैं—*अहं ब्रह्मास्मि* मैं ब्रह्म हूँ। तो वहाँ कैसे, किससे ब्रह्म? क्या हम इस शरीर से ब्रह्म हैं; इस मन से ब्रह्म हैं— इस बुद्धि से ब्रह्म हैं? यहाँ मैं—शरीर, मन, बुद्धि—इन तीनों का ही वाचक नहीं है, मैं आत्मा का वाचक है। जो आत्मा है, वही परमात्मा है—यह तत्त्वज्ञान बताता है। शांकरअद्वैत् यही कहता है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।

जो जीव है, आत्मा है, वही ब्रह्म है। यह शांकरअद्वैत की दृष्टि है। रामानुज के अद्वैत की दृष्टि विशेषता से युक्त होकर है। वह पुरुष को, जीवात्मा को, अनेक मानता है। लेकिन वह चित्-अचित् विशिष्ट अद्वैत मानता है। चित्—जो असंख्य पुरुष हैं। अचित्—जो प्रकृति है। इन दोनों से युक्त जो ब्रह्म है वह अद्वैत है। लेकिन वह भी चित् चिदात्मा को सच्चिदानन्द-स्वरूप ही मानता है। और इसी तरह से और दृष्टियाँ भी हो सकती हैं। कहने का मतलब यह है कि इस 'मैं' की परिधि और व्याख्या को ठीक से समझना चाहिए। जब भी हमलोग अपने को कर्ता मानते हैं तब हमलोग अपने को शरीर से, मन से, बुद्धि से एक करके, अपने को कर्त्ता कहते हैं। हमलोग क्या शरीर, मन, बुद्धि ही है? यह असली बात है। यही बात बताई गई है— अगले श्लोक में—

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।। (५/१३)

पहली बात तो वशी। *वशी* माने जिसका अपने ऊपर पूरा अधिकार है। दुःखी कौन होता है? *'सर्वं परवशंदुःखम्* —जो परवश होगा, वह दुःखी होगा। *'सर्वं आत्मवशं सुखम्'* —जो आत्मवश है वही सुखी है। सुख और कुछ नहीं है। स्वाधीनता ही सुख है, पराधीनता ही दुःख है। वशी का क्या मतलब हुआ? वशी का मतलब हुआ वह व्यक्ति—जिसने अपने शरीर को, अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को, अपनी बुद्धि को अपने अधीन रखा हुआ है। अधिकतर क्या होता है? अधिकतर हमलोग शरीर-

इन्द्रिय-मन-बुद्धि के अधीन होते हैं। जब इन्द्रियाँ विषय के साथ संयोग करती हैं और उनको प्रीति का अनुभव होता है। उस विषय में मन रमने लगता है, तो बुद्धि सोचती है कि कौन-सा उपाय करें, जिससे वह विषय प्राप्त हो। और उस समय हम अनजाने ही अपने अधीन नहीं रहते। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि हमारे अधीन नहीं रहतीं। हम इन्द्रिय-मन-बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। गीता ने इसको बहुत स्पष्ट कहा है कि यही दुःख की जड़ है। अपना मन ही अपना सबसे बड़ा मित्र है। अपना मन ही अपना सबसे बड़ा शत्रु है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। (६/५-६)

अर्थात् जिसने अपने शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि को जीत लिया उसका मन तो उसका मित्र है; और जो अपने मन के अधीन हो गया, उसका मन उसका शत्रु है। इसलिए पहली बात कि वशी होना चाहिए। हम अपने को शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि के अधीन न होने दें। और फिर क्या करें? *'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य'*— यह दूसरी बड़ी बात है कि हम सारे कर्मों का अर्पण करें, मन से करें। प्रत्यक्ष व्यवहार में काम रोक दें, काम छोड़ दें— ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष व्यवहार में भले ही होता रहे; लेकिन मन से उसे अर्पित कर दें। यहाँ मन संपूर्ण अन्तःकरण का प्रतीक है, यहाँ मन— मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार— चारों का प्रतीक है। एक और बात आपको बता दें। बात से बात निकलती है। अच्छा बताइये! कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में अंतर क्यों होता है? रूप-रंग में अंतर तो गौण अंतर है। वास्तविक अंतर कहाँ है? यह शरीर तो पंच महाभूतों से बना हुआ है। कहा है न तुलसीदास ने— *छिति-जल-पावक-गगन-समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा।।* किसका शरीर है जो छठे, किसी और तत्त्व से, बना है? हम-आप-सब जितने भी शरीरवान व्यक्ति हैं, सबका शरीर इन्हीं पंच महाभूतों से बना हुआ है। बना है कि नहीं? और हम आप जितने भी प्राणी हैं, प्राणी ही नहीं जो अचेतन हैं वे भी, सबमें एक ही आत्मा है कि नहीं? एक ही आत्मा है। ईशावास्योपनिषद् की बात फिर याद कर लें—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

हमारे - आपके भीतर आत्मा एक, हमारे आपके भीतर पंच महाभूत एक। भिन्नता क्या है? क्या चीज है जो हमको अलग ढंग से व्यवहार करने की प्रेरणा देती

है? आपको अलग ढंग से व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। उसको अलग। वह कौन सी चीज है? जो रूप-रंग में नहीं, विचार-व्यवहार में अंतर उत्पन्न करती है। यह हमारा-आपका अंतःकरण है। हमारे शरीर के पंच महाभूत एक जैसे, हमारी आत्मा एक जैसी, लेकिन हममें से प्रत्येक व्यक्ति का अंतःकरण अलग-अलग। हममें से प्रत्येक व्यक्ति का अंतःकरण अपने असंख्य पूर्वजन्मों के कर्मों के फलों से, असंख्य पूर्वजन्मों के संस्कारों से बना है। वह मन, वह बुद्धि, वह चित्त, वह अहंकार— इन चारों की रचना होती तो प्रकृति से ही है; लेकिन स्थूल पंच भूतों से नहीं— ये सूक्ष्म पंचभूतों से बनते हैं। स्थूल पंचभूतों से शरीर बनता है; और जो सूक्ष्म पंचभूत हैं, जो विकृति-प्रकृति में होती है—उससे अपने-अपने पूर्वजन्मों के संस्कार को वहन करते हुए, हमारा अंतःकरण हरएक का अलग-अलग है। यह बात समझिये कि सत्ता तो परमात्मा की ही है; लेकिन उस परमात्मा की समान सत्ता की प्रेरणा से अलग-अलग काम हमलोग क्यों करते हैं? क्योंकि हमलोगों का अंतःकरण रूपी यंत्र अलग-अलग है।

बिजली से चलने वाले सारे यंत्र बिजली से चलते हुए भी परिणाम में, प्रभाव में, अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप, फल उत्पन्न करते हैं। हीटर आग उत्पन्न करता है, फ्रिज ठंडक उत्पन्न करता है, पंखा हवा चलाता है, बल्ब रोशनी देता है, माइक्रोफोन ध्वनि का विस्तार करता है। सब की कर्मप्रेरक सत्ता कौन? बिजली। और सब के काम अलग-अलग। क्यों? क्योंकि सबका अपना-अपना स्व-भाव है। सबके यंत्रों का जो स्व-भाव है उस यंत्र के स्वभाव के कारण एक ही प्रेरक सत्ता विद्युत अलग-अलग यंत्र में अलग-अलग फल देती है। तो *'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य'* —इसका अर्थ यह हुआ कि हम व्यवहार में भले काम करते रहें, व्यवहार के कर्म का निषेध गीता ने कभी नहीं किया। व्यवहार में कर्म करते हुए भी उस कर्म का संन्यास, उस कर्म का त्याग, विवेकपूर्वक मन से करें। अविवेकपूर्वक नहीं; क्योंकि अविवेकपूर्वक मन से किए गए त्याग का भी फल लगेगा। विवेकपूर्वक मन से त्याग करने का क्या मतलब? विवेकपूर्वक मन से त्याग करने का मतलब है कि मैं न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ। *नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् कारयन्* यह शरीर जो है इसको नौ दरवाजों का नगर बताया गया। दो आँख-दो कान-दो नाक-एक मुँह— सात; और मल-मूत्र त्याग करने के स्थान — नौ। ये प्रत्यक्ष द्वार हैं।

दसम दुआर गुपुते एक ताका— एक गुप्त द्वार है दसम द्वार। वह सिर के ऊपरी भाग में है। उसका पारिभाषिक नाम है ब्रह्माण्ड। योगियों के प्राण ब्रह्माण्ड फोड़कर निकलते हैं। वह तो गुप्त द्वार है। यहाँ प्रकट द्वारों का वर्णन किया गया है। नव द्वारों का

यह नगर है शरीर और इसमें रहने वाला इसका जो मालिक है वह है देही। वह इसका वास्तव में मालिक नहीं है। उसका वास्तव में इस शरीर से कोई संबंध भी नहीं है। लेकिन लोक-दृष्टि में वह इसका मालिक है, इसलिए उसको देही कहा। पहली बात जो गीता का यह श्लोक बता रहा है, वह यह कि मैं देह नहीं हूँ। देह एक नगर है जिस नगर का मैं स्वामी, निवासी हूँ। सेवक-निवासी नहीं। वशी देही। मैं यह शरीर नहीं हूँ। जैसे मैं यह कुर्त्ता नहीं हूँ। थोड़े समय के लिए मुझे यह कुर्त्ता मिला है। मैं यह चश्मा नहीं हूँ। थोड़े समय के लिए मुझे यह चश्मा मिला है। वैसे ही मैं यह शरीर नहीं हूँ। थोड़े-से समय के लिए यह शरीर मुझको मिला है। और इसलिए इस शरीर के द्वारा, इस मन के द्वारा, इस बुद्धि के द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह मैं नहीं कर रहा हूँ। जहाँ मन से आपने कर्म का त्याग किया, वहाँ आपको यह अनुभव हुआ कि इस शरीर का वशी देही— अवशी देही नहीं —इस शरीर का स्वामी बनकर रहने वाला जो आत्मा है *'नैव कुर्वन्न कारयन्'* —न वह कर्त्ता है, न कराता है। बुरा कर्म करने वाले को भी पाप लगता है, कराने वाले को भी पाप लगता है। आखिर जो लोग खून करते हैं किसी योजना से तो षड्यंत्र में जो लोग शामिल होते हैं— वे सब अपराधी होते हैं कि नहीं? तो करने वाला भी पापी और कराने वाला भी पापी। इस शरीर के भीतर जो वशी आत्मा है वह न कर्त्ता है न कराता है। तो कौन करता है? कौन कराता है? इसके बाद का श्लोक और भी चमत्कारपूर्ण है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। (५/१४)

गीता माता कहती है कि प्रभु न कर्तृत्व का, न कर्मों का सृजन करते हैं। सृष्टि, स्थिति और विनाश— निर्गुण निराकार ब्रह्म तो करता नहीं है। इसलिए इस प्रभु को सगुण ईश्वर मान लो। गीता कहती है कि प्रभु न तो कर्त्तापन का निर्माण करते हैं न कर्मों का। सृष्टि के कर्तृत्व का निर्माण भी वे नहीं करते, कर्मों का भी नहीं करते और कर्मफल का संयोग भी वे नहीं करते। वे तो इस प्रपंच से बिलकुल अलग हो गए। वे जैसे अलग होकर काम करते हैं, वैसे ही हम-आप भी करें यह श्लोक यही कह रहा है। प्रभु कैसे काम करते हैं? प्रभु ने बार-बार यह बात कही है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। (४/१३)

मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की गुण और कर्म के विभाग के अनुसार; लेकिन उसका कर्त्ता होते हुए भी मुझको अकर्त्ता मानो। *'तस्य कर्त्तारपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्।'*

कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता? कैसे करते हैं काम प्रभु? *'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'* —मुझे कर्मफल लिप्त ही नहीं होते; क्योंकि मुझको कर्मफल की स्पृहा नहीं है। और जो ठीक-ठीक मुझको इस प्रकार जान लेता है, वह भी मुक्त हो जाता है। *'इति मां योऽभिजानाति'* जानाति नहीं अभिजानाति— अच्छी तरह से, पूरी तरह से ठीक-ठीक मुझको इस प्रकार जान लेता है, *कर्मभिर्न स बध्यते* वह कर्मों के द्वारा बाँधा नहीं जाता। प्रभु जैसे काम करते हैं, गीता माता कहती हैं कि हम-आप वैसे ही काम करें। प्रभु कैसे काम करते हैं? प्रभु अकर्त्ता भाव से सारा काम करते हैं। प्रभु सारा काम करते है बिना कर्मफल की स्पृहा के, वे राग-द्वेष के कारण कर्म नहीं करते। हम भी ऐसे काम करें और तब जो काम होंगे उन्हें कौन करेगा? *स्वभावस्तु प्रवर्तते।* उन्हें हम नहीं करेंगे, स्वभाव करेगा। स्वभाव किसको कहते हैं? गीता में कहा गया है *स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते*— कि स्वभाव अध्यात्म को कहते हैं। अध्यात्म किसको कहते हैं? देखिए आजकल अंग्रेजी पढ़ने के कारण अध्यात्म शब्द का जो अर्थ होता है, वह कुछ उलटा-पुलटा होता है। उसको भौतिक के विरुद्ध बताते हैं— यह भौतिक है, यह आध्यात्मिक है। हमारे देश में पहले अध्यात्म पर ऐसे विचार नहीं करते थे, अध्यात्म का मतलब होता है *'आत्मनिअधि'* अपने जो भीतर है वह अध्यात्म है। जब हम कहते हैं कि त्रिताप की शान्ति हो तो आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक —तीनों तापों की शान्ति हो तो आध्यात्मिक ताप का क्या मतलब है? आध्यात्मिक ताप का मतलब है कि अपने भीतर मन में जो वृत्तियाँ हैं, उनमें काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर आता है, उसमें जो अहंकार आते हैं, उससे जो दुःख होता है, उस अपने भीतर के ताप की शान्ति हो। जब बाबा ने कहा—

दैहिक-दैविक भौतिक तापा, राम-राज नहिं काहुहि ब्यापा। (७/२०/१)

यहाँ दैहिक का मतलब आध्यात्मिक है। अपनी देह के भीतर, देह में जो है। तो *स्वभावस्तु प्रवर्तते* का मतलब हुआ कि अपने भीतर स्वभाव के रूप में रहने वाली प्रकृति जो मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार से भी सूक्ष्म है, वह प्रकृति हमारे अंतःकरण के अनुरूप हमको प्रेरणा देकर काम कराती है। अब देखिए! मौलिक रूप से यह दृष्टि सांख्य की है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है। उसने पुरुष और प्रकृति— ये दो भेद किए हैं। सांख्यवादियों ने कहा है कि पुरुष निष्क्रिय है; और सारी क्रिया प्रकृति की है। वेदान्त ने सांख्य की यह बात तो स्वीकार की लेकिन द्वैत को नहीं माना। वेदान्त ने उसमें यह जोड़ा कि पुरुष और प्रकृति के द्वैत का समाहार भी ब्रह्म में होता है। वही मूल है। माया से अपने को आच्छादित करके एक तरफ पुरुष और एक तरफ प्रकृति के रूप में

अभिव्यक्त करता है। और प्रकृति सारी सृष्टि करती है। यह प्रकृति हमको अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप प्रेरणा देती है और वही काम कर रही है। इसका एक छोटा-सा उदाहरण देते हैं। सूर्योदय हुआ तो कमल खिल गए; और कुमुदिनी बंद हो गई। सूर्योदय के प्रकाश में कमल का खिलना— यह उसका स्वभाव है। सूर्य के प्रकाश में कुमुदिनी का मुँद जाना—यह उसका स्वभाव है। हमारे आपके पूरे कार्य की प्रेरणा, हमारे आपके पूरे कार्य के पीछे यह जो स्वभाव है, यही हमें काम करने के लिए प्रेरित करता है। स्वभाव क्या है? इस पर बड़ी बहस है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वभाव हमारे असंख्य पूर्वजन्मों के कर्मों का समुच्चय रूपी संस्कार है, *'स्वभावो हि दुरतिक्रमः।'* स्वभाव बहुत ही दुरतिक्रम है। स्वभाव को लाँघना बड़ा कठिन है। हम विवेक से सोचते हैं कि ऐसा हमको नहीं करना चाहिए फिर भी हमारा स्वभाव उस ओर ठेल देता है और हम उस समय वशी नहीं होते, हम उस समय वशीभूत होते हैं। जब हमारा स्वभाव हमको विविध कार्यों में ठेल देता है, तो हम वशी नहीं रहे हैं। स्वभाव पर हमारा वश नहीं है। हम स्वभाव के वशीभूत हैं; और इसलिए हम कर्मफल से बँधते हैं। जब यह कहा गया कि कर्मफल की आशा छोड़ो तो उसी में यह निहित है कि कर्तृत्व की भ्रांति भी छोड़ो। जब तक हममें कर्तृत्व का अहंकार रहेगा, तब तक हम कर्मफल की बाध्यता से बँधे हुए हैं। फलाशा का त्याग— उसी के साथ-साथ कर्तृत्व के अहंकार का भी त्याग। *स्वभावस्तु प्रवर्तते*— जैसा कि उदाहरण दिया कि बिजली की सत्ता बिजली के बने हुए यंत्रों के स्वभाव के अनुरूप परिणाम देती है। हर यंत्र का अपना स्वभाव; उसी तरह हमारे अंतःकरण का जो स्व-भाव है, अपने भीतर जो मन-बुद्धि चित्त अहंकार की हमारी समष्टि है— वह हमारा अन्तःकरण जिस प्रकार की वृत्तियों का है, उसी दिशा में वह हमको ठेल देता है। अगर स्वभाव सब समय ही जीतेगा तब तो हम ठेले ही जाते रहेंगे ? ऐसा भी नहीं है—

स्वभावविजये यस्य स्वयं नैवास्ति वीरता।
तस्योत्तमपदप्राप्त्यै पशोर्ब्रूहि कथैव का।।

अपने स्वभाव को जीत लेने की वीरता जिसमें नहीं है, उस पशु को उत्तम पद की प्राप्ति हो— इसकी बात ही कहाँ आती है? यह जो एक अन्तर्द्वन्द्व है कि हमारा स्वभाव जिस ओर हमको ठेल रहा है जब हम वशी होंगे तब हम उस स्वभाव का अतिक्रमण करेंगे। मंगल की दिशा की ओर होगा वह अतिक्रमण। बराबर याद रहे कि प्रकृति के स्वभाव का अतिक्रमण दोनों दिशाओं में होता है। मंगलमय अतिक्रमण— संस्कृति और स्वार्थपरक अतिक्रमण—विकृति। प्रकृति का अतिक्रमण मनुष्य ही

करता है और कोई नहीं करता। दस हजार साल पहले सिंह, बन्दर, भालू, कौवे, तोते, आम, बबूल आदि जैसे थे वैसे ही आज भी हैं। सब प्रकृति के अधीन हैं। हम प्रकृति का अतिक्रमण कर सकते हैं। भगवान ने हमको यह एक विशेष अधिकार दिया है। हम कर्म करने में एक सीमा तक स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र हैं। उसके आधार पर हम स्वभाव के वशीभूत न होकर वशी बनें, यही आध्यात्मिक साधना है; और कोई आध्यात्मिक साधना नाम की दूसरी चीज नहीं है। आध्यात्मिक साधना का मतलब होता है कि मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार हमारे भीतर जो अध्यात्म है अन्तःकरण, वह जिस स्वभाव का पुंजीभूत रूप है, उस स्वभाव के वशीभूत होकर हमको कार्य नहीं करना है। उस स्वभाव के वशीभूत हो जाने पर हम अपने को कर्त्ता मानते हैं। सारा दुःख क्यों है? शंकराचार्य ने एक बहुत ही अच्छी उक्ति कही है। उन्होंने कहा है कि *'प्रज्ञापराध एव एष दुःखमिति यत्'*—जो दुःख है, वह प्रज्ञा का अपराध होता है। हम जब अपनी प्रज्ञा के प्रति अपराधी होते हैं, तब हम दुःखी होते हैं। हम पाप क्यों करते हैं?

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरित पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। (३/३६)

क्यों पाप करते हैं? इच्छा तो नहीं है। कोई चाहता है कि पाप करें? *अनिच्छन्नपि* — इच्छा न रहते हुए भी, लेकिन यह स्थूल बात कहता है। इच्छा ऊपर से नहीं प्रतीत होती, लेकिन भीतर से सूक्ष्म कामनाएँ हैं। भगवान कहते हैं— *'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः'* —जब हमारे मन में कामना आती है तो हम वशी नहीं रहते, वशीभूत हो जाते हैं। हमारा अन्तःकरण हम पर हावी कब होता है? हमारा अंतःकरण हमको कब प्रेरित करने में समर्थ होता है? जब हम वशी के स्थान पर वशीभूत हो जाते हैं। जब हमारे मन में कामना आती है कि यह नहीं चाहिए, वह चाहिए। ऐसा न हो, वैसा हो। बराबर याद रखिए कि यह जो प्रकृति है, यह सृष्टि करती है, संबंध नहीं बनाती। प्रकृति ने सूरज-चाँद-सितारे-धरती-हम सब को बनाया है; लेकिन मेरा-तेरा प्रकृति ने नहीं बनाया। यह मेरा मकान, यह मेरी मोटर, यह मेरी धरती, यह मेरा भाई, यह मेरा पति, यह मेरा प्रिय, प्रियतम— यह प्रकृति ने नहीं बनाया। यह संबंध-संयोजन—यह प्रकृति के द्वारा नहीं किया गया। यह हमने अपने अज्ञान के द्वारा किया है। इसी को आगे कहा न। *'स्वभावस्तु प्रवर्तते'*—स्वभाव हमको प्रेरित कब करता है? जब हमारे मन में कामना जागती है और हम उस कामना की तृप्ति के लिए प्रयासशील होते हैं, तब हम वशी से वशीभूत हो जाते हैं। जब तक हममें निष्कामता है तब तक हम वशी हैं; और जहाँ हममें सकामवृत्ति आई, वहीं हम वशीभूत हुए।

आशायाः ये दासाः ते दासाः सर्व लोकस्य
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः।

जो आशा के दास हैं कि मुझको यह मिल जाए, वह मिल जाए, मेरा यह हो जाए, वह हो जाए, वे सारी दुनिया के दास हैं। आशा जिनकी दासी है दुनिया उनकी दास है। *निराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।* निराशी होकर, निर्मम होकर, युद्ध करो। निर्मम का मतलब निष्ठुर नहीं है। निर्मम का मतलब है 'मेरा नहीं'। ममत्वहीन होकर। यह मेरा-तेरा—यह प्रकृति नहीं बनाती, यह अज्ञान बनाता है। इसके बाद का श्लोक देखिए—

नादत्ते कस्य चित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। (५/१५)

परमात्मा किसी का पाप, किसी का पुण्य नहीं लेते। हम पाप करेंगे तो वह पाप परमात्मा को लगेगा? हम पुण्य करेंगे तो वह पुण्य परमात्मा को मिलेगा? नहीं मिलेगा। सूर्य के प्रकाश में कोई रामचरितमानस पढ़ता है; और सूर्य के प्रकाश में कोई जालसाजी का दस्तावेज बनाता है तो रामचरितमानस पढ़ने का पुण्य सूर्य को मिलेगा? और जाली दस्तावेज बनाने का पाप सूर्य को मिलेगा? नहीं मिलेगा। यह तो उसकी सत्ता से सत्तावान होकर हम कर रहे हैं, अपनी कामना के अनुसार। हम कर रहे हैं अपने अन्तःकरण की प्रवृत्ति के अनुसार, अपने स्व-भाव के अनुसार—उसका पाप-पुण्य हमको मिलेगा। परमात्मा को क्यों मिलेगा? परमात्मा ने सारी सृष्टि बनाई और सारी सृष्टि का पाप परमात्मा को लगेगा? नहीं लगेगा क्योंकि परमात्मा ने सृष्टि बनाने के साथ-साथ विवेक की, ज्ञान की भी रचना की, अज्ञान की भी रचना की। अब अज्ञान अगर ज्ञान को ढँक ले *'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'* अज्ञान के द्वारा जब ज्ञान ढाँक लिया जाता है तो देखो! शब्द का प्रयोग देखो! जन्तवः कहा है मानवाः नहीं! मानव कौन है? मानव तो वह है जो विवेक से काम करे। मानव तो वह है जो बुद्धिमान हो। जो प्रकृति का मंगलमयी दिशा में अतिक्रमण करे। जो अपने आंशिक स्वातंत्र्य का सदुपयोग अपने को वशी बनाने में लगाए। जो वशीभूत न रह जाए। वशीभूत कौन रहता है? वशीभूत तो मैंने आपको बताया कि जन्तु होते हैं। हजारों साल से प्रकृति ने जन्तुओं को जैसा बनाया वे वैसे हैं। मछली वैसे ही तैरेगी, पक्षी वैसे ही उड़ेंगे, पशु वैसे ही विचरण करेंगे, लेकिन उसमें मेरा-तेरा नहीं है। प्रकृति के राज्य में मेरा-तेरा नहीं है। यहाँ तक कि बेटे और मां का संबंध भी पशु भूल जाते हैं। यह फिर इस बात का प्रमाण है, प्रकृति ने मेरा-तेरा नहीं बनाया। प्रकृति ने अगर मेरा-तेरा बनाया होता तो प्रकृति के

राज्य में मेरा-तेरा होना चाहिए। प्रकृति के राज्य में मेरा-तेरा नहीं है, तो मेरा-तेरा हमारे अज्ञान ने बनाया। अज्ञान जब हमारे ज्ञान को ढाँक लेता है, तब हम मनुष्य नहीं रह जाते, तब हम जन्तु हो जाते हैं और प्रकृति के अधीन होते हैं, वशीभूत होते हैं। यह अज्ञान क्या चीज है? अज्ञान किसको कहते हैं? अज्ञान कैसा होता है? अगले श्लोक में बताया है कि वह ज्ञान, अज्ञान के द्वारा ढँका हुआ है। उस अज्ञान को जो नष्ट कर देगा तो सूर्य की तरह, आदित्य की तरह वह सारी स्थिति, वह परमात्मा को भी प्रकाशित कर देगा। यानी अज्ञान एक प्रकार का अँधेरा है। अँधेरे की लम्बाई-चौड़ाई कुछ होती है? अँधेरे का कुछ वजन होता है? एक दिया लेकर जायें अँधेरे को देखने तो अँधेरा दिखता है? अज्ञान कुछ न होते हुए भी है। यह विचित्र बात देखिए। अज्ञान की न लंबाई, न चौड़ाई, न वजन। कामना ही अज्ञान है —तुलसी बाबा ने कहा है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ ना मिलैं, रवि-रजनी इक ठाम।।

सूरज के सामने रात टिक नहीं सकती। सूरज के सामने अँधेरा रह नहीं सकता। राम की वृत्ति मन में जागेगी तो काम भस्म हो जाएगा। तो यह अज्ञान एक प्रकार का अंधकार है। एक प्रकार का मोह है। उलटी स्थिति में मन को ले जाने की एक अद्‌भुत प्राकृतिक शक्ति है, जो प्रकृति के द्वारा हमको-आपको वशीभूत कर लेती है। उस अज्ञान के कारण हम सब मूढ़ हो गए हैं। *मुह्यन्ति*— मोहग्रस्त होना। *मुहवैचित्ये*—जो जैसा है उसको वैसा नहीं समझ पाना, जो जैसा नहीं है उसको वैसा समझना —यह मोह है। हमलोग मोहित हो जाते हैं, तो गलत काम करते हैं। सारे काम मोह के कारण उलटे-पुलटे होते हैं। तो प्रभु को जिस प्रकार जीव का पाप-पुण्य लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार प्रकृति की प्रेरणा से सृष्टि का सारा चलता हुआ कार्य प्रभु को कर्त्ता नहीं बनाता। गीता माता कहती हैं हमको भी वैसा होना चाहिए। हमको भी प्रभु की तरह कार्य करना चाहिए।

पहले समझाया जा चुका कि कर्म अकर्म तभी होता है जब आपके मन में कर्तृत्व का और फल-प्राप्ति का आग्रह न हो। अकर्त्ता भाव से अफलप्रसू होने के बाद जो कर्म होंगे वे स्वाभाविक कर्म होंगे। दो ही प्रकार से कर्म होंगे — या तो प्रकृति की प्रेरणा से कर्म होंगे या राम की, भगवान की प्रेरणा से होंगे। तो जो कर्म प्रकृति की प्रेरणा से होते हैं, वे प्राकृतिक होते हैं। भूख लगने पर तुमको खाने की इच्छा होगी। थक जाएँगे तो सोने की इच्छा होगी। सोए रहेंगे तो रक्त का अभिसरण होता रहेगा, साँस चलती रहेगी, बाल-नाखून बढ़ते रहेंगे— ये प्राकृतिक कर्म हैं; लेकिन प्रकृति का यह

कार्य जो सहज है, प्रकृति की तरफ से प्रेरित है। उसमें आपका काम भाव या कामना नहीं है— वह सारा-का-सारा कार्य सहज है। असहज कब होता है? जब प्रकृति के उस कार्य में आपकी कामना भी जुड़ जाती है। प्रकृति की तरफ से जो आ रहा है, वह हमको नहीं चाहिए। हमको यह नहीं, वह चाहिए। ऐसा न हो, वैसा हो। जहाँ यह कामना होती है, वहीं हम फँसते हैं। एक बात तो यह कि प्रकृति की प्रेरणा में कार्य की सहज स्थिति रहती है। काम की प्रेरणा में स्वार्थ की स्थिति आती है; और राम की प्रेरणा में ? राम की प्रेरणा में जो कार्य होता है वह तो अद्‌भुत होता है। राम की प्रेरणा से जो कार्य होता है, वह सम्पूर्ण स्वार्थों का अतिक्रमण करके होता है। वह राम के लिए होता है। वह राम का काम होता है। तुलसी बाबा ने इस बात को बार-बार कहा है। उन्होंने राम का नाम और राम का काम— इन दोनों पर समान बल दिया। जाम्बवान् हनुमान को समझाते हैं *'राम काज लगि तव अवतारा'*— तो राम का काम करने के लिए हनुमान का अवतार हुआ; और हमारा-आपका जन्म क्या रावण का काम करने के लिए हुआ है? हिन्दीभाषी प्रायः लोकोक्ति की तरह मानस की इन पंक्तियाँ का प्रयोग करते हैं—

राम काज कीन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम।

X X X X

राम काज अरु मोर निहोरा..... राम काजु छनभंगु सरीरा..... आदि।

हमारा किया हुआ काम राम का काम तभी होगा, जब उसमें अपना स्वार्थ नहीं होगा, जब उसमें परमार्थ होगा। प्रेरणा राम की है कि काम की है? इसे अच्छी तरह समझिए। काम की प्रेरणा में हम विषयों के वशीभूत होंगे, विषयों के अधीन हो जाएँगे। राम की प्रेरणा से हम विषयों का त्याग करेंगे। राम की प्रेरणा से जब हम काम करेंगे, उसमें हम आत्म-बलिदान करेंगे।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः

अज्ञान के द्वारा जब ज्ञान ढँक जाता है तो सारे प्राणी पशु की तरह व्यवहार करते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।। (५/१६)

जब ज्ञान के द्वारा हम अज्ञान का नाश करते हैं, जब हम यह अनुभव करते हैं कि हम शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि नहीं हैं, जब हम यह अनुभव करते हैं कि ये शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि हमको थोड़े समय के लिए अपने कर्मों का फलभोग करने के लिए मिले हैं, हमारा इनसे कोई संबंध नहीं है *अविनाभावी*— हम इनसे भिन्न हैं, हम इनसे

अलग हैं, जब हम अपने को इस शरीर से अलग मानकर इस पर अपना नियंत्रण लाकर, अपने को वशी बनाते हैं; तब ज्ञान का उदय होता है। और तब हमारा यह अज्ञान नष्ट हो जाता है कि हम यही शरीर हैं, जो हाड़-मांस का थैला है, जो केवल विषय-भोग के लिए पैदा होता है और मरता है, कीड़े-पतंगे की तरह, जो हमें तरह-तरह के सुख और भोग की कामना से दौड़ाता रहता है। जब अपना अज्ञान ज्ञान के द्वारा नष्ट होता है तो जैसे सूर्य के प्रकाश से सारी सृष्टि प्रकाशित होती है, उसी तरह ज्ञान के प्रकाश से *तत्परम्*—उसके परे, जो परम तत्त्व है, वह प्रकाशित हो जाता है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

वैदिक ऋषि दोनों हाथ उठाकर कहता है कि मैंने उस महान् पुरुष का अनुभव किया है, उसे जाना है जो तम के, अज्ञान के परे है, वह जो आदित्यवर्ण, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, चैतन्यस्वरूप परब्रह्म है, उसका मैंने अनुभव किया है। जो सबके परे है जो परमात्मा है ज्ञान के द्वारा उसका अनुभव होता है। इस अनुभव की प्रक्रिया अगले श्लोक में बताई गयी है। बड़ा अद्‌भुत श्लोक है यह—

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (५/१७)

ज्ञान से सारे पाप कैसे धुल जाते हैं? किसके धुल जाते हैं? इस श्लोक में यह बताया गया है। हमारे गुरुजी इसमें एक बहुत अच्छी बात कहते थे। वैसे तो सीधी बात कह देंगे। लेकिन पहले अपने गुरुजी की बात कहेंगे, जिससे बात समझ में आती है। गुरुजी कहते थे कि तुमने कभी किसी नवविवाहिता को देखा है? नया-नया ब्याह होने के बाद वह जब ससुराल जाती है तो उसको अपना घर मानती है कि पिता के घर को अपना घर मानती हैं? नवविवाहिता वधू का मन दुचित्ता होता है। ससुराल को अपना घर मानती है। जरा सी तकलीफ होती है तो माँ की याद आती है। भाग जाऊँगी मैं, अपने मैके चली जाऊँगी, ऐसी धमकी वह देती है कि नहीं? यानी उसके मन में अभी तक यह स्थिरता नहीं हुई कि मेरा घर कौन सा है? जब तक वह ससुराल को अपना घर नहीं मानती, तब तक उसमें निष्ठा नहीं होती, स्थिरता नहीं होती। बार-बार जाती है मैके। बाबूजी हमको बुला लीजिए, माँ हमको बुला लो— ऐसा पत्र वह लिखती रहती है। बार-बार मैके जाएगी तो अपनी ससुराल में स्थिर नहीं रहेगी। जब उसमें ससुराल के प्रति निष्ठा नहीं होगी तो उसमें उसका मन भी नहीं लगेगा। जब उसमें उसका मन नहीं लगेगा तो उसमें उसकी बुद्धि भी नहीं लगेगी। जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, बहू पुरानी होती है, तो उसको लगता है यही घर मेरा है। माँ कहती है बेटा! बहुत जरूरी काम है। तुम

जल्दी आओ। आना तो चाहती हूँ माँ लेकिन क्या करूँ— मुन्ने का अभी इम्तहान हो रहा है। इनको छुट्टी नहीं मिल रही है। वह बहाना बनाती जाती है। बहुत बार बुलाने पर भी मैके नहीं जाती है। और फिर उसका मन किसमें लगता है— ससुराल में या मैके में? ससुराल में ज्यादा लगता है और फिर बुद्धि कहाँ लगती है? कहाँ की समस्या का समाधान ज्यादा करती है? कहाँ अच्छा हो? ससुराल में। उसको वह अपना घर मानती है। बात समझ में आई? जिसको हम अपना घर मान लेंगे, उसमें हमारी स्थिति होगी उसमें हमारा मन लगेगा, उसी में हमारी बुद्धि लगेगी। अब इस श्लोक को समझिये—

तत्परायणाः माने *तदेव 'परमं अयनं यस्य सः'*। हमलोगों का सबसे बड़ा घर कौन है? वह घर जिसमें हम रहते हैं ईंट-पत्थर का? मैं कलकत्ते में २८० चित्तरंजन एवेन्यू में रहता हूँ। दिल्ली में १० राजेन्द्र प्रसाद रोड में रहता हूँ; और भगवान की कृपा से दौरा ही करता रहता हूँ। मालूम नहीं कहाँ-कहाँ रहता हूँ? जहाँ रहता हूँ, वह उस समय मेरा घर हो जाता है। मेरा और कोई घर नहीं? *तत्परायणाः*—अगर हम भगवान के होना चाहते हैं, तो पहली बात क्या होनी चाहिए? हमारा पक्का अयन, पक्का घर कौन सा है? परम निवास कौन-सा है? यह जगत्, यह परिवार, यह वह घर —जिस घर में तुम पैदा हुए? या जिस घर में विवाह करके आए? ये सब पक्के घर नहीं हैं, परम अयन नहीं है। ये सामयिक रूप से प्राप्त घर हैं। हमारा एकमात्र आश्रय प्रभु हैं। इस बात का जब पक्का विश्वास हो जाएगा तब अनुभव से, व्यवहार से कर्मी लोग इधर लौटते हैं। ज्ञानी लोग ज्ञान से उधर आते हैं। आप लोग ज्ञानी होंगे लेकिन मैं अपने गुरु जी की प्रक्रिया समझा रहा था। *तत्परायणाः*—पहले तो यह पक्का मन बना लेना चाहिए कि दुनिया का यह घर हमारा अपना घर नहीं है। वास्तविक घर नहीं है। *'रहना नहीं, देस बिराना है'*—यह बात जब पक्की तरह से समझ में आ जायेगी, तब हम समझ सकेंगे कि मिट्टी, ईंट, पत्थर के बने घरों को अपना कहना कितना असंगत है।

'माटी खन-खन भीत उसारैं, लोग कहैं घर मेरा रे।
ना घर मेरा, ना घर तेरा, दुनिया रैन-बसेरा रे।'

परम अयन कौन-सा है? पहली बात यह। जहाँ विवेकसम्मत रूप से यह बात समझ में आई कि हमारा परम अयन परमात्मा है, तो हम उसके परायण होंगे। परायण शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जो हमारा परम घर है, और दूसरा यह कि जिससे हम जुड़े हैं। कहते हैं न कि कामपरायण है, लोकपरायण है। लोक से जब जिसका चित्त जुड़ जाता है तब वह लोकपरायण हो जाता है। परमात्मा में हमारा चित्त जुड़ जाए। हम परमात्मा में ही निवास करें। परमात्मा ही हमारा वास्तविक घर है,

पक्का घर है, जब यह बात मन में आयेगी तब उसमें नितराम् स्थिति होगी। निष्ठा माने— नितराम् स्थिति। थोड़ी देर के लिए भले इधर-उधर मन टल-मल जाए, हिल-डुल जाए लेकिन हम अपनी स्थिति को, निष्ठा को तब नहीं छोड़ेंगे। मेरा अपना घर, मेरा एकमात्र अपना राम है —यह बात स्थिर होते ही, उसमें नितराम् स्थिति होगी। फिर विचलन नहीं होगा। मन विचलित नहीं होगा और तब उसमें मन लगेगा। तदात्मानः मन लगेगा। और तब उसमें *तद्बुद्धयः* —अपनी बुद्धि लगेगी। सच्ची बात बताओ, अभी हमलोगों का मन कहाँ लगता है? अपनी बुद्धि कहाँ लगती है? राम जी में मन नहीं लगता। जब राम-राम करते हैं, तब याद आता है, उसने गाली दी थी, उससे रुपया लेना है, वह काम करना बाकी है। लो। मन तो कहीं और है।

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनवा तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं।।

मन नहीं लगता। बुद्धि नहीं लगती। यह सारा दर्शन, यह सारा विचार, शंकर का, रामानुज का, तुलसी बाबा का —यह सारा विवेक क्या है? यह भगवान में लगी हुई बुद्धि का फल है। भगवान में बुद्धि लगाओ तो यह सारा द्वैत-अद्वैत—विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत—यह सारा चिन्तन समझ में आयेगा। चिन्तन अलग-अलग होता है, अलग-अलग महात्माओं का, क्योंकि उनके अलग-अलग अंतःकरण हैं। बराबर याद रखें कि वास्तविक पार्थक्य पंच महाभूत और आत्मा का नहीं है। वास्तविक पार्थक्य अंतःकरण का है। अंतःकरण की विविधता और अंतःकरण की भिन्नता के कारण हम अलग-अलग ढंग से सोचते हैं। अलग-अलग ढंग से अनुभव करते हैं, अलग-अलग ढंग से व्यवहार करते हैं। तो जो व्यावहारिक व्यक्ति हैं, उनका कर्त्तव्य यह है कि अगर अपनी अकल न लगे तो गुरुजी की बात मानो, गीता माता की बात मानो। तुलसीदास की बात मानो। अकल पर तो पत्थर पड़ा हुआ है। हमारी बुद्धि नहीं मानती, नहीं समझती। जाने दो बुद्धि को। यह श्रद्धा रखो कि तुलसी बाबा कह रहे हैं वे झूठ नहीं कहते। रामकृष्ण परमहंस देव ने कहा, विवेकानन्द ने कहा। बँगला की एक बहुत अच्छी कहावत है— *विश्वासे मिलाए वस्तु, तर्के ते बहु दूर।* विश्वास से असली वस्तु मिलती है और तर्क-वितर्क से वह बहुत दूर है। अगर अपनी अकल नहीं है तो जिनकी अकल पर श्रद्धा है उनकी बात मान लो और उनकी बात मान कर यह निश्चय करो कि हमारा पक्का घर राम हैं। निश्चय करो कि हमको अपना मन रामजी में लगाना है। हम राम जी में ही निवास करेंगे। जैसे ही परायणता की वृत्ति आएगी तब उसमें निष्ठा होगी, तब उसमें मन लगेगा, तब उसमें बुद्धि लगेगी। जैसे क्रमशः नवविवाहिता घर की मालकिन होती

है; और तब फिर उसको अपना पितृ-गृह याद नहीं आता। वैसे ही पक्का घर रामजी को मानो। यह क्रम मेरे गुरुजी ने समझाया हमलोगों को दृष्टि में रखकर। और गीता माता ने तो ज्ञानियों को दृष्टि में रख कर बात कही है। गीता माता कहती है– *तद्बुद्धयः*— जो लोग अपनी बुद्धि को भगवान में लगाते हैं। देखो! मुख्य दो ही चीजें हैं —बुद्धि और मन। भगवान ने गीता के द्वादश अध्याय में भी इन्हीं दोनों की माँग की है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। (१२/८)

अपना मन, अपनी बुद्धि मुझमें लगा दो। मन और बुद्धि, ये दोनों परमात्मा में लगने चाहिए। तो ज्ञानी पुरुष की पहले बुद्धि लगेगी, फिर मन लगेगा, फिर उसकी दृढ़ निष्ठा होगी, फिर उसको वह परम अयन मानेगा, उसी के साथ जुड़ जाएगा, उसका परायण हो जाएगा। और साधारण संसारी जीव की, कर्मी या भावनाप्रधान व्यक्ति की समझ में पहले गुरु की कृपा से या संत की कृपा से परमात्मा को ही अपना पक्का घर मानने की बात आएगी, फिर उसमें निष्ठा होगी, फिर उसमें मन लगेगा, फिर उसमें बुद्धि लगेगी। जैसे बने भले क्रम में थोड़ा हेर-फेर कर लो, लेकिन ये सारी बातें परमात्मा के साथ जुड़नी चाहिए। अपुनरावृत्ति अर्थात् मोक्ष। बारबार इसी संसार में जन्मना और मरना— यह नहीं होगा। अपुनरावृत्ति— सबसे बड़ा दुःख यही है कि बार-बार जन्म लो बार-बार मरो। यह तो बड़ी बात हो गई, तात्त्विक बात हो गयी, एक छोटी सी व्यवहार की बात भी इसी के साथ जोड़ दो। अच्छी तरह समझ लो कि किसी भी चीज की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। आदमी दुखी तभी होता है जब वह चाहता है कि जैसे वे दिन थे, अब भी वैसे ही रहें।

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?
जब सावन-घन-सघन बरसते, इन आँखों की छाया-भर थे।

वे ही दिन आने चाहिएँ। कैसे वे दिन आएँगे? वे दिन तो चले गए। *जो बीत गई, सो बात गई।* सृष्टि में पुनरावृत्ति नहीं होती। हम जब दुबारा मिलते हैं, तो वे ही नहीं होते जो हम पहली बार मिलते समय थे।

ये तो नहीं कि गम नहीं, हाँ मेरी आँख नम नहीं।
तुम भी तो तुम नहीं हो आज, हम भी तो आज हम नहीं।

दो व्यक्ति जब-जब मिलते हैं क्या पहले की ही तरह मिलते हैं? क्या वे, वे ही रहते हैं? नहीं वे बदल जाते हैं, थोड़ा-थोड़ा। क्यों है पुनरावृत्ति का मोह? पुनरावृत्ति का मोह, दुःख की जड़ है। बीता युग नहीं आएगा लौट कर। जो आ रहा है, उसको आने दो। जो आ रहा है, उसको स्वीकार करो। जो आ रहा है, उसमें सुखपूर्वक रहो।

यह बराबर याद रखो कि यह भक्ति का सार-सर्वस्व बता रहे हैं। तीन ही प्रकार के दुःख हैं इस दुनिया में। अतीत का जो दुःख है, उसका नाम है शोक। हाय! ऐसा क्यों हो गया? भूत की तरह चिपका रहता है यह मनोभाव। अरे हो गया। लेकिन क्यों हो गया? तो रोते रहो इसको लेकर। भूतकाल के समन्वित दुःखों का नाम है शोक। और भविष्यकाल के संभावित दुःखों का समन्वित नाम है भय! अगर ऐसा होगा तो क्या होगा? मरे जा रहे हो बाबा! वर्तमान को तो देखो। और वर्तमानकाल के समस्त दुःखों का समन्वित नाम है मोह। मोह का प्रकटीकरण राग और द्वेष के रूप में होता है। अब आप देखिए! श्रीमद्भागवत् का अद्भुत श्लोक है—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा।।

जिस श्रीमद्भागवत् की कथा का श्रवण करने से भगवान कृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है। कैसी भक्ति? *शोक मोह भयापहा* जो भक्ति शोक को, अतीत के सारे दुःखों को नष्ट कर देती है। जो भक्ति भविष्य के सारे संभावित दुःखों के भय को नष्ट कर देती है। दुःख से मुक्ति चाहते हो तो भक्ति की शरण में आओ। तो यह जो बात है—

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः। (५/१७)

भगवत्परायणता से मोक्ष की प्राप्ति होती है। फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं आना होगा जब हमारी वृत्ति भगवन्मय होगी तब फिर हम यह नहीं कहेंगे कि यह नहीं, वह। यह नहीं कहेंगे कि ऐसा नहीं, वैसा। जैसा है वैसा। जो है वह। उसी रूप में भगवान को पहचानेंगे। जब हमारे मन के अनुकूल होता है तो भगवान की कृपा होती है; और जब मन के प्रतिकूल होता है तो क्या भगवान की कृपा नहीं होती? हमारे गुरुजी कहते थे कि ऐसा नहीं सोचो। भगवान कृपा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते हैं। कृपा तो नटी की तरह वेश बदल-बदल कर आती है। उसको पहचानो, कृपा कौन-सा रूप धारण करके आई है? जब वह रागिनी का रूप धारण करके आती है, तुम्हारी इच्छा पूरी करती है, तुम्हें प्रसन्नता होती है तो तुम समझते हो कि यह भगवान की कृपा है; और जब वह तापनी का रूप धारण करके आती है, तुम्हें तपाती है, दुःख देती है, तुम्हारे कुछ विकारों को दूर करना चाहती है, तुम्हारे कर्म-फल का भोग देना चाहती है तब भी वह भगवान की कृपा ही है। जब वह द्रावणी बन कर आती है, जब तुम्हारे पत्थर जैसे कलेजे को द्रवित कर देती है, जब तुम्हारी आँखों में आँसू ले आती है, जब तुमको सारे संसार का दुःख अपने दुःख जैसा लगता है, तब भी वह भगवत्कृपा ही है। सुख-दुःख के ऊपर कैसी अच्छी बात महादेवी जी ने कही है—

मृग-मरीचिका के चिर पथ पर / सुख आता प्यासों के पग धर /
रुद्ध हृदय के पट लेता कर / गर्वित कहता – मैं मधु हूँ /
मुझसे क्या पतझर का नाता।

सुखी मनुष्य अपने में सीमित हो जाता है अहंकारी हो जाता है।

दुःख के पद छू, बहते झर-झर
कण-कण से करुणा के निर्झर
हो उठता जीवन मृदु उर्वर
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।

सारे संसार के साथ समरस कर देने वाला यह दुःख भगवान की कृपा नहीं है?

तत्तेऽनुकंपां सुसमीक्षमाणो

भली-भाँति देखोगे तो पहचान लोगे कि यह भी भगवान् की कृपा ही है। ज्ञान से जिनके सारे पाप धुल गए हैं, वे अपुनरावृत्ति को, मोक्ष को प्राप्त होते हैं। उन्हें फिर संसार में आना नहीं पड़ता —यह जीवन-मुक्त का लक्षण है। मरने के बाद ही मुक्ति मिली तो क्या मिली? रामचन्द्र शुक्ल कहते थे —नगद धर्म है तुलसी बाबा का, मरने के बाद क्या होगा— इससे हमको क्या लेना-देना, इसी जीवन में राम का होकर रहना आनन्ददायी है।

को जानै को जइहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग-जीवन राम-गुलाम को।

मरने के बाद नरक में जाएँगे कि स्वर्ग में जाएँगे? ये निकृष्ट बातें क्यों सोचते हैं। इस संसार में कैसे जी रहे हो? राम-गुलाम, राम का भक्त, इस संसार में जैसे जीता है? यह जीवन मुझको अच्छा लगता है। तुलसीदास इस संसार में, राम का भक्त होकर जीना चाहते हैं। गीता इस संसार में, इसी जन्म में, इसी लोक में हमको मुक्ति का आस्वाद कराती है। आगे आप पढ़िए—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (५/१८-१९)

इहैव– – यहाँ ही माने इसी लोक में, इसी जीवन में, *तैर्जितः सर्गो*— उन्होंने इस दुनिया को जीत लिया। मरने के बाद की बात, उधार धर्म की बात गीता नहीं कहती।

नगद धर्म की बात कहती है। इसी जन्म में, इसी लोक में, कैसे जीत लिया इस दुनिया को? जीवन मुक्त मनुष्य कैसे जीता है?

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

सच्ची विद्या के साथ विनय होगा ही *विद्या ददाति विनयम्*— विद्या का फल विनय है। कालिदास ने कहा है, *सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव*। अगर किसी ने सम्यक् रूप से विद्या की आराधना की है तो उसको दो फल मिलेंगे। एक तो प्रबोध होगा, ज्ञान होगा; और उसमें विनय भी होगा। जिसको विनय नहीं प्राप्त हुआ उसने सम्यक्रूप से विद्या का आराधन नहीं किया। *विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे* अर्थात् विद्या विनय से युक्त ब्राह्मण में यह हुआ सत्त्व-गुण। *गवि*— यह हुआ रजो गुण, गो माता में *हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च*— हाथी में, कुत्ते में, चाण्डाल में– यह हुआ तमोगुण। सारी सृष्टि सत्त्व-रज-तम त्रिगुणात्मिका है। कबीर बाबा ने कहा है—

माया महाठगिनि हम जानी।
तिरगुन पास लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।

तो यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ब्राह्मण में भी रजोगुण है, तमोगुण है। गाय में भी सत्त्व-गुण है तमो गुण है। कुत्ते में, हाथी में चाण्डाल में भी सत्त्व-गुण है, रजो गुण है। परन्तु प्रधानता किसकी है? प्रधानता से गुण का निर्देश किया जाता है। जो समदर्शी होते हैं, *पण्डिताः समदर्शिनः* उन समदर्शी पण्डितों को तीनों में समभाव दिखाई पड़ता है कि चाहे सत्त्व-गुण विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण हो, चाहे रजोगुण विशिष्ट गाय हो, चाहे तमोगुण विशिष्ट कुत्ता, हाथी, चाण्डाल हो, सबमें एक ही आत्मा विराजमान है। यह आत्मिक साम्य ही वास्तविक साम्य है। सारी सृष्टि में अनेक प्रकार की समताओं का आधार लिया गया है। वे अनेक प्रकार की समताएँ बौद्धिक हैं; और इसलिए लड़खड़ा कर गिर पड़ती हैं। एक ही देश के रहने वाले समान, तो दूसरे देश में रहने वाले? एक ही आचार्य, एक ही ग्रंथ को मानने वाले समान तो, दूसरे आचार्य दूसरे ग्रंथ को मानने वाले? तो वे लोग भेद-भाव करते हैं। यह हिदन है, यह क्रिश्चियन है। यह काफिर है यह मोमिन है। वे नहीं कहते कि *सर्वे भवन्तु सुखिनः।* वे कहते हैं कि जो काफिर है, वह तो आग में जलाया जाएगा। पर भारतीय संस्कृति कहती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागवेत्।

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी का कल्याण हो, कोई दुःखी न हो, क्योंकि

वह सबमें समान आत्मा का दर्शन करती है। यह जो समद्रष्टा की स्थिति है यह आत्मिक स्तर पर है। एक ही आत्मा सब में विलसित है। कैसी विचित्र बात है? स्पर्धा लुप्त हो जाएगी। सारा पूँजीवाद भरभरा कर गिर पड़ेगा। सारा मार्क्सवाद भरभरा कर गिर जाएगा। कोई शोषक नहीं, कोई शोषित नहीं, कोई अत्याचारी नहीं, उस स्तर पर और इसीलिए गीता कह रही है— कि आध्यात्मिक समता के आधार पर अपने को न किसी से बड़ा मानो न छोटा मानो। जिस भी दूसरे स्तर पर आप समता की बात कहते हैं— मानवीय स्तर पर कहें तो सब मनुष्य एक जैसे नहीं होते। व्यवहार में बड़ा अंतर आ जाएगा। हमलोग आत्मिक साम्य की बात कहते हैं; और उस आत्मिक साम्य का आधार लेकर यह मानते हैं कि ठीक है, व्यवहार में तो अंतर होगा। दूध और विष दोनों को समान मान कर, हम दूध की जगह विष नहीं पियेंगे। पुस्तक को हम जूते की तरह पाँव में नहीं पहनेंगे। व्यवहार में तो व्यावहारिक स्थितियों के कारण अन्तर रहेगा; लेकिन दृष्टि में, तत्त्वज्ञान में, दर्शन में समता होनी चाहिए। इसी समता की दृष्टि के कारण व्यवहार भी न्यायपरायण मंगलमय हो सकता है, होना चाहिए, न होने पर दृष्टि की स्वीकृति में न्यूनता, कमी मानना चाहिए। यही समता असली गुण है। सारी गीता का निचोड़ है, समत्व। *'समत्वं योग उच्यते'* गीता 'समत्व' को ही योग कहती है।

सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

समत्व। आत्मा के स्तर पर हमको बाहरी स्थितियाँ प्रभावित नहीं करेंगी। गुरुजी कहते थे कि जो सुख में फूल कर कुप्पा होगा, वही दुःख में सूख कर छुहारा होगा। थोड़ा-सा लाभ हुआ तो फूल कर कुप्पा। थोड़ा-सा दुःख आया तो सूख कर छुहारा। यह स्थिति भोगपरायण संसारियों की है। समत्व योगी के मन में तो अनुकूलता में अहंकार नहीं, प्रतिकूलता में दीनता नहीं। *इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।* (५/१९) जिनका मन साम्य में स्थित है उन्होंने इसी दुनिया में, इसी जीवन में, सारे संसार को जीत लिया। क्यों जीत लिया? *निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।* सबसे बड़ा लक्षण ब्रह्म का क्या है? ब्रह्म समान है। सबका पिता है। *'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'* भगवान ने कहा— कोई मेरा द्वेषभाजन नहीं; कोई प्रिय नहीं। फिर उन्होंने यह क्यों कहा कि फिर भक्त को मैं ज्यादा प्यार करता हूँ। उन्होंने कहा— कि मैं नहीं, भक्त ही उसका फल प्राप्त करता है। जैसे—एक जगह बहुत ठंड है। आग जल रही है। जो व्यक्ति आग के पास जाएगा, आग उसको उष्णता देगी, ठंड का कष्ट दूर कर देगी। और जो नहीं जाएगा, उसको आग की गर्मी नहीं मिलेगी। तो आग इसमें क्या करे? आग का

दोष नहीं है कि तुम आग के पास नहीं गए। तुम आग के पास जाओ और आग तुम्हें गर्मी न दे, तुम ठंड में ठिठुरते रहो, तो आग अपराधी। तुम अगर आग के पास गए ही नहीं, तो आग अपराधी नहीं। वैसे ही जो भगवान के पास जाएंगे भगवान् उस पर कृपा करेंगे। जो नहीं जाएगा तो उस पर कर्म का नियम चलता ही रहेगा। भगवान पक्षपाती नहीं। भगवान किसी का पाप-पुण्य लेता नहीं। वह तो निर्दोष है, सम है और जिसमें समत्व आ गया, वह ब्रह्म में स्थित है। इसके बाद के श्लोक की पहली पंक्ति में तो समत्व का फल निर्दिष्ट है और दूसरी पंक्ति में उत्तरोत्तर साधना की प्रौढ़ता का संकेत है। पहली पंक्ति में—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। (५/२०)

अगर प्रिय की प्राप्ति हुई, अनुकूलता की प्राप्ति हुई तो प्रहर्षित होने का कारण नहीं। अगर अप्रिय की प्राप्ति हुई तो उद्विग्न होने का कारण नहीं। हमारे रामजी ऐसे ही थे। कितना अच्छा वर्णन किया है तुलसीदास ने—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्, तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे, सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा।।

कल अभिषेक होगा, कोई प्रसन्नता नहीं। चौदह वर्ष का वनवास हो गया, कोई दुःख नहीं। मुखाम्बुजश्री—खिलते हुए कमल की शोभा की तरह हँसता रहता था। सहज आनन्द, आनन्दस्वरूप। अब जो आनन्दस्वरूप है उसमें सुख-दुःख नहीं है। तो पहली पंक्ति में यहाँ फल बताया गया है कि जो समता में स्थित होगा, वह सुख-दुःख दोनों में समान रहेगा। स्थिर बुद्धि —यही स्थितधीः का लक्षण है। *स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्तस्य केशव*— तो उसमें उन्होंने कहा—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (२/५६)

स्थिर बुद्धि का लक्षण है जो ऊपर बताया गया। तो पहली बात यह कि स्थिर बुद्धि हो। बुद्धि स्थिर है तो किसी भी तरह की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में चंचल नहीं होगी। *असंमूढ़ः* —मोह ग्रस्त नहीं होगी। जो मूढ़ व्यक्ति हैं, उनको भगवान की प्राप्ति नहीं होती। *असंमूढ़ः। गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।* उस अव्यय पद को अमूढ़ जन ही प्राप्त करते हैं। जो मोह मुक्त होते हैं। स्थिर बुद्धि के बाद *असंमूढ़ः ब्रह्मविद्* —जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं हुई, जो मोहमुक्त नहीं हुआ —वह ब्रह्म को नहीं जान सकता। ब्रह्म को जानने के लिए ईशावास्य ने यही कहा है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

मोह से रहित व्यक्ति सबकी आत्मा में अपने को, और अपने में सबको देखता है। आत्मयाजी होता है। आत्मा की बलि चढ़ा देता है। ब्रह्मविद् —वह ब्रह्मवेत्ता होता है। *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* —ब्रह्म को जानने से ब्रह्म ही हो जाता है, क्योंकि हम तो हैं ही ब्रह्म। जानने से अगर कोई कुछ हो जाता है, तो वह पहले से वही था। ज्ञान रचना नहीं करता। ज्ञान प्रकाशन करता है, प्रकाशित करता है। अज्ञान के अंधकार में हम माला को साँप समझ रहे थे। प्रकाश में देखा वह साँप नहीं है, माला है। हम उसको जब साँप समझ रहे थे, तब भी वह साँप था कि माला थी? माला थी। इस बात को बराबर याद रखिए कि ज्ञान प्राप्त करने से, अगर कोई कुछ हो गया तो वह वही था—

ज्यों अविकृत कौन्तेय में राधा-पुत्र प्रतीति।
चिदानन्द घन ब्रह्म में जीव भाव तेहि रीति।।

जैसे कौन्तेय था कर्ण लेकिन उसको सारी दुनिया राधेय कहती थी—राधा का पुत्र। राधेय को कौन्तेय होने के लिए क्या होना पड़ा? कुछ नहीं होना पड़ा। जान लेना पड़ा। कुन्ती माता ने कहा कि तू मेरा बेटा है, बस वह कौन्तेय हो गया। वह कौन्तेय था ही, इसीलिए वह जानने मात्र से कौन्तेय हो गया। यदि वह राधा का बेटा होता तो कुछ सुनने से वह कौन्तेय नहीं हो जाता। भ्रम दूर हुआ, ज्ञान प्राप्त हुआ। वह कौन्तेय था अतः कौन्तेय हो गया। वैसे ही— *'चिदानन्द घन ब्रह्म में जीव भाव तेहि रीति'* —हम सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। हम अपने को जीव माने बैठे हैं। अपने को जीव मानने के कारण हम दुःखी हैं। जीव मानने के कारण हम काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर के वशीभूत हो जाते हैं। अब ज्ञान होने से *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'*। एक को दूसरे में बदलने के लिए कर्म की आवश्यकता है। कर्म रचना करता है। ज्ञान केवल प्रकाशित करता है। अगर हमारी बुद्धि स्थिर हुई, हम मोह से मुक्त हुए तो हम ब्रह्म को समझ पाये और ब्रह्म को समझ पाने से हम ब्रह्म ही हो गये। ब्रह्म भी सम और निर्दोष है जहाँ हमने समत्व की प्राप्ति की, वहाँ हम भी ब्रह्म हो गए। फिर ब्रह्म जैसे सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता वैसे ही ब्रह्मस्वरूप हो जाने पर, सब कुछ करते हुए भी हम कुछ नहीं करेंगे क्योंकि हम यह उपलब्धि कर लेंगे कि मायार्जानत यह कर्तृत्व झूठा है। जो लोग बँधे हुए हैं कर्म से, वे लोग अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म कर रहे हैं। जो लोग उस स्थिति से ऊपर उठ गए हैं, उनके लिए सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। वे कर्म करते हुए भी अकर्ता रहते हैं। ●

प्रवचन-१६*

सच्चा सुख : सच्ची शान्ति

आज के प्रवचन का शीर्षक दिया गया है सच्चा सुख : सच्ची शान्ति। इस शीर्षक में यह बात छिपी हुई है कि हम जिनको सुख कहते हैं उनमें से कुछ सच्चे सुख नहीं है। कई प्रकार के सुख ऐसे हैं जिनको हम सुख मानते तो हैं, लेकिन वे वास्तव में सुख नहीं हैं। संत लोग ऐसे सुखों को झूठा सुख कहते हैं। कबीर की प्रसिद्ध उक्ति है—

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कछु मुख में कछु गोद।।

बहुत ही विलक्षण बात है कि इस संसार के लोग झूठे सुख को सुख मानते हैं और वैसा झूठा सुख प्राप्त करने पर अपने मन में मोद का, आनन्द का अनुभव करते हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि *'जगत चबेना काल का, कछु मुख में कछु गोद'*—जगत्, सारा संसार, सारे संसार के लोग, संसार की सारी वस्तुएँ काल का चबेना हैं। कुछ उसके मुँह में है जिनको वह चबा रहा है; और कुछ उसकी गोद में है जिनको वह चबाने वाला है। तो जो चबाया जा रहा है, जो चबाया जाएगा, क्या वह सुख का हेतु हो सकता है? क्या उससे सच्चा सुख मिल सकता है? असली सवाल यही है। तुलसीबाबा ने कहा है—

राम से प्रीतम की प्रीति रहति जीव जाय जियत।
जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सों समुझि कियत।।

जिस सुख को तू सुख मान लेता है— यह तो विचार करके देख कि क्या सुख है? कितना सुख है? राम के सदृश प्रीतम से अगर प्यार नहीं किया, प्रेम नहीं किया तो और जो सारे सुख हैं उनके लिए लालायित होने वाले जीव का जीवन व्यर्थ गया।

जहँ-जहँ जेहि जोनि जनम महिं पताल बियत।
तहँ-तहँ तू विषय सुखहिं चहत लहत नियत।।

जब-जब जिस-जिस योनि में हमारा-तुम्हारा जन्म हुआ, कहाँ-कहाँ जन्म हुआ

* पंचम अध्याय (कर्म-संन्यासयोग) : श्लोक संख्या २१ से २९

होगा? पृथ्वी में हुआ होगा? पाताल में हुआ होगा? आकाश में हुआ होगा? बियत माने आकाश। वहाँ-वहाँ हम और आप विषय सुख की ही कामना करते रहे। अच्छा! विषय-सुख की कामना करने पर क्या हमको पर्याप्त विषय-सुख मिलता है? लहत नियत— उतना ही सुख मिलता है, जो कि नियत है। निर्धारित है। उससे अधिक लौकिक सुख मिलता ही नहीं है, क्योंकि हम लोग जो कर्म-सिद्धांत मानते हैं, वे मानते हैं कि *सति मूले तद्विपाको यात्यायुर्भोगाः* —अगर कर्म का मूल शेष है, तो कर्म के मूल के तीन फल होंगे। जन्म, मृत्यु और भोग। सुख-दुख की समष्टि। वह तो नियत है। इसलिए विषय सुख के पीछे लालायित होकर, पागल होकर दौड़ते रहने से यथेच्छ सुख नहीं मिलता। बाबा ने कहा है—

विषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक
ताते सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।

विषयरूपी वारि है और मन रूपी मछली है। एक पल के लिए भी मन रूपी हमारी मछली विषय रूपी जल से अलग नहीं होती। विषय रूपी जल में सुख की लालसा से मन रूपी मछली तैरती रहती है। सुख मिलता है? *ताते सहिय बिपति अति दारुन*— उसके कारण अत्यन्त दारुण बिपत्ति भोगनी पड़ती है। *जनमत जोनि अनेक* —बार-बार जन्म, बार-बार मृत्यु, अनेक योनियों में जन्म लेना; और प्रत्येक जन्म में सुख-दुःख विशेषतः दुःख भोग करते रहना यह हमारी नियति हो जाती है। कैसा विचित्र यह संसार है? पागल की तरह व्यवहार कर रहा है।

कबहुँक मन बिस्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज-सुख जहँ-तहँ इन्द्रिन तान्यो।
जदपि विषय संग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानत हूँ नहिं जान्यो।।

मन को कभी विश्राम मिला ही नहीं, शान्ति मिली ही नहीं। *'निशि-दिन भ्रमत बिसारि सहज-सुख'* कैसी अद्‌भुत पंक्ति है। *सहज सुख*— जो सहज प्राप्य है, स्वाभाविक रूप से उपलब्ध है, वह है सुख। हमारे जन्म के साथ जो सुख, जन्मा है जो सुख हमारा स्वरूप है, उस सहज सुख को तो भूल जाता है मन और जाने कहाँ भ्रमण करता रहता है। जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ खींच कर ले जाती हैं, वहाँ-वहाँ मन चला जाता है। दुःसह दुःख सहता है, विषम जाल में फँस जाता है लेकिन फिर भी विषय सुख का चस्का छोड़ता नहीं। एक सच्चा सुख है, एक झूठा सुख है। अगले श्लोकों में उन दोनों का वर्णन किया गया है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।। (५/२१)

यह सच्चे सुख का वर्णन है। आगे झूठे सुख का वर्णन है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। (५/२२)

सच्चे सुख और झूठे सुख का साथ-साथ वर्णन है। इसको थोड़ा समझना चाहिए। *'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'* —जो बाह्य स्पर्श में अनासक्त है। बाह्य स्पर्श किसको कहते हैं? बाह्य स्पर्श कहते हैं, अपने बाहर के जगत् के प्राणियों, वस्तुओं आदि के साथ हमारी इन्द्रियों के संयोग को ऐसा होने से जो सुख मिलता है, वह सुख बाह्य स्पर्श से प्राप्त होने वाला है। सारे संसार को ऋषियों ने पाँच विषयों में बाँट दिया है। शब्द - स्पर्श - रूप - रस और गंध। कोई छठा विषय नहीं है। संसार में ये जो असंख्य वस्तुएँ, संसार में जो असंख्य भोग दिखते हैं; ये सारी वस्तुएँ, ये असंख्य भोग मूल रूप से पाँच विषयों के अन्तर्भुक्त हैं। कुछ सुख संगीत से मिलता है, किसी की मीठी बोली से अपने प्रियजन की बोली से मिलता है, कुछ स्पर्श से मिलता है, कुछ रूप देख कर मिलता है, कुछ रस-आस्वादन से मिलता है, और कुछ गंध सूँघ कर मिलता है। ये जो हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं —इन इन्द्रियों का जब अपने विषयों से संस्पर्श होता है और उससे अनुकूल वेदना होती है तो सुख मिलता है; और अगर प्रतिकूल वेदना होती है तो दुःख मिलता है। सुख और दुःख की जो सबसे मोटी परिभाषा है जो भ्रान्त परिभाषा है, वह है *'अनुकूल वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्'*। जब इन्द्रिय और उसके विषय के संस्पर्श से अपने मन को अनुकूल लगने वाला अनुभव हुआ, तो सुख का अनुभव हुआ। आँखों ने सुन्दर रूप देखा तो सुख का अनुभव हुआ। रसना ने सुस्वादु भोजन का स्पर्श पाया तो सुख का अनुभव हुआ। त्वचा ने कोमल स्पर्श का अनुभव पाया, सुख का अनुभव हुआ। नासिका ने सुगंध सूँघी, सुख का अनुभव हुआ। अर्थात् इन्द्रिय और उसके विषय के अनुभव से जब अनुकूल वेदना, अनुकूल अनुभव हुआ तो सुख प्रतीत हुआ। क्या यह वास्तव में सुख है? इन्द्रिय और विषय के संस्पर्श से जो अनुकूलता का बोध होता है, उस अनुकूलता के बोध में कई बार प्रतिकूलता छिपी रहती है। दूसरे श्लोक को पहले कह दें जिससे जब झूठा सुख समझ में आ जाएगा, तब सच्चा सुख आसानी से समझ में आएगा। दूसरे श्लोक में कहा गया है— *'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'* —जो संस्पर्श से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, सुख हैं, वे दुःख की जड़ हैं, दुःख की योनि हैं, दुःख के हेतु हैं, दुःख के कारण हैं। संस्पर्श से उत्पन्न होने वाले

सारे-के-सारे भोग, आरम्भ में तो अमृत की तरह लगते हैं, परिणाम में विष होते हैं। अब इस बात को समझना चाहिए कि क्यों ऐसा होता है? पातंजल योगसूत्र में बताया गया है— *परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।* विवेकियों के लिए सब-का सब दुःख ही है, परिणाम ताप संस्कार रूपी दुःख के कारण और गुण वृत्ति के विरोध के कारण जो अनुकूल प्रतीत होता है और आरंभ में अमृत की तरह लगता है वह सुख प्राप्त होने पर भी बाद में दुःख ही दे कर जाता है। क्यों ? क्योंकि *आद्यन्तवन्तः* —उसका आरंभ है, उसका अंत है। जो चीज हमको-आपको प्रीतिकर लगती है, हम उसको बराबर बनाए रखना चाहते हैं। क्या वह बराबर बनी रहती है? नहीं, और जब जाती है तो अपार दुःख दे कर जाती है। जब हम सुख भोगते हैं तो भोग्य सामग्री का लोप होता है और हमारी भोग्य-शक्ति दुर्बल होती है। भोजन ही को लें, आप भूखे हैं। आपने सुस्वादु भोजन का पहला कौर खाया। बहुत प्रीतिकर लगा, सौवाँ कौर उतना प्रीतिकर लगेगा? और लोभ के कारण ज्यादा खाते जायेंगे तो पेट खराब होगा कि नहीं? फलतः दुःख होगा कि नहीं? भोग्य वस्तु का क्षय होता है; और भोग शक्ति का ह्रास होता है। भोग्य वस्तु से जो सुख हमको मिला, वह हमारे पास जितना है, दूसरे के पास उससे ज्यादा है। मात्सर्य उत्पन्न होता है कि नहीं? अगर वस्तु में ही सुख है, तो वस्तु के रहते हुए दुःख क्यों होना चाहिए? दुःख होता है और फिर *'गुणवृत्ति विरोधा'* हम भोग रहे हैं भोग, रजोगुण से प्रेरित होकर। तभी सत्त्व गुण जागा हमारे मन में; और सत्त्व गुण ने कहा— यह तो ठीक नहीं है। अनुचित हो रहा है। गुणवृत्ति के इस विरोध के कारण अनुभव नहीं हो पाता है। भोग्य वस्तुओं के द्वारा प्राप्त होने वाला सुख उधार का सुख है। कैसे आश्चर्य का विषय है। आपने अपना सुख कहाँ रख दिया? आपका सुख किसी दूसरे व्यक्ति में है। वह मिलेगा तो सुख होगा। जब तक वह नहीं मिलता तब तक दुःख है। आपका सुख किसी वस्तु में है। यह कपड़ा पहनेंगे तो सुख होगा। यह वस्तु खाएँगे तो सुख मिलेगा। ऐसे मकान में रहेंगे तो सुख मिलेगा। यह क्या सुख है? वे चीजें आपको बराबर नहीं मिलेंगी। वैसे ही नहीं मिलेंगी। और जितना भोग मिलेगा उतने से आप तृप्त होंगे? भोग का लक्षण है—

और-और की ध्वनि है केवल, तृप्ति प्रलय-पर्यन्त नहीं।
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

कभी भी कामना भोग के द्वारा तृप्त नहीं होती। जैसे अग्नि में घृत की आहुति डालते जायें तो घृत से अग्नि शांत होगी? लेलिहान शिखा उठेगी। भोग भोगने से

कामना और बढ़ती ही चली जाएगी। फलतः अतृप्तिजन्य-दुःख प्राप्त होगा। *ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।* जो स्पर्श से, इन्द्रिय और विषय के संस्पर्श से प्राप्त होने वाला सुख है वह वास्तव में दुःखों की खान है, दुःखों की जड़ है। *आद्यन्तवन्त कौन्तेय*— क्योंकि उसका आरंभ है, उसकी समाप्ति है। अन्त के बाद फिर दुःख ही दुःख है। जिससे आपने अपना संबंध माना उससे आप बँधे है। बंधन किसी को प्रिय है? भगवान् ने जब बंधन की सृष्टि की तो बँधन घूमता फिरा कि कोई मुझे स्वीकार करे। किसी ने बंधन को स्वीकार नहीं किया। बहुत दुःखी होकर भगवान् के पास गया कि प्रभु आपने मेरा निर्माण किया; लेकिन मुझे तो कोई स्वीकार ही नहीं करता। वे बोले—कोई बात नहीं। बंध के आगे उन्होंने सम् उपसर्ग लगा दिया —सम्यक्। तो हो गया संबंध। और संबंध होते ही सबने उसे स्वीकार कर लिया। हमारा आपसे संबंध है। हे नारायण! संबंध ही दुःख का कारण बनता है। जिससे आपने संबंध जोड़ा है, यह जोड़ा हुआ संबंध झूठा है; और इस झूठे संबंध का दुःख भोगना ही पड़ेगा।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति न ममेति च।
ममेति बद्ध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते।।

इसमें दो पद हैं—एक *'मम'* और एक *'न मम'*। 'मम' माने मेरा और 'न मम' माने मेरा नहीं। *ममेति बद्ध्यते जन्तुः।* जिससे आपने संबंध जोड़ा वह आपको दुःख देगा। संबंध जोड़ा, आपने अपने हृदय में एक कील ठोंकी, जो आपको दुःख देगी। यह मेरा नहीं है, यह मेरा नहीं है। इससे मुक्ति मिलती है।

आप कहेंगे— *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'* भगवान से संबंध जोड़ा। हाँ! भगवान से जुड़ा हुआ संबंध आपको मुक्ति देगा। क्योंकि ममता के पेट में जब राम जाते हैं, तो ममता का पेट फट जाता है। ममता–दूसरे को बाँध लेने की क्षमता रखती है, किन्तु ममता की भी एक सीमा है न! असीम जब ममता में आएगा तो ममता फट जाएगी। इसलिए भगवान से संबंध जोड़ना अन्ततः भगवान ही बन जाना है; और उस भगवत्ता की प्राप्ति में ममता का जो बंधन है, वह टूट जाता है। इसलिए भगवान से जोड़ा हुआ संबंध मुक्तिदायी है। जगत् के और पदार्थों से जोड़ा हुआ संबंध बंधनकारक है। *'न तेषु रमते बुधः'* —विद्वान्, विवेकी, उसमें रमण नहीं करते। हमारे जैसे अविवेकी उसमें रमण करते हैं। अविवेकी को तात्कालिक सुख का ही अनुभव होता है। उस सुख के पीछे एक लंबी दुःख की परंपरा छिपी हुई है—इसका अनुभव नहीं होता। और उस अन्तर्निहित दुःख को न समझ पाने के कारण उस तात्कालिक सुख-भोग की लालसा से वह बँधा रहता है। जो तात्कालिक सुख-भोग है —यह असंख्य

पूर्वजन्मों का संस्कार है। असंख्य पूर्वजन्मों में हमने विषय-भोग से सुख पाने की लालसा से प्रेरित होकर कर्म किए, वे संस्कार हमारे ऊपर हावी है। हमको बचपन से यही शिक्षा मिली है कि हम विषय-भोग करके, वस्तुओं के द्वारा सुखी होते रहें। हम वस्तुओं का संग्रह करते हैं, उनको जोड़ते हैं। हमारी सुख-लालसा भोगों को भोगने से और बढ़ती चली जाती है। हम तरह तरह से अपने को समझाते, बरगलाते हैं; किन्तु अन्त में दुःखी हो जाते हैं। क्या कोई दूसरा रास्ता है? हाँ, है। और उस दूसरे रास्ते में सच्चा सुख है। वह दूसरा रास्ता क्या है?

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।

विषयों को बाह्य क्यों कहा गया? इस पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि वह हमारे भीतरी स्वरूप में नहीं है। हमारा स्वरूप क्या है? हमारा स्व-रूप चिन्मय है, चेतन है; और सारे विषय जड़ हैं। कोई विषय चेतन है? सारे विषय जड़ हैं। तो जो जड़ हैं वे चेतन के भीतर तो नहीं हैं। इसलिए उसको कहा बाह्य। जो स्व-रूप के भीतर नहीं है, वह बाहरी है, बाहर है। हम मूलतः स्वरूपतः चिन्मय हैं। जो हमारा स्वरूप है, वह चेतन है।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई।

जो हम चेतन, चिन्मय स्वरूप हैं, हम जड़ को अपना मान कर, उससे बंधन में सुख का अनुभव करना चाहते हैं। झूठा बंधन है लेकिन टूटता नहीं है। बड़ा कठिन है उसको तोड़ना। *'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'* —बाहरी वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के स्पर्श से जो अनासक्त है— असक्तात्मा— असक्त माने अनासक्त। जो व्यक्ति बाहरी विषयों के स्पर्श के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख के प्रति अनासक्त है। *'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'* —अपने स्वरूप में, अपनी अन्तरात्मा में, अपनी आत्मा में जो सुख प्राप्त करता है। *'स ब्रह्मयोग-युक्तात्मा'* —वह तो ब्रह्म योग से युक्त है। *'सुखमक्षयमश्नुते'* —वह अक्षय सुख प्राप्त करता है। आत्मनि सुख —अपना वास्तविक सुख, अपना भीतरी सुख, अपना स्वरूपगत सुख। मुसीबत क्या है? हम सुखस्वरूप हैं, लेकिन सुखस्वरूप के अज्ञान के कारण हम बाहर सुख की भीख माँगते फिरते हैं। सुख-स्वरूप होते हुए भी, अपने स्वरूप का अज्ञान हमको बाहर की निकृष्ट वस्तुओं में सुख की भ्रांति उत्पन्न करके उनसे सुख की याचना करवाता है। हम स्वयं सुख-स्वरूप हैं, इसका प्रमाण क्या है? अब आप देखिए कि हमलोगों को अपने व्यक्तिगत जीवन में आत्म सुख का अनुभव बहुत मुश्किल से होता है। उसकी झलक कभी-कभी, कहीं-कहीं मिलती है।

कब मिलती है? आप कभी गहरी नींद में सोए हैं? जिस नींद में सपना भी न आए। उसको सुषुप्ति कहते हैं। ऐसी गहरी नींद जब आती है तब विषय का संस्पर्श होता है? विषय का संस्पर्श जाग्रत में तो होता है ही; जब हम सपने देखते हैं तो सपने में भी हमारा मन विषयों के नाना रूप आकार कल्पित करता है। उनसे संपर्क करता है। लेकिन जब गहरी नींद आती है, सुषुप्ति तब अद्‌भुत सुख मिलता है। अच्छा सच बताइए जिस दिन गहरी नींद आती है, उस दिन आप जग कर कहते हैं—आहा! आज बहुत आनन्द आया। आज गहरी नींद आई। कहते हैं कि नहीं? वास्तव में गहरी नींद में कहाँ से सुख मिला? गहरी नींद में, सुषुप्ति में कोई विषय आपकी इन्द्रियों के साथ स्पष्ट नहीं हो रहा था। कोई विषय आपको छू नहीं रहा था। सपने में भी नहीं। सपने में मन जागता है। सुषुप्ति में मन भी सो जाता है। सुषुप्ति का आनन्द अज्ञानपूर्वक आत्मा का आनन्द है। ध्यान दीजिए शब्द पर। सुषुप्ति का आनन्द अज्ञानपूर्वक आत्मा का आनन्द है। मिल रहा है आत्मा का आनन्द, भीतर का आनन्द; लेकिन उसका ज्ञान नहीं हुआ है। इसलिए अज्ञानपूर्वक जो आत्मा का आनन्द है, वह सुषुप्ति का आनन्द है। हम जाग कर कहते तो हैं कि आज बहुत सुख मिला, आज बहुत आनन्द आया; लेकिन वह कहाँ से आया? यह समझ में नहीं आता। यह जो आनन्द की तृषा है, आनन्द पाने की लालसा क्यों होती है? क्योंकि हम आनन्दस्वरूप हैं और अपने इस आनन्दस्वरूप का विस्मरण होने के कारण हम जहाँ-तहाँ उस आनन्द की तलाश करते हैं; और चूँकि परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों का निर्माण ही बहिर्मुख किया है, अतः हम सुख पाने के लिए बाहर झाँकते हैं। राम की ऐसी इच्छा क्यों है, राम ही जानें। हमारी सारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं; इसलिए हमारी इन्द्रियाँ बाहर सुख प्राप्त करती हैं। कबीरदास ने बहुत अच्छा दोहा कहा— *"कस्तूरी का मिरग ज्यों, बन-बन ढूँढे बास"*

कस्तूरी की सुगंध कहाँ है? कस्तूरी, मृग की नाभि में है। अपने भीतर सुगंध का स्रोत है; और वह सोचता है कि यह जो सुगन्ध हमको मिल रही है, यह बाहरी किसी फूल से, किसी घास से आ रही है। जैसे कस्तूरी मृग, सुगंध बाहर ढूँढ़ता है यद्यपि सुगंध उसके भीतर है, वैसे ही हम-आप आनन्द बाहर खोज रहे हैं, सुख बाहर खोज रहे हैं, जबकि सुख हमारे भीतर स्थित है। बाहर कभी सुख नहीं मिलेगा। क्यों नहीं मिलेगा? क्योंकि बाहर जो कुछ भी मिलता है वह अल्प है। कितना मिलेगा? अब एक बात पर आप ध्यान दीजिए। हम सब सुख चाहते हैं कि नहीं? अच्छा, कितना सुख चाहते हैं? मिले, तो अनंत सुख चाहते हैं। कहाँ-कहाँ सुख चाहते हैं? बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में कि अपने घर में? मिले, तो सर्वत्र सुख चाहते हैं। अच्छा

कब कब सुख चाहते हैं? केवल आज अभी? मिले, तो सब समय सुख चाहते हैं। अच्छा। किससे सुख चाहते हैं? पिता से, माता से, भाई से, बन्धु से? मिले, तो सबसे सुख चाहते हैं। अच्छा! कैसा सुख चाहते हैं? ज्ञान का कि अज्ञान का? नशे का सुख चाहते हैं कि चैतन्य का सुख चाहते हैं? चैतन्य का सुख चाहते हैं। सोचिये किसको चाहते हैं आप? परमात्मा को ही चाहते हैं। जो सर्वत्र, सब काल में, सब समय सुख दे सकता है, वह सुख स्वरूप परमात्मा ही है। किसके माता-पिता, भाई, बन्धु-बान्धव, नाते-रिश्तेदार हमेशा रहेंगे? छोड़ कर जाएँगे ही। सब समय आप के साथ कौन रहेगा? कोई संसारी व्यक्ति नहीं रहेगा। सब समय, सब जगह, सब स्थितियों में परमात्मा ही हमारे साथ है। उस परमात्मा से जुड़ने का सुख उधार का सुख नहीं है। उस परमात्मा से जुड़ने का सुख बंधक रखा हुआ सुख नहीं है। बराबर याद रखिए कि वेदान्त मरने के बाद किसी कल्पित स्वर्ग के सुख की प्रतिज्ञा नहीं करता। वेदान्त साक्षात् अपरोक्ष, इसी जीवन में, इसी काल में यहीं सुख की प्रतिज्ञा करता है। भक्ति भी ऐसी ही है—

को जानै को जैहे जमपुर, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत, जग-जीवन, राम-गुलाम को।

इसी जीवन में राम के भक्त का जो सुख है वह अपरिमेय है। वेदान्त और भक्ति, मरने के बाद किसी कल्पित स्वर्ग-सुख की प्रतिज्ञा नहीं करते, उधार सुख का आश्वासन नहीं देते। इसी जीवन में, जीवन्मुक्त हो उस परमानन्द की प्राप्ति, उस परमानन्द की उपलब्धि कराने की प्रतिज्ञा करते हैं। *बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।* पहली शर्त यह है कि वह आत्म सुख तब मिलेगा जब आप बाहरी वस्तुओं से स्पर्श के सुख के प्रति अनासक्त होंगे। जब तक आपको बाहरी वस्तुओं के सुख का आकर्षण खींच रहा है, जब तक आप उसी को मन में चाह रहे हैं, तब तक आत्म-सुख की प्राप्ति नहीं होगी। यह पहली शर्त है— *स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।*

वह तो अक्षय सुख है। उपनिषद में कहा गया है *'नाल्पेसुखमस्ति भूमावैसुखम्'* —अल्प में सुख नहीं है, भूमा में सुख है। ब्रह्म का जो सुख है, अपना जो आत्मस्वरूप है, वह अक्षय सुख है। हम सब क्षयिष्णु सुख के पीछे पागल हैं। जब तक हम क्षयिष्णु सुख के पीछे पागल रहेंगे, तब तक अक्षय सुख की झलक नहीं मिलेगी। अक्षय सुख है। अक्षय सुख का आभास मिलता है। क्या कभी-कभी ऐसा नहीं होता कि कोई गहरी उलझी हुई गुत्थी जब सुलझती है, तो आपको सुख मिलता है। चेतना के विस्तार का जो सुख मिलता है, सचमुच किसी का भला करने के बाद जो सुख मिलता है, वह अक्षय सुख की झलक है। इसी संसार में ऐसे सुख की झलक अगर नहीं मिलती, अगर

विराट् के संपर्क में जाने पर, हमारी चेतना में विराटत्व नहीं आता तो फिर संत कैसे होते? आप इस बात का अनुभव कीजिए कि इसी कलकत्ते शहर में जहाँ इंच-इंच पर राग-द्वेष है, एक-एक इंच भूमि पर किसी का आकर्षण किसी की कुदृष्टि है, वहाँ तो राग-द्वेष ही विकसित होगा। लेकिन कभी आप समुद्र के किनारे जा कर बैठें और एक बार रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि का वह गीत गाएँ— *'सम्मुखे शान्तिर पारावार'* —उस शान्ति के पारावार का संस्पर्श आपके हृदय में विराटता का अनुभव लाएगा। कभी आप बदरीनाथ, केदारनाथ जाएँ। वहाँ चारों ओर हिमाच्छादित शिखर दिखेंगे, जहाँ राग-द्वेष नहीं है सामान्यतः। वहाँ शुभ्रता का, निष्कलुषता का आनन्द प्राप्त होता है। वह झलक है अक्षय सुख की। अक्षय सुख की झलक जैसे हमको अज्ञान में सुषुप्ति में मिलती है, जैसे विराटता के संपर्क में मिलती है।

सुखमात्यन्तिकंयत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

विषयसुख तो अल्प सुख है। आत्यन्तिक सुख तो वह है, जो अन्त का अतिक्रमण करे। जो अनन्त सुख है। जो अक्षय सुख है। *बुद्धिग्राह्य*—बुद्धि माने ज्ञान, ज्ञानस्वरूप है। *अतीन्द्रियम्*— इन्द्रियातीत है। वह आत्म-स्वरूप होने पर अपने भीतर प्राप्त होता है। *'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'* गीता में अनेक प्रकार के योगों की चर्चा है। ज्ञान-योग, भक्ति-योग, कर्म-योग, बुद्धि-योग, ब्रह्म-योग। योग क्या है? *योगः संहननोपायः* —संहनन, सम्मिलन का जो उपाय है, वह योग है। *ब्रह्मयोगयुक्तात्मा*— वह आत्म-सुख कब मिलेगा? जब व्यक्ति ब्रह्म-योग से युक्त होगा। जब ध्यान में, ब्रह्म का ध्यान करते हुए, उसके साथ हमारा संपर्क होता है, तो वह मिल सकता है। गीता कहती है— मिलता है वह किन्तु ब्रह्म-योग से युक्त होने पर, ब्रह्म-योग, ध्यान-योग, उस समाधि की स्थिति में बाहरी सारे संपर्क छिन्न हो जाने के बाद। हमारे गुरु जी कहते थे कि ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर न तो स्पर्श-सुख की जरूरत होती है, न अस्पर्शसुख की। सब समय निर्वाण ही निर्वाण है। समाधि की भी जरूरत नहीं होती; क्योंकि समाधि में जो सुख है, वह व्युत्थान में तो नहीं होगा। समाधि में जो सुख है, वह समाधि भंग होने पर, अगर ब्रह्म-ज्ञान नहीं हुआ है तो वह सुख नहीं होगा। इसलिए ब्रह्म-ज्ञान आवश्यक है। जो योगी समाधि की स्थिति में है, अगर वह ब्रह्मज्ञानी है तो उसको अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। और जो अपने भीतर सुख प्राप्त नहीं करता, जो बाहरी स्पर्शों के द्वारा भोग करना चाहता है, वह वास्तव में दुःख की ज्वाला में झुलसता ही रहेगा।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। (५/२२)

विद्वान् उस छद्म सुख में, विषय और इन्द्रिय के संयोग से मिलने वाले सुख में रमण नहीं करते। इसके बाद के दो श्लोकों में इस विषय को और अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। विषय सुख हम क्यों प्राप्त करना चाहते हैं? काम के कारण। काम क्या है? स्पृष्ट, श्रुत और स्मर्यमान अर्थात् जिसको हमने छुआ है, जिसको हमने भोगा है, जिसको हमने सुना है, जिसका हम स्मरण करते हैं, ऐसे सुख के प्रति जो निरन्तर ध्यान करते रहने की, उसको प्राप्त करने की जो लालसा है, अभिलाषा है, वह काम है। काम उन भोगे हुए, अनुभव किए हुए, सुने हुए, याद किए हुए विषयों के प्रति सुखानुभूति परक लालसा है, तृष्णा है। और यह भी समझिये कि काम की वृत्ति जब पूर्ण होती है, तो लोभ होता है। *जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई*- इसी तरह काम की वृत्ति जब खंडित होती है, तो क्रोध होता है। काम ही रूप बदलकर लोभ या क्रोध में बदल जाता है। इस तरह आरंभ में जो सुख की भ्रान्ति होती है, वह बाद में दुःख में परिणत हो जाती है। क्योंकि लोभ की कोई सीमा ही नहीं है अतः उसकी परिणति हताशा में ही होती है; और क्रोध तो प्रत्यक्षतः दाहक है। इसलिए वस्तुतः सुखी वही होता है जो—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। (५/२३)

शरीर के छूटने के पहले तक प्राक्। कहीं-कहीं पाठान्तर *आशरीर विमोक्षणात्* है। शरीर छूटने के पहले तक जो काम-क्रोध से उत्पन्न वेग को सहने में समर्थ है, वह इहैव— यहीं, इसी लोक में, इसी जीवन में और इसी समय। 'इह'— माने यहाँ, 'एव' माने ही, इसी लोक में—मरने के बाद स्वर्ग नरक में नहीं, इसी जन्म में, इसी देश में और उसी समय, सुखी हो जाता है। *'कामक्रोधोद्भवं वेगं'*— काम और क्रोध से उत्पन्न वेग। शब्द पर ध्यान दीजिये, वेग नदी का होता है। वेगवती धारा होती है। वर्षा की नदी होती है। छोटे-छोटे नाले बड़े-बड़े नद का रूप धारण कर लेते हैं; और उनमें इतना वेग होता है कि सब कुछ बहा कर ले जाती हैं। तो काम—मैंने आपको अभी बताया— भोगे हुए, सुने हुए, याद रखे हुए, सुख के प्रति जो अभिलाषा है, तृष्णा है— उसका नाम है काम। काम जब खंडित होता है, काम जब पूरा नहीं होता, तो जिसके कारण पूरा नहीं होता, उस पर होता है क्रोध। काम और क्रोध का वेग जब उत्पन्न होता है तो वह तीव्र बरसाती नदी के वेग के समान होता है। जब काम का वेग आता है, तो सारी मर्यादाएँ टूटती हैं। क्रोध का वेग आता है, तो मर्यादाएँ टूटती हैं। मनुष्य क्रोधान्ध होता है, कामान्ध होता है, लोभान्ध होता है। जो मरने के पहले काम-क्रोध के वेग को सहने में, झेलने में समर्थ है। *सः युक्तः* —वही योग परायण है। *सः सुखीः* —वही सुखी है।

सः नरः —वही मनुष्य है। बाकी सब जन्तु हैं। जो काम-क्रोध के वेग का संवरण नहीं कर पाता, वह मनुष्य के आकार में जन्तु है; क्योंकि जन्तु काम क्रोध के वेग को रोक नहीं पाते। बल्कि पशु से भी अधम है, क्योंकि पशु तो केवल ऋतुकाल में संगम करते हैं। कामी मनुष्य तो सब समय संगम के लिए लालायित रहता है। *स युक्तः स सुखी नरः* —वही सुखी है, वही मनुष्य है, वही योगयुक्त है, जो हृदय में काम-क्रोध के उद्‌भव के वेग को रोक ले। अब इस बात को समझिए कि कामावेग के समय क्या होता है? कामावेग किसी के प्रति आकर्षण के कारण होता है। किसके प्रति इतना आकर्षण है? लोक में लगता है कि जो दूसरा है, पर है, उसके प्रति आकर्षण है। अद्वैत् कहता है कि कोई पर है ही नहीं। तुम्हारे सिवा कोई दूसरा नहीं है। एक ही अधिष्ठान है। उस अधिष्ठान में यह आवेग हुआ, काम का आवेग, क्रोध का आवेग। काम और क्रोध के आवेग को रोकने के जो तरीके हैं, उनको समझना चाहिए। पहली बात यह कि बुद्धि से इनका समर्थन नहीं करना चाहिए। यह याद रखिये कि जब हम काम का, क्रोध का, बुद्धि से समर्थन करेंगे, तो हम दुर्बल हो जाएँगे। जब तक काम और क्रोध को हम बुद्धि से अयुक्त मानेंगे, अयुक्त ठहराएँगे तो काम-क्रोध का वेग दुर्बल होगा। पहली बात कि हम अपनी बुद्धि से उसका समर्थन न करें। दूसरी बात वह अगर उद्‌भूत हो गया है तो उसको हम क्रिया में रूपान्तरित न होने दें। काम और कोध आएँ ही नहीं मन में—यह तो किसी दिव्य पुरुष, किसी महान् पुरुष की बात है। हम सब लोग साधारण लोग हैं। यह भी याद रखिये कि यहाँ कर्मयोग और संन्यासयोग—दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। कर्मसंन्यासयोग यह पंचम अध्याय का नाम है। सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों एक ही हैं यह बताकर दोनों की अलग-अलग व्याख्या कर रहे हैं प्रभु। जो सांख्य-योगी हैं, सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, उनकी बात यहाँ नहीं है। जो साधना में हैं, उनके हृदय में तो काम उत्पन्न होगा, क्रोध का उद्‌भव होगा। प्रभु कहते हैं उसको सहो, उसको झेलो, उसको बुद्धि से समर्थन मत दो। जब वह आवेग आए तो उसको क्रियान्वित मत होने दो। उसको रोको। हमारे गुरु जी कहते थे कि जब काम का प्रबल वेग आए तो जिसके प्रति काम का वेग है, उसकी जो चमड़े की झिल्ली है उसको जरा हटा कर देखो। सारा सौन्दर्य कहाँ है? वह जो हल्की-सी चमड़े की झिल्ली है, उसको हटा देने के बाद? माँस है–मज्जा है–मेद है, रक्त है–हड्डी है–विष्ठा है–कफ है, थूक है—यही शरीर है। जब क्रोध आए तो अपने को दण्ड दो। काम आए तो अपने को दण्ड दो। जब क्रोध आये, अगर दस रुपया अपने ऊपर खर्च कर सकते हैं तो सौ रुपया अपने ऊपर दण्ड लगाइए। सौ रुपया जुर्माना दे दें। जो आपको प्रिय है, उस पदार्थ को छोड़ दें सात दिनों

के लिए। तब क्रोध सात दिनों तक नहीं खाएगा। काम का आवेग हो तो जो आपका प्रिय शौक है उसको सात दिन नहीं करें। काम और क्रोध के उद्‌भव को रोकना बड़ा कठिन है। क्योंकि काम जब उत्पन्न होता है, तभी प्रतीत होता है। उसके पहले तो प्रतीत ही नहीं होता। इच्छा, कामना जन्म लेने के पहले तक ज्ञात ही नहीं होती। अगले क्षण कौन-सी इच्छा, कौन-सी कामना होगी, आपको मालूम है? जब वह जन्म लेती है, तब ज्ञात होती है। ज्ञात होने पर उसके ऊपर नियंत्रण लगना चाहिए। उसके अनेक उपाय हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं—गीता की भाषा है कि जो सहने में समर्थ है। मतलब साधक के मन में काम, क्रोध आयेगा ही नहीं—ऐसा नहीं मानती गीता। काम-क्रोध का आवेग तो आएगा ही। मनुष्य के रूप में हम-आप जन्मे हैं। हममें-आपमें साधन-काल में काम-क्रोध का आवेग आएगा। साधक और विषयी का अन्तर क्या है? विषयी काम, क्रोध के वेग को रोक नहीं सकता, साधक उसको रोकता है। सिद्ध के मन में काम आता ही नहीं। हमलोग अभी साधना की बात कर रहे हैं, साधक की बात कर रहे हैं। अगर हमारे-आपके मन में काम-क्रोध का उद्‌भव हो तो उसको रोकने में हम समर्थ तो हों। काम के वेग में बह गए, क्रोध के वेग में बह गए और अपने को युक्त भी कहते रहे, योगी भी कहते रहे, कर्मयोगी कहते रहे। ऐसा नहीं हो सकता। *स युक्तः* —युक्त वह है जो काम और क्रोध के वेग को नियंत्रित कर सके। *'स सुखी'* —वही सुखी होगा जो काम और क्रोध के वेग को नियंत्रित करेगा। *स नरः* —नरः माने नारी भी। वही मनुष्य है जो काम और क्रोध के वेग को मृत्यु के पहले नियंत्रित करने में समर्थ है। अब इसके बाद अद्‌भुत श्लोक है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। (५/२४)

अन्तःसुख। तुलसी बाबा की पंक्ति याद आ रही है। *स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा।* तुलसीदास जी ने अपने अन्तः सुख के लिए रघुनाथ गाथा लिखी थी। हे नारायण! हमारे आलोचकों ने बाबा को कहा कि वे मनमौजी थे। स्वान्तः सुखाय लिखते थे, यानी समाज से निरपेक्ष होकर लिखते थे। ऐसा नहीं है। ऐसे मनमौजी नहीं थे तुलसीदास। उन्होंने प्रभुकृपा से गीता में संकेतित अन्तःसुख प्राप्त करने के लिए रामचरितमानस की रचना की थी। अन्तः सुख का एक अर्थ है, भीतरी सुख और दूसरा अर्थ है वह व्यक्ति जिसका सुख उसके भीतर है। *यः अन्तः सुखः* —वह व्यक्ति जिसका सुख बाहर नहीं है। *'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'* —जो बाहरी सुखों के प्रति अनासक्त है। *योऽन्तःसुखः* —वह व्यक्ति जिसका सुख उसकी आत्मा में है। अपने स्वरूप के

साथ संपृक्त होकर जो सुखी होता है। *अन्तरारामः*— हम आप रमण कहाँ करते हैं? हम-आप रमण करने दार्जिलिंग जाएँगे, श्रीनगर जाएँगे, नैनीताल, मसूरी जाएँगे, कहीं और जाएँगे। नहीं-नहीं अन्तरारामः —अपने ही भीतर जो रमण करता है। *'तथाऽन्तर्ज्योतिरेव'* —हमको ज्योति तो बल्ब से मिलती है, सूरज से मिलती है, चाँद-सितारे से मिलती है। *अन्तर्ज्योतिः* —जिसके ज्ञान की ज्योति उसके भीतर से आती है। जिसका सुख उधार नहीं है। कहीं दूसरी जगह रखा हुआ नहीं है। जो पराधीन नहीं है। देखो! हमने कहा था कि सुख और दुःख की अनुकूल वेदनीय और प्रतिकूल वेदनीय जो परिभाषा है वह अपूर्ण परिभाषा है। खंडित, गलत परिभाषा है; क्योंकि अनुकूल वेदनीयता हमको प्रतिकूल वेदनीयता की ओर झोंक देती है। आरम्भ में जो अनुकूल वेदनीय है वह बाद में महान दुःख का कारण बन जाता है। बन जाता है कि नहीं? सही परिभाषा क्या है? *सर्वं परवशं दुखम् सर्वं आत्मवशं सुखम्*— दुःख क्या है? परवशता ही दुःख है। वह सब जो पराधीन है, *'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'* सर्वं आत्म वशं सुखम्—और सुख क्या है? जो आत्म वश हो, अपने वश में हो। योऽन्तःसुखः —जो अपने भीतर सुख का अनुभव करेगा, उसका सुख स्वाधीन सुख है। अपने ही भीतर से सुख का स्रोत उमड़ रहा है। उसको कोई वस्तु, कोई व्यक्ति, कोई स्थिति, कोई काल, कोई ऋतु— सुख देती है ऐसा नहीं है। जैसे कुएँ का जल जितना निकाला जाएगा, उतना बढ़ेगा। वैसे ही वह अपने हृदय से सुख निकाल-निकाल कर सब तरफ बाँट रहा है; और उसका वह अन्तःसुख बढ़ता चला जाता है। वह व्यक्ति जो अपने भीतर के सुख से सुखी है, जिसका सुख भीतर है, *अन्तरारामः* —जो अपने ही भीतर रमण करता है, अपने ही भीतर विराजता है, क्रीड़ा करता है, आत्मक्रीड़ है और मेरे गुरुजी ने यह भी बताया— जिसकी सत्ता भीतर है। *अन्तर्ज्योतिः* —जिसका ज्ञान भीतर है, जो बाहरी प्रकाश का मुखापेक्षी नहीं है भीतर जो सहज ज्ञान-स्वरूप है, उससे ज्ञान प्राप्त कर रहा है, उसका अन्तःसुख बढ़ता चला जाता है। ब्रह्म को हमलोग कहते हैं सच्चिदानन्द। कहते हैं कि नहीं? तो *अन्तःसुख* माने जिसका सुख भीतर है, *अन्तर्ज्योति* माने जिसका चित् भीतर है, ज्ञान भीतर है, जिसका आनन्द भीतर है, जिसकी सत्ता भीतर है, जिसमें वह क्रीड़ा करता है, जो सत्-चित् और आनन्द स्वरूप है, वह सच्चिदानन्द है। *स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति*— वह योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है।

सोइ जानत जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि, तुम्हहि होइ जाई।।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति— जिसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म ही हो गया।

स योगी ब्रह्मभूतः --जो सच्चिदानन्द-स्वरूप हो गया, वह ब्रह्म ही हो गया। जो अन्तः सुख, अपने भीतर आनन्द स्वरूप, जो अपने भीतर सत् स्वरूप है, जो अपने भीतर चित्स्वरूप है, जो सत् चित् आनन्द स्वरूप है *स योगी ब्रह्मभूतः*— वह कर्मयोगी या सांख्ययोगी ब्रह्म हो गया। ब्रह्म हो गया तो कहाँ जाएगा? *ब्रह्मनिर्वाण अधिगच्छति*— ब्रह्म में मिल गया। बौद्धों का निर्वाण निषेधपरक है। गीता का निर्वाण विधिपरक है। बौद्धों का निर्वाण दीपक बुझ गया, बुझने के बाद? कुछ नहीं। गीता बोलती है— जल में जल मिल गया।

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल-जलहिं समाना, यह तत कथौ गियानी।।

यह जो हमने छोटा-सा आवरण ओढ़ रखा था अपने को क्षुद्र मान रखा था अपने शरीर में अपने नाम-रूप में हमने अपने आपे को सीमित कर रखा था, वह अज्ञान का आवरण नष्ट हो गया। शरीर रूपी कुम्भ के भीतर जो आत्मरूपी जल है और बाहर जो ब्रह्म रूपी जल है —वह हमारे अज्ञान के आवरण के कारण अलग-अलग प्रतीत होता था। अज्ञान का कुंभ जैसे ही फूटा वैसे ही भीतर का जो आत्मा है, वही परमात्मा है, यह बोध हो गया। *ब्रह्मभूतो ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति*— अच्छी तरह से वह योगी ब्रह्म हो गया। एक बार अगर हम अन्तःसुख, अन्तराराम, अन्तर्ज्योति हो गए, सच्चिदानन्द स्वरूप हो गए तो ब्रह्मभूत होकर हम सहज ही ब्रह्म से मिलकर एक हो गए। ब्रह्मनिर्वाण हमको प्राप्त हो गया, हम ब्रह्म में ही विलीन हो गए। यह विलीनता निषेधपरक अभावमूलक नहीं है। यह विलीनता विधिपरक, भावमूलक है। हमारी सत्ता सच्चिदानन्द स्वरूप है। हमारी सत्ता का लोप नहीं हुआ। हमारी सत्ता जो हमारे अज्ञान के कारण सीमित थी, वह असीम हो गई। हमारी सत्ता जो नाम रूप में बँधी थी, वह सर्वत्र हो गई। हमारी सत्ता जो काल में बँधी थी, वह अकाल हो गयी कालातीत हो गयी। अब जो ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं उनके गुण बताए गए हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (५/२५)

जो ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं— *ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते*— ऋषि माने जो द्रष्टा हैं, जो ज्ञानी हैं, वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। उनके ये लक्षण हैं। पहला लक्षण *क्षीणकल्मषाः* —जिनके सारे कल्मष, जिनके सारे कर्म, जिनके सारे पाप क्षीण हो गए हों। अर्थात् जिनका संचित कर्म, जिनका प्रारब्ध कर्म, जिनका क्रियमाण कर्म लुप्त हो गया है।

ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

विद्वान् उसे ही पंडित कहते हैं जिसने ज्ञान की अग्नि से संचित कर्म को, क्रियमाण को कर्तृत्व का अभिमान त्याग कर, फल की आशा त्याग कर, दग्ध कर दिया है; और प्रारब्ध को सहज स्वीकार कर लिया है। ऐसे पंडितों के सारे कल्मष, सारे कर्म, सारे पाप क्षीण हो जाते हैं। कर्म उनको बाँध नहीं सकते। वे हैं *क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा*— द्वैध के दो अर्थ बताए गये हैं, द्वन्द्व-सुख-दुःख, हानि-लाभ यश-अपयश से जो ऊपर उठ गये हैं या जिनकी सारी दुविधाएँ, जिनके सारे संशय समाप्त हो गए हैं। *संशयात्मा विनश्यति* —तो जो निःसंशय हो गये हैं, जो समस्त द्वैधों से ऊपर उठ गये हैं। *यतात्मानः* —जिन्होंने अपने मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के ऊपर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, जिनका अन्तःकरण उनको अब धोखा दे नहीं सकता। अन्तःकरण जड़ है। इसी मन में लालसाएँ उत्पन्न होती हैं। इसी बुद्धि से हम उनकी तृप्ति करना चाहते हैं, समर्थन करना चाहते हैं। जिन्होंने अपने ऊपर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, वे हैं *यतात्मानः। सर्वभूतहिते रताः* —कर्मयोगी और सांख्ययोगी दोनों को समेट रहे हैं। वैसे व्यक्ति सारे प्राणियों के मंगल के लिए लगातार काम करते हैं। सर्वभूतहित में रत हैं। क्योंकि सच्चा आत्महित सर्वभूत हित ही है और सच्चा सर्वभूतहित आत्महित ही है।

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू।।
स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा।।

तो सच्चा स्वार्थ और परम परमार्थ एक ही है। मन-कर्म-वचन से राम-पद में प्रेम। तो सर्वभूतहित और सच्चे आत्महित में विरोध नहीं है। क्योंकि सर्वभूत में हम खुद ही हैं। द्वैध और द्वैत भी मिट गया। अद्वैत हो गया है।

द्वैत के मिट जाने पर सर्वभूतहित सहज हो जाता है। जब तक द्वैत का बोध रहता है, तब तक यह दृष्टि रहती है कि मैं अपना भला करूँ, अपनी पत्नी का भला करूँ, अपने बेटे का भला करूँ; और लोग जाएँ जहन्नुम में। जब सब हमारे हैं, सबमें हम हैं, हममें सब हैं, तो किसका बुरा चाहेंगे?

अभी ये धुन थी हमारे दिल में, यहाँ झगड़िए, वहाँ बिगड़िए
उठा जो दिल से दुई का परदा, अब जो लड़िए तो किससे लड़िए।

दुई का परदा उठ गया तो किससे लड़ोगे भाई! कोई दूसरा है ही नहीं। तो यह सर्वभूतहित और आत्महित एक ही बात है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। (५/२६)

पहली बात कि जो काम और क्रोध से वियुक्त हो गए हैं अर्थात् यह अनिवार्य शर्त है—काम और क्रोध के रहते हुए कोई परम सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। काम और क्रोध से जो वियुक्त हैं, ऐसे यती अर्थात् यत्नशील जो निरन्तर साधन में लगे हुए हैं तथा *यतचेतसाम्*—जिन्होंने अपने चित्त के ऊपर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है। दोहरा रहे हैं क्योंकि बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। *विदितात्मनाम्*— जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप को जान लिया है, जो आत्मज्ञानी हैं, जो आत्मज्ञ हैं। जिन्होंने अपने आप को, अपने वास्तविक स्वरूप को जान लिया है, *अभितो ब्रह्मनिर्वाणं* उनके लिए ब्रह्मनिर्वाण चारों तरफ, सर्वत्र, सब जगह है— कहीं आकाश में, कहीं तीर्थ में नहीं। वह सहज ही ब्रह्म-स्वरूप है। वह सहज ही ब्रह्मनिष्ठ है। वह ब्रह्म ही है। उसको ब्रह्मनिर्वाण खोजने के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं। ब्रह्मनिर्वाण उसको खोजता हुआ आता है। *'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं'* —उसके चारों तरफ ब्रह्मनिर्वाण ही है।

सत्ताईस और अट्ठाईस— इन दोनों श्लोकों में अभ्यास का महत्त्व बताया गया है। ये दोनों श्लोक छठे अध्याय के बीज हैं। छठे अध्याय में विस्तार से ध्यानयोग का वर्णन है। और उस ध्यान योग का यहाँ संकेत मात्र है। क्योंकि *अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः* —पातंजल योग-सूत्र में बताया गया है कि चित्त का निरोध किया जा सकता है—अभ्यास और वैराग्य से। *'कामक्रोध-वियुक्तानां'* —यह क्या हुआ? वैराग्य हुआ। अब अभ्यास करने का तरीका इन दोनों श्लोकों में बताया गया है। ये दोनों श्लोक एक साथ पढ़ते हैं। दोनों श्लोकों का थोड़े में अर्थ भी बताते हैं क्योंकि छठे अध्याय में विस्तार से इनकी चर्चा है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। (५/२७-२८)

बाह्यान् स्पर्शान्— जो अनात्मा है, जो अपने भीतरी स्वरूप में नहीं है, ये बाहरी विषय हमारे भीतर क्यों आ जाते हैं? क्योंकि हम इनका चिन्तन करते रहते हैं। हम इनके बारे में सुनते हैं, सोचते रहते हैं। अब तो टी.वी. पर भी देखते हैं। तो सुनते, सोचते, देखते रहने के कारण ये बाहरी विषय हमारे भीतर आ जाते हैं। अभ्यास में पहली बात क्या हुई? *बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा*— जो बाहरी स्पर्श हैं, बाहरी विषय हैं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध— इनको बाहर रख कर। बाहर रख कर माने? इनके बारे में चिन्तन न कर, इनका विचार न कर, इन पर मन को न-जाने देकर, मन को इससे

अलग रखा जाना चाहिए। *यक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः* — दोनों चक्षुओं को भ्रू-मध्य में भृकुटी के बीच में लगा कर। बहुत से लोग आँख बन्द करके ध्यान करते हैं। गीता को लगता है कि आँख बन्द करने पर कुछ लोग सो जाते हैं। बहुत से लोग आँख खोल कर ध्यान करते हैं —तो गीता को लगता है कि ऐसे ध्यान करने पर आँख इधर-उधर देखने लग सकती है, विषयों की ओर जा सकती है। अतएव न आँख बन्द करो, न आँख खोलो, न आँख को छोड़ो; तो क्या करो? आँखों को भौहों के मध्य स्थित कर दो। अभ्यास से साध्य है यह। सिर्फ इसलिए कि न सोओ, न भटको। *'प्राणापानौ समौ कृत्वा'* —जो वायु हम लेते हैं वह प्राण है। जो छोड़ते हैं, वह अपान है। प्राण और अपान को सम करके। जब हम साँस भरते हैं तो पूरक की, जब हम साँस रोके रखते हैं तो कुम्भक की, जब साँस छोड़ते हैं तो रेचक की और जब बाहर ही साँस रखते हैं तो बाह्य कुम्भक की प्रक्रिया होती है। तो प्राण और अपान को रोक देकर, समान करके यानी कुम्भक करके। *'नासाभ्यन्तरचारिणौ'* — नाक के भीतर जो वायु संचार करती रहती है— उसको प्राणायाम के द्वारा निरुद्ध करके— यह प्राणायाम का वर्णन है। *'यतेन्द्रिय मनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः'* यत् माने नियंत्रित। इन्द्रिय मन और बुद्धि को नियंत्रित करके साधना करने वाला मुनि, मोक्षपरायण होता है। भोगपरायण नहीं मोक्षपरायण, कामाराम नहीं आत्माराम होना चाहिए; क्योंकि जो मोक्षपरायण होगा वही आत्माराम होगा, आत्मा में रमण करेगा। और जो भोगपरायण होगा वह विषयों में रमण करेगा, वह विषयाराम होगा। *'विगतेच्छाभयक्रोधो'* —इच्छा यानी काम। इसी का प्रति शब्द है *वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीर्मुनिरूच्यते'* — इच्छा ही मूल अपराध है। अपनी इच्छा अगर अपने से शक्तिशाली से खंडित होती है तो उससे भय होता है। इच्छा अगर अपने सम शील या दुर्बल से खंडित होती है तो उस पर क्रोध होता है। तो *विगतेच्छाभयक्रोधः* —अगर इच्छा ही मिट जाएगी तो न भय होगा, न क्रोध होगा। इच्छा, भय और क्रोध को मिटाकर, जो साधना कर रहा है। यः *'सदा मुक्त एव सः'* —वह हमेशा मुक्त ही है। बंधन में हम आते ही हैं इच्छा के द्वारा, कामना के द्वारा। कामना की, तो बँधेंगे ही बँधेंगे। किसी से संबंध जोड़ोगे— प्रेयसी-प्रियतम कहो, भाई-भाई कहो, जो कुछ कहो —संबंध अर्थात् सम्यक् बंधन। कोई बन्धन नहीं चाहता। उसमें रामजी ने एक सम् उपसर्ग लगा दिया तो संबंध को सब चाहने लगे और सब बँध कर रोते रहते हैं। तो *यः सदा मुक्त एव सः* —मुक्त कौन है? जिस पर कोई बँधन नहीं है। देखो! जिसके सब हैं, उसका कोई नहीं और जिसका कोई एक है उसके सब नहीं हैं। तो हमारे सब हों यानी सीमित अर्थ में हमारा कोई एक न हो। तो गुटबंदी भी नहीं होगी। गुटबंदी कब

होती है? जब कोई सीमित अर्थ में हमारा है और दूसरा हमारा नहीं है। जिसके सब हैं उसका कोई सीमित अर्थ में एक नहीं है। *यः सदा मुक्त एव सः* —वह सदा मुक्त है।

अंतिम श्लोक बहुत ही अच्छा श्लोक है। कैसे सच्ची शान्ति मिलेगी? शान्ति सब चाहते हैं। कोई अशान्त होना चाहता है? *'अशान्तस्य कुतः सुखं'* —जो अशान्त है, वह कैसे सुखी हो सकता है? शान्ति-परम शान्ति-नैष्ठिकी शान्ति कैसे प्राप्त होगी?

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। (५/२९)

शान्तिमृच्छति— शान्ति प्राप्त करता है। किसको शान्ति प्राप्त होती है? कौन शान्ति प्राप्त करता है? *भोक्तारं यज्ञतपसां*— गीता में जब भी यज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है, तो उसमें किसी काम-यज्ञ का कहीं उल्लेख नहीं है। यह राजसूय यज्ञ है, यह अश्वमेध-यज्ञ है, यह पुत्रेष्टि यज्ञ है। गीता में इनका कहीं भी वर्णन हुआ है? कहीं नहीं हुआ है। गीता में नित्य-नैमित्तिक-कर्म को ही यज्ञ बनाने की राय दी गई है। जब हम अपना नित्य नैमित्तिक कर्म अपने स्वार्थ के लिए करते, हैं तो वह कर्म है। जब वह नित्य नैमित्तिक कर्म सबके कल्याण के लिए करते हैं तब वह धर्म है। वह यज्ञ है। यज्ञ यानी परोपकार। जो लोक-कल्याण के लिए कार्य किया जाता है, वही यज्ञ है। यज्ञ के मूल में लोक कल्याण की भावना है। इसीलिए चक्षुदान-यज्ञ, इसीलिए भूदान-यज्ञ। लोकोपकार यानी यज्ञ और अपने ऊपर नियंत्रण अर्थात् संयम यानी तपस्या। जितनी मात्रा में हमलोग अपने ऊपर नियंत्रण करेंगे, जितनी मात्रा में हमलोग अपने को अनिष्ट सुख से रोकेंगे, उतनी मात्रा में तपस्या करेंगे। तो हमारे यज्ञ और हमारे तप का भोक्ता कौन है? हम? अगर हम अपने यज्ञ और तप के स्वयं भोक्ता हैं तो बँधेंगे। हम यज्ञ कर रहे हैं, कर्त्ता हम हैं? हम तप कर रहे हैं। कर्त्ता हम हैं? गीता में बार-बार कहा है कि अपने को कर्त्ता मत मानो।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। (४/१३)

भगवान् की तरह काम करो। भगवान सब काम करके भी अकर्त्ता रहते हैं। तो हमारे यज्ञ और तप का फल किसको प्राप्त होगा? देखो! एक बार इसके पहले भी— तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः में भक्ति आई है जरा सी। और इसमें भक्ति आई है जरा खुल कर। भक्ति और खुलकर आगे आएगी। अपनी सीमित विद्या-बुद्धि से मैं तो गीता का चरम मंत्र मानता हूँ शरणागति के मंत्र को—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८/६६)

यह गीता का चरम मंत्र है। भक्ति की परिणति शरणागति में हो जाती है। भक्ति का यह आभास है। *'भोक्तारं यज्ञ-तपसा'* —कर्त्ता के रूप में मैं जब यज्ञ कर रहा था, कर्त्ता के रूप में मैं जब तप कर रहा था तो मेरे अन्तःकरण को प्रेरित परमात्मा कर रहे थे। मैं कर्त्ता नहीं था, मैं प्रेरित कर्त्ता था। तुम कर्त्ता हो कि तुम प्रेरित कर्त्ता हो? कर्तृत्व का अभिमान आया तो बँधे। रामजी की प्रेरणा से हम काम कर रहे हैं, हम प्रेरित कर्त्ता हैं! बाँसुरी से राग कौन-सा निकलता है? जो कन्हैया उसमें फूँकता है। उसका अपना राग कुछ नहीं है। वह तो भीतर से पोली है। यह यदि प्रेरित कर्त्ता है तो कर्त्ता के रूप में परमात्मा ही मेरे भीतर बैठ कर मुझसे यज्ञ करवा रहे थे। मेरे भीतर बैठ कर परमात्मा मुझसे तप करवा रहे हैं; और इस यज्ञ और तप के भोक्ता भी परमात्मा ही हैं। मैंने भगवान की प्रसन्नता के लिए यज्ञ किया, तप किया। अपने लिए नहीं। तो भगवान मेरे यज्ञ और तप के भोक्ता हैं। *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*— परमात्मा स्वयं श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे हैं कि मैं सबके यज्ञ, सबके तप का भोक्ता हूँ। इस रास्ते पर चलेंगे तब तो व्यभिचार नहीं करेंगे, चोरी बेईमानी नहीं करेंगे। जो भी करेंगे, वह या तो *सर्वभूतहितेरताः* —होकर करेंगे तो यज्ञ हो जाएगा। या *वीतरागभयक्रोधः* तो वह तप हो जायेगा *यतेन्द्रियमनोबुद्धिः*—तप हो जायेगा। तो हम इस रास्ते पर चलते हुए या तो यज्ञ करेंगे या तप करेंगे। और वह यज्ञ और तप जो हम करेंगे, वह अपने अहंकार से नहीं करेंगे, कर्त्ता के रूप में नहीं करेंगे, प्रेरित कर्त्ता के रूप में करेंगे, भगवान् की प्रेरणा से करेंगे और भगवान की प्रसन्नता के लिए करेंगे। भगवान को समर्पित करने के लिए करेंगे। *श्रीरामार्पणमस्तु*— जो भी किया वह रामजी को अर्पित। मैं रामार्पण कहता हूँ आप कृष्णार्पण कहिए, शिवार्पण कहिए, जो भी कहिए। तो जो भी किया, भगवान की प्रसन्नता के लिए। परमात्मा सर्वलोक महेश्वर है। सारी सृष्टि के स्वामियों का भी स्वामी है महा ईश्वर है, किसी से भी डरो मत क्योंकि तुम्हारा रक्षक परमात्मा है।

काढ़ि कृपान कृपा न कहाँ, पितु काल कराल विलोकि न भागे
राम कहाँ? सब ठाँव हैं, खम्भ में, हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे।
बैरि विदारि भए विकराल, कहे प्रह्लादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे।

सर्वलोकमहेश्वरम्— जो छोटे-छोटे टुच्चे लोग अपने को शासक मानते हैं, वे तुच्छ हैं। ये हमको आँख दिखाते हैं? किसी से मत डरो। क्योंकि हम, जो सबके स्वामी

हैं, उनसे जुड़े हुए हैं। निर्भय, अभय होने का संदेश है। उद्दण्ड नहीं, विनम्रता के साथ, दृढ़ता के साथ अभय, प्रह्लाद की तरह अभय। *सुहृद सर्वभूतानां*— सुहृद किसको कहते हैं? जो प्रत्युपकार की लालसा के बिना प्रत्युपकार की इच्छा के बिना उपकार करता है। साधारण मित्र नहीं। साधारण मित्र भी भला करते हैं। लेकिन सुहृद कौन है? सुहृद तो वह है जो बदले में प्रत्युपकार नहीं चाहता। और निरन्तर उपकार करता है। जो निरन्तर उपकार करते हुए भी प्रत्युपकार नहीं चाहता, वह सुहृद है। भगवान हमारे-तुम्हारे सुहृद है। फिर क्यों डरोगे भाई ? फिर दुःखी क्यों होगे? फिर विचलित क्यों होओगे? अगर सचमुच अन्तःकरण से इस बात को स्वीकार कर लोगे कि हमारे यज्ञ और तप के भोक्ता प्रभु हैं, सबसे बड़े महेश्वर, स्वामियों के भी परम स्वामी प्रभु हैं; और वे मेरे सहज स्नेही हैं, तो क्या शान्ति नहीं मिलेगी? अगर तब शान्ति नहीं मिलेगी तो कब मिलेगी भाई? शान्ति उसी को मिलती है जिसके मन में कोई भय नहीं होता, जिसके मन में कोई लालसा, कोई कामना नहीं होती, कोई अभाव नहीं होता। परमात्मा से जुड़ जाने के बाद कोई अभाव, कोई भय, कोई लालसा नहीं, वही परिपूर्णता की अनुभूति —वह सहज शान्ति है, सच्ची शांति है। संसार में किसी भी चीज को पाकर जो हमको शान्ति का अनुभव होता है वह बहुत क्षणिक होता है, बहुत तात्कालिक होता है। वह सच्ची शान्ति नहीं है। वह तुरन्त अशान्ति में बदल जाने वाली है। परमात्मा ही मेरे यज्ञ और तप के प्रेरक कर्त्ता हैं, परमात्मा ही मेरे यज्ञ और तप के भोक्ता हैं। परमात्मा मेरे परम स्वामी हैं। अतः किसी से कोई भय नहीं है। परमात्मा मेरे सच्चे सुहृद है, मुझे कोई अभाव नहीं है, कोई कमी नहीं है। उस परम पूर्णता का अनुभव शान्ति देता है। ॐ शान्तिः - शान्तिः - शान्तिः। ●

प्रवचन-१७*

जीतो मन को बन्धु बनाओ

सामान्यतः नियम यह है कि जब कोई पूछे तो उसका उत्तर दिया जाए। गीता के पहले पाँचों अध्यायों में इस नियम का पालन किया गया है। अर्जुन प्रश्न पूछता है और उसकी शंका का समाधान करने के लिए, उसकी जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए भगवान् अपनी बात कहते हैं। षष्ठ अध्याय में पहली बार बिना पूछे भगवान अपनी बात कह रहे हैं। यह भगवान की करुणा का प्रबल प्रमाण है। शिष्टाचार के अनुसार यह तो ठीक है कि बिना पूछे बात न कही जाए; लेकिन अगर कोई अपना प्रिय शिष्य है, या स्वजन है और वह विनम्र है, वह सुनने के लिए समर्पण के साथ तत्पर है, तो बिना पूछे भी उसके मंगल के लिए, उसके हित के लिए उसको उपदेश दिया जा सकता है। अर्जुन ने अपनी प्राथमिक जिज्ञासा में कहा था— *शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।* मैं शरणागत हूँ, मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। अपनी विनम्रता को स्पष्ट रूप से उन्होंने वहाँ ज्ञापित किया था। तो उनकी इस विनम्रता को स्वीकार करते हुए अर्जुन के हित के लिए, अर्जुन के मंगल के लिए भगवान बिना पूछे अपनी तरफ से उपदेश कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि पंचम अध्याय के अन्त में उन्होंने ध्यानयोग के जो दो बीज-श्लोक कहे थे, अब प्रभु उनकी विस्तृत व्याख्या कर रहे हैं। आप लोगों को मैं स्मरण कराऊँ कि भगवान ने कहा था—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। (५/२७-२८)

उन्होंने बताया था कि जो बाहरी विषय हैं, उनको बाहर रखते हुए ध्यान योग में प्रवृत्त हो कर, नेत्रों को अर्धमुकुलित स्थिति में रखते हुए भौंहों पर उनको केन्द्रित करके प्राण और अपान वायु को सम करोगे तो तुम अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि पर नियंत्रण

* षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या १ से ९

प्राप्त कर सकोगे, मोक्ष परायण होगे, तुम्हारी इच्छा, भय, क्रोध छूट जाएगा और तुम मुक्त हो जाओगे। ये जो बीज रूप में ध्यान-योग के दो श्लोक हैं, इन श्लोकों का विशदीकरण षष्ठ अध्याय में किया गया है। लेकिन विशदीकरण के पहले, उनको व्यापक रूप से समझाने के पहले, उनके महत्त्व को पुनः रेखांकित किया गया है। इस अध्याय के पहले नौ श्लोकों में ध्यानयोग की भूमिका है। योगारूढ़ किसे कहते हैं? योगारूढ़ होने से सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती हैं? इन्हें समझा कर योगारूढ़ के महत्त्व को रेखांकित किया गया है। यदि किसी को किसी विषय में प्रवृत्त करना हो तो पहले उसे उस विषय के महत्त्व को समझाना चाहिए। अगर विषय के महत्त्व को बुद्धि स्वीकार करेगी तो उस विषय को उपलब्ध करने के लिए भीतरी प्रयास होगा। अगर किसी विषय की स्थिति बुद्धि को स्वीकृत नहीं है; और आप बलपूर्वक उसे वहाँ प्रेरित करते हैं, तो उसका उपयुक्त परिणाम नहीं होता। इसलिए अच्छे गुरु, अच्छे अध्यापक बराबर यह निरूपित करते हैं कि जो विषय अभी बताया जाएगा, उस विषय का महत्त्व क्या है? उस विषय से तुमको क्या उपलब्धि होगी? उस उपलब्धि की महिमा को हृदयंगम कर लेने पर अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को उस विषय पर केन्द्रित कर, उस विषय को समझने, उसमें पारंगत होने की साधना की जाती है। अतः पहले जो नौ श्लोकों में योगारूढ़ के लक्षण और योगारूढ़ होने के जो शुभ फल हैं, उनका निरूपण है। एक बात पर और ध्यान दीजिए कि यह सारा निरूपण कर्मयोग के अंग के रूप में है। एक पुरानी परम्परा गीता के व्याख्याताओं की है कि पहले छह अध्याय कर्मयोग के हैं, सातवें से बारहवें अध्याय तक मूलतः भक्तियोग है और तेरहवें से अट्ठारहवें अध्याय तक ज्ञानयोग है, यद्यपि उसकी परिसमाप्ति शरणागति में होती है। यह छठा अध्याय है और इसकी संज्ञा ध्यानयोग स्वीकृत है, लेकिन यह कर्मसंन्यास योग का आगे बढ़ा हुआ हिस्सा है। और इसलिए यह ध्यानयोग एक ही साथ कर्मांग भी है और ज्ञानांग भी है। जब हम लोग ध्यान करते हैं, तो उस ध्यान से कर्म की क्षमता भी बढ़ती है, ज्ञान का बोध भी सहज होता है। इसलिए ध्यानयोग कर्म और ज्ञान दोनों के अभिन्न अंग के रूप में है। यह ठीक है कि ध्यानयोग की कई बातें इसमें बताई गयी हैं लेकिन ये बातें बिलकुल पातंजल योग का अनुगमन, अनुसरण करती हैं— ऐसा नहीं है। उसमें भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना वैशिष्ट्य रखा है। ध्यानयोग का उतना ही अंश इसमें विवेचित है, जो अंश कर्म और ज्ञान की भूमिका को प्रांजल करता है, प्रशस्त करता है, जिन अंशों को हृदयंगम कर लेने से हमारा कर्म और सुगम होता है, और निर्दोष होता है, हमारे ज्ञान की साधना और सहज होती है— उतने ही अंश का विवेचन गीता के इस

ध्यानयोग में है। गीता अनेक प्रकार के योगों को अपने में समेटती है। उन समस्त प्रकार के योगों को समेटते हुए भी गीता प्रधानता किसे देती है, इसका निरूपण विद्वज्जन अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार करते हैं। लोकमान्य तिलक कर्मयोग को महत्त्व देते हैं। रामानुज भक्तियोग को महत्त्व देते हैं। शंकर ज्ञानयोग को महत्त्व देते हैं। और इसलिए इन अलग-अलग आचार्यों, व्याख्याकारों के द्वारा गीता के मर्म को अपने पक्ष में थोड़ा झुकाने की चेष्टा भी होती है। मैं अभी आज ही के प्रकरण में इसको थोड़ा-सा स्पष्ट करूँगा। लेकिन फिर भी यह बात सच है कि गीता समन्वय का ग्रंथ है, समाहार का ग्रंथ है। गीता किसी संप्रदाय-विशेष का ग्रंथ नहीं है। गीता की दृष्टि व्यापक है और उस समन्वित व्यापक दृष्टि में विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों, विभिन्न संप्रदायों के साधकों को, अपना-अपना पाथेय प्राप्त करने की सुविधा है। गीता सबके लिए पाथेय है। सबको अपने अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति देती है। जब भगवान् ने कहा— *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्।'* जो जिस प्रकार से जिस मार्ग से मेरे पास आना चाहते हैं, मैं उनको उसी प्रकार ग्रहण करता हूँ, तो उनको उस प्रकार आने की सुविधा भी वे प्रदान करते हैं। इसलिए गीता की इस व्यापक निर्मल दृष्टि को भी हमें अपने सामने रखना चाहिए। पहला श्लोक कर्मयोग की महिमा को पुनः पुष्ट करता है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। (६/१)

जब कोई भी काम किया जाता है, तो उसमें दो प्रकार के दोष संभव हैं। एक बुद्धि दोष संभव है और एक कर्म के रूप का, स्वरूप का ही दोष संभव है। *'अनाश्रितः कर्मफलं'* —इस वाक्यांश से बुद्धि के दोष का निराकरण किया गया है। तुम कर्म के आश्रित हो कि कर्म तुम्हारे आश्रित है? हम चेतन प्राणी हैं। हम कर्म के आश्रित न हों। कर्म हमारे आश्रित हो। ऐसा कभी न हो कि कोई कर्म हमारी इच्छा के विरुद्ध हमको खींच कर कहीं ले जाए। कई बार ऐसा होता है कि जो काम हम करना नहीं चाहते, प्रलोभन से, भय से, आकर्षण से कर जाते हैं। तो हम कर्म के आश्रित हो जाते हैं। ऐसा कभी नहीं होना चाहिए। हम चेतन प्राणी—हमारा आश्रित कर्म हो, हम कर्म के आश्रित न हों यह है पहली बात। दूसरी बात— जो हम काम कर रहे हैं वह किसलिए कर रहे हैं? क्या उसका फल स्वयं पाने के लिए कर रहे हैं? अगर फल पाने के लिए —हम काम कर रहे हैं कि उससे हमारा यश हो, उससे हमारा प्रभाव बढ़ जाए, उससे हमको धन की प्राप्ति हो जाए—इन फलों की ओर जब दृष्टि जाती है तो कर्म के निर्दोष संपादन की क्षमता कम हो जाती है, क्योंकि दृष्टि कर्म की ओर नहीं रहती, कर्म के

फल की ओर जाती है और यह बात ठीक नहीं है कि कर्म का कोई फल कर्म के बाहर होना चाहिए। सही बात यह है कि कर्म अपना फल स्वयं होना चाहिए। *'अनाश्रित : कर्मफलं'* —कर्मफल का आश्रय लिए बिना, कर्मफल पर आश्रित हुए बिना, कर्मफल जो भी हो, लेकिन हमारी बुद्धि, प्रतिभा, अवस्था, युक्ति, क्षमता के अनुरूप प्रभु हमको जो कर्म दे रहे हैं, उस कर्म को करने में ही हमें आनन्द का, रस का अनुभव करना चाहिए। कर्म करते हुए कर्म का जो आनन्द है, वही उसका फल होना चाहिए। हमको कर्म का ही आस्वादन करना चाहिए। कर्म के बाहर कर्म का कोई फल है, हमारी तस्वीर छपी कि नहीं, हमारा नाम छपा कि नहीं, हमको कोई पद मिला कि नहीं— यह गौण बात है। कर्म के फल पर आश्रित होना बुद्धि का दोष है। बुद्धि के उस दोष का निराकरण करते हुए भगवान इस पर बल देते हैं— *अनाश्रितः कर्मफलं*— जो तुम काम कर रहे हो वह काम ही अपने में पुरस्कार है। उसका कोई उससे अलग फल है, सोचकर उस वक्त तुम आश्रित मत बनो। तुम विवेक के द्वारा, कर्त्तव्यबोध के द्वारा जो कर्म स्वीकार कर रहे हो वह कर्म ही तुम्हारा पुरस्कार है— यह मान कर काम करो। कर्म में ही रमो, कर्म के फल में मत रमो। *अनाश्रितः कर्मफलं*—बुद्धि की शुद्धता पर जोर है। *'कार्यं कर्म करोति यः'।* कर्म चार प्रकार के हैं— नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म और निषिद्ध कर्म। अच्छा! कर्मफल का एक और अर्थ भी है, वह भी मैं बता हूँ। यह जो हमको शरीर मिलता है— यह भी कर्मफल है। और शरीर तीन प्रकार के हैं— एक स्थूल शरीर है, एक सूक्ष्म शरीर है और एक कारण शरीर है। तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण— इन तीनों शरीरों की बाध्यता को अस्वीकार करके जो उचित कर्म है—वह करना चाहिए। शरीर को सुख देने के लिए कर्म नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये तीनों शरीर न अपने हैं, न अपने लिए मिले हैं, न इनका अपने लिए उपयोग होना चाहिए। ये तीनों शरीर प्रभु की इच्छा से कर्मफल के रूप में मिले हैं। लेकिन इनका उपयोग प्रभु की सेवा में, लोकसेवा में, लोकमंगल में होना चाहिए। स्थूल शरीर से प्रत्यक्ष सेवा, सूक्ष्म शरीर से लोगों का हित-चिन्तन; और कारण शरीर से भी लोगों के लिए मंगल-कामना— यह दृष्टि होनी चाहिए। *अनाश्रितः कर्मफलं*— अपने किसी भी शरीर को सुख-सुविधा पहुँचाने के लिए कर्म नहीं कर रहे हैं— यह भी एक दृष्टि है। *'कार्यं कर्म करोति यः'* —जैसा मैंने बताया कि जो नित्य कर्म है, नैमित्तिक कर्म है, काम्य कर्म है और निषिद्ध कर्म है— उसमें जो कार्य कर्म है, करणीय कर्म है वही करना चाहिए, जो अकरणीय है, वह नहीं करना चाहिए। इससे निषिद्ध कर्म अपने-आप छूट गया। चोरी, चमारी, व्याभिचार, धोखा— ये अपने आप छूट गये ये कार्य, कर्म ही

हैं, करणीय कर्म नहीं हैं। यहाँ तक कि काम्य कर्म भी छूट गये क्योंकि काम्य कर्म में फल की आशा है। *अनाश्रितः कर्मफलं* — जहाँ यह कहा, वहाँ न केवल निषिद्ध कर्म छूटा बल्कि काम्य कर्म भी छूट गया। पुत्रेष्टि यज्ञ, राजसूय यज्ञ नहीं करेंगे। क्योंकि उसमें तो पुत्र की प्राप्ति की इच्छा है, कर्म फल पाने की इच्छा। तो *अनाश्रितः कर्मफल* में काम्य कर्म का और *'कार्यं कर्म'* में निषिद्ध कर्म का निषेध हो गया। तो करना क्या है? नित्य-कर्म और नैमित्तिक कर्म करना चाहिए। जिस कर्म को न करने से प्रत्यवाय लगता हो वह जो नित्य नैमित्तिक कर्म है, वह तो करना चाहिए और काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म तो बिलकुल नहीं करने चाहिए; यानी कर्म में जो स्वरूपगत दोष है, उसका निराकरण करने के लिए कहा गया —*'कार्यं कर्म करोति यः'* —करणीय कर्म करना चाहिए, गीता जिस ध्यानयोग की ओर आपको आकृष्ट कर रही है, गीता में जिस कर्मयोग की चर्चा की गयी है, वह केवल लौकिक स्तर पर धर्म नहीं है। लौकिक स्तर के धर्म में जरूर काम्य कर्म भी किया जा सकता है अगर वह निर्दोष है तो। लेकिन यह तो निष्काम कर्मयोग है। सकाम कर्म करने वाला व्यक्ति गीता का निष्काम कर्मयोगी नहीं है। तो यह बात कठिन बात है, बड़ी बात है, ऊँची बात है। इस बड़ी और ऊँची बात को हम कर सकते हैं कि नहीं ? हम जरूर कर सकते हैं। भगवान् ने गीता में बार-बार आश्वासन दिया है कि तुम जरूर कर सकते हो। डरो मत कि यह बड़ी बात कही जा रही है। लक्ष्य बड़ा होना चाहिए और बड़े लक्ष्य को सामने रख कर किया गया कर्म हमको अपने कद से तो ऊपर उठायेगा ही— इसमें संदेह की क्या बात है? इसलिए बुद्धि के दोष का निराकरण कर्मफल का आश्रय त्याग करके और कर्म के स्वरूपगत दोष का निराकरण करणीय कर्म का विधान करके बताया गया है। और इसके बाद कहा गया— *'स संन्यासी च योगी च'* —संन्यासी और योगी की जो परंपरागत परिभाषाएँ हैं— गीता में उनको अमान्य किया गया है। संन्यासी की परंपरागत दृष्टि क्या है? जो भगवा वस्त्र धारण करे, वह *'निरग्नि'* —माने अग्नि का त्याग करे। अग्नि के त्याग में कई अर्थ हैं। इसका एक अर्थ है कि जो वैदिक कर्मकाण्ड का त्याग करता है। वैदिक कर्मकाण्ड में अग्निहोत्र आदि अनिवार्य हैं। जिसने कर्म का त्याग किया, कर्मसंन्यास लिया, उसने कर्मकाण्ड का त्याग किया, वैदिक कर्मकाण्ड छोड़ दिया, निरग्नि हो गया। निरग्नि का दूसरा अर्थ है कि वह अपने लिए भोजन नहीं बनाता। वह भिक्षा माँग कर खाता है और इसलिए अपने लिए अग्नि का उपयोग नहीं करता। निरग्नि का एक तीसरा अर्थ भी है, छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है *योषावाव गौतमाग्निः।* स्त्री को अग्निं कहा गया है। तो निरग्नि का अर्थ हुआ जिसने विवाह नहीं

किया है। जिसने स्त्री-संग को सर्वथा त्याग दिया है। जो निरग्नि होते थे, वे संन्यासी होते थे। गीता उसको नहीं मानती। गीता कहती है कि जो केवल निरग्नि है, यानी जिसने कर्मकाण्ड का त्याग कर दिया है, जिसने अपने लिए भोजन बनाने की व्यवस्था अस्वीकार कर दी है, जिसने विवाह नहीं किया है— वही संन्यासी है? नहीं। *'स संन्यासी च योगी च'* भले ही वह गृहस्थ क्यों न हो, भले ही वह श्वेत वस्त्रधारी क्यों न हो, भले ही वह विवाहित क्यों न हो, अपने लिए घर में अन्न क्यों न पकाता हो, लेकिन अगर वह कर्मफल का आश्रित नहीं है और वह करणीय कर्म करता है तो वह संन्यासी है। वही योगी है। योगी की परंपरागत परिभाषा क्या है? जो योग करे, जटाजूट धारी, भभूत रमाए, अनेक प्रकार के साधन करे, अक्रिय हो समाज के लिए कुछ न करे— गीता इसको नहीं मानती। कर्मत्यागी को और केवल योग-साधना में रत को योगी नहीं मानती। अच्छा! इसमें दो बातें समझनी चाहिए। यह नहीं है कि इसमें परंपरागत संन्यास और परंपरागत योग की निन्दा की गई है। ऐसा नहीं है। परंपरा यह है कि जब जिसकी हम प्रशंसा करते हैं, और उसकी प्रशंसा के स्तर पर अगर किसी को कम बताते हैं, तो उसकी निन्दा अभीष्ट नहीं है। जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं, उसकी प्रशंसा अभीष्ट है। बात समझ में आ रही है कि नहीं? जब हम शिव की वन्दना करते हैं, तो शिव की वन्दना के सामने कहते हैं कि राम, कृष्ण, विष्णु उनके सामने क्या हैं? ब्रह्मा-विष्णु क्या हैं? जब विष्णु की वन्दना करते हैं तो वहाँ कहते हैं शिव-दुर्गा क्या हैं? वहाँ दूसरे देवी-देवताओं की निन्दा अभीष्ट नहीं है। जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं, उसकी प्रशंसा अभीष्ट है। तो एक बात तो यह समझ में आनी चाहिए कि हाँ! परंपरागत अर्थ को स्वीकार न करते हुए भी गीता पारंपरिक दृष्टि से जो संन्यासी हैं, जो योगी हैं उनकी निन्दा नहीं करती। *'न निरग्निर्न चाक्रियः'* —में निन्दा का जो स्वर व्यंजित-सा प्रतीत होता है, वह अभीष्ट नहीं है। अभीष्ट है कि जो कर्मफल का आश्रय त्याग देता है, जो केवल करणीय कर्म करता है, उस कर्मयोगी को संन्यासी कहा गया, उस कर्मयोगी को योगी कहा गया, उसकी महिमा निरूपित की गयी। कर्मयोग की महिमा के निरूपण के लिए कर्मयोगी को एक ही साथ संन्यासी और योगी के समतुल्य बताया गया। कर्मयोग और संन्यास दोनों को समतुल्य कहते हैं और इसके बाद एक अद्‌भुत बात कहते हैं।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। (६/२)

पहले भी कहा है— *एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।* (५/५) उस बात की पुनः पुष्टि है। जिसको संन्यास कहा जाता है, उसी को योग भी कहा जाता है।

यहाँ भी योग कर्मयोग ही है। पहला श्लोक भी कर्मयोग के पक्ष में है। यह दूसरी बात भी। *एकं सांख्यं* में वहाँ भी ज्ञान और कर्म को एक बताया गया था। ऐसा क्यों कहा जाता है। आप इस पर ध्यान दीजिए। जब कहा गया कि शिवाजी महाराज तो शेर के समान थे। तो शिवाजी अलग हैं। शेर अलग है। शिवाजी महाराज शेर के समान कैसे थे? लक्षणा से यह बात सिद्ध हुई कि शेर जैसा निर्भीक, जैसा तेजस्वी होता है *'स्वयमेव मृगेन्द्रता'*—किसी को उसका अभिषेक करने की आवश्यकता नहीं, वह अपनी मृगेन्द्रता स्वयं साबित करता है। वैसे ही शिवाजी महाराज बलिष्ठ थे, आक्रामक थे, योद्धा थे, विजयी थे। इसलिए समता क्या है? उस तेजस्विता की, बल की, क्षमता की समता है। इसी तरह जब कहा गया कि संन्यास और योग एक ही हैं, तो संन्यास और योग हैं तो दो चीजें , दोनों चीजों को एक बताया जा रहा है, इस विशेष दृष्टि से कि दोनों में कोई मूलभूत समता है। जैसे शिवाजी को शेर बताया गया तो शिवाजी और शेर की समता है; उनका साहस, उनकी वीरता, उनकी स्वयमेव मृगेन्द्रता वैसे ही संन्यास और योग का समान तत्त्व क्या है? समान तत्त्व है—*'न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन'*—बिना संकल्प का संन्यास लिए, कोई भी व्यक्ति (कश्चन) योगी नहीं हो सकता। योगी होने के लिए, संन्यासी होने के लिए समान तत्त्व क्या है? योगी और संन्यासी इन दोनों का समान तत्त्व है—संकल्प संन्यास। संकल्प किसको कहते हैं? संकल्प कहते हैं, सम्यक् कल्पना को। जब किसी वस्तु या स्थिति या व्यक्ति में सम्यक्ता का हम आरोपण करते हैं—यह बहुत अच्छा है, श्रेष्ठ है, योग्य है—तो फिर उस सम्यक्ता के आरोपण से यह बात आती है कि वह हमको मिलना चाहिए, हमको ऐसा होना चाहिए। अगर हम रुपये पैसे में, मकान में, मोटर-गाड़ी में, जेवर में, मंत्री पद में, एम.एल.ए. में, एम.पी. में ऐसे किसी पद में अगर सम्यक्ता की कल्पना का आरोपण करते हैं, तो फिर हमारी कामना का वह बीज बनता है। *'संकल्पप्रभवः कामः'*—सारे काम, सारी कामनाओं का बीज क्या है? संकल्प। बहुत चुनौती के साथ कहा गया—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायते।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति।।

काम! तू मेरे ऊपर आक्रमण मत कर। मैं तेरे मूल को जानता हूँ। तू मेरे ऊपर हावी नहीं हो सकता। *'संकल्पात् किल जायते'* — हे काम! तू संकल्प से उत्पन्न होता है। *'न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति'* —मैं किसी में भी सम्यक्ता की कल्पना का आरोप नहीं करूँगा। इसलिए तू भी नहीं होगा। काम तभी होगा, किसी स्त्री को कोई पुरुष बहुत अच्छा लगता है, तो उसके प्रति मन में काम जागता है। जब कोई

स्त्री बहुत अच्छी लगने लगती है, तो उसके प्रति पुरुष के मन में काम जागता है। जब कोई वस्तु, कोई स्थिति बहुत अच्छी लगने लगती है, तो उसको पाने की, वैसा बनने की इच्छा होने लगती है। सम्यक्ता किसी जड़, वस्तु में नहीं है, सम्यक्ता अनात्मा में नहीं है, जड़ में नहीं है। मूलभूत बात यही है। सम्यक्ता सिर्फ परमात्मा में है, सम्यक्ता सिर्फ चैतन्य में है। जड़ में जो सम्यक्ता की कल्पना करता है, वह फँस जाता है। वह बँध जाता है। यह शरीर जड़ है। यह तमाम रुपये-पैसे, मोटर-गाड़ी, हीरे-जवाहरात—ये सब जड़ हैं। ये तमाम तथाकथित ऊँची-ऊँची पदवियाँ—ये सब जड़ हैं। इनमें सम्यक्ता का आरोप किया नहीं कि फँसे नहीं। सम्यक् कल्पना। इनके बारे में अगर हमारे मन में रमणीयता का बोध आ गया तो दूसरा ही कदम है—वह हमको प्राप्त होना चाहिए और काम मन में आया। तो फिर पाप होगा क्योंकि तृतीय अध्याय में यह प्रकरण बहुत अच्छी तरह से बताया गया है। जब अर्जुन ने पूछा कि इच्छा न रहते हुए भी किसके द्वारा प्रेरित हो कर मनुष्य पाप करता है। तब प्रभु ने स्पष्ट उत्तर दिया था, *काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।* समस्त पापों की जड़ में काम है। काम जब पूर्ण होता है तो लोभ बनता है। *'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'* —काम जब खण्डित होता है, तो खण्डित करने वाला अगर हमारे बराबर या हमसे कमजोर है तो उस पर क्रोध आता है और अगर वह हमसे शक्तिशाली है तो भय आता है। तो पाप की ओर हमको खींच कर ले जाने वाली वृत्ति काम है; और काम का जन्म होता है किसी वस्तु-व्यक्ति-स्थिति में सम्यक्ता की कल्पना से उसे पाने के संकल्प से।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन —जब तक तुम्हारे मन में भगवान् को छोड़कर कुछ और पाने की इच्छा है आत्मस्वरूप को छोड़ कर— शुद्ध चैतन्य को छोड़ कर, अगर किसी और में तुम सम्यक्ता की कल्पना करते हो, तो तुम योगी कहलाने लायक नहीं हो। योगी होने का जो आधारभूत सिद्धान्त है, वह यह है कि तुमको जड़ वस्तुओं के लिए सर्व संकल्प संन्यासी होना होगा। सम्पूर्ण संकल्पों, संकल्प का मतलब यहाँ है, सम्यक्ता की कल्पना— का त्याग किए बिना कोई योगी नहीं हो सकता। इसलिए संन्यास और योग—इन दोनों को किस आधार पर एक कहा गया? संकल्प त्याग के आधार पर एक कहा गया। संन्यासी को भी संकल्प का त्याग करना पड़ता है। कर्मयोगी को भी संकल्प का त्याग करना पड़ता है। ध्यानयोगी को भी संकल्प का त्याग करना पड़ता है। एक बहुत बढ़िया श्लोक है—

ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छृणोतिमाम्
असंकल्पः परम श्रेयः स कथं नैव सेव्यते।

अरे! मैं हाथ उठा-उठा कर चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हूँ, कोई मेरी बात नहीं सुनता कि *'असंकल्पः परम श्रेयः'* असंकल्प— किसी जड़ वस्तु, पद आदि को प्राप्त करने का संकल्प न करना ही परम श्रेयस्कर है, और किसी भी वस्तु के प्रति, व्यक्ति के प्रति, स्थिति के प्रति सम्यक्ता की कल्पना कर लेना ही अकल्याण है। यह जो सर्व संकल्प संन्यास, संकल्पों का संन्यास कर देना, त्याग कर देना यह योगी और संन्यासी का उभयनिष्ठ गुण हैं। दोनों में ये गुण उपस्थित हैं। इसलिए संन्यासी और योगी को एक कहा गया।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। (६/३)

आरुरुक्षोः —योग में अरूढ़ होने की इच्छा रखने वाले का। अभी योगी नहीं हुआ है, लेकिन चाहता है कि वह योगी बने। *'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'*— वह कैसे योगी बने? उसका साधन क्या हो? उसका कारण क्या हो? जो योगारूढ़ होने का इच्छुक है, जो योगलाभेच्छु हैं, योग को प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए साधन तो कर्म ही है। क्यों कर्म साधन है? क्योंकि कर्म करते समय प्रमाणित होगा कि उसमें फलाशा है कि नहीं? कर्म करते समय प्रमाणित होगा कि उसमें संकल्प है कि नहीं। कर्म वह कितनी निष्ठा के साथ, समर्पण बुद्धि के साथ, कर्त्तव्य-बोध के साथ कर रहा है यह जाँच, यह पड़ताल तभी होगी जब वह कर्म करेगा। जब तक कर्म नहीं करेगा, तब तक उसकी चित्त-शुद्धि भी नहीं होगी। *'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्म शुद्धये'* —योगी कर्म करते हैं। क्यों करते हैं? कैसे करते हैं? संगं त्यक्त्वा— आसक्ति को छोड़ कर। किसलिए करते हैं? आत्मशुद्धये—चित्त की शुद्धि के लिए। जब तक चित्त अशुद्ध है, तब तक संकल्प होता रहेगा। तब तक यह अच्छा लग रहा है, वह अच्छा लग रहा है, यह मिल जाए, वह मिल जाए, ये वृत्तियाँ मन में आती रहेंगी। चित्त की अशुद्धि क्या है? चित्त में काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर आदि का आना चित्त को अशुद्ध बनाता है। तो चित्त में इन षड्रिपुओं का आविर्भाव या पंचक्लेशों— अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश का आविर्भाव— चित्त को अशुद्ध बनाता है। अशुद्ध चित्त अनेक प्रकार की रमणीयता का, सम्यक्ता का आरोप अन्यों पर करता है। अतः चित्त की शुद्धि के लिए कर्म करना आवश्यक है। कर्म की कसौटी पर तुम्हारा जीवन खरा उतरे—

तुम बढ़ो, तुम्हारे बढ़ने में नूतन उत्साह भरा हो।
सोने-सा जीवन कर्म-कसौटी पर देदीप्त खरा हो।।

तुम बढ़ो आगे। गीता आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। कर्म की कसौटी पर ही तुम्हारे चित्त की शुद्धता का स्वर्ण परीक्षित हो सकता है। सोने-सा जीवन कर्म-कसौटी पर देदीप्त खरा हो। तुम्हारा जीवन शुद्ध स्वर्ण है कि नहीं? उसमें खाद तो नहीं मिली हुई है? खाद होगी तो निष्काम कर्म से जल जाएगी, शुद्ध स्वर्ण हो जायेगा तुम्हारा जीवन। जो योगारूढ़ होने के इच्छुक हैं उनके साधन के रूप में कर्म है और उनका यह साधन रूपी कर्म जैसे-जैसे शुद्ध होगा, वैसे-वैसे कर्म की प्रभविष्णुता बढ़ेगी। शुद्ध चित्त से किया गया कर्म अनायास सफल होता है। अशुद्ध चित्त से किए गए कर्म में बार-बार बाधाएँ, बार-बार विघ्न आते हैं। चित्त की शुद्धि होनी चाहिए और चित्त की शुद्धि के लिए गीता कर्म की कसौटी निर्धारित करती है इसलिए जो योग पर आरूढ़ होना चाहते हैं, योग के पथ पर आरोहण करना चाहते हैं उनके लिए साधन कर्म है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

कुछ लोगों ने कहा है कि बाद में, भविष्य में मुनि हो जाएगा, इसलिए पहले ही कह दिया। मैं मुनि का सीधा अर्थ लेता हूँ मननशील।

योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।

इस पंक्ति को लेकर बहुत विवाद है। शंकराचार्य जी ने कहा है कि यह सब अर्थवाद के अन्तर्गत कर्मयोग की प्रशंसा कर रहे हैं प्रभु। शांकर मत में सिद्ध पुरुष को कर्मत्याग करना चाहिए। कर्म को वे निरपेक्ष साधन नहीं मानते हैं प्रभु की प्राप्ति का, आत्म-साक्षात्कार का। शांकर मत में कर्म केवल चित्त-शुद्धि का साधन है; लेकिन वे इसको दूसरी सीमा तक ले जाते हैं कि ज्ञान हो जाने के बाद कर्म त्याग कर देना चाहिए। अब इसी श्लोक में आप दोनों मतों को देखिए— *आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।*

शांकर अद्वैत का मत है कि जब तक व्यक्ति साधक स्थिति में है, तब तक उसको चित्तशुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए। योगारूढ़ हो जाने के बाद उसका साधन कर्म नहीं शम होगा। और शम का अर्थ उन्होंने लिया है उपशम और उपशम का अर्थ हुआ कर्मत्याग। शांकर मत में कहा गया है कि योगारूढ़ हो जाने के बाद शम साधन होता है। कर्मों का त्याग करके वह परब्रह्म को या परिपक्व ज्ञान को प्राप्त करता है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं और इनका आंशिक समर्थन योगिराज अरविन्द घोष भी करते हैं कि जो योगारूढ़ हो गए हैं, उनके लिए शम ही कारण है। कारण मतलब साधन। किस चीज का साधन? और शम मतलब उपशम क्यों होना चाहिए? लोकमान्य तिलक बहस करते हैं कि गीता में और भी दो जगहों पर शम शब्द आया है। वहाँ उसका मतलब है मानसिक शान्ति।

दसवें अध्याय के चौथे श्लोक में *'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमासत्यं दमः शमः'* शमः शब्द का अर्थ मानसिक शान्ति ही है। इसी तरह अट्ठारहवें अध्याय के बयालीसवें श्लोक में ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म का निरूपण किया गया है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।

स्वाभाविक ब्राह्मण कर्म के अन्तर्गत आये शम का मतलब भी शान्ति है। तो यहाँ भी उसका मतलब मन की शान्ति होना चाहिए; कर्म उपशम नहीं। और फिर वे तर्क करते हैं कि अगर योगारूढ़ व्यक्ति के लिए शम यानी मन की शान्ति कारण यानी साधन है, तो वह किस चीज का साधन है? जो शांकरअद्वैती हैं— मधुसूदन सरस्वती और दूसरे— वे कहते हैं कि वह परिपक्व ज्ञान का साधन है। शान्ति परिपक्व ज्ञान का साधन बनेगी, और उस शान्ति से या कर्म के उपशम से परिपक्व ज्ञान प्राप्त होने के बाद, आत्मसाक्षात्कार होगा तो वह ब्रह्मसाक्षात्कार का क्रमिक परंपरया साधन है। लोकमान्य तिलक बताना चाहते हैं कि नहीं, यहाँ अन्योन्यालंकार है। अन्योन्यालंकार कैसे है? क्योंकि पहली पंक्ति में बताया गया है कि योगारूढ़ होना चाहने वालों के लिए शम का साधन है कर्म। *'कर्म कारणमुच्यते'* —कर्म किसका साधन है? किसका कारण है योगारूढ़ होने का। योगारूढ़ होकर क्या होगा? शम होगा। तो कर्म जो है, वह शम का साधन बनता है। जो योगारूढ़ होने के इच्छुक हैं, उन्हें योगारूढ़ होने के बाद क्या होना चाहिए? तिलक कहते हैं कि योगारूढ़ होने के बाद शम साधन बनता है। किस चीज का साधन बनता है? कर्म का साधन बनता है। कैसा कर्म? योगारूढ़ का शान्तिपूर्वक किया गया कर्म दिव्य कर्म है। उस दिव्य कर्म का साधन शम बनता है। आखिर भागवत कर्म कैसे होते हैं? भगवान कर्म कैसे करते हैं? भगवान को कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है, फिर भी वे कर्म करते हैं। वे कहते हैं *'यदि ह्यहं न वर्तेयं'* अगर मैं नहीं बरतूँगा तो सारी सृष्टि उच्छिन्न हो जाएगी। तो जैसे भगवान कुछ प्राप्त करने के लिए काम नहीं करते, वैसे ही दैवी कर्म की, दिव्य कर्म करने की क्षमता, योगारूढ़ व्यक्ति में आएगी अगर वह शम के साथ कर्म करेगा। योगारूढ़ व्यक्ति जब शमपूर्वक मानसिक शान्ति के साथ लोकमंगल के लिए, लोकसंग्रह के लिए कर्म करेगा तो उसका कर्म दैवी कर्म होगा। जैसे अवतारी पुरुषों का कर्म होता है, वैसा कर्म होगा। उस कर्म की महिमा इसी से समझी जा सकती है कि इस श्लोक में वे अन्योन्यालंकार मानते हैं कि योग की इच्छा रखने वालों के लिए शम की प्राप्ति का साधन कर्म है। और योगारूढ़ हो जाने पर शम साधन बनता है। *तस्यैव*—तस्य का मतलब वे कर्म से लेते

हैं। अब ये अतिवादी दृष्टियाँ हैं। योगारूढ़ हो जाने के बाद कोई कर्म करना चाहता है कि नहीं—यह उसकी प्रवृत्ति पर, रुचि पर छोड़ देना चाहिए। शंकराचार्य की तरह यह सैद्धान्तिक आग्रह नहीं करना चाहिए कि योगारूढ़ व्यक्ति को कर्म करना ही नहीं चाहिए। आदि शंकराचार्य तो योगारूढ़ व्यक्ति थे। योगारूढ़ होते हुए उन्होंने कर्म किया कि नहीं किया? शंकराचार्य जैसा कर्म किसने किया? भारत के चारों कोनों पर चार पीठ बनाए। आज तक भारतवर्ष उससे एक है। इतने भाष्य लिखे। तो उनके समान कर्म किसने किया? तो जिस तरह से योगारूढ़ होते हुए भी शंकराचार्य जी ने कर्म किया वैसे योगारूढ़ होने के बाद कोई कर्म करेगा कि नहीं करेगा—इसकी न तो बाध्यता है न इसका निर्देश है। मेरे गुरुजी कहते थे कि यदि सीढ़ी चढ़कर छत पर जाना है तो जिससे नहीं चढ़ा जाता, हाथ में डंडा है। डंडा टेकता-टेकता चढ़ जाता है। छत पर जाने के बाद फिर डंडा किस काम का? वह डंडा फेंक भी सकता है। वह डंडा रख भी सकता है? दूसरे की सहायता के लिए। कोई दूसरा चढ़ना चाहे, तो उसको दिखाए कि इस तरह से चढ़ना चाहिए। उसके लिए वह डंडा रख भी सकता है और चाहे तो फेंक भी सकता है। योगारूढ़ व्यक्ति शम प्राप्ति के बाद—शम को साधन बनाता है। किसका साधन? ज्ञानमार्गियों की दृष्टि से शम साधन है, परिपक्व ज्ञानावस्था का, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तिलक जी यानी कर्ममार्गियों की दृष्टि से योग पर आरूढ़ होने वाले इच्छुक व्यक्तियों के लिए जैसे कर्म साधन है शम का वैसे ही योगारूढ़ व्यक्तियों के लिए शम साधन है कर्म का। यद्यपि उनका कर्म दैवी कर्म है। यद्यपि उनका कर्म अवतार के कर्म की तरह है; वह अवतारों के कर्म से, परमात्मा के कर्म से तुलनीय है, लेकिन उनकी दृष्टि है कि शम साधन है कर्म का।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते।। (६/४)

यदा हि जोननेन्द्रियार्थेषु— जो न इन्द्रियों के विषयों में, *'न कर्मस्वनुषज्जते'* —-और न कर्मों में, आसक्त होता है वह सम्पूर्ण संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है। जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता—वही जितेन्द्रिय है। जितेन्द्रिय की परिभाषा की गई है।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च घ्रात्वा भुक्त्वा च यो नरः।
योन दृष्यति ग्लायति स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

उस व्यक्ति को जितेन्द्रिय मानना चाहिए जो श्रुत्वा—कुछ भी सुन कर, स्पृष्ट्वा-—किसी को भी छू कर, दृष्ट्वा—किसी को भी देखकर, भुक्त्वा–कुछ भी खाकर,

घ्रात्वा–कुछ भी सूँघकर, न तो प्रसन्न होता है न ग्लानि का अनुभव करता है। अगर कुछ सुनकर, कुछ छू कर, कुछ देख कर, कुछ खा कर तुम प्रसन्न होते हो तो तुम उस पर आकृष्ट हो जाओगे। तुममें राग उत्पन्न होगा उन विषयों के प्रति। अगर कुछ खाकर, कुछ छू कर, कुछ देख कर, सुन कर तुम्हारे मन में क्षोभ उत्पन्न होता है क्रोध होता है, तो तुम्हारे मन में द्वेष उत्पन्न हो जाएगा उन विषयों के प्रति। तुम्हारे मन में यदि राग-द्वेष इन्द्रियों के विषयों के प्रति उत्पन्न होता है तो तुम जितेन्द्रिय नहीं हो। जितेन्द्रिय का लक्षण यह है कि तुम खाओ। मीठा है, स्वादु है इसका अनुभव हो—उसके लिए अतिरिक्त प्रसन्नता की आवश्यकता नहीं। कड़वा है, तीता है—इसका अनुभव हो लेकिन उसके लिए ग्लानि की आवश्यकता नहीं है। रूप सुन्दर है—इसका बोध हो, आकर्षण की आवश्यकता नहीं। कुरूप है, इसका बोध हो, उससे विकर्षण की आवश्यकता नहीं। जैसे भगवान का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने कहा—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।।

हमको चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त होगा— यह सुनकर जिस रामजी के मुखकमल पर अतिरिक्त प्रसन्नता नहीं झलकती, चौदह वर्षों के लिए वनवास करना होगा—यह जान कर जिनके मुख पर दुःख की छाया नहीं आई, खिले हुए कमल के समान जैसे पहले मुखशोभा थी वैसे ही बाद में भी रही। प्रभु की वह मुखशोभा हमारे लिए मंगलप्रद हो। यह जितेन्द्रियता है। जब कुछ पाकर, कुछ खोकर, कुछ देखकर, कुछ सुन कर न तो उसकी प्रियता का, न अप्रियता का प्रभाव—हमारे मन में हर्ष या ग्लानि के रूप में, राग या द्वेष के रूप में प्रकट हो तब व्यक्ति जितेन्द्रिय होता है। कितनी कठिन बात है। हमलोग कहाँ हैं, किस स्तर पर हैं इसकी जाँच करते रहें। हमलोग कभी-कभी अपने को भूल से, भ्रम से, अहंकार से जितेन्द्रिय मान बैठते हैं। यहाँ कसौटी दे दी गई है। यदि उस पर हम खरे उतरते हैं तो हम जितेन्द्रिय हैं, यदि नहीं उतरते तो जितेन्द्रिय होने के लिए हमें अभी और साधना करनी होगी। *न कर्मस्वनुषज्जते* —अर्थात् जो कर्मों में आसक्त नहीं होता, मैं यही काम करूँगा। यही काम क्यों करोगे भाई? जो काम रामजी देंगे, हम वही करेंगे। रामजी काम कराएँगे, हम करेंगे। रामजी काम छुड़ाएँगे, छोड़ देंगे। यही करूँगा, काम करूँगा ही—यह सब आसक्ति का विषय है। *'न कर्मस्वनुषज्जते'* —मेरे गुरुजी कहते थे कि कर्म में चार प्रकार की आसक्तियाँ होती हैं— कर्तृत्वासक्ति, अकर्तृत्वासक्ति, फलासक्ति और कर्मासक्ति। यही करूँगा, कर्त्ता रहूँगा तभी करूँगा। फल मिलेगा, तभी करूँगा। नहीं तो कुछ भी नहीं करूँगा। ऐसी कोई आसक्ति नहीं होनी

चाहिए। *'सर्वसंकल्प संन्यासी'*— अपनी तरफ से सम्यक्ता की कल्पना कर, रमणीयता का आरोप करके कुछ प्राप्त करने की फलाशा, फल की इच्छा जिसने त्याग दी है, वह योगारूढ़ होता है। योगारूढ़ होना कितना कठिन है— इसको समझिए। योगारूढ़ व्यक्ति कौन है? जिसने इन्द्रियों के विषयों में, कर्मों में, आसक्ति का त्याग कर दिया है, जिसने पृथ्वी के किसी भी व्यक्ति, वस्तु स्थिति, पद पर सम्यक् कल्पना का आरोपण करके, रमणीयत्व का आरोप करके उसको प्रिय मानना छोड़ दिया है— वह योगारूढ़ है। ऐसे योगारूढ़ हम-आप हो सकते हैं? भगवान गीता में कहते हैं—जरूर हो सकते हैं। एक बात गाँठ बाँध लीजिए। गीता प्रारब्ध का ग्रन्थ नहीं है, गीता पौरुष का ग्रंथ है। गीता में भगवान ने कहा— *'पौरुषं नृषु'* —मनुष्यों में मैं पौरुष हूँ। भगवान ने जब अपना रूप बताया मैं कहाँ-कहाँ, क्या-क्या हूँ? वहाँ गीता में भगवान कहते हैं —*'पौरुषं नृषु'* मनुष्यों में मैं पौरुष हूँ। भगवान आत्म-स्वातंत्र्य का समर्थन करते हैं; और अगले दोनों श्लोक पौरुष के, प्रयत्न के, महत्त्व का निरूपण करने वाले श्लोक हैं। अगले दोनों श्लोक आत्म-स्वातंत्र्य के प्रतिपादक श्लोक हैं। अगले दोनों श्लोक हमको-आपको चुनौती दे रहे हैं, आह्वान दे रहे हैं कि आओ! इस कठिन पथ पर चलने की हिम्मत हो तो आओ, अपना उद्धार करो।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। (६/५-६)

भगवान कह रहे हैं— अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए। अपने द्वारा अपना अवसादन-पतन नहीं करना चाहिए। अपना आप ही अपना बन्धु है, अपना आप ही अपना शत्रु है। वह अपना बन्धु है जिसने अपने आपको अपने द्वारा जीत लिया है। जिसने अपने आपको जीता नहीं है, वह अपना शत्रु है। प्रभु ने यहाँ बार-बार आत्म शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृत में आत्मा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। देह को भी आत्मा कहते हैं। बल्कि सबसे बड़ा कष्ट ही यही है कि हमको देहात्म-बोध है। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि भिन्नता का बोध, भेद का अनुभव क्यों होता है? भेद का अनुभव देहात्मबोध के कारण होता है। मैं विष्णुकांत शास्त्री हूँ। मैं विष्णुकांत शास्त्री—इस नाम रूप वाला व्यक्ति हूँ। इसी शरीर, इसी इन्द्रिय-मन-बुद्धि की समष्टि में मैंने अपने आप को समेट रखा है। इस दृष्टि से जब हम देखते हैं तो 'आत्मा' शब्द शरीर के लिए आता है। इन्द्रियों के लिए भी 'आत्मा' का प्रयोग होता है। मन के लिए

भी, बुद्धि के लिए भी 'आत्मा' का प्रयोग होता है; और शुद्ध आत्मा के लिए भी 'आत्मा' का प्रयोग होता है। कठोपनिषद् में एक बढ़िया मंत्र है। उसमें कहा गया है कि जो प्राज्ञ व्यक्ति है, उसको वाणी को मन में विलीन करना चाहिए। मन को चेतन आत्मा में विलीन करना चाहिए। चेतन आत्मा को महत् आत्मा में विलीन करना चाहिए और महत् आत्मा को शांत आत्मा में विलीन करना चाहिए। तीन बार आत्मा शब्द आया है। वहाँ जिसको चेतन आत्मा कहा गया है, वह बुद्धि है। और जिसको महत् आत्मा कहा गया है, वह महत् तत्त्व है। और फिर शुद्ध, शांत आत्मा जिसको कहा गया है वह प्रकृत आत्मा है। यहाँ जो बार-बार आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है, उसमें एक शब्द है आत्मा—विवेकयुक्त मन। और दूसरा आत्मा है अपना देह—देहात्मबोध। देखो! अपने ही मन में कई हिस्से हो जाते हैं। अपने मन का एक हिस्सा भगवान् की ओर जाना चाहता है। अपने मन का एक हिस्सा ऊपर उठना चाहता है, त्याग करना चाहता है, तपस्या करना चाहता है। अपने ही मन का एक हिस्सा भोग करना चाहता है, संग्रह करना चाहता है, प्राप्त करना चाहता है। अपना ही मन विभक्त होता है और विभक्त होकर वह दो दिशाओं में जाता है। भगवान यहाँ गीता में कह रहे हैं *'उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्'* आत्मना—यहाँ आत्मना का अर्थ होता है विवेकयुक्त मन। आचार्यों ने अनेक अर्थ बताए हैं। किसी ने अन्तःकरण बताया है, किसी ने बुद्धि, किसी ने अपना आपा बताया है। मुझे रामानुजाचार्य की बात उचित लगी। उन्होंने यहां आत्मा का अर्थ बताया है विवेक। आप जोड़ लीजिए इसमें, इसे विवेकयुक्त मन कर लीजिए। विवेकयुक्त मन से अपना उद्धार करो। उद्धार शब्द दो तरह से बनता है। उत् उपसर्ग जब हृ धातु में लगता है तो उद्धरति बनता है। हम किसी दूसरे के हाथ में फँस गए हैं, उससे छीन लो अपने आप को। हम प्रकृति के हाथ में, माया के हाथ में फँस गए हैं। तो उत् में हृ-हरति वाला जब होगा तब उसका अर्थ होगा कि हम जो माया के जाल में फँसे हुए हैं, माया के हाथ से अपने को छीन लें। कैसे छीन लें? विवेकयुक्त मन से माया के हाथ से अपने को छीन लें। उत् उपसर्ग में जब धृ धातु लगती है तो भी उद्धार बनता है। उसका मतलब है कि ऊपर धारण करो। अभी तुमने अपने को गिरा दिया है। तुम शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप हो। तुमने अपने को मांस-मज्जा-रक्त-हड्डी-मल-मूत्र-बिष्ठा के इस थैले से एक कर दिया है। छिः - छिः! तुमने अपने को गिरा दिया है? तुम अपने को उस पतित अवस्था से ऊपर उठा लो। उद्धरेत शब्द की दो व्याख्याएँ हैं। एक है, तुम दूसरे के हाथ में फँस गए हो— माया के हाथ में फँस गए हो। उससे अपने को छीन लो। हरति-हरतः-हरन्ति-उत् हर-उद्धर और तुम नीचे गिर गए हो। तुम शुद्ध-बुद्ध-

चैतन्य स्वरूप हो। तुम इतने नीचे गिर गए हो? तुम उस स्थिति से अपने को ऊपर ले जाओ। उद्धार करो, ऊपर उठाओ। *'उद्धरेत् आत्मना आत्मानं*—आत्मना माने? विवेकयुक्त मन से तुम अपने देहात्मबोध को जो प्रकृति के हाथ में या नीचे जड़ में फँस गया है, उसको ऊपर उठाओ। *'नात्मानमवसादयेत'* —अपने को अवसन्न मत करो। अवसादग्रस्त मत करो। अपने को अल्पज्ञ मत मानो। अपने को दुर्बल मत मानो। अपने को असहाय मत मानो। जब तुम अपने को अल्पज्ञ, असहाय, दुर्बल, पापी मानते हो तो तुम अपना अपमान करते हो। तुम अपने को गिराते हो। मत गिराओ अपने को। *'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः'* —विवेकयुक्त मन ही अपना बन्धु है। क्योंकि विवेक-युक्त मन हमारे इस शरीर को भी शुद्ध-चैतन्य की ओर प्रेरित करेगा। *'आत्मैव रिपुरात्मनः'* —और अपना दुष्ट आपा ही, अविवेकयुक्त मन, भोगासक्त मन ही अपना शत्रु है। इसको उपनिषद् में साफ-साफ कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः।।

अपना मन ही अपने बन्धन का कारण है। अपना मन ही अपने मोक्ष का कारण है। मन जब बन्धन का कारण होता है, तो शत्रु होता है। मन जब मोक्ष का कारण होता है, तो अपना मन ही अपना सबसे बड़ा मित्र होता है। कौन-सा मन शत्रु है? *'बन्धाय विषयासंगि'* —विषय में आसक्त जो मन है, वह शत्रु है। वह बन्धन की ओर ले जाता है। *'मुक्त्यै निर्विषयं मनः'* —जब निर्विषय मन होता है, जब विषयातीत मन होता है, जब मन विषय का त्याग करता है तो वह मुक्ति की ओर ले जाता है। किधर तुम्हारा मन जा रहा है? भोग की ओर, लालसा की ओर? जड़ की ओर? तो याद रखो, *'बन्धाय विषयासंगि'* —जब तुम्हारा मन विषय के प्रति आसक्त होगा तब तुमको बन्धन में डालेगा। तब तुम्हारा मन तुम्हारा शत्रु है। *'मुक्त्यै निर्विषयं मनः'* —जब तुम्हारा मन विषय-रहित होगा, विषयातीत होगा, विषय से ऊपर उठेगा, तब वह मन शुद्ध है, तुम्हारा वह मन तुम्हारा मित्र है, वह तुमको भगवान से मिलाएगा। *मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।* मन ही मनुष्यों के बन्धन का कारण है। उस स्थिति में मन ही हमारा शत्रु है। मन ही मोक्ष का कारण है तब मन ही हमारा मित्र है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। जिसने अपने आप को यानी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को जीत लिया है *'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य'* —उसका विवेकयुक्त मन उसका बन्धु है, जिसने अपने को जीता है। यहाँ किसने, किसको जीता है? अपने शरीर को जीता है, अपनी इन्द्रियों को जीता है, अपने मन को जीता है, अपनी बुद्धि को जीता

है। ध्यानयोग के द्वारा यह सब संभव होगा। ये ध्यानयोग की भूमिकाएँ हैं। शरीर को कैसे जीतते हैं? योगासन के द्वारा। सुखासन में बैठकर, मेरुदंड सीधा करके आप बैठे हुए हैं एक घंटा। शरीर आपका आदेश पालन करेगा। आपने देखा होगा बहुतों को बैठे-बैठे वे पाँव हिलाते रहते हैं। अकारण। बहुत से लोग घास छीलते रहते हैं—अकारण। उनका उनके शरीर पर कोई नियंत्रण नहीं है। मन बार-बार बुरी कल्पना करता है। इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाती हैं। जीभ से लार टपकती है, कोई सुस्वादु भोजन देखते ही। इन्द्रियों पर वश नहीं है, मन पर वश नहीं है। मन को शुद्ध रखना चाहिए। यह जो मन को शुद्ध रखने की प्रक्रिया है, यह तभी संभव होगी जब मन हमारे अधीन होगा। इस ध्यानयोग में आगे बताया जाएगा आसनों के द्वारा शरीर पर नियंत्रण, प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास पर नियंत्रण। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण कैसे किया जाता है। प्रत्याहार मतलब? आदेश दिया कि नहीं देखेंगे। तो आँख नहीं देखेगी। नहीं सुनेंगे, तो कान नहीं सुनेगा। स्वाद नहीं लेंगे, रसना स्वाद नहीं लेगी। विषयों से इन्द्रियों को खींच लेना प्रत्याहार है। धारणा-ध्यान और समाधि के द्वारा मन को, बुद्धि को एक ही जगह निविष्ट कर देना, केन्द्रित कर देना अर्थात् क्रमशः समाधि प्राप्त कर लेना है। तो यह जो, जिसने विवेकयुक्त मन से अपनी देह को, अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को, अपनी बुद्धि को जीत लिया है उसका मन, उसका मित्र है। और जो उनसे जीत लिया गया है?

दिल जो कहेगा मानेंगे, दुनिया में हमारा दिल ही तो है— तो गड्ढे में पड़ोगे! तुम्हारा दिल तो वही कहेगा जो नहीं करना चाहिए। तुम मन के वश में हो कि मन तुम्हारे वश में है? सवाल यह है। जो मन के वश में है उसका पतन होगा। इन्द्रिय-मन-बुद्धि का रास्ता पतन का रास्ता है। इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर जाएँगी, मन उनका आसक्त होगा। अगर बुद्धि मन का समर्थन करेगी तो सर्वनाश होगा। बुद्धि-मन-इन्द्रिय का रास्ता उत्थान का रास्ता है। शुद्ध-बुद्धि से, विवेक से हमने निर्णय किया कि यह करना है। चाहे उसमें जितना कष्ट हो, जितना त्याग करना हो हम उस कर्त्तव्य का पालन करेंगे। मन उसमें लगेगा, इन्द्रियाँ उसमें लगेंगी, तुम ऊपर उठोगे। तो जिसने अपने मन से अपने शरीर को, अपनी इन्द्रियों को जीता है; उसकी आत्मा, उसका विवेकयुक्त मन उसका बन्धु है।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।

और जो अनात्मा है, जिसने अपनी आत्मा, अपने मन को जीता नहीं, उसका मन उसका शत्रु है। देखो! भगवान ने तुम्हारे ऊपर छोड़ दिया है कि क्या चाहिए

तुमको? भगवान् ने तुमको चुनौती दी है। भगवान् ने कहा है कि अगर तुममें ताकत है तो अपनी इन्द्रियों पर, अपने मन पर, अपनी बुद्धि पर नियंत्रण करो। अपने मन को बन्धु बनाओ, अपने मन को जीतो।

मन के हारे हार है मन के जीते जीत।

यहाँ जब हम मन कहते हैं तो पूरी अन्तरात्मा इसका अर्थ होता है। वेदान्त में मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार—अन्तःकरण के ये चार भेद किए गए हैं। संकल्प-विकल्प करना मन का, निर्णय करना बुद्धि का, समस्त अनुभवों को संचित रखना चित्त का; और दूसरों से अपने को पृथक् अनुभव करना अहंकार का काम है। यह भी समझ में आना चाहिए कि यह जो क्षुद्र अहंकार है—यही हमको नीचे गिराता है। हमको गिराने का मूल कारण हमारा क्षुद्र अहंकार है। प्रकृति के शासन के भीतर जो हमारा अहंकार है, वह हमको नीचे गिराएगा। वह हमको छोटा बनाएगा, वह हमको सीमित बनाएगा। वह हमको विषयों की तरफ खींच कर ले जाएगा। हम अपने अहं को किससे-किससे सीमित करते हैं? जब हम कहते हैं मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ— यहाँ मैं शरीर से सीमित हो गया। मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ— यहाँ मैं मन से जुड़ गया। मैं बुद्धिमान हूँ, मैं मूर्ख हूँ— यहाँ मैं बुद्धि से जुड़ा। और जब प्रकृति का अतिक्रमण करके कोई कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं शुद्ध-बुद्ध-चित्त सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, तो वही अहं अपनी संकीर्ण सीमा का त्याग करके असीम से जुड़ कर असीम हो जाता है। जब तुम्हारा अहं तुमको छोटी सीमाओं में बाँधे तो उसे झटक दो। प्रकृति से झटक कर चैतन्य के साथ उसे जोड़ो। अपने को इस मल-मूत्र के कोष शरीर के साथ न जोड़ कर चैतन्य के साथ जोड़ो। यहाँ जब हम मन कहते हैं तो पूरे अंतःकरण का प्रतिनिधित्व यह मन कर रहा है। यह केवल संकल्प-विकल्प करने वाला नहीं है। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार—इन चारों की समष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाला मन वस्तुतः हमारा अंतःकरण है, जो हमारी आत्मा के निकट रह कर आत्मा से तेजस्विता प्राप्त करता है, आत्मा से चेतना प्राप्त करता है। अंतःकरण तो जड़ है। यह जड़ अंतःकरण कैसे हमसे काम करा रहा है? मैंने कई बार उदाहरण दिया है। धूप शीशे में पड़ती है। शीशे में तो रोशनी नहीं है, प्रकाश नहीं है। वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। वैसे ही अंतःकरण आत्मा की सन्निधि के कारण प्रकाशित है। आत्मा में चेतना है; और अंतःकरण आत्मा की सन्निधि के कारण चेतन प्रतीत होता है। कई बार उदाहरण दिया है यह। अब इसके बाद पौरुष का आह्वान करने के बाद तीन श्लोकों में योगारूढ़ की महिमा का वर्णन है। हम आप योगारूढ़ क्यों होना चाहेंगे? जहाँ हैं, वहीं क्यों नहीं रहना

चाहेंगे? क्योंकि जहाँ हम हैं, वहाँ हम दुःखी होते हैं। जहाँ हम हैं वहाँ अपने को अभावग्रस्त मानते हैं। जहाँ हम हैं वहाँ हमको अपमान का अनुभव होता है, पीड़ा का अनुभव होता है। योगारूढ़ होने से क्या हो जाएगा— इस बात को समझ लेने के बाद फिर कैसे योगारूढ़ हुआ जा सकता है —यह प्रक्रिया अगले प्रवचन में वर्णित की जाएगी। भगवान् योगारूढ़ की महिमा का वर्णन अगले श्लोकों में कर रहे हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।
सुहन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।। (६/७,८,९)

जितात्मा वह है जिसने अपने को जीत लिया है, अपने को जीत लिया है माने जिसने विवेकयुक्त मन के द्वारा विषय की आसक्ति का त्याग किया है, जो निर्विषय हो गया है, जो परमात्मा की ओर जा रहा है, जो चैतन्य शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप के साथ अपने को एक करना चाहता है। वह प्रशान्त है, उसको कोई उकसा नहीं सकता। कितनी भी छेड़खानी करो वह विचलित नहीं होता। किसी के भड़काने से भड़कता नहीं है, प्रशान्त है। अब इसके बाद तीन बातें कही हैं। कितनी सूक्ष्म बातें गीता में कही गई हैं, इस पर ध्यान दीजिए। *'शीतोष्ण'* —सर्दी और गर्मी। इसका संबंध शरीर से है। सर्दी और गर्मी किसको लगती है? हमलोग ठंडे मौसम में स्वेटर पहनते हैं कि नहीं? *'सुख दुःखेषु'* —सुख-दुःख किसको होता है? मन को। *मानापमानयोः* –मान अपमान का बोध किसको होता है? बुद्धि को। अरे! तुम आज उसका व्याख्यान सुनने आए हो? मेरे व्याख्यान में तो तुम आए ही नहीं थे। यह किसको अपमान का बोध हो रहा है? किसके कारण? बुद्धि के कारण। यह बुद्धि का दोष है। तीनों भूमिकाएँ हुईं ना? शीतोष्ण किसको लगा? शरीर को। सुख-दुःख किसको हुआ? मन को। मान अपमान का अनुभव किसको हुआ? बुद्धि को। इन तीनों स्तरों पर जो प्रशान्त रहता है, वस्तुतः वही है सच्चा प्रशान्त। न सर्दी से घबराता है, न गर्मी से, न सुख में विचलित होता है न दुःख में। एक दोहा सुनाया था लेकिन अच्छी चीज बार-बार सुनानी चाहिए। गीता की परंपरा भी यही है। गीता में कितनी बार 'शीतोष्ण' आदि में सम रहने को कहा है। गिनती करें तो सात-आठ बार तो कहा ही होगा। यह पुनरुक्ति क्यों की जाती है? इसके बारे में उव्वट ने बहुत अच्छा लिखा है— 'शुक्ल यजुर्वेद भाष्य' में—

संस्कारोज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च
पुनः पुनः उपदिश्यमानं न दोषाय भवति।

संस्कारोज्वलनार्थ— संस्कारों को उज्ज्वल, प्रभावी, तेजस्वी बनाने के लिए। 'हितं च पथ्यं च' —जो हितकारी है, जो पथ्य है। उसका पुनः *पुनरूपदिश्यमानं*—अगर बार-बार उपदेश भी किया जाए। *'न दोषाय भवति'* —उसमें कोई दोष नहीं है। *'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'* —ब्रह्म सूत्र में है कि नहीं? जो उपदेश है उसकी कई बार आवृत्ति हो सकती है। आवृत्ति-पुनरावृत्ति कविता में दोष होगा। जब हम किसी का भला चाहते हैं, किसी का मंगल चाहते हैं, तो उसको एक ही बात को बार-बार तब तक समझाना पड़ता है जब तक वह नहीं समझ जाता। तुलसी बाबा ने कहा है—

'श्रोता बकता ग्याननिधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित बिमूढ़।।'
तदपि कही गुर बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा।

गुरु का लक्षण ही यही है कि वह अपने शिष्य के मंगल के लिए अच्छी बातों को बार-बार, बार-बार दोहराए। इसलिए इस दोहे पर पुनः आना पड़ा। यही दोहा मेरे गुरु जी ने मुझे सुनाया था। बहुत अच्छा दोहा है—

सुख सपना, दुख बुलबुला, दोनों हैं मेहमान।
सबका आदर कीजिए, जो भेजे भगवान।।

न सुख रहने वाला है, न दुःख रहने वाला है। सुख सपना है, वह टूटेगा ही टूटेगा। दुःख बुलबुला है, वह फूटेगा ही फूटेगा। थोड़े समय के लिए मेहमान आता है। हमेशा रहता नहीं है। ये सुख और दुःख दोनों मेहमान हैं। अपनी इच्छा से नहीं आए हैं। भगवान के भेजे हुए हैं। इसलिए सुख का भी आदर करो और जब जाने लगे तो उसको नमस्कार करके भेज दो। दुःख का भी आदर करो और जब जाने लगे तो नमस्कार करके भेज दो।

क्या मान, क्या अपमान? किसका मान? इसी चमड़े का? गुरुजी कहते थे कि किसी ने अगर शरीर को गाली दी तो गाली देने लायक शरीर है ही, अगर उसने आत्मा को गाली दी तो अपने को गाली दी, हम क्यों क्रोध करें? क्योंकि जो आत्मा मुझमें है, वही आत्मा उसमें है। तो मानापमान का बोध नहीं होता संतों को। इन तीनों स्तरों पर — शरीर के स्तर पर, मन के स्तर पर, बुद्धि के स्तर पर जिसने अपने अन्तःकरण को जीत लिया है, वह प्रशान्त रहता है। और उसका फल क्या होता है? *'परमात्मा समाहितः'* —परमात्मा बराबर उसके हृदय में जागृत है, समाहित है।

मोको कहाँ ढूँढ़े रे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।

कहाँ परमात्मा को खोजने जा रहे हो? जिसने अपने आप को जीत लिया, जो सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान में समान है, प्रशान्त है। परमात्मा तो उसके हृदय में सम्यक् रूप से उपस्थित, समाहित है, सदा प्राप्त है। परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हो तो योगारूढ़ हो जाओ। शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान से ऊपर उठ जाओ। जिसने अपने-आप को जीत लिया, जो सत्रस्त उत्तेजना की स्थिति में भी प्रशान्त रहता है, विकार के हेतुओं के रहते हुए भी जो अविकृत रहता है, उसे परमात्मा को खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। परमात्मा उसमें समाहित है, सम्यक् रूप से स्थित है— उपस्थित है। योगारूढ़ होने का कितना बड़ा पुण्य है, कितना बड़ा फल है?

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः। (६/८)

जो योगारूढ़ होगा उसका क्या लक्षण है? ज्ञान विज्ञान से उसका अपना आपा तृप्त है। ज्ञान का मतलब? गुरु से, शास्त्र से प्राप्त बोध। सत्शास्त्रों से, गुरु से, संतों से, जो हमने उपदेश सुना, उस उपदेश का बोध यह ज्ञान है। और विज्ञान क्या है? उस ज्ञान का जो हमने अनुभव किया। ज्ञान-विज्ञान का मौलिक अंतर यही है। विज्ञान जो है यह ज्ञान की अनुभूति है। विज्ञान माने? विशेष ज्ञान। ज्ञान से कुछ विशेषता होनी चाहिए। यानी ज्ञान है सुनी-सुनाई बात और विज्ञान है अनुभव की हुई बात। कबीर बाबा क्या कहते थे? साखी देते थे, गवाही। किस बात की गवाही? इस बात की गवाही कि मेरे गुरु ने, संतों ने जो मुझसे कहा—उसका मैंने अनुभव किया। उसको सच पाया और जिसको मैंने अनुभव के स्तर पर सच पाया, उसकी गवाही दे रहा हूँ। हिन्दू धर्मशास्त्र, भारतीय धर्मशास्त्र की एक बड़ी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ। भारतीय अध्यात्म-विद्या यह नहीं कहती कि कोई महापुरुष तुम्हारा माध्यम बनेगा, तभी तुम परमात्मा तक जा पाओगे। कोई मूसा, कोई ईसा, कोई मुहम्मद साहब माध्यम बनेंगे तब तुम परमात्मा तक जाओगे? नहीं-नहीं। गुरु की महिमा है, शास्त्रों की महिमा है। किसलिए? ज्ञान के लिए। परमात्मा तक जाना तो हमारे ऊपर निर्भर है। अनुभव हमको होगा। हमारी साधना के कारण होगा। कोई दूसरा व्यक्ति हमको नहीं पार कर देगा। हम उस अनुभव से गुजर कर परमात्मा को प्राप्त करेंगे। गुरु और शास्त्र हमको उसका रास्ता बताएँगे, हममें हिम्मत जगाएँगे। हमको प्रेरित करेंगे। चलना हमी को होगा। हमारे चले बिना, हमारी साधना के बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी। अगर हमारी साधना सही है, जो ज्ञान हमने गुरु से, सत्शास्त्रों से, संतों से प्राप्त किया है,

उसको अगर हमने अपने अनुभव का विषय बनाया है तो फिर किसी दूसरे के मोहताज हम नहीं रहेंगे।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा— ज्ञान और विज्ञान से जिसका अपना आपा अपना स्वरूप तृप्त है। कूटस्थो—कूट का मतलब समझिए। कूट का मतलब पहाड़ जैसे चित्रकूट, त्रिकूट। पहाड़ के ऊपर पानी बरसता है, धूप होती है पहाड़ ज्यों-का त्यों रहता है, अविकृत। कूट कहते हैं निहाई को। आप लोगों ने सोनारों को देखा होगा। उनके पास लोहे की निहाई होती है। उसके ऊपर ठोंक ठोंक कर सारे आभूषण बनाए जाते हैं; किन्तु निहाई ज्यों-की त्यों रहती है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। कूट माने मूल-आत्मस्थ। तो कूटस्थ का मतलब हुआ विकार के हेतुओं के वर्तमान रहने पर भी जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, जो अविचलित रहता है पर्वत-शिखर की तरह या निहाई की तरह या जो मूल में, आत्म में स्थित है। इसलिए अविकृत रहता है कूटस्थः। *विजितेन्द्रियः* —जिसने अपनी सारी इन्द्रियों को जीत लिया है। मैंने जितेन्द्रिय की परिभाषा बताई है। *'युक्त इत्युच्यते योगी'* —उस योगी को युक्त कहते हैं। *'समलोष्टाश्मकांचनः* —उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना सब समान है। मिट्टी, पत्थर और सोना समान क्यों हो गये हैं? क्योंकि उसमें जड़ के प्रति न तो उपादेय बुद्धि है न हेय बुद्धि। उपादेय बुद्धि माने? जो उपयोगी है। सोना उपयोगी है। सोना अगर हम बटोर लेंगे तो हम बड़े आदमी हो जाएँगे। और मिट्टी ? इसमें हेय बुद्धि है। सब मिट्टी है, माने कुछ नहीं। यद्यपि मिट्टी के बिना कुछ काम नहीं चलता, लेकिन हम लोग मुहावरे में तो यही कहते हैं। तो मिट्टी के प्रति हेय बुद्धि त्याग की बुद्धि और सोने के प्रति उपादेय बुद्धि ग्राह्य बुद्धि— यह विषयी लोगों की दृष्टि है। योगारूढ़ की क्या दृष्टि है? कि ये तीनों जड़ हैं। जड़ के प्रति न हेय दृष्टि है न उपादेय। सम—हमारे लिए सब बराबर है। कोई आकर्षण नहीं है। क्योंकि कहीं अगर सम्यक् कल्पना हो गई, संकल्प हो गया तो काम जागेगा। फिर उसको प्राप्त करने की इच्छा होगी। तब तो हम योगी ही नहीं होंगे। सर्व संकल्पसंन्यासी—हेय बुद्धि और उपादेय बुद्धि ये दोनों त्याज्य और उसका कारण यह भी है कि यह भेद-बुद्धि है। जो अभेद बुद्धि है उसमें कौन त्याज्य कौन उपादेय है? इसी की अगली सीढ़ी है नवाँ श्लोक। वस्तुओं के प्रति हेय उपादेय बुद्धि से ऊपर उठना अपेक्षाकृत सरल है। मिट्टी और सोना दोनों वस्तुएँ हैं। दोनों से बच जाना अपेक्षाकृत सरल है। है तो कठिन लेकिन जो अगला स्तर बताया जा रहा है उससे तो सरल है। अगला श्लोक है—

सुहन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।। (६/९)

भगवान हमलोगों के अकारण हितू हैं, इसलिए सुहृद शब्द को पहले लाए। मित्र—जो हमारे प्रेम के कारण हमारा भला करता है। उदासीन —जो न हमारा मित्र है न शत्रु है। जो हमसे अलग है, ऊपर है। अरि— जो हमारा दुश्मन है, जो हमको गालियाँ देता रहता है। जो हमारा बुरा करना चाहता है। जो मध्यस्थ है—दो में झगड़ा हुआ, बीच-बचाव करता है। जो बराबर द्वेष करता रहता है इसलिए द्वेष्य है। जो प्रेम करता है वह बन्धु है। जो लोकहितकारी है वह साधु है। जो लोकोत्पीड़क है, वह पापी है। सब के प्रति सम बुद्धि—कितना कठिन काम है। जो हमारी आरती उतारता है, पैर छूता है और जो हमको लात से मारता है, गालियाँ देता है—दोनों के प्रति बराबर भाव? यही सबसे कठिन भूमिका है योगारूढ़ की। उसके लिए कोई पराया नहीं, कोई अपना नहीं। कोई अपना होगा तो उसके प्रति आसक्ति होगी। कोई पराया होगा तो उसके प्रति विरक्ति होगी। जिसके सब हैं उसका कोई अपना नहीं और उस स्तर पर यानी यह पदार्थों से भी कठिन और ऊँची भूमिका है। इसलिए यह तीसरी बात—तीसरे श्लोक में आयी है। तो जो योगारूढ़ है वह सुहृद, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु, और पापी—सबमें एक ही परमात्मा का विलास देख रहा है। जिसने अँगूठी, हार, बाजूबन्द, कर्णफूल, लौंग, शीश फूल के नाम रूप को अलग-अलग देख कर, हेय और उपादेय माना, उसको सब अलग-अलग दिखते हैं, किसी के प्रति उसका राग हो सकता है, किसी के प्रति विराग, लेकिन जिसने सबमें सोना देखा उसके लिए सब सोना है, चाहे वह पैर का बिछुआ हो या हाथ की अँगूठी—चाहे पैर में पहनने वाला आभूषण हो, चाहे सिर पर धारण करने वाला वह सोना ही है। अतः उसके लिए तत्त्व की दृष्टि से सब आभूषण बराबर हैं। भगवान ने गीता में कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

अर्थात् जिनका मन साम्य की स्थिति में अवस्थित है, उन्होंने इसी लोक में, इसी शरीर में सर्ग को, सृष्टि को जीत लिया। समत्व जो है, यही भगवान की सबसे बड़ी आराधना है। गीता में बार-बार समत्व पर बल दिया गया है।

'समत्वं योग उच्यते' —यह सम रहने की स्थिति —यही योग है और समत्व की प्राप्ति कर लेने के बाद फिर तो भगवत्-स्वरूप ही है जीव। तो योगारूढ़ की प्रशंसा इन तीन श्लोकों में की गई है। कितनी ऊँची भूमिका है जिस पर हम आरूढ़ होने की इच्छा रखते हैं।

उस ऊँची भूमिका पर आरोहण की अगर हममें आपमें इच्छा है तो उस ऊँची भूमिका पर आरोहण करने के लिए हमारा साधन हमारा कर्म है। उस कर्म को बार-बार कसौटी पर हम कसें कि क्या वह कर्म किसी फलाशा से कर रहे हैं? क्या वह कर्म कुछ पाने के लिए कर रहे हैं? या कर्त्तव्य-बुद्धि से कर रहे है। भगवत्-पूजा की बुद्धि से कर रहे हैं, सेवा की बुद्धि से कर रहे है। हमारा कर्म उस ऊँची भूमिका पर हमको ले जा सकता है। वही हमारा साधन है। अगर हम उसको शुद्ध-बुद्धि से करें। यह आत्म-स्वातंत्र्य है। प्रारब्ध हमने बनाया है। किस्मत नहीं है, लक नहीं है। हमारे ही पूर्व जन्म के कर्म प्रारब्ध बनते हैं और हमारे इस जीवन के क्रियमाण कर्म हमारे प्रारब्ध को बदल सकते हैं। प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म इन दोनों में टक्कर हो सकती है; और क्रियमाण कर्म जीत सकता है। सामान्यतः प्रारब्ध जीता करता है क्योंकि अधिकतर लोग उत्कट साधना नहीं कर पाते। अत्युत्कट क्रियमाण कर्म समस्त प्रारब्ध को बदलने में समर्थ है। आत्म स्वातंत्र्य की यह घोषणा करते हुए गीता आपको आमंत्रित करती है कि आप योगारूढ़ बनने की साधना में प्रवृत्त हों और योगारूढ़ होकर ही दम लें। ●

प्रवचन-१८*

मनोजयी ध्यान-प्रक्रिया

ध्यान-प्रक्रिया बड़ी चुनौती भरी उक्ति है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका निर्विघ्न निर्वाह करने पर मनुष्य मन को जीत सकता है। मन को जीतना संभव है। बहुतों ने मन को जीता है। मन को जीतने की निश्चित पद्धति है। उस पद्धति को हम सीखने जा रहे हैं। एक बात और स्पष्ट होनी चाहिए कि मन को जीतने की एक ही पद्धति नहीं है। मन को जीतने की अनेक पद्धतियाँ हैं; और उन अनेक पद्धतियों में से एक प्रधान पद्धति की चर्चा आज की जा रही है। जिस योग को षष्ठ अध्याय में निरूपित किया गया है, स्वयं षष्ठ अध्याय की पुष्पिका में उसका नाम दिया गया है— ध्यान-योग। इस योग के केन्द्र में ध्यान है; और ध्यान की यह पद्धति, यह तरीका, मूलतः पातंजल-योग के अनुसार है। पातंजल-योग की प्रक्रिया का उपयोग करना तो गीता को इष्ट है; लेकिन पातंजल-योग का ही पूर्ण समर्थन करना इष्ट नहीं है— यह बात समझ में आनी चाहिए। गीता का योग-निरूपण— चाहे वह कर्म-योग हो, चाहे ज्ञान-योग हो, चाहे भक्ति-योग हो, चाहे ध्यान-योग हो, युद्ध की भूमि पर उपदिष्ट है— यह बात याद रखनी चाहिए। युद्धभूमि पर मनुष्य को भगवान जब उपदेश दे रहे हैं तो उनका मुख्य लक्ष्य यह है कि तुम कैसे युद्ध लड़ो और कैसे युद्ध में जीतो। युद्ध केवल महाभारत का ही नहीं है। भगवान ने जब गीता में कहा— *'मामनुस्मर युध्य च'* — निरन्तर मेरा स्मरण करो और निरन्तर युद्ध करो। *'मां अनुस्मर'* —प्रतिक्षण मेरा स्मरण करते रहो और *'युध्य च'* —युद्ध भी करते रहो। तो उनका अभिप्रेत यही है कि जीवन में जो समस्याएँ, संकट और चुनौतियाँ आती हैं उनको हम स्वीकार करें और उनके पार जाने हेतु संघर्षरत रहें। इसलिए गीता का सबसे बड़ा योग बुद्धि को सम रखने का है, बुद्धि को शुद्ध रखने का है। बुद्धि का यह समत्व सबके लिए समान रूप से उपयोगी है— चाहे वह कर्म-योगी हो, चाहे ज्ञान-योगी हो, चाहे ध्यान-योगी हो, चाहे भक्ति-योगी हो। बुद्धि को सम रखकर, बिना विचलित हुए, अनुकूल, प्रतिकूल, समस्त

* षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या १० से १९

परिस्थितियों का मुकाबला करते हुए हम कैसे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते चले जाएँ— यह मुख्य निरूपण भगवान श्रीकृष्ण का है। इसलिए पातंजल-योग की जिस प्रक्रिया के द्वारा चित्त को शुद्ध किया जा सकता है, एकाग्र किया जा सकता है, सम किया जा सकता है, उसका उपयोग वे कर रहे हैं। आप देखेंगे कि जैसे अन्यत्र वैसे ही यहां भी शंकराचार्य जी ने इसी श्लोक का सहारा लेकर कहा है कि यह मूलतः ज्ञानयोगियों के लिए दिया गया उपदेश है। लोकमान्य तिलक का बराबर आग्रह था कि यह मूलतः कर्मयोगियों के लिए दिया गया उपदेश है। मेरे गुरुजी यह कहते थे कि यह सार्वभौम, सार्वकालिक उपदेश है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी भूमिका पर इस उपदेश की प्रेरकता सहज-सुलभ होगी; और वह उसको ग्रहण करेगा।

१ से ९ श्लोक तक यह बताया गया कि मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र उसका मन है। मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु भी उसका मन है। बाहर वाले हमारा आपका क्या बिगाड़ेंगे? बाहर वाले बहुत जोर मारेंगे तो हमारा कुछ रुपया-पैसा ले लेंगे, हमारे शरीर पर एक-दो लाठी मार देंगे। चरम स्थिति करेंगे तो शरीर को नष्ट कर देंगे। क्या बिगड़ जाएगा? बाहर वाले हमारे बड़े शत्रु नहीं हैं। सबसे बड़ा शत्रु अपना अनियंत्रित मन है। जिस व्यक्ति पर उसका मन हावी है, उसका मन उसका सबसे बड़ा शत्रु है। अपना सबसे बड़ा मित्र अपना ही मन है। वह मन जिसको हमने नियंत्रित कर रखा है। अगर नियंत्रित मन हमारा सबसे बड़ा मित्र है, तो उसको कैसे नियंत्रित किया जाए— इसका उपदेश देना चाहिए। जिसके महत्व का निरूपण १ से ९ श्लोकों तक किया गया कि तुम्हारा सबसे बड़ा मित्र तुम्हारा अपना जीता हुआ मन, नियंत्रित मन है। इस प्रतिपादन को ग्राह्य बनाने के लिए, यह प्रतिपादन हमारे जीवन में उतर आए— इसके लिए वे उस प्रक्रिया का उपदेश दे रहे हैं, जिससे मन को जीता जा सकता है।

एक बात पर आप जरूर ध्यान दें कि पश्चिमी मनोविज्ञान से हमारा मनोविज्ञान बिल्कुल अलग है। कम-से-कम फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार मन में कीचड़-ही-कीचड़ है। चेतन और अचेतन मन काम-वासना से लिप्त है और उसी काम-वासना से प्रेरित होकर काम करता है। योग-शास्त्र में मन को केवल कीचड़ नहीं बताया गया है। योगशास्त्र में मन की पाँच स्थितियाँ बताई गई हैं। पहली तीन स्थितियों में मन में कीचड़ है। मोह, क्षिप्त और विक्षिप्त। मोहग्रस्त तमोगुणी मन कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता। मूढ़ता में पड़ा हुआ मन अपने लक्ष्य को नहीं समझ सकता, इसलिए उसमें कीचड़-ही-कीचड़ है। क्षिप्त का मतलब फेंक दिया गया मन। हम जो लक्ष्य अपने लिए निर्धारित करते हैं, उस लक्ष्य से दूसरी तरफ जब बार-बार मन

हमको भटका देता है, तो वह तमोगुण में मिश्रित, तम प्रधान रजोगुण है वह हमको अपने लक्ष्य से दूर करता है। विक्षिप्त में रजोगुण की प्रधानता है, तमोगुण की न्यूनता है। वह कभी हमको अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है, कभी हमको अपने लक्ष्य से हटाता है। मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त – मन की ये तीनों स्थितियाँ योग साधना के लिए, बड़े सत्य को ग्रहण करने के लिए असमर्थ हैं। बड़ा सत्य, बड़ी साधना, मन की एकाग्र स्थिति (चतुर्थ स्थिति) से आरम्भ होती है। मन को एकाग्र कैसे किया जाए? पाँच स्थितियाँ हैं मन की! *योगश्चित्तवृत्ति निरोधः* —पातंजल योग के अनुसार चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है। जब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तो पाँचवीं स्थिति आती है। निरुद्ध स्थिति। निरुद्ध स्थिति में क्या होता है?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् —जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थान करता है। *द्रष्टा*—अपना आत्मा अपना परमात्मा। इस बात पर ध्यान दीजिए कि आत्मा ही सबको देखता है। आत्मा को कोई नहीं देखता। इस लिए आत्मा का नाम द्रष्टा है। *रूपं दृश्यते*— रूप दिखाई पड़ता है। देखने वाला दृग् है, लोचन और लोचन में विकार होता है, तभी दिखाई पड़ता है। चित्त की वृत्तियाँ भी दिखाई पड़ती हैं लेकिन चित्त की वृत्तियों से जब हम चित्त को अलग करें तो चित्त की वृत्तियों को देखने वाले को कोई नहीं देखता।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तददृश्यम् दृक्तुमानसं दृगेव न तु दृश्यते।

संसार के सारे रूप दृश्य हैं, लोचनदृक हैं। *तद् दृश्यं दृक्तुमानसं*— हमारी आँख कमजोर हो गई है, हमारी आँख में पीलिया हो गया है यह हमारा चित्त हमको बताता है। चित्त की वृत्तियों में हम देख पाते हैं कि अभी हमारा चित्त अच्छा है, बुरा है। अभी कह रहा है— चलो सिनेमा। अभी कह रहा है – गीता पढ़ो। लेकिन यह जो देख रहा है, चित्त की वृत्तियों को जो देख रहा है— वह कौन है —उसको कोई नहीं देख पाता। इसलिए उसका नाम है— द्रष्टा। *'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं'* —तब जो यह द्रष्टा है वह अपने स्वरूप में अवस्थान करता है, रहता है। *'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'*— अगर वृत्तियों का निरोध न हो, अगर द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थान न करे, तो क्या होता है? वृत्ति सारूप्य होता है, वृत्ति से समीपता होती है। वृत्ति अगर काम की आई तो हम कामी हो जाते हैं। वृत्ति अगर क्रोध की आई तो हम क्रोधी हो जाते हैं। वृत्ति अगर लोभ की आई तो हम लोभी हो जाते हैं। ज्ञान की आई तो ज्ञानी हो गए। हम जो वास्तव में कामी, क्रोधी, लोभी, ज्ञानी हो रहे हैं यह वास्तव में चित्त में आई हुई काम, क्रोध, लोभ, ज्ञान की वृत्ति से समीपता के कारण हो रहे हैं। नहीं तो हमारा जो

शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है, द्रष्टा का स्वरूप —वह तो मुक्त है। वह न कामी है, न क्रोधी है, न लोभी है। जब हम वृत्ति से एकरूप हो जाते हैं, तब हम काम-क्रोध-लोभ से अपने को जोड़ कर कामी-क्रोधी-लोभी हो जाते हैं। इसलिए जब हम चित्तवृत्ति का निरोध कर देंगे तब हम अपने स्वरूप में अवस्थान करेंगे। यह लक्ष्य है पातंजल योग दर्शन का और इस लक्ष्य को एक बड़ी सीमा तक गीता स्वीकार करती है।

गीता कहती है कि यह बात सच है कि चित्त को विक्षिप्त स्थिति से एकाग्र स्थिति में लाने के लिए कुछ विशेष प्रक्रियाएं बहुत सहायक हैं। यह नहीं कि सिर्फ यही प्रक्रिया होगी। जैसे मैं यह मानता हूँ कि नाम-जप भी सहायक है। *राऽऽऽम।* मेरे गुरु जी यह बताया करते थे कि यह जो दीर्घ उच्चारण है, चाहे राम का हो चाहे प्रणव का *ओऽऽऽम्।* यह बाहर से शुरू होकर भीतर समाप्त होता है; और जब बाहर से शुरू हुआ प्रयास भीतर समाप्त होता है, तो धीरे-धीरे यह बहिर्मुख चित्त को अन्तर्मुख करने में सहायक होता है। केवल राम-नाम के या कृष्ण-नाम के या ओ३म् के दीर्घ उच्चारण से। आ कार को जितना दीर्घ किया जाएगा उतना चित्त अन्तर्मुखी हो जाएगा। और भी उपाय हो सकते हैं लेकिन एक बहुत पुष्ट, बहुत परीक्षित उपाय पातंजल योग की ध्यान साधना है। इसलिए वह बता रहे हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।। (६/१०)

अब इसमें देखिए— पहली बात कही गई— *योगी युञ्जीत सततं* —योगी सदा योग करे। *युञ्जीत*—योग करे। किससे योग करे ? दुनिया में जिससे वियोग हो गया है उससे? नहीं! ऐसा अर्थ नहीं है। *आत्मानं* —इसका अर्थ कई लोगों ने कई तरह से किया है। कई लोगों ने अर्थ किया है कि अपनी आत्मा को परमात्मा में लगाने की साधना करे। लेकिन मधुसूदन सरस्वती, मेरे गुरुजी, रामानुजजी —इन लोगों ने कहा कि —*योगी युञ्जीत सततमात्मानं* —योगी अपनी आत्मा से ही अपने को युक्त करे। देखिए। एक बात पर ध्यान दीजिए। हम लोग दुःखी हैं—उसका एक बड़ा कारण यह है कि हम सारी दुनिया से मिलते हैं, अपने से नहीं मिलते। सारी दुनिया के बारे में जानकारी रखते हैं, अपने बारे में जानकारी नहीं रखते। शीशे के सामने खड़े होकर हमलोग जितनी देर तक कंघी फेरते हैं, उतनी देर तक अपने मन पर हाथ नहीं फेरते। मन कैसा है? भूखा है, प्यासा है, कामी है, क्रोधी है, लोभी है— क्यों है ? नहीं सोचते और मन के भीतर जो बुद्धि है, बुद्धि के भीतर जो आत्मा का स्वरूप है —उसकी ओर नहीं जाते। *योगी युञ्जीत सततं आत्मानं* —यह आत्म योग है। अपने आपे से अपने

को जोड़ो। थोड़ा समय निकालो भाई। सारी दुनिया का विचार, सारी दुनिया के बारे में सोच-सोच कर तो तुम मर गये, थोड़ा अपने बारे में भी सोचो। अपने बारे में —रुपया कैसे कमाओगे —इसके बारे में नहीं। भोग कैसे भोगोगे— इसके बारे में नहीं। तुम्हारा अपना जो रूप है —वह क्या हो रहा है? उसकी क्या हालत है? क्या वह विचार प्रधान है? या वह अविचार प्रधान हो गया है? क्या वह तुम्हारे अधीन है कि तुम उसके अधीन हो गए हो? थोड़ा अपने मन से, अपनी आत्मा से अपने को जोड़ो। *योगी युञ्जीत सततं आत्मानं* —अपने आपे से अपने को जोड़ो। तो अपना बिलकुल भीतरी आपा तो परमात्मा ही है। अपने आपे से जुड़ोगे तो परमात्मा से ही जुड़ोगे। लेकिन अपने माध्यम से अपने आपे के, आपे के आपे के भीतर जो अन्तरात्मा के भीतर प्रत्यगात्मा के भीतर जो परमात्मा है, उससे जुटने की प्रक्रिया में अपनी वास्तविक स्थिति को भी पहचानते चलो। *योगी युञ्जीत सततं* —अब सततं का मतलब — चौबीसों घंटे —ऐसा नहीं है। लगातार —प्रतिदिन, रोज-रोज, बार-बार, पुनः पुनः। यह नहीं कि तुमने एक बार अपने मन का विचार किया और फिर उसको छोड़ दिया — छुट्टे साँड़ की तरह। रोज-रोज उस पर विचार करो। रोज-रोज उसकी स्थिति को देखो। कहाँ गया? क्या कर रहा है? कैसा व्यवहार है? लगातार चेष्टा, प्रतिदिन। *'रहसि स्थितः'* एकान्त में बैठकर।

अपने बारे में चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्मालोकन, आत्म-साक्षात्कार — यह शेयर-मार्केट में नहीं हो सकता। यह चुनाव की सभा में भी नहीं हो सकता। एकान्त में, शान्ति, *रहसि स्थितः।* जिससे मिलना होता है, भइया —उसके अनुरूप स्थान होना चाहिए। अब किससे कहाँ मिला जा सकता है? यह तो आपलोग ज्यादा जानते होंगे। लेकिन अपनी अन्तरात्मा से, अपने मन से, अपनी बुद्धि से, अपने आत्म-स्वरूप से मिलने के लिए एकान्त आवश्यक है। *रहसि स्थितः एकाकी* —एक बार एकान्त कहा —*रहसि* और फिर *एकाकी* —इसी बात को लेकर शंकराचार्य जी ने कहा कि वह न केवल एकान्त में रहे बल्कि परिवार को छोड़ भी दे। कोई चेला-चाँटा भी अपने साथ न रखे। साधक स्थिति में अकेले रहे। किसी सहायक के बिना रहे। खुद साधना करे। इसका मतलब यह नहीं कि गुरु को भी छोड़ दे। गुरु की प्रेरणा, गुरु से उपदेश, गुरु से परामर्श लेता रहे; लेकिन अकेला रहे, एकाकी; क्योंकि दो रहेंगे तो बातचीत होगी। विक्षेप होगा। *यतचित्तात्मा* —अपने मन और अपनी बुद्धि पर नियंत्रण करे, संयत चित्त, संयत बुद्धि। देखिए आत्मा शब्द का अर्थ कहीं शरीर भी है, कहीं बुद्धि भी है, कहीं मन भी है। यतचित्तात्मा का अर्थ कहीं चित्त और बुद्धि और कहीं चित्त और

शरीर। अपने शरीर पर, अपनी इन्द्रियों पर, अपने मन पर, अपनी बुद्धि पर नियंत्रण रहना चाहिए। *निराशी*— बहुत से लोग निराशा का मतलब यह समझते हैं कि संभावना कुछ भी नहीं है —यह मानकर जो हाथ-पर-हाथ रखकर रोने लगता है, बैठ जाता है —उसे निराश कहते हैं। यहाँ उसका समर्थन नहीं है। यह तो उद्योगी व्यक्ति के लिए है। यह तो पराक्रमी व्यक्ति के लिए है, रोगी व्यक्ति के लिए नहीं है। यहाँ निराशी का मतलब है निरपेक्ष। यहाँ आशा का मतलब यह नहीं है कि हमारी संभावनाएँ नहीं हैं। हमारी प्रचुर उज्ज्वल संभावनाएँ हैं। उन प्रचुर उज्ज्वल संभावनाओं को मूर्त करने का रास्ता बताया जा रहा है। यहाँ आशा का मतलब है अपेक्षा। आशा का मतलब है तृष्णा। आशा का मतलब है लालसा। मैं दो श्लोक आपको सुनाता हूँ जिससे बात समझ में आ जाएगी।

निःस्वो वष्टि शतं, शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां, क्षितिपतिः चक्रेशतां वांछति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति
ब्रह्मा शैवपदं, शिवं हरिपदं ह्याशावधिं को गतः।।

निस्वो वष्टि शतम्— जिसके पास कुछ भी नहीं है — ठन-ठन गोपाल! वह कहता है सौ रुपया मिल जाए। *शती-दशशतम्*—और जिसके पास सौ रुपया है वह हजार चाहता है। *लक्षं सहस्राधिपो*— और जो सहस्रपति है, वह चाहता है लखपति हो जाएँ। *लक्षेशः क्षितिपालताम्* —और जो लखपति है वह चाहता है, हम राजा हो जाएँ। *क्षितिपतिः चक्रेशतां वांछति* —और जो राजा है वह कहता है कि हम चक्रवर्ती राजा बन जाएँ। *चक्रेशः सुरराजताम्* —पृथ्वी के राजा? हाय-हाय! कुछ नहीं। स्वर्ग के तो राजा बनते। *सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति* —और इन्द्र चाहता है ब्रह्म पद मिल जाए। *ब्रह्मा शैवपदं* —शिव होते। *शिव हरिपदं* —विष्णु होते। यहाँ शब्द आया है — *त्वाशावधिं को गतः* —आशा की अपेक्षा की क्या सीमा है? कितना चाहते हो? यह निरपेक्ष होने के लिए। निराशीः मतलब? निरपेक्ष, किसी से कुछ नहीं चाहिए।

दूसरा श्लोक भर्तृहरि का है जिसमें नदी के रूपक से आशा की भयंकरता चित्रित की गयी है—

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्त सुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्या पारगताः विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

आशानाम् नदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला —आशा नाम की एक भयंकर नदी है। उस आशा नाम की नदी में पानी किसका है? मनोरथ। यह भी हो जाए, वह भी हो जाए, उसमें तृष्णाओं की तरंगें हैं। *रागग्राहवती वितर्कविहगा* —उसमें आसक्ति के मगर हैं। वितर्क के पक्षी हैं। धीरज के वृक्ष को, किनारे के वृक्ष को काट देती है।

धैर्यद्रुमध्वंसिनी मोहावर्त्त —उसमें भँवर पड़ रही है मोह की, अज्ञान की। *मोहावर्त्त* —उस आवर्त में जो पड़ेगा-डूबेगा ही डूबेगा। *सुदुस्तराति गहना* दोनों तरफ के किनारे उसके बड़े-ऊँचे-ऊँचे हैं। किनारे पहुँच कर भी पार नहीं कर सकते। *तस्या पारंगताः* उसके पार जाकर, आशा नामक नदी के पार जाकर अपेक्षाएं, लालसाएँ, कामनाएँ—इनका परित्याग कर, बड़े-बड़े योगीश्वर आनन्द करते हैं। निराशी का मतलब जिसको कोई किसी दूसरे से कामना नहीं है। अपरिग्रह —जो संग्रह नहीं करता। देखिए! लोभ के दो बेटे हैं। एक तो है चोरी-बेईमानी से दूसरे का धन हासिल करो।

राम-राम जपना, पराया माल अपना।

यह नहीं होना चाहिए। चोरी तो बेईमानी है ही। लेकिन लोभ का एक और बेटा है। ईमानदारी से जो संपत्ति मिली है— वह भी हमारे पास बहुत हो। केवल १०८ जोड़े जूते होने चाहिए और उसमें हीरे भी लगे हों तो बहुत अच्छा है। छह सौ धोतियाँ होनी चाहिए, पाँच सौ साड़ियाँ होनी चाहिए। नारायण। यह जो परिग्रह है, यह भी बन्धन की जड़ है। तो निराशी भी हो, निरपेक्ष भी हो और न्यायोचित प्राप्त भी आवश्यकता से अधिक न हो, अपरिग्रही हो— यह उसका लक्षण है। जो योगी होने का उपक्रम कर रहा है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। (६/११-१२)

जहाँ काम के संस्कार, लोभ के संस्कार उदग्र होकर नाचते हों वहाँ ध्यान नहीं होता। जहाँ निरन्तर रुपए-पैसे की बात हो, जहाँ निरन्तर व्यभिचार हो, वहाँ मन एकाग्र नहीं हो सकता। मन्दिर में जाओ पवित्र होओ। *'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य'* —जहाँ काम संस्कार, लोभ संस्कार कम हों, पवित्रता हो, स्वच्छता हो, वहाँ पर *'स्थिरमासनमात्मनः'* जो योग-साधना करना चाहता है, उसका अपना आसन होना चाहिए दूसरे के आसन पर नहीं और वह एक ही जगह पर स्थिर रहना चाहिए। आज वहाँ बैठ गए, कल वहाँ बैठ गए, परसों वहाँ बैठ गए —ऐसा नहीं होना चाहिए। *'नात्युच्छ्रितं नातिनीचं'*—

न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा हो। *चैलाजिनकुशोत्तरम्* —इसको विपरीत कर दिया गया है। सबसे नीचे कुश, उसके ऊपर मृगचर्म, उसके ऊपर कोई कोमल वस्त्र। ऐसा हमारे आचार्यों ने माना है कि कुश और मृग-चर्म हमारी योग-साधना से उपलब्ध शक्ति को विच्छुरित होने से रोकते हैं। उसको विकीर्ण नहीं होने देते। उसको संचित रखते हैं। इसलिए कुशासन बहुत पवित्र माना गया है। कुशासन के ऊपर मृग चर्म और मृग चर्म के ऊपर भी कोई कोमल वस्त्र, जिससे कि हम देर तक बैठ सकें। देर तक बैठ सकने का, जो न ऊँचा, न नीचा, अपेक्षाकृत आरामदेह —ऐसा अपना आसन होना चाहिए।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

देखिए ! मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त —इन तीन स्थितियों में रहने वाला व्यक्ति योग-साधना नहीं कर सकता। इन तीन स्थितियों से जब ऊपर उठेगा आदमी, जब वह एकाग्रता की ओर जाएगा, तभी योग-साधना कर सकेगा, ध्यान कर सकेगा। *तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा* —मन को एकाग्र करके। एकाग्र हो मतलब ? ध्येय के प्रति उन्मुख हो। *यतचित्तेन्द्रियक्रियः* —मन सबसे सूक्ष्म है। मन को एकाग्र करने के पहले जो स्थूल हैं, उन पर नियंत्रण प्राप्त करना। सबसे स्थूल है शरीर। शरीर से सूक्ष्म है वायु। वायु से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ। इन्द्रियों से सूक्ष्म है मन। नियम यह है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाएँ। अगर आप ध्यान करना चाहते हैं तो पहली आवश्यकता यह है कि अपने शरीर पर आपका नियंत्रण होना चाहिए। बैठे हैं और अपने शरीर को हिला रहे हैं। अकारण पैर हिलाते रहते हैं लोग। अकारण सिर हिलाते हैं। शरीर पर नियंत्रण होना चाहिए। इसको कहते हैं आसन से शरीर-समाधि, शरीर का नियंत्रण। फिर जो श्वास-प्रश्वास है —इस पर नियंत्रण होता है प्राणायाम से। प्राणायाम जितनी मात्रा में बढ़ेगा, उतनी मात्रा में मन एकाग्र होने में सहायक होगा। प्राणायाम, योग्य गुरु से सीखना चाहिए— लेकिन उसके चार भेद हैं। साँस लेना, इसको कहते हैं पूरक —भरना। ली हुई साँस को भीतर रोकना —इसको कहते हैं कुंभक। रोकी हुई साँस को धीरे-धीरे छोड़ना —इसको कहते हैं रेचक, और छोड़ी हुई साँस को बाहर रोके रखना —इसको कहते हैं बाह्य कुंभक। पूरक, कुंभक, रेचक, बाह्य कुंभक। इसमें अनुपात होना चाहिए। एक मात्रा में अगर साँस भरी है, तो चार मात्रा में साँस रोकनी चाहिए। दो मात्रा में साँस छोड़नी चाहिए। दो मात्रा साँस बाहर रोकनी चाहिए। समझ लीजिए कि एक श्लोक पढ़ कर आपने साँस लिया।

श्री रामचन्द्र चरणौ मनसा स्मरामि, श्री रामचन्द्र चरणौ वचसा गृणामि।
श्री रामचन्द्र चरणौ शिरसा नमामि, श्री रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये।।

यह श्लोक पढ़ते हुए अगर आपने साँस लिया एक बार तो चार बार यह श्लोक पढ़िए कि साँस आपके भीतर रुकी रहे। फिर दो बार श्लोक पढ़ते हुए छोड़िए। धीरे-धीरे साँस छोड़िए। दो बार श्लोक पढ़िए; और दो बार श्लोक पढ़ते हुए साँस बाहर रोकिए। एक-चार-दो-दो। इस अनुपात में जब हम अपनी श्वास-प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं। तो पहले आपने आसनों द्वारा क्या नियंत्रित किया? शरीर। पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन या और भी बहुत से। जो आसन हैं, वे शरीर के स्वास्थ्य के लिए सुखद हैं। ध्यान के लिए यही तीन-चार आसन हैं। सबसे अच्छा है पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन, बस कुछ महापुरुष हुए हैं, जो शीर्षासन में भी ध्यान कर सकते हैं, उनको छोड़ दीजिए। तो कितनी देर तक आप एक आसन पर बैठ सकते हैं? आसन सिद्धि के लिए कहा गया है कि तीन घण्टे तक आप एक आसन में बैठिएगा, तो उस आसन की सिद्धि होगी। आप एक आसन पर तीन घण्टे बिना हिले-डुले बैठेंगे, तो आपने वह आसन सिद्ध किया। आसन सिद्ध करने से शरीर पर नियंत्रण और प्राणायाम सिद्ध करने पर श्वास पर नियंत्रण होता है। इन्द्रियों पर नियंत्रण करने के लिए प्रत्याहार करना पड़ता है। प्रति माने उलटा। कूल माने किनारा। अनुकूल माने जिस किनारे आप उसी किनारे वह; और प्रतिकूल माने ? जिस किनारे आप वह उसके उलटे किनारे। आहार माने भोजन। आहरण करना माने ? चारों तरफ से भीतर ले आना। हम लोग आहार का मतलब केवल अन्न समझते हैं। ऐसा नहीं है। हम पाँचों इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण करते हैं, सब आहार है। नेत्र का आहार रूप है। नासिका का आहार गंध है। कर्ण का आहार शब्द है। त्वचा का आहार स्पर्श है और रसना का आहार भोजन है। ये पाँचों जब अपने अपने विषयों से उलट जाएँ। आँख कहे कि हम रूप नहीं देखेंगे —न देखे। कान कहे कि हम नहीं सुनेंगे —न सुने। क्योंकि हम कान से नहीं सुनते। हम मन के माध्यम से कान से सुनते हैं। उपन्यास पढ़ने में मन लगता है। माँ पुकारती रहती है, सुनाई नहीं देता। तो हमारी इन्द्रियाँ हमारा आदेश मानेंगी और अपने विषयों से अलग हो जाएँगी। इसको क्या कहते हैं? प्रत्याहार। इन्द्रियों के आहार से, इन्द्रियों के विषय से, उनको उलटकर जब हम अपनी ओर खींच लें, तो यह हुआ प्रत्याहार। यह इन्द्रियों का नियंत्रण है। इसके बाद मन का नियंत्रण संभव होगा। यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार कर लेने के बाद फिर धारणा-ध्यान-समाधि। इन तीनों को एकत्र संयम कहते हैं, तब मन का संयम होता है। तो ये *'यतचित्तेन्द्रियक्रियः'* —क्रियाओं और चित्त और इन्द्रियाँ इन तीनों पर जब नियंत्रण होगा —यानी आपका आसन सिद्ध है, प्राणायाम सिद्ध है और प्रत्याहार सिद्ध है —*यतचित्तेन्द्रियक्रियः* —इसमें आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन तीनों का संकेत है। *उपविश्यासने*— योग साधना

कभी खड़े-खड़े नहीं करनी चाहिए। सिर घूम जाएगा गिर पड़ोगे। योग-साधना लेटे-लेटे नहीं करनी चाहिए, नींद आ जाएगी। इसीलिए कहा उपविश्य —बैठ कर करनी चाहिए। आसने-आसन पर। *उपविश्यासने* —अपने आसन पर बैठ कर करनी चाहिए। *युञ्ज्याद्योगम् आत्मविशुद्धये* —देखिए ! गीता एक बात बार-बार बोलती है। *योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वात्मशुद्धये।* योगी क्यों काम करते हैं ? आसक्ति का त्याग करके अपनी शुद्धि के लिए। योगी ध्यान क्यों करते हैं ?

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।

शुद्धये से एक कदम आगे। कर्म करने से जो होता है वह आत्मशोधन है; और ध्यान करने से जो होता है; वह आत्मविशोधन है; और भी विशुद्ध है। एक कदम आगे। यह नहीं है कि तुमने केवल अपने मन को पवित्र किया। बुरे भावों से, बुरी दिशाओं की ओर जाने से रोका। विशुद्ध का मतलब यह है कि तुमने अनात्मा से आत्मा को अलग कर लिया। जड़ से चेतन को अलग कर लिया। विशुद्ध का मतलब होता है कि तुमने असत् से सत् को अलग कर लिया। आत्मशुद्धि के लिए और इसमें आत्म-विशुद्धये। एक कदम आगे यानी शुभ विचार तो रहेंगे ही रहेंगे और उन विचारों में सीमा यहाँ आएगी कि हम अनात्मा से आत्मा को अलग कर रहे हैं, जड़ से चेतन को अलग कर रहे हैं, असत् से सत् को अलग कर रहे हैं और इसके बाद एक बात कही है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। (६/१३)

समं कायशिरोग्रीवं— काया, ग्रीवा और सिर —ये सरल रेखा में होने चाहिए। मूलाधार से सहस्त्रार तक सरल रेखा में, अवक्र। इस बात पर आप ध्यान दें कि *'समं कायशिरोग्रीवं'* —जितनी देर तक आप अपना मेरुदण्ड तान कर बैठेंगे —उतनी देर तक आप सचेत हैं, सतेज हैं, कूबड़ निकाल कर बैठने से आलसी आदमी रोगग्रस्त आदमी लगता है। मेरुदण्ड तना रहे आदमी सतेज रहता है उसका एक प्रभाव होता है। आप बैठ कर देख लीजिए। दीर्घायु के लिए, तेजस्विता के लिए, एकाग्रता के लिए जितनी देर मेरुदण्ड सीधा तना रहेगा उतनी देर तक आपका आत्म-कल्याण होगा— भगवान ने गीता में कहा है। क्या कहा ? *समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः* —अचल, स्थिर। बिल्कुल दृढ़ता होनी चाहिए, मन में शान्ति चाहिए। अंग-प्रत्यंग के ऊपर आपका नियंत्रण होना चाहिए। अचल हो, स्थिर हो, एकाग्र हो।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं —नासिकाग्र का मतलब नाक की नोक नहीं। नासिकाग्र का मतलब जहाँ नासिका शुरू होती है। दोनों भौहों के बीच का जो भ्रू-मध्य है इसको

नासिकाग्र कहते हैं। तो *'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं'* —भ्रू-मध्य अपनी दृष्टि को रखकर। विनोबा भावे से पूछा गया कि भ्रू-मध्य रखने की क्यों आज्ञा है? आँख बन्द करके क्यों नहीं? बोले —भइया! आँख बन्द करके रखोगे तो नींद आ सकती है। आँख खुली रखोगे तो इधर-उधर देखने लगोगे। इसलिए आधी आँख खुली रहे और वह नासाग्र पर यानी भ्रू-मध्य पर स्थित हो। सम्यक् रूप से देखते हुए भ्रू-मध्य को *'दिशश्चानवलोकयन्'* —और किसी तरफ न देखे। इसी भ्रू-मध्य को देखते हुए आज्ञाचक्र को देखते हुए वहाँ मन को एकाग्र करके निरोध की स्थिति में जाएँ। एकाग्रता जब परिपक्व होगी तब निरोध की स्थिति आएगी। इसमें जो अट्ठारहवाँ और उन्नीसवाँ श्लोक है —यह संप्रज्ञात् समाधि के निरोध का वर्णन है और उसके आगे के श्लोकों में असंप्रज्ञात समाधि का वर्णन है। तो अभी चूँकि एकाग्रता से निरोध की ओर जाने का निर्देश है, इसलिए कहा जा रहा है कि नासिकाग्र को देखते हुए, अन्य दिशाओं की ओर न देखते हुए मेरुदण्ड को सीधा करके ध्यान लगाएँ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।। (६/१४)

भगवान हमको आपको बेसहारा नहीं छोड़ना चाहते। भगवान की कितनी करुणा है। पातंजल योग दर्शन का निरूपण कर रहे हैं। लेकिन उसमें भक्ति-योग ले आए। भगवान कहते हैं कि ठीक है। तुम योग करो लेकिन करते हुए अगर तुम बेसहारे हो गए हो, बाहर से कोई तुम्हारा सहारा न सही; भीतर से मैं तुम्हारा सहारा बना रहूँगा। आप देखिए—इसमें भक्ति-योग का कैसा संकेत है। प्रशान्तात्मा—यहाँ आत्मा का मतलब है मन, अंतःकरण। जिसका अन्तःकरण प्रशान्त है। शान्त से एक सीढ़ी आगे। उड़िया बाबा ने कहा कि शान्त तो कर्म-योगियों का भी होता है। लेकिन प्रशान्त तो ध्यानियों का, ज्ञान-योगियों का ही होता है। चलो! बोल लो, ऐसे ही बोल लो। लेकिन भगवान ने यह उपदेश आपके-हमारे लिए भी दिया है। हमलोग जो व्यावहारिक व्यक्ति हैं, हमलोग जो समाज में काम करते हैं, हमलोग भी थोड़ा समय प्रकृति से ध्यान करें; और थोड़े समय ध्यान करके अपनी बुद्धि को शुद्ध, अपनी बुद्धि को सम, अपनी बुद्धि को निश्चल, अपनी बुद्धि को एकाग्र करें। एकाग्र बुद्धि से किसी सवाल, किसी समस्या पर आप विचार करें, उसका समाधान आपको प्राप्त होगा। बड़ी बातें, बड़े विचार क्षिप्त-विक्षिप्त मानसिकता में नहीं आ सकते। समझने के लिए भी एकाग्रता आवश्यक है। धारण करने के लिए, उसपर चिन्तन करके उसका अपने जीवन में उपयोग करने के लिए तो एकाग्रता अनिवार्य है और इसी के लिए अभ्यास है। यह जो

ध्यानाभ्यास बताया जा रहा है —यह क्या है? *तत्रस्थितोयत्नोभ्यासः* —अभ्यास किसको कहते हैं? उस स्थिति में बने रहने का जो यत्न है उसको अभ्यास कहते हैं। चित्तवृत्ति के निरोध की जो स्थिति है, एकाग्रता की जो स्थिति है, उस स्थिति में बने रहने का जो प्रयत्न है, वह प्रयत्न अभ्यास है।

मन को कैसे एकाग्र किया जाता है? *अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः*—अभ्यास और वैराग्य —इन्हीं दो सहारों से मन पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। वैराग्य की चर्चा बार-बार की है। वह जो निराशी अपरिग्रह है, वह क्या है? वह वैराग्य की बात है। यहाँ पर कहा गया है कि क्या एक ही दिन में तुम्हारा ध्यान लग जाएगा? एक ही दिन में तुम्हारा मन एकाग्र हो जाएगा? ऐसा नहीं होता। *सततं*—लगातार चेष्टा करो, अभ्यास करो। उस भूमिका पर दृढ़तापूर्वक बैठने के लिए निरन्तर प्रयास करो। यह प्रयास, यह अभ्यास तुम्हारे कार्य की सिद्धि का हेतु होगा। *प्रशान्तात्मा विगतभीः* —भय को छोड़ दो। सबसे बड़ा भय मृत्यु का है। योगी को, ज्ञानी को, मृत्यु का भय नहीं होता। हमारे गुरु जी एक बहुत बढ़िया बात कहते थे। गुरु जी कहते थे कि किसी ने न तो अपना जन्म देखा है, न किसी ने अपना मरण देखा है। तर्क करने के लिए, बहस करने के लिए सब कहते हैं कि बिना देखे कैसे मानें? आपकी बात सुनकर मान लेंगे? जिसको हमने देखा है, उस को ही मानेंगे। तो बताओ? तुमने अपना जन्म देखा है? किसी ने अपना जन्म देखा है? कह रहे हैं कि हमने अपना जन्म तो नहीं देखा है, दूसरे का जन्म देखा है। दूसरे का क्या जन्म देखा है? माँ के गर्भ से एक शिशु पैदा हुआ। तुमने शरीर का जन्म देखा है। शरीर तुम हो? और वह शरीर तो मरने के बाद रह जाता है? जो शरीर मरने के बाद तुम्हारे सामने पड़ा है—तुम वही हो? अगर तुम शरीर ही हो तो चलते-फिरते क्यों नहीं हो मरने के बाद। जो निकल गया, जिसके निकल जाने से शरीर मर गया, उसको निकल जाते हुए किसी ने नहीं देखा। उसको आते हुए किसी ने नहीं देखा। शरीर का जन्म देखा। शरीर का मरण देखा। आत्मा का, अपना, अपने वास्तविक आपे का न जन्म देखा है, न मरण देखा है। जिसको तुमने देखा ही नहीं, जो जन्मा ही नहीं, वह मरेगा कैसे? इसलिए मरण का भय बिलकुल व्यर्थ है। गुरु जी ने हमको समझाया कि मृत्यु का भय बिलकुल छोड़ देना चाहिए। गीता अगर कोई एक बात बताती है तो वह यह है कि आत्मा अजर, अमर है। शरीर तो जाएगा ही जाएगा। इसको तो कोई रोक ही नहीं सकता। इसलिए निर्भय हो जाओ। *विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः*—अभी साधक हैं इसलिए ब्रह्मचारी का व्रत। ब्रह्मचारी का व्रत? यानी गुरु की सेवा, गुरु से उपदेश-श्रवण, संयम—मन पर भोग की वृत्तियों पर संयम, पवित्रता, ब्रह्मचारी के व्रत में रहते हुए। *मनः संयम्य*—मन पर

संयम रखते हुए, तो उनको लगा कि बहुत हो गया। ये नए साधक बिचारे नहीं झेल सकेंगे। तो अपना सहारा दिया। *मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः*—यह मच्चित्तता, मत्परता —यह पातंजल योग-दर्शन नहीं है। पातंजल योग-दर्शन में तो जो भी है वह निर्गुण निराकार ब्रह्म ही है। निर्गुण निराकार आत्मा ही है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं—द्रष्टा अपने आप अपने स्वरूप में अवस्थित है। यह मच्चित्तः कहाँ से आ गया? भगवान कृपापूर्वक कह रहे हैं —हमारे-तुम्हारे जैसे दुर्बल साधकों के लिए कह रहे हैं—मत घबराओ, मत डरो। आँख बन्द करके निर्गुण को सोचो, कुछ नहीं दिखाई पड़ता है। अपने प्रेमी का मुँह दिखेगा, या अपने दुश्मन का मुँह दिखेगा। आँख बन्द करके देख लो। तो कहते हैं *मच्चित्तः* —सगुण साकार परमात्मा का सहारा लो। जो भी तुम्हारा, जिस रूप में भी तुम मुझे स्वीकार करोगे, सब रूप मेरे हैं। राम का, कृष्ण का, शिव का, सब मेरे ही रूप हैं। *मच्चितः*—अपने चित्त को मेरे चित्त से मिला दो। *युक्त आसीत*—मुझसे जुड़ जाओ। *मत्परः*—मुझको सबसे बड़ा मानो। देखो, एक बात समझो। मच्चित्त और मत्पर में कह क्या रहे हैं? तुम अपना प्रेम मुझको दे दो। *मच्चित्तः*—तुम्हारा चित्त किससे लगता है? जिससे तुम्हारा प्यार है। जिसको तुम प्यार करोगे भइया, उसमें तुम्हारा मन जाएगा। पति को, पत्नी को, बेटे को, बेटी को, किसी और को। *मच्चितः* का मतलब भगवान कह रहे हैं कि तुम मुझसे प्रेम करो। तुम मुझको अपने प्रेम का आलम्बन बनाओ। *मत्परः* क्या कह रहे हैं? अपनी बुद्धि मुझको दे दो। पर माने श्रेष्ठ, सबसे बड़ा। सबसे बड़ा कौन है? इसका निर्णय बुद्धि करती है। परमात्मा से बड़ा और कोई नहीं है। परमात्मा सबसे बड़े हैं। यह मानकर परमात्मा से जुड़ो। अपना प्रेम मुझको दो, अपनी क्रिया-शक्ति मुझको दो। ध्यान लगा कर मेरे लिए बैठ जाओ। तो हमारी जो इच्छा-ज्ञान-क्रिया—ये तीनों शक्तियाँ हैं—ये परमात्मा माँग रहे हैं, भिक्षुक बन कर। मुझको दे दे। अपनी इच्छा, अपनी प्रियता, प्रेम की वृत्ति मुझको दो। अपनी बुद्धि की शक्ति मुझको दो। मुझको सबसे बड़ा, श्रेष्ठ मान कर अपनी बुद्धि मुझमें लगाओ। मेरे लिए अभ्यास करो। तो यह पातंजल योग-दर्शन में भी भक्ति-योग का समावेश। मैंने पिछले प्रवचन में बताया था कि सांख्य-योग में भी भक्ति-योग का समावेश हुआ है। गीता में भगवान ने अद्‌भुत समन्वय उपस्थित किया है। ज्ञान-कर्म-भक्ति-ध्यान चारों की समष्टि और चारों की परिणति शरणागति में। गीता का जो चरम मंत्र है वह शरणागति का मंत्र है। तो यहाँ कहा गया अपने मन को नियंत्रित करो, मुझमें लगाओ। मुझको अपना सबसे बड़ा समझकर मुझसे जुड़ जाओ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति। (६/१५)

ऐसा योगी जिसने अपने मन को जीत लिया है– *नियतमानसः* —नियत माने नितराम् यत माने सन्नियत संयत। जिसने अपने मन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी अपने चित्त को सदा मुझमें लगाता हुआ, मुझमें रहने वाली निर्वाण कोटि की जो परम शान्ति है, उसको प्राप्त करता है। देखो, संसार में हम सब सुख चाहते हैं, हम सब शान्ति चाहते हैं। परमानन्द, परम शान्ति। तो भगवान कहते हैं कि जब मनुष्य अपने मन को नियंत्रित करके बिलकुल आत्मा के साथ जुड़ जाता है तो मुझमें रहने वाली *मत्संस्थाम — निर्वाणपरमां* — निर्वाण की परम सीमा की कोटि की, मुक्ति की परम सीमा की कोटि की शान्ति को वह प्राप्त करता है। उस परम शान्ति को वह योगी प्राप्त करता है, जो अपने मन को जीतकर सदा मुझमें अपने चित्त को लगा देता है। अब इसमें विघ्न हैं क्या-क्या? विघ्नों का वर्णन किया गया है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (६/१६-१७)

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति— बहुत खाओगे तो नींद आएगी। बहुत खाने से योग-साधना नहीं होती। *'न चैकान्तमनश्नतः* —बिलकुल उपवास पर हो गए, दुर्बल हो गए, चक्कर आएगा, योग-साधना नहीं होगी। भगवान बुद्ध ने यह बात अपने जीवन से प्रमाणित की। बहुत भूखे रहने से अस्थिकाय शेष रह गए, फिर सुजाता की खीर ग्रहण कर उन्होंने साधना शुरू की। न अधिक खाना, न बिलकुल उपवास करना। न बिलकुल सोना न बिलकुल जागना। बिलकुल जागते ही रहोगे तो नींद आएगी-ही-आएगी। इसलिए *'युक्ताहारविहारस्य'* —आहार और विहार युक्त होना चाहिए, उचित होना चाहिए। देखिए ! आहार के सम्बन्ध में कई नियम हैं। चार नियम हैं —हित भुक्, मित् भुक्, ऋत् भुक और स्मित भुक्। पहला नियम है कि भोजन हितकर करना चाहिए, पच जाए ऐसा करना चाहिए। जो अहितकर भोजन है, वह नहीं करना चाहिए। पेट खराब है तो रबड़ी नहीं खानी चाहिए। सर्दी है तो कुल्फी नहीं खानी चाहिए। दूसरा नियम है कि हितकर भोजन भी परिमित करना चाहिए। अल्प मात्रा में करना चाहिए। शंकराचार्य जी ने बताया है कि आधा पेट भोजन करे, चौथाई पेट पानी से भरे और चौथाई पेट वायु के लिए खाली छोड़ दे। भगवान बुद्ध ने कहा है— *चत्तारो पंचारोपे।*

जब चार-पाँच कौर भोजन करने की भूख बाकी हो। *अभुक्ता उदकं पीबेत*—तो भोजन करना बन्द कर दे, पानी पी ले। अलं उसके विहार करने के लिए इतना भोजन काफी है। तो पहला नियम हुआ हितकर भोजन, दूसरा नियम हुआ परिमित भोजन, हित भुक्, मित भुक्। तीसरा भोजन है ऋत भुक् —ईमानदारी की कमाई का खाओ। बेईमानी की कमाई की खाएगा और मुँह शुद्ध होगा? जैसा खाए अन्न, वैसा होए मन। बेईमानी की कमाई का खाएगा तो मन शुद्ध, पवित्र नहीं होगा। आप लोगों को कहानी याद है कि नहीं? गुरु नानक देव जी एक गाँव में गए। तो वहाँ के जमींदार ने उनको अपने यहाँ आमंत्रित किया और एक किसान ने भी आमंत्रित किया। वे किसान के घर गए। जमींदार दुःखी हुआ। बोला— मेरे यहाँ इतनी अच्छी रोटी थी। आपने क्यों नहीं ग्रहण की? बोले, ले आ अपनी रोटी। उन्होंने उनकी रोटी ली, किसान की रोटी ली। दोनों को निचोड़ा। जमींदार की रोटी से खून गिरा और किसान की रोटी से दूध गिरा। *ऋत भुक्*— अगर तुम योग साधना करना चाहते हो, योगाभ्यास करना चाहते हो, तो ईमानदारी की कमाई खाओ। और *स्मित भुक्।* खाते समय पत्नी पर नाराज हो रहे हैं। नौकर से झगड़ रहे हैं —यह क्या खाना बनाया है? मुस्कराते हुए खाना चाहिए, हँसते हुए खाना चाहिए, प्रसन्न चित्त से खाना चाहिए। हित भुक्, मित भुक्, ऋत भुक् और स्मित भुक्। मेरे गुरु जी इसमें एक और बात जोड़ते थे। पंचम हित् मितं अनायासं— - कहते थे पथ्य हो, मित् हो यह तो ठीक ही है, लेकिन ऐसा भोजन हो, जो अनायास भोजन हो। मेरे एक बहनोई हैं वे कभी-कभी शी-पुलाव बनाते थे। तो सुबह से शी-पुलाव बनता था। शाम तक बनता था तो खिलाते थे। आयास इतना आयास। आजकल लोग खाना खाने के पहले सूप पीते हैं, कैसा सूप बने? नारायण! उसमें यह तरकारी काटी जा रही है; वह तरकारी काटी जा रही है। उसमें यह काटा जा रहा है; वह काटा जा रहा है। घंटों लगते हैं। नहीं— यह भोजन का रास्ता नहीं है। *अनायासं* —ऐसा भोजन जो कम आयास से बने। खाने के लिए तुम पैदा नहीं हुए हो। तुम खाने के लिए जी रहे हो कि जीने के लिए खा रहे हो? मूल बात यह है। जीने के लिए खाएँगे। खाने के लिए नहीं जिएँगे। *अनायासं*— कम मेहनत से जो अच्छा भोजन हो जाए, ऐसा खाइए। *युक्ताहारविहारस्य* — आहार युक्त हो, विहार भी युक्त हो। विहार का मतलब कैसा साथ-संग है, क्या दृश्य देख रहे हैं? कहाँ-कहाँ जा रहे हैं? जिसका साथ करेंगे, उसका प्रभाव जरूर पड़ेगा। *युक्तचेष्टस्य कर्मसु*— कामों की चेष्टा युक्त है कि नहीं? थोड़े में आप रोने लगते हैं? थोड़े में आप क्रुद्ध हो जाते हैं? आपकी चेष्टाएँ युक्त नहीं हैं? क्या कर्म है? स्वाध्याय करते हैं। ध्यान करते हैं। जप करते हैं, सत्संग

करते हैं। *युक्त चेष्टस्य कर्मसु*— सब कामों की चेष्टाएँ युक्त होनी चाहिएँ। जितनी जिसके लिए आवश्यकता, उतनी ही चेष्टा। उग्र चेष्टा नहीं, शिथिल चेष्टा। *युक्तस्वप्नावबोधस्य*— ठीक समय पर जागो, ठीक समय पर सोओ। सूर्यवंशी लोग तो वे होते हैं, जिनको सूरज की किरणें आकर जगाएँ और तब भी वे न जागें। वे मनुहार करें तब जागें? ऐसा नहीं होना चाहिए। गीता मानती है कि सूर्योदय के पहले उठना चाहिए और यथा समय सो जाना चाहिए। *योगो भवति दुःखहा* —दुःखों को दूर कर देने की क्षमता योग में है। अगर तुम्हारा आहार-विहार, तुम्हारी चेष्टाएँ, तुम्हारा कर्म, तुम्हारा सोना, तुम्हारा जागना युक्त होगा। अब इन दोनों श्लोकों में, १८ और १९वें श्लोक में एकाग्रता से निरोध की ओर गई हुई मानसिकता का चित्रण है।

जब स्थान विशेष में चित्त रमता है, तो धारणा है, जब कार्य विशेष में रमता है, तो ध्यान है, और जब जाकर विशेष के साथ वह एक हो जाता है तो समाधि है। संसार के साथ हम कैसा व्यवहार करें? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम अपने ऊपर कैसा करें —शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप और दूसरों पर भरोसा —यह है यम और नियम। आसन—शरीर पर नियंत्रण पाने के लिए, प्राणायाम—वायु पर नियंत्रण पाने के लिए, प्रत्याहार— इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए; और फिर धारणा-ध्यान-समाधि मन पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए। मन सबसे सूक्ष्म है। इसलिए शरीर, वायु —वायु का मतलब क्रिया भी; प्राणायाम का मतलब है, हमने सारी क्रियाओं के ऊपर नियंत्रण प्राप्त कर लिया। वायु के साथ-साथ हमने क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया और फिर धारणा-ध्यान और समाधि के द्वारा हमने ध्येय वस्तु से अपना तादात्म्य किया। संप्रज्ञात समाधि में —हमको मालूम है कि अभी हम ध्यान कर रहे, थे अब हम एक हो गए। संप्रज्ञात समाधि के लिए बताया गया है कि ध्येयाकार से एकरूप होते हुए भी थोड़े से अलग होने का मान रहता है। उदाहरण दिया जाए तो अच्छा है। जैसे नदी समुद्र में मिली। जब नदी समुद्र में मिलती है, तो उस संगम में आपको दिखाई पड़ेगा कि यह नदी का पानी है, यह समुद्र का पानी है। प्रयाग में आपको दिखेगा कि यह यमुना जी का पानी है— यह गंगा जी का पानी है। थोड़ी दूर तक फिर आगे जाकर दोनों एकरूप हो गए। तो संप्रज्ञात समाधि का मतलब है अपने ध्येय से एकाकार होने पर भी थोड़ा सा अभी अंतर प्रतीत होता है। धारणा यानी मन अभी एक ही स्थान पर है। इस कक्ष के बाहर मन नहीं जाएगा। यह धारणा है। इस काल तक मन इसी को सोचेगा —यह ध्यान है; और समाधि —जब ध्येय से हमारा एकाकार हो जाएगा, तादात्म्य हो जाएगा। संप्रज्ञात समाधि का वर्णन है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। (६/१८)

चित्त अपने आत्मा में मिल गया। *यदा* —माने जिस स्थिति में। *विनियतं* —नियत माने जीता हुआ। *यत*— माने संयत। *नियत* माने— नितराम स्थिति। *निवियते* माने— उसमें एक वि और लगाया माने, विशेष रूप से नियत। *यदा विनियतं चित्त* —जब बिलकुल परिपूर्ण रूप से जीता हुआ चित्त। *'आत्मन्येवावतिष्ठते'* —अपने आत्मस्वरूप में ही, अपने में ही स्थित रहता है। चित्त बाहर नहीं जाता। चित्त को किसी दूसरे से कोई अपेक्षा नहीं रहती। चित्त अपने ही घर में आकर बिलकुल तल्लीन होकर बैठ गया। *निःस्पृहः* —कोई स्पृहा, कोई इच्छा नहीं। *अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः* —मन का निरोध कैसे होगा? *योगःचित्तवृत्ति निरोधः* —चित्त की वृत्तियों का निरोध कब होगा? जब अभ्यास होगा; और वैराग्य होगा। अभ्यास का वर्णन किया— *निःस्पृहः* —जब कोई स्पृहा नहीं। *सर्वकामे* —किससे निस्पृह हुआ? समस्त कामनाओं से। यह नहीं कि पाँच कामनाओं से निस्पृह हुआ और पाँच कामनाओं में अभी स्पृहा बनी हुई है। *निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो* —जब सर्व यज्ञ सिद्ध होता है। जब स्वर्ग तो स्वर्ग, मोक्ष तक त्याज्य मालूम पड़ता है। वह *निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युश्चयते तदा* —तब कहा जाता है कि वह योगी हो गया, युक्त हो गया। युक्त की देखिए! इसके पहले भी परिभाषा की गई है। युक्त की परिभाषा बार-बार प्रभु करते हैं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। (६/८)

ज्ञान-विज्ञान से जो तृप्त हो गया है जिसका मन अपने में स्थिर है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके लिए सोना और पत्थर समान है, कुछ पाना नहीं है; क्योंकि हमने उसके मूल को समझ लिया है। मूल को समझ लेने पर कुछ दूसरा है ही नहीं, तब वह युक्त होता है। इसी को आचार्यों ने संप्रज्ञात् समाधि का रूप कहा है। कि जब अपना चित्त पूरी तरह से विजित होकर, नियंत्रित होकर अपने ही आत्म स्वरूप में अवस्थान करता है —*तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं अवत्तिष्ठते निस्पृहः सर्वकामेभ्यो* —समस्त कामनाओं से जब वह निस्पृह हो जाता है, तब वह युक्त होता है, तब वह योगी होता है, तब वह सिद्ध होता है। यहाँ युक्त का मतलब योगी है, सिद्ध व्यक्ति, इस सिद्ध योगी का वर्णन है यहाँ पर—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। (६/१९)

योग में युक्त चित्त को किसके द्वारा उपमित किया है? किसकी उपमा देकर योग में निरत चित्त को समझाया जाए? यह समस्या है, तो एक उपमा दे रहे हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता

जैसे *निवात* —बिलकुल वायु शून्य तो कोई भी स्थान नहीं हो सकता। थोड़ी-न-थोड़ी वायु तो रहेगी। लेकिन जहाँ वायु-प्रवाह नहीं है। वायु-प्रवाह रहित कक्ष में या क्षेत्र में जैसे निष्कंप दीप-शिखा जलती है। *नेंगते* —नेंगते माने जो हिलती-डुलती नहीं है, चंचल नहीं है, निष्कंप जलती है। *'सोपमा स्मृता'* —वही उपमा दी जाती है, वही उपमा याद आती है। किसके लिए? *योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः* जिसने योग में अपने आप को लगा दिया है, उनके जीते हुए चित्त का उपमान अगर कोई है, तो वह दीपक जो निवात स्थान पर निष्कंप जलता रहता है। वैसे ही निष्कंप, बिना हिले-डुले, बिना दूसरी ओर गए, बिना किसी की अपेक्षा किए, बिना किसी की कामना किए जब चित्त पूर्णतः आत्मा में लग जाता है, जुड़ जाता है, और ध्यान से उसका तादात्म्य जब हो जाता है, अपने आपे के साथ, अपने वास्तविक स्वरूप के साथ, जब उसको संप्रज्ञात् समाधि प्राप्त हो जाती है, तो उसकी उस निष्कंपता की उपमा केवल वायु-प्रवाह रहित क्षेत्र में जलते हुए निष्कंप दीप के साथ ही की जा सकती है। वैसी निष्कंपता, वैसी दृढ़ता, वैसी प्रकाश युक्त चित्त-स्थिति —हाँ —दीपक की उपमा यों ही नहीं दी है। निष्कंपता भी अपेक्षित है और ज्ञान भी अपेक्षित है, प्रकाश भी अपेक्षित है। वह जो निष्कंप चित्त, आत्मा के साथ युक्त है, वह ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा है। युक्त का लक्षण जो आगे दिया है। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त चित्त अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद, किसी दूसरी छोटी स्पृहा से विचलित न होने के कारण वायु रहित क्षेत्र में निष्कंप दीप के समान जिस प्रकार वह अपने-आप को उद्भासित करता है, प्रकाशित करता है, अपने ही ज्ञान में, अपने ही स्वरूप में स्थित रहता है, उस योगी के चित्त का उपमान वह दीपक ही है। प्रभु की कृपा से हमारा आपका चित्त भी इसी प्रकार निष्कंप होकर, प्रभु के ज्ञान से युक्त होकर प्रभु के साथ जुड़ जाए। ●

प्रवचन-१९*

योग से परम योग की ओर

भगवान की कृपा है कि गीता का अनुशीलन क्रम चल रहा है। जो प्रसंग अभी प्राप्त है, उस प्रसंग के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें गीता का सारतम भाग है। आचार्य विनोबा भावे का यही मत है। रामानुजाचार्य ने भी इस अंश को बहुत महत्त्व दिया है। इसलिए श्रद्धा के साथ, शान्ति के साथ, विनम्रता के साथ हम इस प्रसंग को सुनें। पिछले प्रवचन के अंत में मैंने बताया था कि संप्रज्ञात समाधि का वर्णन उन्नीसवें श्लोक में किया गया है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। (६/१९)

जब हमारा मन एकाग्र होता है, जब मन एक ही देश के भीतर रहता है, तो *'धारणा'* है। एक काल में एक ही लक्ष्य के भीतर रहता है, तो *'ध्यान'* है; और जब लक्ष्य की ही ओर उन्मुख है तो *'समाधि'* है। ध्याता, ध्यान और ध्येय —इस त्रिपुटी का लय होता है, तो समाधि होती है। लेकिन संप्रज्ञात समाधि में —अपनी शब्दावली से ही स्पष्ट है कि यह भूमिका ज्ञात है। सम्यक् रूप से, प्रकृष्ट रूप से जो ज्ञात है उसको कहते हैं सम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में यह बात हमको ज्ञात है कि हम ध्याता हैं — मन को इष्ट की ओर लगाने की प्रक्रिया का नाम ध्यान है; और जो इष्ट है वह हमारा ध्येय है, उसका हम ध्यान कर रहे हैं। तो ध्याता, ध्यान के द्वारा ध्येय से एक हो रहा है —इसका बोध जब बना रहे तो संप्रज्ञात समाधि है। जब इसका बोध भी न रहे, जब केवल ध्येय रूप ही चित्त हो जाए, तब असंप्रज्ञात समाधि होती है। उसका अपना रूप भी उसको विस्मृत हो गया है। ध्येय मात्र की स्थिति उसके अन्तःकरण में, उसके भीतर है, तो वह असंप्रज्ञात समाधि है। बीसवें और इक्कीसवें —इन दो श्लोकों में असंप्रज्ञात समाधि का निरूपण किया गया है और इन दो श्लोकों के द्वारा योग की जो परम उच्च स्थिति है उसको भगवान ने शब्दबद्ध कर दिया है सहज रूप में। इसके बाद दो श्लोकों

* षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या २० से ३२

में उसकी महिमा का, उसके फल का, वर्णन है। उसके पश्चात् के श्लोकों में कैसे इस स्थिति को प्राप्त किया जाए, उसकी प्रक्रिया का वर्णन है। आपने ध्यान दिया होगा कि जो अच्छे अध्यापक होते हैं वे विद्यार्थियों को पहले यह बताते हैं कि देखो ! कितनी बड़ी बात बता रहे हैं? उस बड़ी बात को, लक्ष्य को, पहले बता देते हैं जिससे कि हमारे मन में स्पष्ट बोध रहे कि हमको क्या प्राप्त करना है? उस कठिन प्राप्तव्य के लिए हमारे मन में उत्साह हो, इसलिए उसके फल का भी निरूपण करते हैं— कि देखो! अगर इस स्थिति पर पहुँच जाओगे तो तुमको इसका यह फल प्राप्त होगा। उस ऊँची स्थिति के निरूपण के बाद, उस स्थिति पर पहुँच जाने पर, प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करने के बाद, वे अपने विद्यार्थियों को बताते हैं कि इस प्रक्रिया से आगे बढ़ोगे तो उस ऊँची स्थिति तक पहुँचोगे। केवल प्रक्रिया का वर्णन पहले कर दें, तो उसमें उत्साह नहीं होगा, मन नहीं लगेगा। भगवान सबसे बड़े गुरु हैं। *गुरुणां गुरुः* जगत् गुरु हैं, इसलिए उन्होंने बीसवें और इक्कीसवें— इन दोनों श्लोकों में योग की जो असंप्रज्ञात समाधि है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय —इन तीनों की त्रिपुटी का लय हो जाता है और केवल ध्येय मात्र का बोध बना रहता है, उसका वर्णन किया है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। (६/२०)

योग का सेवन करने के कारण, योगाभ्यास करने के कारण जहाँ-जहाँ या जिस-जिस समय, जब-जब चित्त संसार से उपराम हो जाता है, विषय-भोग से जब पूर्ण विरक्ति हो जाती है और चित्त उससे बिलकुल अनासक्त हो जाता है उसको कहते हैं उपराम हो जाना —*उपरमते।* हमारे गुरुजी ने इसमें एक बहुत ही मधुर व्यंजना दी है। बोले— उपराम माने ? जो राम के पास हो। उपासना माने ! जो परमात्मा के पास बैठा हो। तो उपराम माने ? जो राम के पास हो और राम के पास कौन रहता है? लक्ष्मण रहते हैं न! लक्ष्मण का चित्रण, उपरत भक्त का चित्रण है। लक्ष्मण का चित्रण करते हुए तुलसीदास ने कहा है—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी।

मेरा कोई पिता नहीं है, मेरी कोई माँ नहीं है, मेरा कोई गुरु नहीं है। *कहहुँ सुभाव* —बना कर नहीं बोल रहा हूँ, स्वाभाविक सत्य बोल रहा हूँ —*नाथ पतिआहू* —प्रभु आप मुझपर विश्वास कीजिए —अपने भक्त की बात पर, हे प्रभु! तुम ही एक मेरे सर्वस्व हो। तुम अन्तर्यामी हो, तुम दीनबन्धु हो। तुम मेरे हृदय की बात को जानते

हो। उपराम होने का मतलब क्या हुआ? कि जगत् के भोगों से, जगत् के आकर्षणों से अनासक्त होकर, जगत् के आकर्षणों की आसक्ति का त्याग कर, भगवान की ओर चले जाना। इसलिए उन्होंने उपराम का एक बहुत ही सही उदाहरण दे दिया और उसके द्वारा कैसी उपरामता होनी चाहिए, किस स्तर की उपरामता होनी चाहिए? उस स्तर की उपरामता का निर्देश दिया है।

'यत्रोपरमते चित्तं'। ज्यादातर आचार्यों ने उपरमते का मतलब विषय-भोग से अनासक्त हो जाना, व्यर्थ होना बताया है। एकमात्र रामानुजाचार्य ने बताया है कि *'योगोचित्तम् उपरमते'* चित्तं योगे उपरमते —चित्त योग में रमण करता है। यहाँ 'उप' का मतलब निकट, अच्छी तरह से रमण करता है। जब चित्त योग में पूरी तरह से रम जाता है। यह एक विशिष्ट अर्थ है —रामानुजाचार्य का। अधिकतर आचार्यों ने उपराम का मतलब संसार से विरक्ति बताया है। लेकिन रामानुजाचार्य प्रभु ने बताया है कि जब चित्त योग में पूरी तरह से रमण करने लगता है, तब वह निरुद्ध होता है। निरुद्ध योगदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का अंग है। योग दर्शन में चरम उपलब्धि क्या बताई गई है? *योगश्चित्तवृत्ति निरोधः* —योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। चित्त चंचल रहता है। और किसी-न-किसी वृत्ति में चित्त रमण करता है। जब हम चित्त की वृत्तियों का पूरा निरोध कर देते हैं, जब हम चित्त में कोई दूसरी वृत्ति नहीं आने देते। चित्त में कोई भी दूसरी वृत्ति नहीं आएगी, तब चित्त निरुद्ध हुआ और निरुद्ध चित्त का लक्षण बताया —*'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं'* —जब चित्त में कोई दूसरी वृत्ति नहीं रहती, चित्त अपने सहज स्वरूप में रहता है, तो चित्त, चित्त नहीं रहता। वह स्वरूप हो जाता है, आत्मा हो जाता है। चित्त और आत्मा में अंतर क्या है? चित्त और आत्मा में अंतर यह है कि जब चित्त में दूसरी लौकिक वृत्तियाँ आती रहती हैं, तो अपने वास्तविक स्वरूप में और अपने बीच में एक पर्दा पड़ जाता है। उस पड़े हुए पर्दे के कारण हम अपने को उन वृत्तियों के साथ एक करते हैं। योग दर्शन में बताया है —*तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं।* और जब चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं होता, जब चित्त की वृत्तियाँ स्वरूप में अवस्थान नहीं करतीं —तो क्या होता है? वृत्ति सारूपी —तो जैसी वृत्ति होती है, चित्त वैसा हो जाता है। जैसी वृत्ति होती है, हम वैसे हो जाते हैं। हमारा सहज रूप क्या है? स्वरूप क्या है हमारा? *तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं* —जब स्वरूप में हम अवस्थान करते हैं तब हम शुद्ध चित्त शुद्ध बुद्ध हैं, सच्चिदानन्द अद्वय हैं। लेकिन जब हमारे चित् में वृत्तियाँ आती हैं, तो हम अपनी वृत्तियों के साथ एकरूप हो जाते हैं। चित्त में काम की वृत्ति आई तो हम कामी हो गए। चित्त में क्रोध की वृत्ति

आई तो हम क्रोधी हो गए। चित्त में लोभ की वृत्ति आई तो हम लोभी हो गए। हम न कामी हैं, न क्रोधी हैं, न लोभी हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप है। लेकिन जब चित्त में भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ आती रहती हैं तो उन-उन वृत्तियों के साथ चित्त एक हो जाता है। दुःख की वृत्ति आती है तो दुःखी हो जाते हैं। चिन्ता की वृत्ति आती है, तो चिन्तित हो जाते हैं। भय की वृत्ति आती है, तो हम भयभीत हो जाते हैं। वृत्ति के साथ हम अपने को एकरूप करते हैं जो कि पाप है। हमारे चित्त में, हमारी आत्मा में एक प्रकार का पर्दा पड़ जाता है; और जिस प्रकार का पर्दा होता है, जिस रंग का पर्दा होता है, वही रंग हमारे चित्त का हो जाता है। हम वैसे ही हो जाते हैं। लेकिन असंप्रज्ञात समाधि की स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु बताते हैं —निरुद्धं —चित्त निरुद्ध है। चित्त में कोई दूसरी आगन्तुक वृत्ति नहीं है। अपने सहज शुद्ध बुद्ध स्वरूप में वह स्थित है, वही आत्मस्वरूप हो जाता है।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

आत्मना आत्मानं पश्यन् —पहले आत्मनः का मतलब क्या है? पहले आत्मनः का मतलब है कि शुद्ध अंतःकरण के द्वारा चित्त निरुद्ध हो गया है। उस निरुद्ध चित्त का जो कलुष है, वह कलुष दूर हो गया। उस शुद्ध अंतःकरण में आत्मा का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा खिला रहे, लेकिन नीचे चंचल लहर है तो चंचल लहर में चन्द्रमा नहीं दिखता। उसका बिम्ब इधर उधर डोलता रहता है। पूरा बिम्ब नहीं दिखता और स्थिर जल हो, शान्त जल हो तो उसमें वह पूरा का पूरा चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है। क्या बताया इससे ? यह बताया कि *'यत्र चैवात्मनात्मानं'*—अपने शुद्ध अंतःकरण के द्वारा, *'आत्मानं पश्यन्'* अपने सहज वास्तविक आत्म स्वरूप को देखता हुआ शुद्ध अंतःकरण में आत्मा का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, प्रतिफलित होता है और वह उसका अनुभव कर सकता है तो *'आत्मना आत्मानं पश्यन्'* —शुद्ध अंतःकरण के द्वारा अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को देखता हुआ 'आत्मनि तुष्यति' --किसी बाहरी वस्तु से तुष्ट नहीं होता, अपने ही भीतर के आनन्द से तुष्ट होता है। आप इस बात पर ध्यान दीजिए। हमारा प्रेम किसी विषय से होता है। किसी व्यक्ति से होता है। जब वह वस्तु हमको मिलती है तो हमको तृप्ति होती है, तुष्टि होती है। जब हम कोई चीज प्राप्त करते हैं, भोजन करते हैं तो तृप्ति होती है। हमारी रति अलग है। हमारी तृप्ति अलग है। हमारी तुष्टि अलग है। भगवान कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। (३/१७)

रति, प्रेम भी अपने आपे से, तृप्ति भी अपने आपे से और तुष्टि भी अपने आपे से। किसी बाहर की वस्तु से, किसी बाहर के विषय से, किसी बाहर के व्यक्ति से हमारा प्रेम तो दुःख का घर है। वह व्यक्ति वैसा नहीं रहेगा। तुम चाहोगे पास रहे, वह दूर जाएगा। वह तुमसे प्रेम नहीं करेगा। तुम चाहोगे यह मिले तो तृप्ति हो। वह वस्तु नहीं मिलेगी। जितना चाहोगे, उतनी नहीं मिलेगी। इसलिए वास्तविक रति, वास्तविक तृप्ति, वास्तविक तुष्टि अपने भीतर खोजो। वह अपने भीतर है। अपना आपा जो है, वही अपना सबसे प्यारा है। अपना आपा जो है उसी के प्राप्त होने पर, उसी से युक्त होने पर हमको तृप्ति होती है और उसी से तुष्टि होनी चाहिए। तो असंप्रज्ञात समाधि में निरुद्ध चित्त किसी बाहरी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता, वह अपने शुद्ध अंतःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाले अपने आत्मस्वरूप को देखता हुआ, स्वयं अपनी तुष्टि का अनुभव करता है। यह तुष्टि, यह प्रीति, यह इति किस सीमा तक है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। (६/२१)

यहाँ भगवान लौकिक सुख से, भौतिक सुख से, आत्मिक सुख का अन्तर बता रहे हैं। जब हमको दस हजार रुपया मिल जाता है तो हमको बहुत सुख होता है। हमलोगों को दस हजार ही मिलने पर, लोगों को शायद दस करोड़ मिलने पर। तो जो चीज जिसको प्रिय है। लेकिन वह कितनी देर खुश रहता है? दस करोड़ मिलने पर दस अरब पाने की इच्छा होती है। और इस लिए कोई चीज प्राप्त होने के पहले तक, उसके प्रति जो आकर्षण है, प्राप्त होने के बाद वह आकर्षण नहीं होता। काम और प्रेम का मौलिक अन्तर यही है। काम और प्रेम के तीन मौलिक अन्तर हैं। जिस व्यक्ति के प्रति हमारी आसक्ति है, उसको हम सुख देना चाहते हैं कि उससे हम सुख पाना चाहते हैं? अगर हम उसको सुख देना चाहते हैं, तब तो प्रेम है और उससे सुख पाना चाहते हैं, तो यह काम है। काम उपलब्धि के बाद उतर जाता है, प्रेम उपलब्धि के बाद बढ़ता है। काम तूफान की तरह, बवंडर की तरह आता है, उत्तरोत्तर क्षीण होता है। जैसे नदी से निकाली हुई नहर। जहाँ से नहर निकाली जाती है, वहाँ बड़ी होती है, उत्तरोत्तर क्षीण होती हुई सूख जाती है। और प्रेम *'प्रतिक्षण वर्धमानं'* —जैसे गोमुख से निकली हुई गंगा। भगवान की कृपा है कि मैंने गोमुख से निकली गंगा के दर्शन किए हैं। गोमुख से निकली हुई गंगा की धारा क्षीण है। उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते आप जाइए फरक्का में, देखिए! क्या विशाल पाट होता है? तो प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है, प्रेम स्थायी होता है, और प्रेम तत्सुखी भाव से प्रेरित होता है। काम बवंडर की तरह उठता है, उपलब्धि

के बाद क्षीण होता है; और स्वसुखी भाव से प्रेरित होता है। यहाँ यह बताया गया है कि भौतिक सुख इसी प्रकार का है, काम की तरह। और आत्मिक सुख उससे बिलकुल भिन्न प्रकार का है। तमाम लौकिक सुख अल्प होते हैं। *'अल्पे सुखं नास्ति भूमा वै सुखं'*। अल्पता में सुख नहीं है, भूमा में सुख है। लौकिक सुख अल्प है। लौकिक सुख नश्वर है। लौकिक सुख में भय है। पारमात्मिक सुख कैसा है? *'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्'*। वह आत्यन्तिक है, अन्त का अतिक्रमण करता है। जिसका कभी शेष नहीं होता। जितने भौतिक सुख हैं, सबका शेष है। सब समाप्त हो जाएँगे। आत्मिक सुख आत्यन्तिक है। वह अन्त का भी अतिक्रमण करता है। वह अनन्त है। *'बुद्धिग्राह्यं'*— यह लौकिक बुद्धि नहीं है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा है, यह शुद्ध बुद्धि है। यह इन्द्रियों का विषयों के द्वारा संयोग होने पर जो सुख है, वह नहीं है। यह अभ्यास के द्वारा प्राप्त सुख भी नहीं है, सात्त्विक भी नहीं है, राजसिक भी नहीं है, तामसिक भी नहीं है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा अनुभूयमान सुख है। बुद्धिग्राह्य है। यह सात्त्विक सुख के भी परे सुख है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। (१८/३८)

इन्द्रिय और विषय के संयोग से प्राप्त जो सुख है वह ऐन्द्रिय सुख है। वह राजस सुख है। यह *अतीन्द्रियं* —इन्द्रियों का अतिक्रमण करके प्राप्त होने वाला सुख है। *'वेत्ति यत्र न चैवायं'* —केवल जानने मात्र से होता है। *'स्थितश्चलति तत्त्वतः'*— तत्त्वपूर्वक उस स्थिति पर पहुँच जाने पर उस स्थिति से कभी वह विचलित नहीं होता। यह असंप्रज्ञात समाधि का सुख ध्येय मात्र का बोध बना रहने पर अपने में ही तुष्ट होने वाला, अतीन्द्रिय, बुद्धिग्राह्य, अनन्त, बोध मात्र से उपलब्ध होने वाला वह सुख, वह असंप्रज्ञात् समाधि का परम सुख कितना बड़ा है? अब इसको बता रहे हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। (६/२२)

जिसको प्राप्त हो जाने के बाद कोई दूसरा लाभ उससे बड़ा हो ही नहीं सकता। तमाम अपेक्षाओं, तमाम लालसाओं के परे वह जो परम सुख की स्थिति है, उससे बड़ी और कोई दूसरी स्थिति नहीं है, जिसकी लालसा मन में जागे।

जिसमें स्थित हो जाने के बाद बड़े-से-बड़े दुःख के द्वारा भी कोई विचलित नहीं होता, क्योंकि बड़ा-से बड़ा दुःख या भौतिक सुख या जो भौतिक दुःख है, इससे वह ऊपर उठ गया है। उदासीन। उदासीन का मतलब ? हमलोग उदासीन कहते हैं जिससे

न कुछ लेना है न देना है। लेकिन उदासीन शब्द का अर्थ है—ऊपर बैठा हुआ। उत् माने ऊपर। आसीन माने बैठा हुआ। उदासीन माने, जो ऊपर बैठा हुआ है। संसार के सुख-दुःख नीचे की भूमिका पर हैं। उस नीचे की भूमिका में जो सुख-दुःख आते-जाते हैं, उनसे जो ऊपर उठ गया है, उसको वे नीचे के स्तर के सुख-दुःख छूते ही नहीं। न वे सुख उसको आकर्षक प्रतीत होते हैं। जो सुख उसको प्राप्त हो गया, उस सुख से बड़ा कोई सुख ही नहीं। जो दुःख प्राप्त हो गया, उससे बड़ा विचलित करने वाला कोई दुःख ही नहीं। तो उस सुख-दुःख के ऊपर। मेरे गुरुजी ने कहा कि इसमें *'गुरुणा'* शब्द को अलग भी किया सकता है। शुक्राचार्य जैसे गुरु अगर किसी को मिल जाएँ, जो बलि को कहें—कि नहीं! वामन को दान मत दे। ऐसे गुरु भी मिल जाएँ और उसको विचलित करना चाहें तो ऐसे गुरु भी उसको विचलित नहीं कर सकते। बड़े-से-बड़ा दुःख भी उसको विचलित नहीं कर सकता; और भोगासक्त गुरु भी उसको अपनी भूमिका से विचलित नहीं कर सकते। उस बड़ी भूमिका पर पहुँच गया साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इसको आगे बताया गया है। इसके बाद एक अद्‌भुत श्लोक है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (६/२३)

योग की तीन परिभाषाएँ गीता में दी गयी हैं—

'योगः कर्मसु कौशलं', *'समत्वं योग उच्यते'*, *'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'*। योग किसको कहा जाता है? *तं विद्याद्* —उसको जानना चाहिए। *'दुःखसंयोगवियोगं'* जिसमें दुःख के संयोग का वियोग होता है। भगवान बहुत सावधानी से कह रहे हैं। क्यों नहीं कहते कि दुःख का वियोग होता है? भगवान कहते हैं कि दुःख के संयोग का वियोग होता है। तुम मनुष्य होकर पैदा हुए हो। मनुष्य होकर पैदा हो गए तो लौकिक स्तर पर तुमको दुःख घेरेंगे ही। हमलोग क्या राम और कृष्ण से बड़े हैं? हमलोग तो राम और कृष्ण से बड़े नहीं हैं। कविवर गुलाब खंडेलवाल की यह कविता मैंने कई बार सुनाई है, फिर सुनाता हूँ। अच्छी बात को बार-बार सुनाने में क्या हानि है?

जिनका नाम लिए दुख भागे
मिला उन्हें तो दुख-ही दुख, जीवन-भर आगे-आगे।।
छूटा अवध, साथ प्रिय जन का / शोक असह था पिता-मरण का
देख दुःख मुनियों के मन का / वन के दुख भी त्यागे।
मिला उन्हें तो दुख-ही-दुख, जीवन-भर आगे आगे।।

व्याकुल प्रिया-विरह में फिरना / कैसे हो सागर का तिरना
मूर्च्छित हो भ्राता का गिरना / नित नव-नव दुख जागे
मिला उन्हें तो दुख ही दुख, जीवन-भर आगे-आगे।।
गूँजी ध्वनि जब कीर्ति-गान की / फिर चिर-दुख दे गई जानकी
माँग उन्हीं सी शक्ति प्राण की / मन तू सुख क्या माँगे?
मिला उन्हें तो दुख ही दुख, जीवन-भर आगे-आगे।।

क्या माँग रहे हो भाई? सुख माँग रहे हो? भौतिक सुख, लौकिक सुख! कब तक टिकेगा? कब तक रहेगा? जिन रामजी का नाम लेकर हम दुःखों को दूर करते हैं, एक बार उनके जीवन पर दृष्टि तो दौड़ाओ। कितना दुःख रामजी को अपने जीवन में झेलना पड़ा। कृष्ण जी को देखो और भी ज्यादा दुःख। जिनके माता-पिता बन्दीगृह में। छह छह भाइयों की जन्म के साथ हत्या। सातवें को ले गए वह बात अलग है। बन्दी गृह में पैदा हुए। दूसरे के घर पले-बढ़े। छह दिन के थे तब से उनकी हत्या की योजना। पूतना जब उनको मारने गई थी, तब वे छह दिन के थे। शकटासुर, बकासुर और मालूम नहीं कितने असुर। न पढ़े न लिखे। गाय चराकर बड़े हुए। जिनको बहुत प्यार किया, उन गोप-गोपिकाओं को छोड़ करके आए। सगे मामाकी हत्या की। उस मामा के ससुर जरासंध ने सत्रह बार आक्रमण किया। मथुरा की रक्षा करने के लिए युद्ध करना पड़ा। अठारहवीं बार इतना प्रबल आक्रमण किया कि भागना पड़ा। चारों तरफ से घेर कर उसने मथुरा में आग लगा दी। भागे, नंगे पाँव, पैदल। द्वारका गए, द्वारका बसाई। अठारह अक्षौहिणी सेना का जिसमें नाश हो गया, उस महाभारत के युद्ध का महानायकत्व किया। सगा भांजा मारा गया। दुनिया के इतिहास में सबसे निरर्थक युद्ध यदुवंशियों ने लड़ा। बेटे, भतीजे, भाई मारे गए। बहेलिए ने उन्हें तीर मारा। हरिण की तरह मरे। हमारे आपके जीवन का दुःख इससे ज्यादा दुःख हो सकता है? उस कृष्ण ने गीता कही। उस कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया। इतने दुःखों को झेलने के बाद वे योगेश्वर कृष्ण कहते हैं— *तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।* योग उसको कहते हैं, जहाँ दुःख के संयोग का वियोग होता है। दुःख आगे, दुःख पीछे। दुःख दाहिने, दुःख बायें। दुःख ऊपर, दुःख नीचे। और यह चारों तरफ विराजमान दुःख छू नहीं पाते। दुःख के संयोग का वियोग होता है। प्रियजनों का मरण होगा, धन का हरण होगा। घर जलेगा, पराजय होगी, अपमान होगा। दुनिया के नक्शे पर जो बड़े-से-बड़े दुःख हैं, वे आएँगे; लेकिन भीतर प्रवेश नहीं कर पाएँगे, छू नहीं पाएँगे। अगर तुम योगर्थ हो, अगर तुमने योग की साधना की है तो ये बाहर के सारे बड़े-से-बड़े दुःख हैं, उनके संयोग का वियोग

होगा। वे बड़े-से-बड़े दुःख तुम्हें छू नहीं पाएँगे। उनके प्राणों की शक्ति तुम्हें प्राप्त हो जाएगी, रामजी के, कृष्णजी के समान तुम दुःख को भी हँसते-हँसते झेल लोगे। मेरे गुरुजी एक दोहा सुनाया करते थे। मैंने भी सुनाया होगा लेकिन अच्छी बात को बार-बार सुनाना चाहिए—

सुख सपना, दुख बुदबुदा, दोनों हैं मेहमान।
सबका आदर कीजिए, जो भेजे भगवान।।

न सुख रहने वाला है न दुःख। सुख सपना है टूटेगा। दुःख बुलबुला है, फूटेगा। थोड़े समय के लिए आए हैं। भगवान् के भेजे हुए आए हैं। सुख और दुःख में सम रहो। गीता यही कहती है। योग उसको कहते हैं जिसमें दुःख के संयोग का वियोग होता है। रामकृष्ण परमहंस देव ने इस पर एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया। बोले— कभी कटहल काटा है? कटहल काटेंगे तो क्या होगा? कटहल काटते हैं तो दूध निकलता है जो हाथ में चिपक जाता है तो छूटता ही नहीं। लेकिन अगर सरसों का तेल हाथ में मलकर कटहल काटो तो कटहल का दूध हाथ में चिपकता नहीं है। ठंड हो। खूब गंगा जी में नहाओ, जल उतना असर नहीं करेगा। जिस तरह से हाथ में सरसों का तेल लगा लेने से कटहल का दूध चिपकता नहीं, उसी तरह से मन में सच्चा योग आ जाने से संसार का सुख, संसार का दुःख चिपकता नहीं है। वैसे संसार में सुख है ही नहीं भइया! जो सुख बोलकर आता है वह एक और बड़े दुःख की भूमिका है। मेरी बात नहीं, यह भगवान की बात है। *ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय* जो संस्पर्शज भोग हैं वे दुःख की योनि हैं, दुःख की जड़ हैं। उनसे दुःख ही दुःख होगा। संसार में दुःख ही दुःख हैं। सुख है ही नहीं। संसार का सुख बड़े भारी दुःख की भूमिका है। इसलिए योग के रूप में वह कला तुमको प्राप्त हुई, वह विद्या तुमको प्राप्त हुई, जिससे दुःख का संयोग नहीं होगा। दुःख तो रहेगा। दुःख तो आएगा जीवन में। दुःख का वियोग नहीं होगा, दुःख के संयोग का वियोग होगा—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम।

कुछ लोगों ने कहा है कि योग लगता तो भाव रूप है। योग माने ? किसी से मिलाना, जोड़ना। संयोग— जीवात्मा का परमात्मा से मिल जाना योग है। लेकिन उसका लक्षण निषेधात्मक है। दुःख के संयोग का वियोग— यह उसका लक्षण है। मनुष्य जीवन मिला है तो दुःख तो जरूर आएँगे लेकिन हमें एक ऐसी विधि प्राप्त हुई है, जिस विधि के द्वारा दुःख हमको छू नहीं सकते।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।

अनिर्विण्णचेतसा— अनिर्विण्ण चित्त से, बिना उकताए हुए चित्त से, आदमी उकता कब जाता है? जब किसी बड़े काम में लम्बे समय तक लगता है, तो आदमी का चित्त उकताने लगता है। ऊबने लगता है। भइया! तुम कौन-सा काम करना चाहते हो? योग की सिद्धि करना चाहते हो। योग की सिद्धि, हजारों-हजारों जन्मों के कुसंस्कारों से भरा हुआ तुम्हारा गन्दा मलिन चित्त —उसमें योग के द्वारा सिद्धि लाना चाहते हो तो यह क्या चुटकी बजाते ही हो जाएगा? एक नहीं असंख्य जीवन बीत जाएँ तो भी योग की सिद्धि हो जाए तो भगवान की कृपा है। *अनेक जन्म संसिद्ध ततः।*

एक जन्म की नहीं, अनेक जन्मों की साधना की तैयारी मन में होनी चाहिए। बिना ऊबे हुए, बिना उकताए हुए, श्रद्धा के साथ, दृढ़ता के साथ और परिश्रम पूर्वक। गीता पौरुषप्रधान ग्रंथ है। *क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ।* जो लोग रोने लगते हैं, उनके लिए गीता नहीं है, नपुंसकों के लिए गीता नहीं है। भगवान ने कहा है कि *पौरुषं नृषु* —अपनी विभूति का वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्यों में मैं क्या हूँ? मैं मनुष्यों में पौरुष हूँ। लगातार प्रयास, लगातार परिश्रम। भगवान हमारे हृदय में जब प्रवेश करते हैं तो हमको लम्बी साधना की सिद्धि देते हैं, तैयारी देते हैं, प्रस्तुति देते हैं। अनेक जन्मसंसिद्धः —अनेक जन्मों की साधना करने की प्रेरणा देते हैं। इसलिए *अनिर्विण्णचेतसा*— बिना उकताए हुए चित्त से- *स निश्चयेन योक्तव्यो*– उस योग की साधना अवश्यमेव करनी चाहिए। क्योंकि वह परम कल्याणकारक है। उस योग की साधना में तुरंत सिद्धि हो जाएगी –ऐसा बचकाना भाव मन में नहीं रखना चाहिए। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, इस जीवन में नहीं, अगले जीवन में— *हरि से लगी रहिए भाई, तेरी बनत-बनत बन जाई।*

हरि से लगे रहो, हरि से हटो मत, हरि से बिछुड़ो मत। हिम्मत मत हारो, लगे रहो। निश्चयपूर्वक उस योग की सिद्धि बिना उकताए हुए चित्त से करनी चाहिए। देखिए! पहले दो श्लोकों में बताया गया असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप। फिर उसके द्वारा जो प्राप्त होता है, उसकी महिमा निरूपित की गई। अब कहा कि उस योग की साधना अवश्यमेव करनी चाहिए। *निश्चयेन योक्तव्यो* –हाँ! हम करना चाहते हैं। आपकी आज्ञा शिरोधार्य। तो अब आप बताइए कि हम उस योग की साधना में प्रवृत कैसे हों? तब योग की प्रक्रिया बता रहे हैं—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। (६/२४)

पहली ही बात इतनी कठिन है कि साधारण संसारी लोगों के लिए बहुत ही

मुश्किल है। *संकल्पप्रभवान्कामान्*— कामनाएँ संकल्प से उत्पन्न होती हैं। *काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायते, न त्वां संकल्पयिष्यामि ते न मे न भविष्यति ।* ओ काम! मैं जानता हूँ तेरी जड़ को, मैं तेरे मां-बाप को भी जानता हूँ। तुम संकल्प से उत्पन्न होगे। हम संकल्प ही नहीं करेंगे तो तुम नहीं उत्पन्न होओगे। संकल्प किसको कहते हैं? संकल्प कहते हैं जिसमें रत नहीं है ऐसी वस्तु में बुद्धि रत करने के कारण उसमें मनोरमता, उसमें प्रियता का बोध होता है। उसमें सम्यकता की कल्पना होती है, तो संकल्प होता है। जिन वस्तुओं में तीनों कालों में रत नहीं है, उन वस्तुओं के प्रति जब मन में रत बुद्धि आती है कि इससे हमको बड़ा सुख मिलेगा। जिससे बड़ा सुख मिलेगा।

सम्हलके रखा था पाँव जिसपर
वही कगारा गिरा है फट के।

जिस पर बहुत सम्हल के पाँव रखते हैं वह कगारा फट जाता है नदी के किनारे। तुमने सोचा था जिससे बहुत सुख मिलेगा वह तो तुमको परम दुःख दे कर चला गया। संकल्प-सम्यक् कल्पना होती है। उसको प्राप्त करने की सम्यक् कल्पना होती है। उसमें रमणीयता, मनोरमता का आरोप होता है। जिसमें आपने रमणीयता, मनोरमता का आरोप कर दिया, फिर उसको प्राप्त करने की कामना होगी और कामना जब मन में जागती है तो दुःख होगा ही। कान खींचने से माथा तो हाथ आएगा ही। ऐसा तो नहीं होगा कि कान खींचो और माथा दूर रहेगा। तो कामना अगर किसी को प्राप्त करने की हुई तो तुमने दुःख को आमंत्रित किया। योग में प्रवृत्त होने की पहली शर्त— और सब सांसारिक वस्तुओं में विषयों में रमणीयता का आरोप करने से उनके प्रति जो सम्यकता की कल्पना होती है, उस कल्पना के कारण उनको प्राप्त करने की जो कामना होती है, ऐसी समस्त कामनाओं को अशेष रूप से त्याग कर जड़-मूल से उखाड़ कर फेंक दो। अगर उसमें जड़ रह गई तो कल फिर अमर बेल उत्पन्न होगी।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यकत्वा सर्वानशेषतः।

निःशेष रूप से, बिलकुल जड़ मूल से संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को, समस्त कामों को त्याग कर, *'मनसैवेन्द्रियग्रामं'* —यह देखिए उच्च भूमिका है। यम में सिद्धि हो गई, आसन में सिद्धि हो गई, नियम की सिद्धि हो गई, प्राणायाम में भी सिद्धि हो गई। यम-निमय, आसन-प्राणायाम के ऊपर की बात कही जा रही है— *मनसैवन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।*

केवल अपने मन से, इन्द्रियों के समूह को विनियमित करके चारों तरफ से— यह प्रत्याहार की भूमिका है।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। (६/२५)

चौबीस की बात छब्बीस में फिर आएगी, आप देखियेगा। अभी इसमें केवल इतना कहा जा रहा है कि आसन से नहीं, प्राणायाम से नहीं, केवल मन के द्वारा। तुम्हारा मन इतना शक्तिशाली, इतना दृढ़ होना चाहिए। मन के द्वारा ही संपूर्ण इन्द्रियों के समूह को— एक को नहीं। कोई भी इन्द्रिय अगर असंयत रह गई तो उसी छेद से पानी वह गया। तुमने आँख पर वश कर लिया, कान पर वश कर लिया, नाक पर वश कर लिया, त्वचा पर वश कर लिया, जीभ पर वश नहीं किया —खाते-खाते मरोगे। एक भी इन्द्रिय अगर अनियंत्रित रही, तो वह इन्द्रिय तुमको ले डूबेगी। *मनसैवेन्द्रियग्रामं* —समस्त इन्द्रियों के समूह को अपने दृढ़ चित्त से, विनियम्य—विशेष रूप से नियम के अधीन बना कर। *समन्ततः* —चारों तरफ से, कोई भी दिशा छूटे नहीं, फिर इसमें एक बात कही कई है। देखो भइया! *अनिर्विण्णचेतसा* —बिना उकताए हुए चित्त से, लम्बे समय की साधना की तैयारी करके काम करो —इस बात को दोहराते हैं।

शनैः शनैः उपरमेत् — धीरे-धीरे उपरति प्राप्त होती है। एक दिन में सब लोग मिल करके प्रस्ताव तो पारित कर सकते हैं कि हम लोग निर्भीक, निर्विकल्प, संप्रज्ञात समाधि धारण करेंगे। लो! प्रस्ताव पारित करने से होगा कुछ? मन के ऊपर, चित्त के ऊपर, शरीर की इन्द्रियों के ऊपर धीरे-धीरे नियंत्रण प्राप्त होता है। *शनैः शनैः उपरमेत्।* धीरे-धीरे उपरामता को प्राप्त करो। कैसे करो? *बुद्ध्या धृतिगृहीतया* —किस बुद्धि के द्वारा? जो धृति के द्वारा पकड़ी गई हो। बुद्धि केवल निर्णय करती है। धारण तो धृति करती है। धृति धर्म का पहला लक्षण है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रहः।

तो धृति-धारण करने वाली जो क्षमता है, उसको कभी छोड़ना नहीं है। जिस वृत्ति को ग्रहण करना है, उस वृत्ति को, धृति के द्वारा गृहीत बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे प्राप्त करो। बुद्धि के द्वारा निश्चय करो कि यह जो आकर्षण हमको दिखाई पड़ा रहा है, यह झूठा आकर्षण है। अधूरा आकर्षण है —यह प्राप्त करने योग्य नहीं है। जब तुमने किसी आकर्षण को बुद्धि द्वारा नकार दिया, तो उससे मिलने वाला जो तात्कालिक सुख है, वह तुमको कहेगा लो! अब ठेंगा! तुम वंचित हो गए। वहाँ धृति काम आएगी। बुद्धि के द्वारा जब तुमने निर्णय किया— यह आकर्षण भोगने योग्य नहीं है। तो उस आकर्षण से विमुख होकर जब तुम उस भोग से वंचित हुए, तो उस भोग से वंचित होने के समय तुम्हारे मन में दुःख तो नहीं आएगा। तुम्हारे मन में अफसोस तो नहीं होता कि

हाय! रह गए। उस समय धृति काम आती है। धीरज कहता है कि— नहीं! सही निर्णय है। *'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'* —मन को आत्मा में सम्यक् रूप से स्थित कर दो। मनीराम जो हैं, चारों तरफ भागते हैं। सबसे चंचल कौन? मनीराम। अगला श्लोक देख लीजिए! तब आपको समझ में आएगा।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। (६/२६)

मन स्वाभाविक रूप से चंचल है। मन स्वाभाविक रूप से अस्थिर है। यह अस्थिर चंचल मन जहाँ-जहाँ से निकलकर भागा। *यतो-यतो*— जहाँ-जहाँ से या जिस-जिस विषय के प्रति, *निश्चरति* —निकल कर भागा। *ततस्ततो नियम्य एतत्* — यही प्रत्याहार है। मैंने आपको बताया था। यम-नियम-आसन-प्राणायाम —सब कर चुके हैं। भइया। उसके आगे की बात प्रभु बता रहे हैं। प्रत्याहार किसे कहते हैं? आहरण करने को आहार कहते हैं। आजकल आहार का मतलब हुआ —भोजन करना। वह भी आहार है क्योंकि हम बाहर की वस्तुओं को जीभ के द्वारा, दाँतों से कुचल, चबा कर पेट के भीतर ले जाते हैं। लेकिन बाहर के दृश्य को आँख के द्वारा भीतर ले जाते हैं। बाहर के शब्दों को कान के द्वारा ले जाते हैं। बाहर की गंध को नाक के द्वारा ले जाते हैं। बाहर के स्पर्श को त्वचा के द्वारा ले जाते हैं। यह सब आहार है। जब हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर की वस्तुओं को भीतर ले जाती हैं, वह आहार है। और उस आहार का प्रत्याहार —उलटा ले जाना। तुम्हारी आँख दौड़ कर रूप की ओर जाएगी। तुम्हारा कान दौड़ कर संगीत की ओर मधुर शब्द की ओर जाएगा। तुम्हारी नासिका दौड़ कर मधुर गंध की ओर जाएगी। तुम्हारी त्वचा दौड़ कर कोमल स्पर्श की ओर जाएगी। तुम्हारी रसना दौड़ कर सुस्वादु वस्तुओं की ओर जाएगी। पकड़ कर मन को, कान पकड़ कर, खींच कर भीतर लाओ। धत्, नहीं जाने देंगे। आँख को आदेश दो! मत देखो! यह रूप देखने योग्य नहीं है। जितना भी आकर्षक, जितना भी तेजस हो। यह शब्द सुनने-योग्य नहीं है। नहीं सुनेंगे। यह गंध नहीं ग्रहण करेंगे। इन्द्रियाँ जब अपने अपने विषयों की ओर पागल की तरह दौड़ती हैं तो उन विषयों से उनको उलट कर अपने भीतर आत्मा की ओर ले जाओ। इस बात पर ध्यान दीजिए। यह योग अंतर्मुखता की साधना है। विषय बाहर हैं। विषय को प्रत्यक्ष करती हैं इन्द्रियाँ। इसलिए शरीर में इन्द्रियों की प्रधानता है। विषय बाहर हैं। विषयों का अनुभव करती हैं इन्द्रियाँ, इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। *इन्द्रियेभ्यः परं मनः* —इन्द्रियों से सूक्ष्म, मन है। *मनसस्तु परा, बुद्धिः* —मन से सूक्ष्म बुद्धि है। *'यो बुद्धेः परतस्तु सः'* —और जो बुद्धि से भी सूक्ष्म, बुद्धि के भी परे, बुद्धि के

भी पीछे है, वह आत्मा है। तो हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर विषयों की तरफ जा रही हैं। प्रत्याहार के द्वारा उनको खींच कर भीतर की ओर लाया जा रहा है। यह छब्बीसवाँ श्लोक प्रत्याहार का बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। (६/२६)

अस्थिर चंचल मन जहाँ-जहाँ से निकल-निकल कर भाग-भाग कर विषयों की ओर जाता है, उस-उस विषय से पकड़-पकड़ कर, *नियम्यैतत्* —उसको नियमित करके, नियंत्रित करके विषय से खींच कर, भीतर लाओ। कहाँ लाओ? *'आत्मन्येव वशं नयेत्'* —अपनी आत्मा के भीतर लाओ। यह मनीराम जो भाग कर विषयों की ओर जा रहा है उस मनीराम का कान पकड़ कर खींच कर ले आओ तुम। याद रखो, कोई आँख से नहीं देखता, हम मन के द्वारा आँख से देखते हैं। कोई कान से नहीं सुनता। हम मन के द्वारा कान से सुनते हैं। उपन्यास में मन लगा रहता है। माँ पुकारती रहती है। सुनाई पड़ता है? नहीं सुनाई पड़ता। क्यों नहीं सुनाई पड़ता? कान तो हैं लेकिन मन शब्दों की ओर नहीं है। तो यह जो मन है, यह जहाँ-जहाँ इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर जाए, उन-उन विषयों से कान पकड़ कर खींच कर लाकर मन को, बहिर्मुख चित्त को अन्तर्मुख बना कर आत्मा की सेवा में, आत्मा के वश में ले जाओ। अगर ऐसा होगा—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः

केवल मन से, सम्पूर्ण इन्द्रियों के समूह को चारों तरफ से नियंत्रित करके अपने भीतर लाओ। *'शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया'* —यह प्रत्याहार की क्षमता कैसे प्राप्त होगी? विवेक से, कि जिसमें तू सुख मान रहा है उसमें सुख नहीं है। यह परम दुःख का आवरण है। यह विवेक होना चाहिए और उस विवेक को ग्रहण और धारण करने वाली धृति होनी चाहिए। विषयों से खींच कर मन को भीतर लाकर आत्मा में स्थित करना चाहिए। *आत्मसंस्थं* —निकटस्थ —माने ? जो निकट स्थित है। दूरस्थ माने ? जो दूर स्थित है। आत्मस्थ माने ? जो अपने में स्थित है। *आत्मसंस्थं* — सम्यक् रूप से स्थित है। अभी पकड़ कर लाए, फिर भाग जाएगा। बड़ा दुष्ट, बन्दर की तरह मन है। तो आत्मस्थ मत करो। क्या करो? *आत्मसंस्थं* —आत्मा में सम्यक् रूप से स्थित करो। केवल स्थित मत करो, सम्यक् रूप से स्थित करो।

न किञ्चिदपि चिन्तयेत् —यह बड़ी बात है। समस्त चिन्तन प्रक्रिया स्तब्ध हो जानी, रुक जानी चाहिए। तुम जब किसी भी बात का चिन्तन करोगे तो मन उस दिशा

में चला जाएगा। जब कोई भी चिन्तन नहीं होगा, जब मन बिलकुल निश्चिन्त हो जाएगा, चिन्तन के ऊपर चला जाएगा, *'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'* —कुछ भी चिन्तन नहीं होना चाहिए। जब आदमी कुछ भी चिंन्तन नहीं करता तो, अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूप में सदा द्रष्टः स्वरूपे अवस्थान; तब द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थान करता है। तो यह कुछ भी हम नहीं सोचेंगे, किसी भी दिशा की ओर अपने मन को नहीं जाने देंगे —यह लम्बी साधना, प्रत्याहार की साधना जब सिद्ध होती है, तो प्रत्याहार के बाद धारणा है। जब एक देश में मन रहे इसके बाद ध्यान है —जब एक काल, एक निश्चित दिशा में मन रहे और उसके बाद फिर समाधि है। तो प्रत्याहार की सिद्धि के बिना धारणा-ध्यान-समाधि नहीं होती। इसलिए मन के ऊपर नियंत्रण करके, जहाँ-जहाँ मन जाए, वहाँ-वहाँ से उसको पकड़ कर, मन में लाकर उसको बसाओ। अब इसके बाद देखिए! कहते हैं कि सुख प्राप्त करने के लिए एक योगी को कहीं नहीं जाना है। हमलोग सुख प्राप्त करने के लिए कहीं जाते हैं। अगर आपका सुख गंगूराम की मिठाई की दुकान में बंधक है तो आपको वहाँ जाना पड़ेगा। अगर आपका सुख फाइव स्टार होटल ताज में बंधक है तो आपको वहाँ जाना पड़ेगा। सिनेमा जाना पड़ेगा। आप अगर कहीं जाकर सुख ले रहे हैं तो आप पराधीन हैं। सुख कहीं जाकर प्राप्त नहीं करना है। सुख दौड़ कर आपके पास आएगा। देखिए! सत्ताइसवाँ श्लोक पढ़िए—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। (६/२७)

जो *ब्रह्मभूतं*— ब्रह्मभूत योगी है। *'उत्तमम् सुखं उपैति'* —उत्तम सुख दौड़ कर उसके पास आते हैं। ब्रह्मभूत योगी कहीं जाता नहीं।

भक्त कहीं जाते नहीं, आते हैं भगवान।

उत्तम सुख दौड़ कर ब्रह्मभूत योगी के पास आता है; लेकिन ब्रह्मभूत कैसे होता है? ब्रह्मभूत कौन है? *अकल्मषम्*— पहला लक्षण। तमोगुण से जो ऊपर उठ जाता है। *अकल्मषम्*—सारे पापों से जो ऊपर उठ जाता है। *'शान्तरजसं'* —जिसका रजोगुण शान्त हो जाता है। तमोगुण क्या है? तमोगुण है —*'प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः'* —आपके मन में प्रमाद आएगा। काम करना भूल जाएँगे। आपके मन में आलस आएगा। आपको नींद सताएगी—

किस-किस को याद कीजिए, किस-किस को रोइए।
आराम बड़ी चीज है, मुँह ढक के सोइए।

तो यह तमोगुण और उसके द्वारा प्राप्त होने वाला सुख जब आपने छोड़ दिया।

रजोगुण—संघर्ष, द्वन्द्व आगे बढ़ेंगे, उसको हरा देंगे, मैं बड़ा वक्ता, मैं बड़ा विद्वान, मैं बड़ा करोड़पति - अरबपति, मैं बड़ा भोगी। नारायण! यह जो प्रतिस्पर्धा, जो सक्रियता, यह चंचलता—*शान्तरजसं*—जब रजोगुण शान्त होगा। *प्रशान्तमनसं*—जब आपका मन बिलकुल शान्त ही नहीं, प्रशान्त हो जाएगा। सत्वगुण से ऊपर उठ जाएगा। जब आपने तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुण का अतिक्रमण कर दिया। *एनम् योगिन*—ऐसे योगी को, *उत्तमम् सुखं उपैति*—ऐसे योगी के पास उत्तम सुख दौड़ कर आता है। उत्तम सुख प्राप्त करने के लिए तुमको कहीं जाना नहीं पड़ेगा। लेकिन त्रिगुणातीत तो होना पड़ेगा। त्रिगुणातीत होने की प्रक्रिया है। *अकल्मषम्*—तमोगुण का त्याग, *शान्तरजसं*—रजोगुण का त्याग, *प्रशान्तमनसं*—वह जो अभ्यास से प्राप्त होने वाला सात्त्विक सुख—वह भी दूर--शान्त मन वाला ऐसा जो त्रिगुणातीत योगी है उसके पास उत्तम सुख दौड़ कर आता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। (६/२८)

अब इस योगी की महिमा का वर्णन कर रहे हैं। अगर तुमने त्रिगुणातीत होकर ब्रह्मभूत होने की साधना में सफलता प्राप्त कर ली। *ब्रह्मभूतं* —ब्रह्म ही हो गए तुम। तो फिर कैसे हुए? *युञ्जन्नेवं सदात्मानं* —इस प्रकार अपनी आत्मा को सदा योग में लगाता हुआ, *'विगतकल्मषः योगी'* —जिसके सारे पाप शान्त हो गए हैं —*सुखेन* — *अनायासेन,* यहाँ सुखेन का मतलब है? *अनायासेन* —बिना प्रयास के, बिना परिश्रम के *'ब्रह्मसंस्पर्शम्'* —ब्रह्म संस्पर्श के द्वारा, *'अत्यन्तं सुखमश्नुते'* —अत्यन्त सुख का, भोग नहीं करता, अश्नाति नहीं है। *अश्नाति* माने खाता है, भोग करता है। *अश्नाति* नहीं है। *अश्नुते* —व्याप्त होता है। वह सुख का भोग नहीं करता, वह सुख ही हो जाता है। वह सुख से एक हो जाता है। सुख की व्यापकता के कारण वही सुख-स्वरूप हो जाता है। आप उस पर ध्यान दीजिए। क्या कहा जा रहा है? दुनिया के सुख संस्पर्शज सुख हैं। लेकिन दुनिया के जो संस्पर्शज सुख, विषय संस्पर्शज —वे दुःख की योनि हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

और यह ब्रह्मसंस्पर्श है। विषय-संस्पर्श और ब्रह्मसंस्पर्श का अन्तर क्या है? विषय दूसरा है, आप विषय के अधीन हैं। ब्रह्म आप स्वयं हैं। ब्रह्म बनने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। ब्रह्म बनने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। जो कुछ करने से होता है, वह बिगड़ेगा। *कृतं*— जो कुछ है वह नष्ट होने वाला है। यह स्वयं सिद्ध है। यह सहज है। यह कहीं जाकर, कुछ करके, कुछ देकर प्राप्त नहीं होता। यह अपने सहज स्वरूप का अनुभव करने से प्राप्त होता है। *ब्रह्मसं*

स्पर्शम्—ब्रह्म का अनुभव कर लेना, यानी अपने ब्रह्मत्व का अनुभव कर लेना, ब्रह्मत्व को प्रत्यक्ष कर लेना। जो ऐसा विगतकल्मष त्रिगुणातीत योगी है, जो इस प्रकार अपने चित्त को आत्मा में सतत रमाता है, जो असंप्रज्ञात समाधि के द्वारा ध्याता-ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी का लय कर देता है। वह अनायास ब्रह्म-सुख को प्राप्त कर लेता है। *'ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'* वह सुख के साथ एकरूप हो जाता है। *अश्नुते* माने व्यापक हो जाता है। यानी सुख और वह एक हो जाते हैं।

२९, ३०, ३१ और ३२ इन चारों श्लोकों को, विनोबा भावे ने साम-योग का नाम दिया है। *समत्वं योग उच्यते* —गीता में समत्व को, साम्य को योग कहा गया है। विनोबा भावे ने कहा है कि इन चार श्लोकों में गीता का सार-सर्वस्व आ गया है। रामानुजाचार्य ने कहा है कि ये चारों श्लोक उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भूमिका का निरूपण करते हैं। योग-दशा का जो उत्तम विपाक है, वहाँ से शुरू होता है। उस उत्तम से परमोत्तम तक जाने की भूमिकाएँ चार हैं। उन भूमिकाओं को इन श्लोकों में बताया गया है। ये साम-योग का सार-सर्वस्व हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। (६/२९)

समदर्शन —समान दर्शन। देखिए! हम आप कैसा दर्शन करते हैं? विषय दर्शन करते हैं। मैं अलग — यह अलग वह अलग। मेरा सुख अलग, इनका सुख अलग, उनका सुख अलग। इनके दुःख से मुझको कुछ लेना देना नहीं। मैं अपने सुख से सुखी, मैं अपने दुःख से दुःखी। दूसरे को दुःखी करके भी अगर सुख प्राप्त कर सकूँ तो कर लूँ। यह जो विषय-दर्शन है — यह दुःख की जड़ है। यह जो बताया जा रहा है, यह सम-दर्शन की भूमिका है। समता किसके आधार पर? देखिए! इस बात पर ध्यान दीजिए कि हमारे शरीर में और आपके और दूसरों के शरीर में क्या चीज भिन्न हैं। आत्मा सबमें एक है। जो आत्मा मुझमें है, वही आपमें है, वही इनमें है, वही उनमें है। पंच महाभूत भी सबमें एक जैसे है। क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर — जो आपमें है, वही मुझमें है, उसमें है। अन्तर किससे हुआ है? अन्तर अन्तःकरण से हुआ है। जो चीज मुझमें-आपमें अलग-अलग है, वह है मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार। हरएक का अन्तःकरण दूसरे के अन्तःकरण से अलग-अलग संस्कार लेकर आया है; और इसलिए भिन्न है। शरीर की भिन्नता — लंबाई-चौड़ाई की, रूप-आकार की, रंग की यह भी है, लेकिन यह रंग-रूप की, लंबाई-चौड़ाई की, आकार की भूमिका उतनी मूलगामी नहीं है। यह तो सतही है। यह तो बाहरी है। मूलगामी भिन्नता जो है, वास्तविक भिन्नता

जो है, जिसमें हम दूसरों को दुःखी करके भी अपने को सुखी करना चाहते हैं, वह अपनी अन्तःकरण की विशिष्ट स्थिति के कारण होता है। *सर्वत्र-समदर्शनः* —जब मनुष्य सभी प्राणियों में समान दर्शन करता है, तो क्या होता है? पहला लक्षण क्या होना चाहिए?

'सर्वभूतस्थमात्मानं' —अपने को सब प्राणियों में देखो। *'सर्वभूतानि चात्मनि'* —और अपने में सब भूतों को देखो। *'ईशावास्य'* आपको याद आ रहा है?

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

ईशावास्य का यहाँ अनुगमन पहली बात सर्वभूतस्थम् आत्मानं— मेरा आपा सब प्राणियों में है और सारे प्राणी मेरी आत्मा में हैं। सबों के साथ मेरी समानता — नाम से नहीं है, रंग-रूप से नहीं है, आकार से नहीं है, अन्तःकरण से —मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार से नहीं है, आत्मा से है। अपनी आत्मा को सबमें और सबों की आत्मा को अपने में देखता है—*ईक्षते योगयुक्तात्मा* —अपने स्वरूप में अवस्थित व्यक्ति को यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि वह एक ही तत्त्व सबमें है। आप देखिए! कि गीता की एक बड़ी भारी विशेषता है। योग में भक्ति को मिला दिया। ज्ञान में भक्ति को मिला देते हैं। और ज्ञान और भक्ति दोनों में कर्म को भी मिला देते हैं। ध्यान-योग। योग-दर्शन की चरम सीमा क्या है? समाधि लगाकर किसी गुफा में बैठे रहो। गीता वहाँ नहीं रुकती। योग का निरूपण करने के बाद योग को परम योग की ओर ले जा रही है। परम योग क्या है? आप देखिए! क्या अद्‌भुत बात है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। (६/३०)

अभी तक निर्गुण-निराकार आत्मा की बात कह रहे थे। जो सब प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सब प्राणियों को देखता है, वह आत्मा और परमात्मा अलग हैं क्या? वह आत्मा और श्रीकृष्ण अलग हैं क्या? नहीं। उन्होंने आत्मा को सबमें देखने के बाद अपने को ही तुरन्त कह दिया। जो मुझ परमेश्वर को - —*यो मां* – मां माने ? मुझ परमेश्वर को – मां माने ? नाम रूप धारी कृष्ण नहीं। मां माने मुझ परमेश्वर को— *'यो मां पश्यति सर्वत्र'* जो मुझ परमेश्वर को सर्वत्र देखता है। *सर्वं च मयि पश्यति* —और मुझमें सबको देखता है। विनोबा भावे ने कहा कि एक

निरपेक्ष सर्व है, एक सापेक्ष सर्व है। सापेक्ष सर्व निरपेक्ष सर्व में समा जाता है। परमात्मा में सब समा गया है। तो जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है। *'तस्याहं न प्रणश्यामि'* —प्रणश्यामि माने नष्ट नहीं। अदर्शन नहीं। शंकराचार्य ने कहा कि प्रणश्य का मतलब यहां —अदर्शन, लोप। मैं उसके लिए कभी आँखों से ओझल नहीं होता। वह मेरे लिए कभी आँखों से ओझल नहीं होता। *'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'* —यह दूसरी भूमिका है। उस योगयुक्त आत्मा की पहली भूमिका से, २९वें श्लोक से आगे बढ़ी हुई भूमिका कि वह परमात्मा को सर्वत्र और सबमें परमात्मा को देखने के कारण सब समय परमात्मा से युक्त रहता है। परमात्मा उसके लिए कभी आँखों से ओझल नहीं होते। परमात्मा भी उसको कभी नहीं भूलते। दोनों बातें समान हैं। तुलसी बाबा ने बार-बार कहा है कि मैं तुमको भूल जाऊँ तो भूल जाऊँ, तुम मुझको मत भूलो बाबा! बच्चा बाप की उँगली पकड़ेगा, मेले में जाएगा, धक्का आएगा तो उँगली छूट जाएगी। तो बच्चा खो जाएगा, रोने लगेगा। और बाप ने अगर बच्चे की बाँह पकड़ रखी है तो पकड़ पक्की है। धक्के से छूटेगी नहीं। तो हे रामजी! मैंने आपको पकड़ा है —यह कच्ची पकड़ है। आप मेरी आँखों से ओझल नहीं होते— यह कच्ची पकड़ है। मैं आपको सब जगह देखूँ —यह कच्ची पकड़ है। मालूम नहीं कब भूल जाऊँ। मैं आपकी आँखों से ओझल न होऊँ। *'तस्याहं न प्रणश्यामि'* —उसके लिए मैं कभी आँखों से ओझल नहीं होता। *स च मे न प्रणश्यति* —वह भी मेरी आँखों से अदृश्य नहीं होता। मैं बराबर उसको अपना मानकर उसको अपना स्वीकार करता हूँ, उसको अपना बनाता हूँ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। (६/३१)

मेरे गुरुजी ने कहा कि यह *'तत्वमसि'* का वर्णन है। आत्मा जो सबमें अपने को देख रहा है यह *'त्वं'* पदार्थ है। और जो सबमें है वह *'तत्'* पदार्थ है। और आत्मा और परमात्मा *'तत् त्वं असि'* —वह तू ही है —यह एकता की बात इसमें कही गई है। *'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'* —जो सब प्राणियों में स्थित होकर मुझको एकत्व में आश्रित होकर देखता है। *'तत् त्वं असि'* —जो आत्मा सबमें है, परमात्मा में जो सबको देखता है; और सबमें जो परमात्मा को देखता है, वह अपने को परमात्मा से एकत्व करके देख रहा है। परमात्मा से एकत्व सिद्ध करके सब भूतों में स्थित रहता हुआ जो एकत्व का आश्रय लेकर, मुझसे एक होकर जो मुझको भजता है। योग और भक्ति को मिला रहे हैं। *भजति* —जो भजन करता है। भजन में कई बार

लोग कहते हैं कि द्वैत है। कैसा द्वैत है? तुलसी बाबा से बड़ा भक्त कोई है? बाबा क्या बोलते हैं—

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

तो तुलसी बाबा के लिहाज से तो सीता राम थे कि नहीं और आपके लिए तुलसी बाबा भी सीता-राम हुए कि नहीं? बताइए।

उमा जे राम चरन-रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।।

राम-चरण रत जो है, जो एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है— इस सत्य को उपलब्ध करके जो रामजी का भजन कर रहा है —वह कहने के लिए तो अलग-अलग है, लेकिन क्या सचमुच अलग है? *भजत्येकत्वमास्थितः* —वह राम से अभिन्न रहकर राम का भजन करता है। अद्‌भुत बात है। कुछ और अच्छा है, इसलिए उसको प्राप्त करें— यह काम है। कुछ मुझको औरों से ज्यादा मिल गया, इसलिए मद। जो मेरी लालसा को पूरा नहीं करने देता, वह मुझसे अलग है। इसलिए उस पर मैं क्रोध करता हूँ। काम-मद-क्रोध कब मिटेगा? जब मुझको कुछ पाना नहीं है। जब मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। जब राम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भगवान ने जब बन्दर-भालुओं को विदा किया, तो उसमें कहा कि —सदा सर्वगत —सबमें मैं हूँ —यह जानकर तुम मुझसे अत्यन्त प्रेम करो। तो यह जो सर्वगत परमात्मा है उसके साथ एक हो जाना— बड़ी बात यह है। सब जगह परमात्मा है— ठीक है। लेकिन मैं उस परमात्मा से एक हूँ, अभिन्न हूँ —यह बात बहुत मुश्किल है। *'सर्वथा वर्तमानोऽपि'* —वह कैसे भी बरते। वर्तमान शब्द का हमलोगों के संस्कार में यह है कि अभी जो बीत रहा है वह काल। लेकिन जो बीत रहा है, यह भी बरत रहा है, इसलिए इसको वर्तमान कहते हैं। वर्तमान शब्द का अर्थ है, आप जो बरत रहे हैं, बर्ताव कर रहे हैं। जो व्यवहार कर रहे हैं। *सर्वथा वर्तमानोऽपि,* मतलब? सब प्रकार से बर्ताव करते हुए भी। किसी एक ही प्रकार से व्यवहार करते हुए नहीं। चाहे वह शुकदेव की तरह संत-ध्यान में रहे। चाहे वह राजा जनक की तरह राज्य करे। चाहे वह याज्ञवल्क्य की तरह कर्म त्याग कर दे। चाहे वह दत्तात्रेय की तरह विचरण करे। *सर्वथा वर्तमानोऽपि* —सब प्रकार से व्यवहार करते हुए भी। किसी एक ही प्रकार का व्यवहार करने वाला इस प्रकार का योगी है--ऐसा नहीं। अपनी अपनी रुचि के अनुसार अलग-अलग तरह से लोग व्यवहार कर सकते हैं। कोई ध्यान लगा सकता है, कोई भ्रमण करता रहता है, कोई राज्य करता है, कोई कर्मत्याग कर देता है। *सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते* —वह योगी मुझमें

ही निवास करता है। यहाँ तक तो योगी का वर्णन है। लेकिन गीता कैसा योगी चाहती है? हम आप कैसे बनें? गीता हमको किस लक्ष्य की ओर ले जाना चाहती है? गीता यह नहीं चाहती कि हम आप पर्वत की कंदरा में जाकर केवल पद्मासन लगाकर ध्यान करते बैठे रहें। गीता क्या चाहती है?

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः। (६/३२)

विनोबा भावे, रामानुजाचार्य और सब आचार्यों का कहना है कि यह श्लोक गीता के चरम श्लोकों में से एक है। गीता के सबसे बड़े श्लोकों में से एक है। इसको ध्यान से समझिए। *'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'। —औपम्य* माने? उपमा का भाव। *आत्मौपम्येन* —अपनी उपमा के भाव से। यह *आत्मौपम्येन* शब्द गीता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बीज शब्द है। हमारे आपके जीवन की यात्रा कैसी चलनी चाहिए? हम आप किस तरह से व्यवहार करें? एक शब्द के द्वारा भगवान ने इसका निरूपण किया। *आत्मौपम्येन*— अपनी उपमा के भाव से। *'समं पश्यति योऽर्जुन'* —जो सबको समान देखता है। *सुखं वा यदि वा दुःखं* — चाहे सुख हो या दुःख हो। आप जैसा चाहते हैं कि लोग आपसे व्यवहार करें, वैसा व्यवहार आप लोगों से करें। जैसे आपको सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है, वैसे ही आप समझें कि दूसरों को भी सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है। कोई दुःख नहीं चाहता, सब सुख चाहते हैं। सब दुःख से दूर रहना चाहते हैं। सुख चाहते हैं; लेकिन अज्ञान से चाहते हैं। वे भौतिक विषय में लिप्त होकर चाहते हैं। आप तो हो गए हैं योगी। आपने तो सारी सृष्टि को आत्मा में और सारी सृष्टि में आत्मा को देख लिया है। आपने तो सारे भौतिक सुख-दुःखों को नीचे छोड़ दिया है। आप उनसे ऊपर उठ गए हैं। आपको तो दुःख के योग का वियोग हो गया है। दुःख के योग का वियोग हो जाने वाले ब्रह्मसंस्पर्श अत्यन्त सुख प्राप्त करने वाले आप योगी। आप भी व्यवहार करें। आप केवल कंदराओं में बैठकर ध्यान न लगाएँ। आप कैसे व्यवहार करें? आप ऐसे व्यवहार करें कि आपके व्यवहार से सबको सुख मिले। आप ऐसे व्यवहार करें कि आपके व्यवहार से किसी को दुःख न मिले। आप दूसरों के सुख में सुखी हों, दूसरों के दुःख में दुःखी हों। दूसरों के सुख में सुखी हों —क्या आसक्त हो जाएँ? क्या मोहाबद्ध हो जाएँ? जैसे दूसरे लोग आसक्त होकर सुख प्राप्त करते हैं, क्या हम भी वैसे सुखी हो जाएँ? भीतर से अनासक्त होते हुए — भगवान श्रीराम जी के बारे में क्या कहा गया है? भगवान श्रीराम के बारे में कहा गया है कि वे स्वरूप से अनासक्त हैं। स्वरूपतः असंग हैं और स्वभावतः कोमल हैं। करुणा वरुणालय हैं।

स्वभाव से कोमल, करुणा– वरुणालय और स्वरूप से असंग। किसी के प्रति आसक्त न होते हुए भी सबों के दुःख से दुःखी होते हैं। जटायु की धूल को उन्होंने अपनी जटाओं से झाड़ा था। इसी तरह कृष्ण ने भी–

पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सों पग धोए।

सुदामा की पीड़ा से पीड़ित हो गए। भीतर असंग रहते हुए, अनासक्त होते हुए। हमारे दुःख से अगर रामजी दुःखी न हों तो आप रामजी को क्यों भजेंगे? रामजी स्वभाव से करुणा-वरुणालय हैं, कोमल हैं और स्वरूप से असंग हैं। रामजी का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने कहा है कि वे प्रजा के दुःख से दुःखी होते थे। प्रजा के सुख से सुखी होते थे। वैसे ही – परम योगी कौन हैं? भगवान से एकत्व का अनुभव करते हुए भी जो अपने सहयोगियों के, अपने सहवर्तियों के समस्त मानव मात्र, प्राणी-मात्र के सुख से सुखी, दुःख से दुःखी होता है। भीतर असंग रहते हुए; लेकिन बाहर से सुख से सुखी, दुःख से दुःखी होता है। बाहर से किसी को दुःख नहीं पहुँचाता। सबों को सुखी करना चाहता है। सबों को उन्नति की ओर ले जाना चाहता है। सबको सही रास्ता बताता है। गीता का परम योगी सबके साथ जीता है, सबके मंगल के लिए जीता है। केवल अकेला ध्यान लगा करके नहीं जीता। हम गीता का उद्देश्य वर लें—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। (६/३२)

परम योगी कौन है? परम योगी गीता के अनुसार वही है जो सारी सृष्टि को सुखी करने के लिए अपनी साधना करता है। सारी सृष्टि के दुःखों को दूर करने के लिए लगातार साधना करता है। ऐसे परम योगी हम तब बन सकेंगे जब हम पहले योगी बनेंगे। आत्मौपम्य का नियम परम योगी के लिए तो है ही। हम योगी भी नहीं हैं, हम साधारण गृहस्थ हैं। लेकिन हम साधारण गृहस्थ भी आत्मौपम्य का नियम पालन करें —यह संभव है। हम चूँकि वह दृष्टि प्राप्त नहीं कर सके हैं, इसलिए हमारा आत्मौपम्य का व्यवहार परिपूर्ण नहीं होगा। न सही। आज हम योगी-परम योगी नहीं हैं, तो क्या हम नियम को विस्मृत कर दें। यह नियम हमारी भूमिका पर भी लागू हो सकता है। जैसा हमको दूसरों से व्यवहार चाहिए, हम वैसा ही व्यवहार दूसरों से करें। गीता का इतना उपदेश तो हम ग्रहण करें। श्रीराम! जय राम! जय-जय राम! ●

प्रवचन-२०*

अभ्यास और वैराग्य का महत्त्व

भगवान की परम कृपा है कि अपना यह प्रवचनक्रम यथारीति चल रहा है। जब तक प्रभु चाहेंगे तब तक यह चलता रहेगा। अच्छा कार्य उनकी कृपा से ही होता है, इस बात का बारबार अनुभव करना चाहिए।

अर्जुन शब्द दो प्रकार से बनता है— *'अर्जनत्वात् एवं ऋजुत्वात्'*। एक अर्जुन वह है, जो अर्जन करे। अर्जुन ने दिग्विजय की और राजसूय यज्ञ संभव हुआ— इसी अर्जन क्षमता के कारण उसका अर्जुन नाम सार्थक है। दूसरा है *ऋजुत्वात्*—सधे मन का, सहज और सीधा। गुरु से किस प्रकार प्रश्न किया जाये— यह भी अर्जुन से सीखा जा सकता है। गुरु अपनी भूमिका से उपदेश कर रहे हैं— वे शिष्य की भूमिका पर उतरने की चेष्टा करते हैं, फिर भी बोलते हैं अपनी ही भूमिका पर; और बात तो सिद्धान्त की बोलते हैं— भगवान ने इसके ठीक पहले सिद्धान्त का वाक्य कहा—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। (६/३२)

वह परम योगी है— जो सारी सृष्टि में सबको अपने ही समान देखता है। वह सुख को भी समान देखता है और दुःख को भी। इससे पूर्व भी भगवान ने स्पष्ट रूप से कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान करके देखो— और काम करो– ऐसा करने वाले को पाप नहीं लगता। भगवान ने अन्यत्र भी कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।। (५/१८)

---

* षष्ठ अध्याय (आत्म-संयमयोग) : श्लोक संख्या ३३ से ४७

चाहे विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण हो अथवा हाथी या कुत्ता हो या कोई चाण्डाल हो— पंडित सबके प्रति समदर्शी होते हैं। अर्थात् प्रभु बार-बार समत्व योग की स्थापना कर रहे हैं। गीता की विशेषता यह है कि वह समत्व की भूमि पर योग को स्थापित करती है। अब विचार करें कि क्या हमारी भूमिका समत्व की भूमिका है? हम तो सब मनुष्यों को अलग अलग देखते हैं। यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र है-— यह हिन्दू या मुसलमान है— यह छोटा है या बड़ा है— और भी अनेक प्रकार के भेदों को हम मानते हैं। पशु-पक्षी, वनस्पति, जड़, देवता, भूत, नरक— इस प्रकार के अन्तरायों की सृष्टि हम करते हैं। भेद को देखने और मानने का अभ्यस्त हमारा यह मन, साम्य योग में कैसे प्रतिष्ठित हो, यही प्रश्न है। याद रहे कि जो समझता है वही प्रश्न कर सकता है। जो व्यक्ति यह नहीं समझेगा कि जो कुछ कहा जा रहा है उससे हमारे जीवन में भेद क्या है— तो वह प्रश्न भी नहीं कर सकेगा। अर्जुन को इस अन्तर का आभास हुआ— उसके मन में प्रश्न उठा; और सहजभाव से निष्कपट होकर वह अपने गुरु श्रीकृष्ण से पूछता है—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बनवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (६/३३-३४)

"हे मधु राक्षस के विनाशकारी! साम्ययोग के बारे में तुमने जो बात कही उसमें दीर्घ काल तक टिके रहने की स्थिति मुझे दिखाई नहीं देती है, क्योंकि मेरा मन चंचल है। थोड़े समय के लिए मैं तुम्हारी आज्ञा के अनुसार मन को लगाऊंगा— किन्तु मन तो फिर छिटककर भाग जायेगा। यह मन तो बहुत चंचल है कृष्ण।" अर्जुन ने सरलता और ईमानदारी से निवेदन कर दिया।

प्रमाथि— प्रमथन करने वाला है मन। जैसे मथानी दही को मथ देती है, वैसे ही मेरा मन मेरे संकल्प को मथ देता है। मैं शुभ का संकल्प करता हूँ, और यह मुझे अशुभ दिशा की ओर ले जाता है। बलवान है— मेरा वश इस पर नहीं चलता। जैसे वायु को वश में करना दुष्कर है, उतना ही दुष्कर है मन को वश में करना।

ईमानदारी से शिष्य द्वारा अपनी विवशता प्रकट करने में एक भाव निहित है— मैं मानता हूँ कि मेरे लिए यह कार्य कठिन है। यदि आप समझते हैं कि तब भी मुझे यह कार्य करना चाहिए और मैं इसे करने में समर्थ हूँ, तो कृपया आप ही इसे करने का रास्ता मुझे बतायें।

इस प्रश्न में असमर्थता तो अभिव्यंजित हो ही रही है, साथ ही जिज्ञासा भी है कि यह कठिन कार्य मैं कैसे सिद्ध करूँ? आपने मेरा लक्ष्य बता दिया— मेरा साध्य बता दिया— तो उसे सिद्ध करने का साधन भी आप ही बतायें।

सहज रूप से आत्मनिवेदन करके अर्जुन कृष्ण से गहन बात प्रकट करता है। शिष्य का धर्म यही है कि गुरु के समक्ष निश्छलभाव से वह अपनी शंकाओं और असमर्थताओं को निवेदित कर दे भगवान अर्जुन की बात से सहमत होते हैं कि तुमने ठीक कहा—

असंशयंमहाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (६/३५)

प्रशंसा कर रहे हैं— कि हे बड़ी बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन—महाबाहो। तुमने जो कहा—ठीक ही कहा है। निःसंशयरूप से सही बात है कि मन बहुत चंचल है, इसे वश में करना बहुत ही कठिन है। पर कठिन काम तो महाबाहु को ही करना चाहिए। तुमने अनेक कठिन लड़ाइयाँ लड़ी हैं, दुर्धर्ष शत्रुओं को जीता है। तो तुम अपने मन को भी जीत सकते हो। अर्जुन! तुम यह चुनौती स्वीकार करने योग्य हो। गुरु शिष्य को बड़े लक्ष्य की ओर उन्मुख करता है और फिर उस लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग भी बताता है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय—अभ्यास अर्थात् अपने लक्ष्य में स्थित होने का कठिन प्रयत्न—बार बार किया गया प्रयत्न, सफल होने तक चलता रहने वाला प्रयत्न।

आपने कोई कविता कभी याद करने का प्रयास किया है? वह क्या एक बार में ही याद हो जाती है? जाने कितनी बार उसे दोहराना पड़ता है— तब जाकर वह याद होती है। यदि एक सामान्य सी कविता को याद करने के लिए उसे पच्चीस बार दोहराना पड़ता है— तो साम्ययोग को जीवन में धारण करने के लिए कितना अभ्यास करना पड़ेगा। इसमें ऊबने या थकने से काम नहीं चलेगा। और तुम तो महाबाहु हो, वीर शिरोमणि हो तुम क्या हार मान कर भाग जाओगे? यह एक चुनौती है। अनेक जन्मों से तुम्हारे चित्त की नदी पाप की ओर बह रही है, उसे पुण्य की ओर बहाने के लिए प्रचण्ड साधन करना पड़ेगा —अभ्यास करना पड़ेगा —उसकी तैयारी करो। जो जिसका लक्ष्य है, जो जिसका इष्ट है— बार बार मन से उसका स्मरण करना होता है। बार बार उसकी ओर जाने का संकल्प ही, अभ्यास है। इस अभ्यास के बिना कोई भी बड़ा काम सिद्ध नहीं होता।

वैराग्येण च गृह्यते— वैराग्य —अर्थात् विगत राग होने का भाव यहाँ राग में द्वेष भी अन्तर्ध्वनित है। बहुत बार लोग वैराग्य का अर्थ राग या विषयों की आसक्ति का त्याग ही समझते हैं, किन्तु इसमें द्वेष का त्याग भी निहित है। वैराग्य में राग और द्वेष दोनों का त्याग किया जाता है। जिससे हमारा राग है– उसकी हमें बार बार याद आती है और जिससे हमारा द्वेष होता है—हमें उसकी भी बार बार याद आती है। वह हमें जलाता है। राग और द्वेष— दोनों में ही उन विषयों का चिन्तन बार बार होता है। वैराग्य का अर्थ है— राग और द्वेष — दोनों से मुक्ति।

विषय से घृणा पर्याप्त नहीं है— वह घृणा या द्वेष तो हमें बार बार सतायेगा। उसके प्रति उपेक्षा भाव—महत्त्वहीनता की बुद्धि रखनी होगी। मन किसी को मित्र मानता है —किसी को शत्रु मानता है— और किसी को उपेक्षणीय मानता है। तुलसी बाबा ने कहा है–

अहि हाटक तृण की नाईं
शत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्यो बरियाई।

सोने की तरह प्रिय मित्र, सांप की तरह अप्रिय शत्रु और तिनका बिल्कुल उपेक्षणीय। हमें न तो विषयों को सांप मानना है— न सोना। विषयों को तिनका मानकर छोड़ देना है।

वैराग्य का अर्थ होता है— राग और द्वेष— दोनों से ऊपर उठना। विनोबा भावे ने कहा है— "खेत में उगे झाड़-झंखाड़ को उखाड़ने का नाम है वैराग्य; और जिस वस्तु का बीज बोया गया है, उसे सींचने का नाम है अभ्यास।" वैराग्य निषेधक क्रिया है और अभ्यास विधायक। दोनों ही आवश्यक है। जो गुण हमें प्राप्त करना है उसके लिए बार बार परिश्रम करना चाहिए; और जो हमारे लक्ष्य के विपरीत है— उनको त्याग देना चाहिए। उपेक्षणीय समझ कर चित्त से निकाल देना चाहिए। उनका चिन्तन नहीं करना चाहिए। न राग भाजन आलम्बनों का चिन्तन करना उचित है न द्वेष भाजन आलम्बनों का।

हमारे गुरुजी सबसे बड़े वैरागी का उदाहरण देते हुए कहते थे, सबसे बड़ा अनासक्त सबसे बड़ा वैरागी है दर्पण। दर्पण किसी को मना नहीं करता कि तुम मेरे सामने मत आओ। वह किसी से द्वेष नहीं करता और कोई उसके सामने आ गया तो सुन्दर से सुन्दर होने पर भी दर्पण उससे मोह नहीं करता। रिश्ता नहीं जोड़ता—राग नहीं करता।

सुन्दर आये या असुन्दर, ज्ञानी या अज्ञानी, अनुकूल या प्रतिकूल, जो भी दर्पण

के सामने आता है— दर्पण साम्यभाव से उनको अपना चेहरा दिखा देता है– बस। जब वह चला जाता है तो उसका कोई चिह्न वह अपने साथ नहीं रखता— गया सो गया। एकदम असंग होता है दर्पण। ऐसा है दर्पण— कि जिस पर न तो राग का संस्कार पड़ता और न द्वेष का। किसी के भी आने और किसी के भी जाने में, सम हो जाना ही वैराग्य है। भगवान ने आगे कहा भी है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः। (६/३६)

जिसका अपनी इन्द्रियों पर वश नहीं है, उस असंयत के लिए योग कठिन है। ध्यान योग के प्रकरण में यह याद रखना चाहिए कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के बाद ध्यान की बारी आती है। एक आसन पर जो तीन घंटा बैठ न सके —वह ध्यान कैसे करेगा? जिसे मन पर नियंत्रण करना है, वह पहले शरीर पर नियंत्रण अवश्य करे। पहले इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जाये, तो फिर मन भी नियंत्रित हो सकता है। जो असंयत है उसके लिए योग दुष्प्राप्य है। इन्द्रियों का निग्रह— यह बाह्य साधन है। अभ्यास और वैराग्य आभ्यन्तर साधन हैं। बाह्य साधनों के बिना आभ्यन्तर साधनों से सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

इन्द्रियों को वश में करने के उपाय भी हैं— कई अलग अलग उपाय हैं। योगवासिष्ठ में एक उपाय बताया गया है—

अध्यात्म विद्याऽधिगमः साधुसंगति रेव च।
वासनासंपरित्यागः, प्राणस्य च निरोधनम्।
एतास्ता स्पष्टतः युक्ताः सन्तिः चित्तजयस्कराः।

चित्त जय करने की ये चार युक्तियाँ बताई गई हैं—

अध्यात्मविद्या— अपने शरीर के भीतर के साधनों का ज्ञान हैं। अध्यात्म कोई परलोक का शब्द नहीं है। उपनिषदों में बताया है कि शरीर के भीतर ही चित्त-मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि को ध्यान का साधन बनाना ही अध्यात्म है। अध्यात्म का अर्थ है आत्मनिअधि, अपने भीतर—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, आत्मा इन सबको ठीक ठीक जानना ही अध्यात्म विद्या है।

साधुसंगति— बिना सत्संग के कोई बड़ी बात प्राप्त नहीं होती। सत्संग से ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि को नियंत्रित करने की प्रेरणा हमें मिलती है।

वासनासंपरित्यागः —तब कामना का त्याग होता है। हमारी सारी सांसारिक प्रवृत्तियाँ इसलिए हैं कि हमें वासना में उत्कृष्टता का बोध होता है। भूख के प्रति हमारी

वासना तीव्र है— क्योंकि भोजन से तत्काल सुख की अनुभूति होती है। अध्यात्मविद्या का अधिगम होने पर यह समझ में आता है कि धर्मविरुद्ध अर्थ और काम हमें घोर दुर्गति की ओर ले जायेगा तब उनसे मन हटता है। भक्ति में तो सुन्दरता के प्रति आकर्षण भाव को भगवान के साथ जोड़ दिया जाता है, भगवान से अधिक सुन्दर तो कोई भी नहीं। रस के प्रति आसक्ति को भगवान की तरफ मोड़ दिया और भगवान से अधिक रस किसी में नहीं होता। उस परम सौन्दर्य को और अमृत रस को अनुभव करने पर संसार का यह सौन्दर्य तुच्छ हो जाता है। और धन के प्रति लालसा— तो धन कब किसका हुआ है। जो धन किसी सत्कार्य में लगा या फिर जो सुख सुविधा के लिए खर्च हो गया, बस वही धन तुम्हारा है, बाकी धन तो किसी और के ही काम आयेगा, वह तुम्हारा नहीं है। तुम सिर्फ उसके रखवाले हो।

द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृह द्वारि जनाः श्मशाने। देहश्चितायां परलोक मार्गे कर्मानुयोगो गच्छति जीव एकः। परलोक मार्ग जाते समय सारे द्रव्य भूमि में ही रह जायेंगे और हाथी घोड़े आदि सब पशुशाला में रहेंगे। पत्नी घर के दरवाजे तक, नातेरिश्तेदार बन्धु बान्धव श्मशान तक जायेंगे शरीर चिता तक साथ देगा। परलोक के मार्ग में जीव अपने कर्म संस्कारों के साथ अकेला ही जायेगा।

जब तक वासना की उत्कृष्टता का प्रभाव मन पर होता है— तभी तक हम उसकी तरफ आकृष्ट होते हैं। और वासना सिर्फ बौद्धिक ज्ञान मात्र से दूर नहीं होती। चाहे कितनी ही बार गीता का अभ्यास कर लिया हो— वासना फिर भी सवार हो जाती है। जिन मुनियों ने बड़ी तपस्या की है उनपर भी वासना सवार होती है। *मुनि विज्ञान धाम मन करहिं निमिष मँह क्षोभ।* काम क्रोध लोभ बहुत प्रबल होते हैं। वासना का त्याग तभी होगा, जब वासना की निकृष्टता का अनुभव होगा। *प्राणस्य च निरोधनम्*– प्राणायाम से निरोध होता है। प्राणायाम अमृत तुल्य है। वायु ही हमारे सारे जीवन में हलचल करती है। जो प्राण वायु पर नियंत्रण करता है— वही मन पर नियंत्रण कर सकता है। यह सब तो योगवासिष्ठ की बात है। किन्तु भक्त लोगों का आधार है नाम जप। सब कुछ छोड़ कर रामजी का नाम लो— शरीर से रामजी की कुछ सेवा करो। साधन अनेक हैं— साध्य एक — चित्त शुद्धि। चित्त शुद्धि के लिए जितने साधन किये जा सकते हैं, सब करो। साधनों की बहुलता का विरोध नहीं है। साध्य की बहुलता का विरोध है। साध्य एक होना चाहिए।

गंगास्नान, राम नाम जप, प्राणायाम, योगाभ्यास, नाम जप कुछ भी साधन क्यों न हो— साध्य है चित्त शुद्धि। भगवान ने भी कहा— कई उपाय हैं। जिस किसी भी

उपाय से, या उपायों से, अभ्यास और वैराग्य सिद्ध होते हैं मन संयत होता है, वे सब करने चाहिए।

अर्जुन के मन में फिर एक संशय आया— "प्रभु आपने तो इतना बड़ा और कठिन काम सामने रख दिया है। क्या यह सब इसी जन्म में संभव होगा? मुझे अपने व्यक्तिगत अनुभव से तो यही लगता है कि यह सारा साधन एक जीवन में संभव नहीं है। यदि सिद्धि न मिली और मृत्यु हो गई, तो क्या होगा? साधन करते करते यदि पथस्खलन हो गया, पथ भटक गये, तो क्या होगा? क्या *इतो भ्रष्ट स्ततो भ्रष्टः* —इधर से भी गये और उधर से भी गये? *अयति श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानसः।* श्रद्धा तो है। श्रद्धा बहुत बड़ा तत्त्व है। सत्य को धारण करने वाली वृत्ति चाहिए और सत्य सिर्फ वही नहीं है जो हमारी इन्द्रियों की सीमा में आ जाता है। हमारी इन्द्रियों के अनुभव के पार भी अनेक सत्य निहित हैं। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, सूर, तुलसी, मीरां इत्यादि सभी महापुरुष ऐसे सत्यों को स्वीकार कर चुके हैं। पतंजलि, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य— जिन्होंने हमसे बहुत ज्यादा साधन करके बहुत बड़े अनुभव प्राप्त किये हैं, उन अनुभवों के प्रति अनास्था नहीं होनी चाहिए।

सत्य के प्रति अनुभव–पर्यवसायी श्रद्धा चाहिए। श्रद्धा और अन्ध श्रद्धा के मौलिक अन्तर को समझें। अन्ध श्रद्धा में उच्चता अनुभव नहीं होती, जबकि सच्ची श्रद्धा में उच्चता अनुभव होती है। इसीलिए इसे अनुभव—पर्यवसायी कहते हैं। श्रद्धा रखने से जीवन में पवित्रता आती है, व्यवहार शुद्ध होता है; संतोष, उदारता और सहिष्णुता बढ़ती है। इसके विपरीत जिस श्रद्धा से कपट भाव, क्षुद्र भाव, मलिन भाव बढ़ते हैं वैसी श्रद्धा गलत है। निम्नतर भूमिका की तरफ ले जाने वाली श्रद्धा अंध श्रद्धा है, और उच्चतर भूमिका की ओर ले जाने वाली श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा है और श्रद्धा से बढ़कर कुछ नहीं है। भगवान ने कहा भी है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः योयच्छ्रद्धः स एव सः (१७/३)

जो मनुष्य श्रद्धामय होते हैं, उनकी जिसके प्रति श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है। अब श्रद्धा हो, पर प्रयत्न शिथिल हो, ऐसे योग विचलित अयति का क्या होगा भगवन्?

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।। (६/३७)
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रांतष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।। (६/३८)

"क्या वह उभय भ्रष्ट हो जायेगा?" साधना भ्रष्ट हो गई, सिद्धि मिली नहीं और दुनिया से भी गये। लेकिन यहाँ इस अर्थ से 'उभयभ्रष्टता' की बात नहीं कही गई है। जिस भूमिका पर साधक है— वहाँ उसे सांसारिक भोगों के चले जाने का भय नहीं है। बल्कि यहाँ साधन से और सिद्धि से— उभयभ्रष्ट होने की बात बताई गई है।

यदि हमारा साधन पूरा नहीं हुआ तो हमने सारा जीवन लगाकर जो साधन किया है— वह तो बेकार हो गया — और सिद्धि भी नहीं मिली। तो हम उभय भ्रष्ट हो जायेंगे भगवन। इस आशंका से मैं विमूढ़ हो गया हूँ, सोच नहीं पा रहा हूँ— भगवान के रास्ते पर चल नहीं पा रहा हूँ। क्या मैं अप्रतिष्ठित हो जाऊँगा? क्या मेरी कोई प्रतिष्ठा, कोई स्थिति रहेगी ही नहीं?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।। (६/३९)

संशय आ गया और कहा है— *संशयात्मा विनश्यति।* अर्जुन की अपने गुरु के प्रति अनन्य भक्ति है। *गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास* वाली अवस्था नहीं है। "तुमको छोड़कर कोई दूसरा इस संशय को नष्ट करने में समर्थ नहीं है, तुम बताओ कि क्या होगा?" यदि साधन मार्ग पर चलते हुए मेरा मन विचलित हो जाये, या साधन मार्ग पर चलते हुए मृत्यु आ जाये, तो क्या होगा?

अब भगवान जो बात कह रहे हैं वह उन्होंने पहले भी कही है। वे इसे दोहरा रहे हैं। दोहराने का अर्थ यह है कि वक्ता इस बात को बहुत महत्त्व देते हैं।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।। (६/४०)

"न इस लोक में न परलोक में, न इस जीवन में, न दूसरे जीवन में, उसका विनाश कभी नहीं होता। कल्याण मार्ग के पथिक की दुर्गति कभी नहीं होती।" यह भगवान का बड़ा आश्वासन है। भगवान ने यही बात पहले भी कही है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। (२/४०)

इस धर्म का स्वल्प पालन भी महाभय से त्राण करता है, और इसका विनाश नहीं होता, इसका कोई प्रत्यवाय नहीं, कोई पाप नहीं लगता, इसी बात को भगवान ने फिर दोहराया है। दुर्गति— अर्थात् इस संसार में अपकीर्ति और मरने के बाद हीन योनि में पुनर्जन्म। यह दोनों ही नहीं होता। यहाँ भगवान भक्त के कल्याण के लिए उसे सहारा देते हुए थपकी लगाते हैं। जैसे कुम्हार हंडिया बनाते समय भीतर हाथ का सहारा

रखता है और ऊपर से थपकी मारता है— ताकि मिट्टी बिखरे भी नहीं और हंडिया पक्की बन जाये। गुरु भी एक तरफ कठोरता बरतता है, तो दूसरी तरफ सहारा देता है। बिना सहारा दिये—कठोर नहीं बनते।

मृत्यु का भय है अर्जुन को— तो मृत्यु क्या है! सन्तों के लिए मृत्यु सिर्फ एक लम्बी निद्रा है— और कुछ नहीं। जब रात में सोकर सुबह उठते हैं, तो अपना कल तक समस्त संचित ज्ञान खो नहीं जाता— मिला हुआ ही रहता है। जैसे नींद से जागने के बाद सोने के पहले की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता, वैसे ही इस जन्म के बाद अगले जन्म में सारे पूर्व संचित साधन साधक को मिल जाते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः
शुचीनां श्रीमतां गेहे योग भ्रष्टोऽभिजायते।। (६/४१)
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।। (६/४२)

जन्म दो प्रकार का होता है— क्योंकि कुल दो हैं। एक नाद कुल है और दूसरा वृंद कुल है। एक वंश पितृ पितामह से चलता है। पिता के वीर्य और माता के रज से इस शरीर का निर्माण हुआ—

'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।'

इसमें थोड़ा विवाद है। जो नाद कुल बताया— उसमें साधक को किसी सद्गुरु की प्राप्ति होती है— और सद्गुरु के सहयोग से कल्याण होता है। धीमताम् योगी भी दो प्रकार के हैं— शास्त्राभ्यासी और अनुभवी। यदि शास्त्राभ्यास में कोरे हों और केवल अनुभवी ही हों तो काम नहीं चलता। *धी*— अर्थात् बुद्धि। इसीलिए बंगला में कहते हैं सुधी—अच्छी बुद्धि वाले-धीमान्। योगियों के कुल में— अर्थात् नाद कुल— योगी अपने शिष्य को प्रबोध देकर पुत्रवत् कर लेते हैं। इसीलिए दीक्षा के बाद नाम बदल जाता है। संन्यास होते ही नाम के साथ 'आनंद' जुड़ जाता है। और जिस गुरु की परम्परा में संन्यास लिया है— सरस्वती, पुरी या गिरी— वह भी साथ में जुड़ जाता है। अर्थात् शिष्य पुत्रवत् ही हो जाता है। *एतद्धि दुर्लभतरं लोके*— पवित्र श्रीमानों से भी योगियों के कुल में जन्म दुर्लभ है।

सद्गुरु की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिसे सद्गुरु की प्राप्ति हो जाये— वह तो निर्भय है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।। (६/४३)

'पूर्वजन्म में जो कुछ तुमको प्राप्त था— वह बुद्धि संयोग से, पर-जन्म में भी तुमको मिल जायेगा। तुम्हारी कमाई नष्ट नहीं होगी।' आप लोगों ने अनुभव किया होगा कि कई लोग जन्म से मेधावी होते हैं। थोड़े में ही पढ़ लेते हैं, याद कर लेते हैं —अच्छे मार्ग पर चलते हैं। यह पूर्वजन्म के संचित संस्कारों के कारण होता है। *यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन।*

रवीन्द्रनाथ की एक कविता का अनुवाद है—

"शेष बोला एक दिन होगा सभी कुछ शेष
दम्भ तेरा है वृथा अतएव हे आरंभ!
कह उठा आरंभ, होता है जहाँ पर शेष;
उस जगह से ही हुआ करता पुनः आरंभ।"

मृत्यु अंतिम शेष नहीं है। यदि यही होता तो सारी साधनायें व्यर्थ हो जातीं। इसलिए कोई हीनता अपने मन में न आने दो। पहले उसने अल्प यत्न किया होगा— अब इस जन्म में वह बहुत यत्न करेगा—*यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन।* चित्तशुद्धि की संसिद्धि प्राप्त करेगा वह। यही करणीय है—बाकी सब तो अपने आप हो जाता है। मैंने कई बार बताया है कि दो व्यक्तियों में मौलिक अन्तर क्या है? सबमें एक आत्मा है—सबका शरीर उसी पंचभूत से बना है—फिर संस्कार अलग अलग क्यों है? अनेक जन्मों के संस्कारों के कारण हमारा मन बुद्धि चित्त अहंकार रूपी जो अन्तःकरण बना है, वह सबका अलग अलग होता है। और यह अन्तःकरण मलिन है—

मोह जनित मल लाग विविध विधि, कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित, अधिक अधिक लपटाई।

कोटि कोटि जन्मों का जो मलिन अभ्यास है, उसके कारण हमारे अन्तःकरण में मलिनता है। हमें चित्त शुद्धि की सिद्धि ही प्राप्त करनी है— संसिद्धौ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। (६/४४)

तुम्हारे चाहे अनचाहे तुम्हारे पूर्वाभ्यास तुमको खींच लेंगे। तुम अवश की तरह वही काम करोगे। हमारा अनुभव है कि हमें हमारे अनजाने और अनचाहे विविध प्रकार के संयोगों का सामना करना पड़ता है। बुरा साथ मिलता है— किन्तु कई लोग बुरा साथ मिलने पर भी बुरे नहीं होते। अच्छा साथ मिलता है किन्तु फिर भी उनमें वह गुण नहीं आ पाते। यह सब हमारे पूर्वसंचित संस्कारों के कारण होता है।

चंदन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग।

अपने पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण तुम उस तरफ अवश की तरह खींच लिए जाओगे। तुम्हारे साधन नष्ट नहीं होंगे—

योग का जिज्ञासु शब्द ब्रह्म का अतिक्रमण करता है। *'शब्द ब्रह्म'* अर्थात् वेदों का कर्म भाग। वेद के तीन भाग हैं— कर्मकांड, उपासना कांड और ज्ञान कांड। कर्मकांड— अर्थात् सकाम भाव से यज्ञादि करना। योगी की सकामता नष्ट हो जाती है —अर्थात् योगी शब्दब्रह्म का अतिक्रमण करता है। योगी की सबसे बड़ी विशेषता यही है— वह सकाम साधनाओं का अतिक्रमण करता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। (६/४५)

अनेक जन्म सिद्ध हो जाते हैं। जन्मों के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जैसे भगवती उमा का संकल्प है कि शिव को पाने के लिए मैं जन्म जन्म तक साधना करूँगी— वरूँगी तो शिव को— अन्यथा कुँवारी ही रहूँगी।

हमें संदेह और संकोच नहीं होना चाहिए कि हमारे साधन मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जायेंगे। कुछ नष्ट नहीं होता, संस्कार अनेक जन्मों तक साथ चलते हैं। न यह भ्रष्ट होगा न वह। न साधन भ्रष्ट होंगे न सिद्धि। सिद्धि तो आयेगी ही आयेगी। कान खींचने से जैसे माथा नीचे आता है— वैसे ही साधन पर अटूट श्रद्धा रखने से सिद्धि तो प्राप्त होती ही है। लगातार प्रयत्न करने से सभी पाप नष्ट होंगे और चित्त शुद्ध होगा। चित्त शुद्ध होने से ही वासना से परित्याग होगा। जब तक संसार की वासना मीठी लगती है, तब तक तो हजारों गुना मीठी अमृतमयी भक्ति भी फीकी ही लगेगी। भक्ति फीकी इसलिए लग रही है, क्योंकि संसार का रस मीठा लग रहा है। जिस दिन संसार का रस मीठा लगना बंद होगा, उसी दिन वैराग्य के द्वारा भक्ति का अमृत प्राप्त होगा। *संशुद्ध किल्बिषः* सभी दोषों के कलुष से मुक्त होकर लगातार जुटे रहें—बिना थके, बिना ऊबे, बिना रुके, बिना संशय के, कोटि कोटि जन्म तक साधना करें तब सिद्धि प्राप्त होती है।

साधक परा गति को प्राप्त होता है, न साधन छूटेगा न सिद्धि। अब भगवान अपने मन की बात बताने वाले हैं। अर्जुन के प्रश्न का उत्तर तो वे दे ही चुके हैं, किन्तु गुरु सिर्फ वही नहीं है, जो शिष्य के प्रश्नों का उत्तर मात्र देकर कर्तव्य की इतिश्री करले। वह कुछ और भी देता है, अपनी तरफ से भी देता है। गुरु तो वह है जो अपनी तरफ से ही दे देता है।

दो बातें कहीं हैं कृष्ण ने—और दोनों अद्‌भुत हैं। विद्वानों ने गीता के अट्ठारह अध्यायों को तीन षटकों में बाँटा है। छः-छः अध्याय का एक षटक। यह बीच के षटक

के बीच का अंश है। पहला षटक कर्मयोग। दूसरा भक्तियोग और तीसरा ज्ञानयोग है। किन्तु ज्ञानयोग की चरम परिणति भी शरणागति ही है—वह आगे आयेगा। अभी दो श्लोक आने वाले संदर्भ के महत्त्व का संकेत करते हैं। अगले प्रवचन में कुछ विशेष बताया जायेगा।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।। (६/४६)

योगी, तपस्वी और ज्ञानी कर्मों से विशिष्ट होता है । तपस्वी — जो तपस्या करता है। तपस्या को गीता ने बहुत महत्व दिया है। अट्ठारवें अध्याय में कई तपों की चर्चा है। उन्होंने वहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि दान, यज्ञ, तप आदि को नहीं छोड़ें। ये मनुष्य को पवित्र करते हैं। मगर तप सकाम होता है। तपस्या कुछ प्राप्त करने के लिये की जाती है। चाहे कोई सा भी तप हो; या फिर जैसे गीता में दैहिक तप, वाचिक तप, मानसिक तप की चर्चा आई है। तो उसमें भी कामना की भावना है। साधक इसके बदले कुछ न कुछ पाना चाहते हैं। यहाँ ज्ञानी शब्द का अर्थ है बाह्य ज्ञानी, सांसारिक दृष्टि से ज्ञानी, शास्त्र ज्ञानी। शास्त्रज्ञान के द्वारा वह अपना यश विस्तार करना चाहता है, जो अभी परोक्ष ज्ञानी है।

और जो कर्मी है —नाना प्रकार के कर्म करता है — दोनो ही कोटि के कर्मयज्ञ कर्म और अनेक प्रकार के सत्कर्म। मगर इन तीनों में किसी न किसी प्रकार की कामना शेष रहती है। किन्तु योगी निष्काम होता है। इससे पूर्व भगवान ने कहा भी है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। (६/४५)

योग में जो सिद्ध होगा, निष्णात होगा, वह निष्काम होगा। इसलिए योगी साधारण तपस्वी, कर्मी और ज्ञानी से श्रेष्ठ होता है। और योगी भी तो अनेक प्रकार के होते हैं। १८-२० प्रकार तो गीता ने ही बताये हैं— ज्ञान योगी, कर्म योगी इत्यादि।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। (६/४७)

इन योगियों में सर्वश्रेष्ठ है भक्त योगी। युक्ततम शब्द का प्रयोग गीता में दो बार हुआ है। एक इस जगह और दूसरा बारहवें अध्याय में वह भी भक्ति के संदर्भ में ही है। द्वादश अध्याय का नाम ही भक्तियोग है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। (१२/२)

दोनों बार युक्ततम शब्द भक्त के लिए ही आया है। भगवान की दृष्टि में सबसे बड़ा योगी, भक्त योगी ही है। वैसे तो तुलसी के सब पत्ते ही बराबर हैं। कौन छोटा कौन बड़ा। शिवलिंग क्या छोटा क्या बड़ा। पूजा के समय नारायण की मूर्ति का क्या छोटा क्या बड़ा? लेकिन यहाँ देखना यह है कि भगवान किसे ज्यादा प्यार करते हैं, भगवान किसको अपना मानते हैं। सब योगी समान, किन्तु उनमें मेरा विशेष स्नेहभाजन वह —जिसने अपना चित्त ही मुझे समर्पित कर दिया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

अपनी अन्तरात्मा के साथ मुझमें समा जाता है, मद्गत हो जाता है। सब कुछ मुझे ही अर्पित कर देता है —वह मुझे सबसे अधिक प्रिय है। और *श्रद्धावान्भजते यो मां* —जो श्रद्धा के साथ मेरी भक्ति करता है, *स मे युक्ततमो मतः* —वह मेरी दृष्टि में सबसे श्रेष्ठ है।

यहाँ सैंतालीसवाँ श्लोक इस पूरे षटक का बीज श्लोक है। *वृक्ष तो है बीज का ही दिव्य कायाकल्प* —इस बीज से अगले छः अध्याय विकसित होते हैं ।

श्रीराम जय राम जय जय राम। ●

जन्म : ६ जनवरी १९३०
प्राध्यापक, समालोचक, काव्य लेखक एवं नाट्यकार।
महाभारत तथा रामायण की कथाओं पर केन्द्रित उपन्यासों एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित उपन्यास लिखे जाने तथा कृति के लिए विशेष ख्याति। अनेक सामाजिक उपन्यासों एवं कहानियों के सर्जक।
कई विशिष्ट सम्मानों एवं पुरस्कारों से समादृत।

सम्पर्क : १७५, विशाली, पीतमपुरा
दिल्ली - ११० ०३४
फोन : (०११) २७३१-२६०९

●

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

जन्म : ३ नवम्बर १९५१
प्राध्यापक एवं लेखक।

- सम्प्रति सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज कोलकाता के हिन्दी विभाग में वरिष्ठ रीडर और विभागाध्यक्ष।
- प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कोलकाता के स्नातकोत्तर विभाग में अतिथि प्राध्यापक।
- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों के सर्जक एवं सम्पादक।
- विविध सम्मानों से सम्मानित।

सम्पर्क: आशीर्वाद अपार्टमेण्ट्स
सी ए ५/१०, देशबन्धु नगर,
बागुईहाटी, कोलकाता - ७०० ०५९
फोन : (०३३) २५७९-१५२२

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कोलकाता